विष्णु-सहस्रनाम-स्तोत्रम्

(सत्यभाष्यार्यभाषानुवाद-सहितम्)

चतुर्थो भागः

(नाम-संख्या ७५१–१०००)

सत्यदेवो वासिष्ठः

दिल्ली-विश्वविद्यालयीय-
संस्कृत-विभागाय
शोध पत्र समीक्षार्थं
प्रदीयते.

सत्यदेवो वासिष्ठः
१०/४/७२ ई.

❀ ओ३म् ❀

महाभारतानुशासनपर्वान्तर्गतं (१४६ अ०)

विष्णु-सहस्रनाम-स्तोत्रम्

(सत्यभाष्याऽऽर्यभाषानुवाद-सहितम्)

चतुर्थो भागः

भाष्यकर्ता—

श्री १०८ पं० सत्यदेवो वासिष्ठः साङ्गवेदचतुष्टयी
भूतपूर्व-लवपुर-दिल्ली-भिवानीस्थ-सनातनधर्माऽऽयुर्वेद-महाविद्यालयीय
प्रधानाध्यापकः, गुरुकुलझज्झरस्याऽऽयुर्वेदविभागाध्यक्षश्च,
सामस्वरभास्करः, वेद-व्याकरण-निरुक्त-छन्दः-
साहित्य-ज्योतिषायुर्वेदाद्यनेक-शास्त्रपारावरीणः

सत्याग्रहनीतिकाव्यस्य नाडीतत्त्वदर्शनस्य च प्रणेता

अनुवादकः—

श्री पं० मुन्शीरामः शास्त्री

प्रकाशकः—
श्री १०८ पण्डितसत्यदेवो वासिष्ठः
देवसदनम्, महममार्ग, भिवानी
जि० हिसार (हरयाणा)

मूल्यम्—१२-५०
प्रथमं संस्करणं १०००
२०२८ वैक्रमाब्दे
१९७१ ख्रीस्ताब्दे

मुद्रकः—
सुरेन्द्र कुमार कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रस्य माहात्म्यम्

य इदं शृणुयान्नित्यं यश्चापि परिकीर्तयेत् ।
नाशुभं प्राप्नुयात् किञ्चित् सोऽमुत्रेह च मानवः ॥१॥

भावार्थः—जो व्यक्ति श्री विष्णु भगवान् के इन सहस्र नामों को प्रतिदिन श्रवण करता है, और जो इनका कीर्तन भी करता है, वह इस लोक और परलोक में तनिक भी अनिष्ट को कभी प्राप्त नहीं होता ।

विशेषः—इन माहात्म्य के श्लोकों में वासुदेव, कृष्ण, पुण्डरीकाक्ष, अच्युत आदि पद सनातन विष्णु भगवान् के ही वाचक जानने चाहियें । सम्पूर्ण विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र के पद अध्यात्म में परमात्मपरक हैं, और अधिदैवत में सूर्यपरक । यह ग्रन्थकार का मत है ॥१॥

वेदान्तगो ब्राह्मणः स्यात् क्षत्रियो विजयी भवेत् ।
वैश्यो धनसमृद्धः स्याच्छूद्रः सुखमवाप्नुयात् ॥२॥

भावार्थः—[इन नामों के श्रवण तथा कीर्तन से] ब्राह्मण ब्रह्म का ज्ञाता होता है, क्षत्रिय [युद्ध में] विजय प्राप्त करता है, वैश्य धन-धान्य से सम्पन्न हो जाता है, और शूद्र सुख को प्राप्त करता है ॥२॥

धर्मार्थी प्राप्नुयाद् धर्ममर्थार्थी चार्थमाप्नुयात् ।
कामानवाप्नुयात् कामी प्रजार्थी चाप्नुयात् प्रजाम् ॥३॥

भावार्थः—धर्म चाहने वाला धर्म को, अर्थ चाहने वाला अर्थ को, कामनाओं की इच्छा वाला काम को और सन्तान की चाहना रखने वाला सन्तान को प्राप्त करता है ॥३॥

भक्तिमान् यः सदोत्थाय शुचिस्तद्गतमानसः ।
सहस्रं वासुदेवस्य नाम्नामेतत् प्रकीर्तयेत् ॥४॥

प्रकाशकः—
श्री १०८ पण्डितसत्यदेवो वासिष्ठः
देवसदनम्, महममार्ग, भिवानी
जि० हिसार (हरयाणा)

मूल्यम्—१२-५०
प्रथमं संस्करणं १०००
२०२८ वैक्रमाब्दे
१९७१ ख्रीस्ताब्दे

मुद्रकः—
सुरेन्द्र कुमार कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रस्य माहात्म्यम्

य इदं शृणुयान्नित्यं यश्चापि परिकीर्तयेत् ।
नाशुभं प्राप्नुयात् किञ्चित् सोऽमुत्रेह च मानवः ॥१॥

भावार्थः—जो व्यक्ति श्री विष्णु भगवान् के इन सहस्र नामों को प्रतिदिन श्रवण करता है, और जो इनका कीर्तन भी करता है, वह इस लोक और परलोक में तनिक भी अनिष्ट को कभी प्राप्त नहीं होता ।

विशेषः—इन माहात्म्य के श्लोकों में वासुदेव, कृष्ण, पुण्डरीकाक्ष, अच्युत आदि पद सनातन विष्णु भगवान् के ही वाचक जानने चाहियें । सम्पूर्ण विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र के पद अध्यात्म में परमात्मपरक हैं, और अधिदैवत में सूर्यपरक । यह ग्रन्थकार का मत है ॥१॥

वेदान्तगो ब्राह्मणः स्यात् क्षत्रियो विजयी भवेत् ।
वैश्यो धनसमृद्धः स्याच्छूद्रः सुखमवाप्नुयात् ॥२॥

भावार्थः—[इन नामों के श्रवण तथा कीर्तन से] ब्राह्मण ब्रह्म का ज्ञाता होता है, क्षत्रिय [युद्ध में] विजय प्राप्त करता है, वैश्य धन-धान्य से सम्पन्न हो जाता है, और शूद्र सुख को प्राप्त करता है ॥२॥

धर्मार्थी प्राप्नुयाद् धर्ममर्थार्थी चार्थमाप्नुयात् ।
कामानवाप्नुयात् कामी प्रजार्थी चाप्नुयात् प्रजाम् ॥३॥

भावार्थः—धर्म चाहने वाला धर्म को, अर्थ चाहने वाला अर्थ को, कामनाओं की इच्छा वाला काम को और सन्तान की चाहना रखने वाला सन्तान को प्राप्त करता है ॥३॥

भक्तिमान् यः सदोत्थाय शुचिस्तद्गतमानसः ।
सहस्रं वासुदेवस्य नाम्नामेतत् प्रकीर्तयेत् ॥४॥

यशः प्राप्नोति विपुलं ज्ञातिप्राधान्यमेव च ।
अचलां श्रियमाप्नोति श्रेयः प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥५॥

भावार्थः—जो भक्तिमान् पुरुष सदा प्रातः काल उठकर पवित्र और तद्गत चित्त से भगवान् वासुदेव=विष्णु के इस सहस्रनाम का कीर्तन करता है, वह महान् यश, जाति में प्रधानता, अचल लक्ष्मी और सर्वोत्तम कल्याण को प्राप्त करता है ।।४-५।।

न भयं क्वचिदाप्नोति वीर्यं तेजश्च विन्दति ।
भवत्यरोगो द्युतिमान् बलरूपगुणान्वितः ॥६॥

भावार्थः—ऐसे व्यक्ति को कहीं भय नहीं होता । वह वीर्य और तेज प्राप्त करता है, तथा नीरोग रहता है । वह कान्तिमान् और बल रूप एवं गुण से सम्पन्न होता है ।।६।।

रोगार्तो मुच्यते रोगाद् बद्धो मुच्येत बन्धनात् ।
भयान्मुच्येत भीतस्तु मुच्येतापन्न आपदः ॥७॥

भावार्थः—[विष्णु भगवान् के सहस्र नामों का श्रवण एवं कीर्तन करने से] रोगी रोग से मुक्त हो जाता है, सांसारिक बन्धनों में बंधा हुआ बन्धन से छुटकारा पा जाता है । भयभीत व्यक्ति भय से मुक्त हो जाता है, और आपत्ति-ग्रस्त आपत्तियों से छूट जाता है ।।७।।

दुर्गाण्यतितरत्याशु पुरुषः पुरुषोत्तमम् ।
स्तुवन्नामसहस्रेण नित्यं भक्तिसमन्वितः ॥८॥

भावार्थः—पुरुषोत्तम विष्णु भगवान् की सहस्र नाम से भक्तिपूर्वक नित्यप्रति स्तुति करने से पुरुष शीघ्र ही कठिनाइयों को पार कर जाता है ।।८।।

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥९॥

भावार्थः—वासुदेव के आश्रित रहने वाला, वासुदेव की भक्ति में तत्पर मनुष्य सब पापों से शुद्धचित्त होकर सनातन ब्रह्म को प्राप्त होता है ।।९।।

न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित् ।
जन्ममृत्युजराव्याधिभयं नैवोपजायते ॥१०॥

भावार्थः—वासुदेव के भक्तों का कहीं भी अशुभ नहीं होता। उन्हें जन्म-मृत्यु जरा और रोगों का भी भय नहीं रहता ॥१०॥

इमं स्तवमधीयानः श्रद्धाभक्तिसमन्वितः ।
युज्येतात्मसुखक्षान्तिश्रीधृतिस्मृतिकीर्तिभिः ॥११॥

भावार्थः—इस स्तोत्र का श्रद्धा-भक्ति पूर्वक पाठ करने वाला व्यक्ति आत्मसुख, क्षमा, लक्ष्मी, धैर्य, स्मृति और यश से युक्त होता है।

विशेषः—इस श्लोक में भक्तियुक्त, पवित्र, सदा ही उद्योगशील, समाहितचित्त, श्रद्धालु एवं विशिष्ट अधिकारी पुरुष के लिये विशेष फल का निर्देश किया गया है। आस्तिकतायुक्त बुद्धि का नाम श्रद्धा है। भजना या तत्पर होना 'भक्ति' है। आत्मा के सुख को आत्मसुख कहते हैं। वासुदेव का भक्त उस आत्मसुख और क्षान्ति आदि गुणों से सम्पन्न हो जाता है ॥११॥

न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः ।
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे ॥१२॥

भावार्थः—पुरुषोत्तम भगवान् के पुण्यात्मा भक्तों को कभी क्रोध, मात्सर्य=पराये गुणों में दोषदृष्टि रखना, लोभ और अशुभ बुद्धि नहीं होती ॥१२॥

द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा खं दिशो भूर्महोदधिः ।
वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः ॥१३॥

भावार्थः—चन्द्रमा सूर्य और नक्षत्रों के सहित द्युलोक, आकाश, दिशायें, पृथिवी, महासमुद्र ये सब महात्मा वासुदेव=विष्णु के वीर्य=शक्ति से ही धारण किये गये हैं ॥१३॥

ससुरासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम् ।
जगद् वशे वर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम् ॥१४॥

भावार्थः—देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, सर्प और राक्षसों के सहित यह सम्पूर्ण चराचर जगत् कृष्ण=विष्णु के वशवर्ती है ॥१४॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः ।
वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च ॥१५॥

भावार्थः—इन्द्रियां, मन, बुद्धि, अन्तःकरण, तेज, बल, धैर्य तथा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ=जीव इन सब को वासुदेवात्मक ही कहा गया है ॥१४॥

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते ।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः ॥१६॥

भावार्थः—सब शास्त्रों में सब से प्रथम आचार की ही कल्पना होती है। आचार=गति से ही धर्म स्वरूप स्थिति की उत्पत्ति है, और धर्म के प्रभु=उत्पत्तिस्थान श्री अच्युत=विष्णु भगवान् ही हैं।

विशेषः—'**सर्वागमानामाचारः**' इस वाक्य से यह दिखलाया गया है कि सब धर्मों का अधिकार आचारवान् को ही है ॥१६॥

ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः ।
जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम् ॥१७॥

भावार्थः—ऋषि, पितर, देव, पञ्च महाभूत, धातुएं और यह सब चराचर जगत् नारायण से ही उत्पन्न हुआ है ॥१७॥

योगो ज्ञानं तथा सांख्यं विद्याः शिल्पादि कर्म च ।
वेदाः शास्त्राणि विज्ञानमेतत् सर्वं जनार्दनात् ॥१८॥

भावार्थः—योग, ज्ञान, सांख्य, विद्याएं, शिल्पादि कर्म, वेद, शास्त्र और विज्ञान ये सब श्री जनार्दन से ही उत्पन्न हुए हैं ॥१८॥

एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः ।
त्रींल्लोकान् व्याप्य भूतात्मा भुङ्क्ते विश्वभुगव्ययः ॥१९॥

भावार्थः—एकमात्र विष्णु भगवान् ही महत्स्वरूप हैं। वह सर्वभूतात्मा, विश्वभोक्ता, अविनाशी प्रभु ही तीनों लोकों को व्याप्त कर नाना भूतों को तरह-तरह से भोगों को प्राप्त कराते हैं।

विशेषः—पूर्वोक्त '**द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा**' आदि श्लोकों से स्तुति किये जाने योग्य भगवान् वासुदेव का माहात्म्य बतलाते हुए दिखलाते हैं कि पूर्वोक्त फलों की प्राप्ति बतलाना यथार्थ कथन ही है, अर्थवाद नहीं। प्रस्तुत श्लोक में '**भुङ्क्ते**' पद अन्तर्णीतण्यर्थ वृत्ति से **भोजयति**=भोगों को प्राप्त कराता है, ऐसा जानना चाहिये ॥१९॥

इमं स्तवं भगवतो विष्णोर्व्यासेन कीर्तितम् ।
पठेद्य इच्छेत् पुरुषः श्रेयः प्राप्तुं सुखानि च ॥२०॥

भावार्थः—जिस पुरुष को श्रेय (कल्याण) और सुख-प्राप्ति की इच्छा हो, वह श्री व्यास जी के कहे हुए भगवान् विष्णु के इस स्तोत्र का पाठ करे।

विशेष—'इमं स्तवम्' इत्यादि से यह दिखलाते हैं कि इस स्तोत्र को सहस्र-शाखाओं के ज्ञाता भगवान् कृष्ण द्वैपायन ने बनाया है। इसलिये सभी कामना वालों को सब प्रकार का फल प्राप्त करने के लिये इसे श्रद्धापूर्वक पढ़ना चाहिये ॥२०॥

विश्वेश्वरमजं देवं जगतः प्रभवाप्ययम् ।
भजन्ति ये पुष्कराक्षं न ते यान्ति पराभवम् ॥२१॥

भावार्थः:—जो व्यक्ति विश्वेश्वर, अजन्मा, संसार की उत्पत्ति तथा लय के स्थान देवाधिदेव पुण्डरीकाक्ष को भजते हैं, वे कभी पराभव को प्राप्त नहीं होते।

विशेषः—'विश्वेश्वरम्' इत्यादि से यह दर्शाते हैं कि स्तुति करनेवाले भक्तजन श्री विश्वेश्वर की उपासना से ही धन्य—कृतार्थ अर्थात् कृतकृत्य हो जाते हैं। 'जिस प्रकार मनुष्य धन की इच्छा से धनवान् की आदरपूर्वक स्तुति करता है, उसी प्रकार यदि विश्वकर्ता की स्तुति करे, तो कौन बन्धन से मुक्त नहीं हो जायगा? ॥२१॥

माहात्म्य-विषये विशिष्ट-विचारः

इदानीं "य इदं शृणुयान्नित्यम्" इत्यारभ्योक्तस्य भगवतो महात्मनो विष्णोर्माहात्म्यस्य विषये किञ्चिद् विचार्यते—किमिदं माहात्म्यमिति? माहात्म्यशब्दो महतेः पूजार्थादुणाद्यतिप्रत्यये निपातितः। मह्यते=पूज्यते इति महान्=पूजार्ह इत्यर्थः। तस्य भावः कर्म वा माहात्म्यं, ताद्धितः ष्यञ्। माहात्म्यं, महत्वं, महिमेत्यनर्थान्तरम्। एवञ्च वस्यचित् पूजार्हस्य भावः कर्म वा माहात्म्यशब्देनोच्यते। सामान्यतस्तु किञ्चिद्वस्तुविषयकं यत्तद्विशिष्ट-फलजननसामर्थ्यं तदिह माहात्म्यशब्दस्य वाच्यम्। तच्च फलजननसामर्थ्यं महति महल्लघुनि च लघ्विति भिद्यते। सर्वत्रैव वस्तुनि किञ्चिन्न किञ्चित् वैशिष्ट्यं भवत्येव, तदेव च तस्य माहात्म्यम्। इह तु महतो महीयसो भगवतो विष्णोर्यद् गुणकर्मानुबन्धि महत्त्वं, तद्गुणकर्मश्रवणानुबन्धि फलं वा तद् माहात्म्य शब्देनोच्यत इति। विष्णोस्तदपररूपस्य सूर्यस्य वा महत्त्वं मन्त्रैर्निर्दिश्यते। तद्यथा—**"बण्महाँ असि सूर्य"** (यजुः ३३।३९); **"यस्य नाम महद्यशः"** (यजुः ३२।३); **"महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्"** (यजुः ३१।१८) इत्यादि।

अस्यैव भगवतो महतः सच्चिदानन्दतारूपं भावं सर्गतदन्तर्गतविलक्षणं विविधपदार्थनिर्माणरूपं कर्म च स्मरन्नभ्यसंश्च मनुष्यो माहात्म्यानुगतं फलमाप्नोति । "य इदं शृणुयाद्" इति वाक्येन "मयि एवाऽस्तु मयि श्रुतम्" (अथर्व० १।१।२) इत्यथर्वश्रुत्यर्थो गृहीतः, सूचितश्चानेन यच्छ्रवणपठने परस्परमनुस्यूत इव फलं प्रयच्छत इति । नाशुभं विद्यते क्वचिदित्यैहिकामुष्मिकाशुभनिवृत्तिरभिहिता, तथा चाशुभनिवृत्तिमिच्छन् मनुष्यो वर्तमानेऽपि शुभमेव कुर्यादित्यर्थत आयाति । एतदभिप्रेत्यैव छात्रो दिवाधीतं रात्रौ स्मरति, मा सति विस्मरणे गुरुदेवो मां प्रातर्हन्यादिति । भवति च सर्वत्र लोकेन साम्यम् । अत्र चास्मत्सत्याग्रहनीतिकाव्ये—

सायं विशुद्धं स्वकमाप्तिकामः प्रातः प्रयत्नेन विशोधयेत् स्वम् ।
प्रातः पुरो यत् परमत्र सायं, तथा जरोषाः परजन्म सायम् ।।
अ० ५।२।१० ।।

एषाञ्च नाम्नां परात्परो विष्णुर्देवता । मूलञ्चात्र— "**यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवतीति**" (निरुक्तम् ७।१) । एभिर्नामभिः स्तूयमानो विष्णुर्धर्मार्थिनामर्थार्थिनां कामार्थिनाञ्च धर्ममर्थं कामं च तेभ्यः ददातीति "**सत्यधर्मपरायण—धर्मविदुत्तम—श्रीद—काम—कामप्रद**" इत्यादिनामभिरेव स्पष्टमभिधीयते । प्रजारेता इति नाम्ना च विष्णोः प्रजाप्रदत्वमुच्यते प्रजार्थिन इति । नामानि चैतानि यथावसरं व्याख्यातानि, तत्र द्रष्टव्यानि ।

समस्तवाङ्मयस्य सारभूतानि सहस्रनामानि कीर्तयन् मर्त्यो विष्णुपरायणः सन्नुत्तमं यशोऽचलां श्रियञ्चाप्नोति । विष्णुरेव व्यापकत्वाद् वासुदेवः सूर्यश्च । अत उक्तं—'**सहस्रं वासुदेवाय**' इति । तथा चोक्तमत्रैव माहात्म्ये—

"वासुदेवाश्रयो मर्त्यो, वासुदेवपरायणः ।
वासुदेवविशुद्धात्मा, याति ब्रह्म सनातनम् ।।" (श्लोक ६)

तथा च यथा देवसदनं पृच्छन् देवसदनमाप्नोति, तथा वासुदेवं स्मरन् शृण्वन् पठंश्च वासुदेवमेवाप्नोति । एतच्चापि ज्ञेयम्—परतत्त्वाख्यं वासुदेवं स्मरन्-जपन् वा ब्रह्म सनातनं याति, नतु वसुदेवापत्यं मरणधर्माणं वासुदेवमिति । भगवन्तं विष्णुं स्तुवन्नरो भयादशेषतो विमुच्यते, एतच्चेहैव स्तोत्रे पठितैः "**भयनाशन—महावीर्य—ओजस्तेजोद्युतिधर**" आदिनामभिरुच्यते । एतज्जपतो नरस्य रोगाद् विमुक्तिः "**अव्यथितः, अनामयः**" इति भगवन्नाम्नाभिहिता । तथा चोक्तं चरके—

"विष्णुं सहस्रमूर्द्धानं चराचरपतिं विभुम् ।
स्मरन् नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वान् व्यपोहति ।।
चिकित्सास्थान ३।३१२, ३१३ ।।

'ज्वर रोगे' धातोर्निष्पन्नो ज्वरशब्दः सामान्येन दुःखपर्यायः । विष्णोश्च भेषजं भिषक् च नाम्नी । विष्णुसहस्रनामजपाच्च—"उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं" (ऋक् १।२४।१५) इत्यादि ऋङ्मन्त्रार्थानुगता बद्धस्य बन्धनान्मुक्तिर्भवतीत्युच्यते । दुर्गातितरणञ्चाप्येतज्जपेन—"जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो निदहाति वेदः । स नः पर्षदति दुर्गाणि०" (ऋक् १।९९।१) इत्यादि मन्त्रार्थानुगतमुच्यते । अग्निसूर्यविष्णूनां मूलतः एकत्वेऽपि कार्योपाधिको भेदोऽपि । विष्णोः पुरुषोत्तम इति चतुर्विंशतितमं नाम यथास्थानं व्याख्यातम्, तेनैतज्जपतो मनुष्यस्य सर्वथोन्नतिः सूच्यते । भगवदर्पितसर्वारम्भस्य निरन्तरमनन्यगतमनसा स्तुवतश्च मनुष्यस्य "तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते । विष्णोर्यत् परमं पदम्" इति याजुष (३४।४४) मन्त्रार्थानुसारिणी सुबोधता, स्वयम्प्रकाशमानता, अर्थात् पापराहित्येन शुचिशीलता च द्योत्यते, या स्पष्टं "शुचि--भर्ग--मार्ग—अनघादि" नामभिरभिहिता । वासुदेव भक्तानां निर्भयताऽशुभनिवृत्तिश्च प्रागुक्तैव, तां पुनः जन्ममृत्युजराव्याधिरूपमपि भयमस्य स्तोत्रपठितुर्न जायत इति जन्ममृत्युजरेत्यादि वचनेन द्रढयति ।

'न क्रोधो न च मात्सर्यम्' इत्यादिश्लोकद्वयोक्तस्यार्थस्य स्तोतुः कालेन स्वयमनुभूतिर्भवतीत्यनुभूतमस्माभिः, यतो हि स्तोत्रजपेन सत्यबुद्ध्युदयः, सति च सत्यबुद्ध्युदये परभावोऽपूर्णता च नश्यति, यन्मूलं क्रोधाद्युदयः, पूर्णः सम्प्राप्तसर्वत्रात्मभावश्च कस्मै क्रुध्येत् किं वा लिप्सेत् । ततोऽसौ स्तोता स्वस्ति= अर्थात् निरवधिकेन श्रेयसा युज्यते, जहाति चाशुभां मतिमिति 'स्वस्तिकृद्' इति भगवन्नाम्ना लभ्यते । सर्वञ्चैतत् पूर्वोक्तं फलं पुरुषोत्तमभक्तानां कृतपुण्यानां भवतीति प्रतिजानीते—"भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे" इत्यादिवचनेन संग्रहीता । "द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा०" इत्यादिना भगवतो महावीर्यत्वमहाकर्मत्वमहाशक्तित्व-नक्षत्रनेमित्वाख्यानपूर्वकं सर्वाधारत्वं प्रतिपाद्यते । "ससुरासुरगन्धर्वं०" इत्यादिवचनेन च सर्वस्यास्य चराचररूपस्य जगतः कृष्णवशवर्तित्वमुच्यते । कृष्णश्च विष्णुरेवेति नाम-संग्रहे पठितम् ।

"इन्द्रियाणि मनोबुद्धिः" इत्यादि पद्येनेन्द्रियादीनां प्रवर्तकस्य भगवतस्तद्रूपतोक्ता । "सर्वागमानामाचारः०" इत्यादिना च सर्वशास्त्रविहितकर्मानुष्ठानरूपस्याचारस्य प्रकृतिः=ऊद्भवस्थानं धर्मः, यद्वा आचारः=गतिः धर्मस्य च प्रकृतिरच्युतः=स्वनियमास्खलनस्वभावो भगवान् विष्णुरित्युक्तम् । स्वनियमात् =स्वरूपाच्च्युतं सर्वं विपद्यते, यथा स्वरूपेण स्थितोऽपि रथश्च्युते स्वचक्रे गतिन्न कर्तुं प्रभवति । आगमः=शास्त्रं वेदो वा, आगमयति=ज्ञपयति सर्वानर्थानिति । "ऋषयः पितरो देवाः" इत्यादिना पद्येन भगवतः प्रतिरूपं विभक्तभावः संगम्यते, तथैव यथा भृत्योपार्जितं धनं भृत्यस्य मनोरथसाधने नानाभावं बिभर्ति ।

'सर्वज्ञः' इति नामात्र संग्रहे । तथा च—

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः" । ऋग् १०।८१।३ ।।

"य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे" । अथर्व ७।८७।१ ।।

"प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्" । अथर्व १०।७।८ ।।

"यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यर्पिताः ।।" अथर्व १०।७।१२ ।।

एतेन सर्वज्ञत्वं—सर्वकर्तृकत्वं, सर्वाधारत्वं च विष्णोः सुस्पष्टमेव । अत एव "सर्वज्ञानमयो हि सः" इति तत्वविदां सिद्धान्तः परब्रह्मविषये । मनौ २।७ इत्यत्र श्लोके "सर्वज्ञानमयो हि सः" सन् विविधं व्याख्यातः । इह स नाद्रियते श्लोकांशत्वेन । भगवतः सर्वज्ञानमयत्वाद् योगादिसर्वविधज्ञानानां विष्णुरेव मूलम् । मूलत एकत्वेऽपि विष्णोर्व्यक्तेरारभ्य यावत्त्रिलोकीसमष्टि तावत्तस्य व्याप्तिरिति वस्तुभेदात् विभक्तिरिति । "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" (ऋक् १।१६४।२०) इति मन्त्रोक्तं संगमयन् "विष्णुरेको महद् भूतं पृथग्भूता-न्यनेकशः" इति पद्यं संगतार्थं भवति । एवञ्च यः श्रेयः सुखानि च प्राप्तुमिच्छेत् स इमं स्तवं पठेत् । यदुक्तं कठोपनिषदि १।२।२—

"श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ।।"

"विश्वेश्वर" शब्दः स्मर्तुः पराभवो जात्वपि न भवतीत्याचष्टे ।

नाम्नां सहस्रं दिव्यानामशेषेण प्रकीर्तितमिति—"विष्णोर्नामसहस्रं मे शृण्विति"[1] तथा "ऋषिभिः परिगीतानीति[2]" स्वपूर्वप्रतिज्ञातवचनं माहात्म्य-निर्देशपुरःसरमुपसंहरति सुव्रतो भीष्मो "नाम्नां सहस्रं दिव्यानामशेषेणेति" विष्णोर्नाम्नां संख्याया अविषयत्वेऽपि सहस्रशब्देन "सहस्राण्यं वियतावस्य पक्षौ हरे हंसस्य पततः स्वर्गम्" (अथर्व १०।८।१८) इति मन्त्रोक्तमर्थं स्मारयन्नन्येषां नाम्नामेतेष्वेवान्तर्भावं गमयत्यशेषशब्देन । प्रत्यक्षं शतादशेति निर्देशो मन्त्रे— "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश" (ऋग् ६।४७।१८) । यथा "स्वाश्रय" इति भगवतो नाम एतेन "स्वतन्त्रः, स्वावलम्बः" इत्यादीनि स्तोत्रेऽसंगृहीतानि नामान्यपि क्रोडीकृतानि, अर्थात् एतदर्थकानि सर्वाणि नामान्येतेनैव संगृहीतानि । अथाप्ययमशेषशब्दः पूर्वप्रतिश्रुतानुसारं नाम्नां सहस्रस्य समाप्तिं गमयति । दिव्यशब्देन र्षिपरिगीतत्वमुक्तं भवति ।

---

१. महा० शान्ति० १४६।१२ ।।

२. महा० शान्ति० १४६।१३ ।।

स्वतन्त्रनामवत् विष्णुनाम्ना व्यापकेत्यादीनां, सर्वनाम्ना सर्वव्यापकेत्यादीनां, तथा अग्राह्यनाम्ना निरङ्कनिरञ्जननिरङ्कारादीनां ग्रहणम् । निरङ्कारशब्दो निरुपसृष्टादञ्जतेः क्विपि निरञ्, तस्माच्च ककारमकारादिवत् "वर्णात्कारः" इति कारप्रत्यये सिध्यति । भगवतो गुणानामानन्त्यं "नहि ते शूर राधसो अन्तं विन्दामि सत्रा" (ऋक् ८।४६।११) इति ऋङ्मन्त्रेण पुष्यति । राध इति धनस्याभिधानस्य वा नाम । राध्यते=साध्यते, स्तूयते वानेनेति, नः पथः प्रदर्शनमात्रं प्रयोजनम् ।

इदमत्र मे वक्तव्यम्—इदं माहात्म्यं विष्णुसहस्रनामस्तोत्रस्य, सारगर्भितं स्वल्पाक्षरं चिरानुभूतमव्यभिचारि चातिसंक्षिप्तं व्याख्यानमेवेति बोध्यम् ।

सहस्रनामसङ्ग्रहीतारं प्रति सत्यभाष्यकृतः

कृतज्ञताप्रकाशनम्

भगवतः सर्वदेवरूपत्वाद् देवानाञ्च गुणकृतनाम्नामनन्तत्वादनन्तनाम्नो भगवतो विष्णोःसहस्रं श्रेयस्कराणि नामानि वेदात् संगृह्य भगवन्तं स्तुतवता महर्षिणा वेदव्यासेन बहूपकृतो लोको वेदश्च, अन्यथा को नाम लौकिकबन्धनैर्बद्धो मानव एवंविधाद् गहनाद् वेदाद् विविच्य वक्तुं शक्नुयात्, लोकश्च कथं श्रेयोमार्गलब्ध्या श्रेयसा युज्येत । तथा हि—

एकोऽप्यग्निः सूर्यो वा बहुभिर्गुणकृतनामभिः—**"अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन् । अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम"** (ऋक् ३।२६।७) इत्यादिभिः स्तुतो भवति । तत्र को नामानित्यबुद्धिर्मानवस्तितउना सम्पूयेवायमेवाग्नेः श्रेयस्करन्नामेति विवेक्तुं शक्नुयात्, यदि भगवता महर्षिणेयान् प्रयासो न विहितः स्यात् । न चेयतेवालम्, अपितु बहुत्र सोद्घोषं वक्ति वेदो, यथा—**"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः"** (ऋक् १।१०६।१); **"तदु चन्द्रमा तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः"** (यजुः ३२।१) ।

यश्चायं विष्णुसहस्रनामस्तोत्रे सहस्रशब्दस्य निर्देशः, सोऽपि नियतताया दशगुणितायाः शतसंख्याया आनन्त्यस्य वाचकः **"सहस्रिणं वज्रबाहुम्"** इत्यादि वेदमूलकश्च । कविरपि च्छन्दोभिः किञ्चिद् वस्तु वर्णयन् गुरुलघ्व्यादिमात्राभिर्निबद्धत्वाच्छन्दसां स्वयमपिच्छन्दोरज्ज्वा निबद्धस्तत् पर्यायनामभिर्वर्णयति, न पुनर्नूतनानि नामान्याविष्कारोति, न च वस्तुतत्त्ववचनस्य प्राधान्यं जहाति । अमुथैव देवो देवानां गुह्यानि नामान्याविष्करोति । छाया यथात्र मन्त्रे—**"हरिः सृजानः पथ्यामृतस्येयर्त्ति वाचमरितेव नावम् । देवो देवानां नामाविष्कृणोति बर्हिरसि प्रवोचे ।"** (ऋक् ९।९५।२); **"कविर्गीर्भिः काव्येना कविः सन् ।"** (ऋक् ९।९६।१७) इत्यादि । अत एव मया स्वात्मनः शुद्ध्यै वाङ्मनसयो र्दोषापमृष्टयै च प्रतिनाम 'भवति चात्रास्माकम्' इति वाक्येन सङ्केत्य संक्षिप्तार्थो दर्शितः स्तुतश्च तन्नामनिर्दिष्टो विष्णुः सूर्यो वा ।

क्वचिदेकस्यैव नाम्नस्तदर्थकैरन्यैर्नामभिर्विस्तरो दर्शितः । यथा—भर्ग इति शुद्धार्थकन्नाम, तस्य च **"भार्गः, शुचिः, पवित्रम्, विशुद्धात्मा"** इत्यादि-

र्भिविस्तरः। "स्वयम्भूरसि" इति यजुर्वेदमन्त्रसिद्धः "स्वयम्भूः" इति नाम, तस्य "आत्मयोनिः, स्वयञ्जातः" आभ्यान्नामभ्यां विस्तरः। स्वयम्भूनामार्थकमेव "स्वज" इत्यपि नाम, तच्च "स्वजो रक्षिताशनिरिषवः" इत्यथर्वं (३।२७।४) मन्त्रसिद्धम्। "देवस्य नेतुः" इत्यादियजुमन्त्रसिद्धं नेतेति नाम, तस्य च "न्यायः" इति विस्तरः। "भूतभव्यभवत्प्रभुः" इति नाम, तस्य "भूतभव्यभवन्नाथ" इति विस्तरः। दुर्गं इति नाम, तस्य "दुर्लभः, दुर्गमः" इति विस्तरः। "अमरप्रभुः" इति नाम, तस्य "सुरेश्वरः सुरेशः सुराध्यक्ष" इति विस्तरः। "हिरण्यगर्भ" इति नाम, "तस्य रत्नगर्भ" इति विस्तरः। "सर्वदृग्" इति नाम, तस्य "सर्वदर्शी, सर्वतश्चक्षुः" इति विस्तरः। "अनेकमूर्तिः" इति नाम, तस्य "शतमूर्तिः" इति विस्तरः। तथा "पर्यवस्थितः" इति नाम, तस्य च धातुभेदादर्थभेदात्समासभेदाच्च "अजः" इति विस्तरः।

भगवन्नाम्नां जपेन सुमतिरुदेति प्रार्थ्यते चात एव भगवान् तत्तन्नामभिः सुमतिप्राप्त्यै—तथा च मन्त्रः "तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन। आस्य जानन्तो नामचिद् विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे" (ऋक् १।१५६।३)। एतन्मन्त्रस्थ-आस्यपदेन विष्णोः समग्रस्य सम्बन्धिनो निर्देशः, तथा च "वैष्णवमसि विष्णवे त्वा" (यजुः ५।२१) तथा "स्वयम्भूरसि" (यजुः २।२६) इत्यादि मन्त्रलिङ्गम्। विष्णोर्वैष्णवस्य वा यत् तत् आस्यपदं निर्दिशति। प्रतिजानीते माहात्म्ये तथैव—

"न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः।
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे ॥" (श्लोक १२)

सम्पन्नो विपन्नो वा जीवः किञ्चिन्नाम भिक्षते, यन्नामजपेन सन्तुष्टो भगवान् विष्णुस्तन्मनोऽभिलषितं दद्यात्। तथा च मन्त्रलिङ्गम्—"त्वं विश्वस्य धनदा असि श्रुतो य ईं यजन्त्याजयः। तवायं विश्वस्य पुरुहूत पार्थिवोऽवस्युर्नाम भिक्षते" (ऋक् ७।३२।१७)। तथा सनातनीं परम्परां जीवयन्तः शिष्या गुरोः सकाशान्नामभिक्षां भिक्षन्ते। उपदिशति च गुरुस्तान्—

"सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥
कठोप० १।२।१५ ॥

यानि च नामान्यग्नेः सूर्यस्य विष्णोर्वा तान्येव पवित्राणीति कृत्वा मरणशीला मनुष्या अप्यात्मानं तदर्थेन युयोजयिषन्तः स्वीकुर्वन्ति। तच्च यथा कश्चिन्मनुष्यो "रामानन्द" इत्याख्यां लभते, रामश्च विष्णुर्दशरथपुत्रो वा तत्र सन्देहः कोऽयं रामानन्द इति। कश्चिच्छिवानन्दाख्यां लभते, शिवश्च विष्णुः

पार्वतीसहचरो वा, तत्र सन्देहः कोऽयं शिवानन्द इति। कश्चित् कृष्णानन्द इति नाम लभते, कृष्णश्च विष्णुर्महाभारतप्रसिद्धोऽर्जुनसखो वा, तत्र सन्देहः कोऽयं कृष्णानन्द इति। एवं कश्चित् स्वं भवानन्द इति नाम स्वीकुरुते, भवो विष्णुर्वृषवाहनो वा, तत्र सन्देहः कोऽयं भवानन्द इति। एवं सामान्यतो विवेचनेन ज्ञायते, यच्छनैः शनैः मनुष्यः पार्थिवगुणानुस्यूतानां मनुष्याणां रूपं ध्यायन् विस्मरति विष्णुं सत्यरूपमिति।

नामानि च तानि बहूनीति, नाम्नां बहुत्वे मन्त्रलिङ्गम्। यथा—"प्रबुध्न्याय ईरते महांसि प्रनामानि प्रयज्यवस्तिरध्वरम्" (ऋक् ७।५६।७५)। स्तोता क्वचित् स्तुतौ साभिप्रायं नामापि प्रयुङ्क्ते। यथा—"प्र तत् ते अद्य शिपिविष्ट नामा······र्यः शंसामि वयुनानि विद्वान् तं त्वा गृणामि" (ऋक् ७।१००।५) प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां भिन्नमपि नाम भवति समानार्थं। यथा—

"गोमायुरेको अजमायुरेकः पृश्निरेको हरति क एषाम्।
समानं नाम बिभ्रतो विरूपाः पुरुत्रा वाचम्।। ऋक् ७।१०३।६।।

"नाम रहे सांई का" इति प्राकृतानामुक्तिरपि "मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे। विप्रासो जातवेदसः" (ऋक् ८।११।५) इत्यादि मन्त्रमूलिकैव। अत्र भूरिशब्दः पौनःपुन्यं नामसंघातञ्चाचष्टे। अत एव कश्चित्—"ओं नमः शिवाय", कश्चित् "ओं नमो भगवते वासुदेवाय" तथा कश्चित्—"ओम्, ओम्" इति नाममालां जपति, यतो हि लोको भिन्नरुचिर्भवति। स्वजापकाय च तन्नाम सुखं सन्तोषञ्च निश्चितं ददाति। तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"भूरि नाम वन्दमानो दधाति पिता वसो यदि तज्जोषयासे।
कुविद् देवस्य सहसा चकमा सुम्नमग्निर्वनते वावृधानः।।"
ऋक् ५।३।१०।।

सुम्नं=सुखं, शर्मेत्यनर्थान्तरम्। तथा चोक्तं माहात्म्ये—

"इमं स्तवं भगवतो विष्णोर्व्यासेन कीर्तितम्।
पठेद्य इच्छेत् पुरुषः श्रेयः प्राप्तुं सुखानि च।।" (श्लोक २०)

नामसङ्कीर्तनपुरस्सरे नाम्नि च निदर्शनरूपाणि मन्त्रलिङ्गानि। यथा—"दधाना नाम यज्ञियम्" (ऋक् १।६।४), "अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारुदेवस्य नाम" (ऋक् १।२४।२), 'देवत्वं नाम ऋतं सपन्तः" (ऋक् १।६८।२), "नाम त्वष्टुरपीच्यम्" (ऋक् १।८४।१५), "कीर्तेन्यं नाम मघवा बिभ्रत् वज्री युद्धसूनुः श्रवसे नाम दधे" (ऋक् १।१०३।४), "अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मा हविरस्मि नाम" (ऋक् ३।२६।७), "घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति" (ऋक् ४।५८।३), "परो मायाभिर्ऋत आरा नाम ते" (ऋक् ५।४४।२),

"दधानो नाम महः" (ऋक् ६।४४।८), "त्वेषं शवो दधिरे नाम यज्ञियम्" (ऋक् ६।४८।२१), "आ नाम घृष्णु मारुतं दधानाः" (ऋक् ६।६६।५), "सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि" (ऋक् ७।२२।५), "त्वेषं ह्यस्य स्थविरस्य नाम" (ऋक् ७।१००।३), "दिविश्रयो दधिषे नाम वीरः"(ऋक् १०।२८।१२), "भर्गो ह नामोत यस्य देवाः" "अति ह्रं नामोत जातवेदाः" (ऋक् १०।६१।१४) इत्यादीनि । अथापि स एक एव बहुधा स्तूयते । यथा—

"त्वमर्य्यमा भवसि यत् कनीनां नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि ।
अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद् दम्पती समनसा कृणोषि ॥"

ऋक् ५।३।१ ॥

यत्तूक्तं सामगायनेति नाम तत्र साम्नां कानिचिन्नामानि मन्त्रनिर्देश-पुरस्सराणि निर्दिश्यन्ते । यथा—"उप नो देवा अवसा गमन्त्वङ्गिरसां सामभिः स्तूयमानः इन्द्रमिन्द्रियैर्मरुतो मरुद्भिरादित्यै र्नो अदिति शर्म यंसत्" (ऋक् १।१०७।२)। अत्र—एन्द्रं, मारुतं, तथादितेयमित्यादीनि सामवेदे साम्नो नामानि सन्ति, सामगायनक्रमश्च गुरुमुखादेवाभ्यसनीय इति मया सामनामव्याख्याने, गुरुनामनिर्देशपुरस्सरः सामाध्ययनकालनिर्देशपुरस्सरश्च निर्दिष्टः । इदमत्र ज्ञेयं यदयं महर्षिवेदव्यासकृपातोलब्धस्वरूपो विष्णुसहस्रनामसङ्ग्रहो मया व्याख्यातस्तत्र प्रतिनाम यथोपयोगि व्याकरण, नाम्नो व्याप्तिः, लोके तदनुकृतिः, शरीरेषु समन्वयः, तन्नाम्नः प्रमापयिता मन्त्रश्च सलोकोदाहरणं निर्दिष्टः ।

अनभिमतत्वात् प्रतिनाम निर्दिष्टा मन्त्रा न व्याख्याता न च सामग्र्येणात्र लिखिता इति । यस्मै च यो मन्त्रो रोचते स तं मन्त्रं तन्नाम्नि पठेदित्यस्माभिरनुज्ञायते । तदेवं जीवानां हितमुद्दिश्य कृतसहस्रनामसङ्ग्रहो महर्षिवदव्यासोऽस्माकं बहूपकारीति सविनयं ससाष्टाङ्गप्रणामञ्च स्तुत्यर्ह इति ।



विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रस्य सत्यभाष्यकर्तुः

आत्मपरिचयः

यद्यपि नाहमात्मपरिचायनं बहु मन्ये, तथापि नैसर्गिकमेतद् यत् कस्यचिद् ग्रन्थप्रणेतुर्भाष्यकर्तुर्वा ग्रन्थं भाष्यं वाधीयानानां तत्कर्तृविषयिका जिज्ञासोत्पद्यते, अतस्तन्निराकरणाय तथात्मानृण्यलिप्सयायम्म आत्मपरिचायनोपक्रमः ।

अहं हि पञ्चनदप्रान्तस्थ-जालन्धरमण्डलान्तर्गत-माहलगहिलाख्यग्राम-ग्रामनिवासिनां सहजपालप्रवराणां सारस्वतब्राह्मणवंश्यानां **श्री श्रीकृष्ण** सूनूनां **श्रीमदनन्तरामशर्मणामात्मजः,** होशियारपुरमण्डलान्तर्गत 'साहिब' ग्रामलब्धजन्मनां 'हिल' इत्युपाह्वानां भारद्वाजगोत्रोद्भूत**श्रीजयदयाला**त्मजपण्डित-**लक्ष्मणदासशर्मणां** चास्मि दौहित्रः ।

पूज्यपितृचरणैरहं आद्ये वयसि दशवर्षाण्यूर्दुभाषां पाठितः, तदनन्तरञ्च व्याकरणमेषोऽधीतामिति कृतमतिभिरेकोनाशीत्यधिकैकोनविंशे १९७९ वैक्रमाब्देऽमृतसरस्तो नातिदूरस्थिते विरजानन्दब्रह्मचर्याश्रमे प्रवेशितो व्याकरणाध्ययनाय ।

विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्र के 'सत्यभाष्य' कर्ता का आत्म-परिचय

अपना परिचय देने में मेरी कोई विशेष रुचि न होते हुए भी पाठक जिस ग्रन्थ या उसके भाष्य को पढ़ते हैं, उसके कर्ता के विषय में सबसे प्रथम जानना चाहते हैं, यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसलिए पाठकों की इस जिज्ञासा का निराकरण करने तथा उपकारक जनों से अनृण होने के लिये ही मैंने अपना परिचय देना उचित समझा है।

मेरे पूज्य पिता जी का नाम **श्री पं० अनन्तराम शर्मा** था, तथा वे सारस्वत वंशोद्भव सहजपाल उपाधिविशिष्ट पं० **श्रीकृष्ण जी** के पुत्र थे। उनका निवास-स्थान पञ्जाब प्रान्त के जालन्धर जिले में स्थित "माहलगहिल" नामक ग्राम था। होशियारपुर जिलान्तर्गत 'साहिब' ग्राम निवासी 'हिल' उपनाम धारी भारद्वाजगोत्रोत्पन्न श्री पं० जयदयाल के पुत्र श्री पण्डित **लक्ष्मणदास शर्मा** मेरे नाना थे।

प्रारम्भ में मैंने पिताजी की आज्ञा से १० वर्ष पर्यन्त उर्दू भाषा का अध्ययन किया। किन्तु इसके उपरान्त उनकी मेरे को व्याकरण पढ़ाने की इच्छा हुई, और उन्होंने वि० संवत् १९७९ में अमृतसर से कुछ ही दूर पर स्थित विरजानन्द ब्रह्मचर्य्याश्रम में मेरा प्रवेश करवा दिया।

तत्र चाहं तदध्यक्षैस्त्यागतपोमूर्तिभिराचार्यचरणैः **श्री ब्रह्मदत्त जिज्ञासु-महोदयैर्**वर्णोच्चारणत आरभ्यार्षप्रक्रियया अष्टाध्यायीक्रमपूर्वकं पातञ्जलमहाभाष्यान्तं निरुक्ताङ्गपुरस्सरं व्याकरणं पाठितो धर्मशास्त्रञ्च। एतस्मिन् काले मम स्मरणशक्तिरतीव तीव्रासीत्। ९-३-१९३० खूैस्ताब्दे अष्टाध्यायी-धातुपाठ-निण्घटु-परिभाषापाठ-लिङ्गानुशासनानां स्मरणविषयिका या परीक्षा श्रीमद्भिराचार्यपादैर्जिज्ञासुमहोदयैर्गृहीता, तत्राऽऽहृत्य सर्वग्रन्थानां ८८५९ सूत्राणां समग्रः पाठो मया ४ घंटे ४० मिनटपरिमिते काले श्रावितः। अस्यां परीक्षायां समग्राणां ५०० (पञ्चशत) अङ्कानां मध्ये ४९७ (त्रिन्यून पञ्चशत) अङ्का उपलब्धाः। एतस्याः परीक्षाया आचार्यपादैः स्वहस्तलिखितमङ्कपत्रमद्यापि मम सकाशं विद्यते। व्याकरणं धर्मशास्त्रञ्चाधीत्य तेषामेव सौहार्देनाहं वाराणस्यां **श्रीमच्छङ्कररामत्रिपाठिमहोदयेभ्यश्**चतुर्विध (ग्रामगेय-आरण्यक-ऊह-ऊह्य) पुरस्सरां समग्रां सामसंहितामपाठिषम्। वेदमूर्ति **श्रीरामभट्टरराटे** महोदयेभ्यश्च क्रियाकलापज्ञान पुरस्सरां दर्शपौर्णमासप्रक्रियामुपादिषि।

पुनश्चाहं श्रीमद्भिर्गुरुवरजिज्ञासुमहोदयैः प्रेरितो महामहोपाध्याय सुधाकर "द्विवेद" शिष्याच्छ्री **पूर्णचन्द्र** त्रिपाठिज्योतिषाचार्यमहोदयाज्ज्योतिषं शास्त्रमध्यगीषि। यस्य प्रत्यक्षमुपयोगो नाडीतत्त्वदर्शनस्य त्रिदोषसंगणनीयाध्याये

उस आश्रम में रहते हुए मैंने वहां के प्रधान (अध्यक्ष), त्याग और तप की मूर्ति, आचार्यचरण, **श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी** से वर्णलिपि से आरम्भ करके वैदिक रीति से अष्टाध्यायीक्रमपूर्वक पातञ्जल-महाभाष्यान्त व्याकरण निरुक्तसहित, तथा धर्मशास्त्र का अध्ययन किया। इन दिनों मेरी स्मरणशक्ति बहुत ही तीव्र थी। दिनांक ९ मार्च सन् १९३० ई० को श्री पूज्यपाद आचार्यप्रवर ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने अष्टाध्यायी, धातुपाठ, निघण्टु, परिभाषापाठ तथा लिङ्गानुशासन के कुल मिलाकर ८८५९ सूत्रों को मुझसे मौखिक सुना। मैंने ४ घंटे ४० मिनट में ही समस्त सूत्र उन्हें सुना दिये। और परीक्षा के लिये निर्धारित ५०० अङ्कों में से ४९७ अङ्क प्राप्त किये। इस परीक्षा का श्री आचार्य जी का हस्तलिखित अङ्क-प्राप्ति-पत्र मेरे पास आज भी सुरक्षित रूप में विद्यमान है। व्याकरण और धर्मशास्त्र को पढ़कर मैंने उन ही की कृपा से, वाराणसी (बनारस) में **श्री पं० शङ्करराम जी 'त्रिपाठी'** महोदय से चतुर्विध गान (ग्रामगेय-आरण्यक-ऊह तथा ऊह्य) पूर्वक सामवेद संहिता का पठन किया। तथा वेदमूर्ति पं० **श्री रामभट्ट रराटे** से सब क्रियाओं सहित दर्शपौर्णमासेष्टि के विधान की शिक्षा प्राप्त की।

इसके पश्चात् मैंने श्री जिज्ञासु जी की ही प्रेरणा से महामहोपाध्याय श्री सुधाकरजी 'द्विवेद' के शिष्य **श्री पूर्णचन्द्र जी त्रिपाठी** ज्योतिषाचार्य से ज्योतिष शास्त्र का अध्ययन किया। जिसका उपयोग 'नाडीतत्त्वदर्शन' ग्रन्थ के 'त्रिदोष संगणनीयाध्याय' में किया गया है।

विहित आस्ते। तथात्र भाष्येऽपि तस्य बहुत्रोपयोग इति यशोभाजां श्री पूर्णचन्द्र-महोदयानां सादरं कृतज्ञता-भारं वहामि।

अत्र वाराणसीय-श्रीपद्मनाभशास्त्रितनुजाः श्रीकेदारनाथ सारस्वता अपि सन्ति स्मरणार्हाः। येषामनुग्रहतोऽहं काव्यनिर्माण-कौशलमलप्सि। यांश्चाहमुपाश्लोकयं सत्याग्रहनीतिकाव्ये। यथा—

सन्तीह नाना कविकर्मदक्षाः, केदारनाथोऽस्ति मयात्र वन्द्यः।
यस्योपदेशैरुत शर्वदृष्ट्या, काव्याङ्कुरं पूर्तिमगान् ममेदम्॥

एवमधीतविविधशास्त्रः सुतरामभ्यस्तश्चाहं लवपुरे श्री जिज्ञासुमहोदयानां दृग्गोचरोऽजमेरस्थ-परोपकारिणी-सभायां श्रीमद्दयानन्दस्वामिकृतपाणिनीयाष्टाध्यायी-तृतीय-चतुर्थाध्यायभाष्यस्य सम्पादनानुवादटिप्पणादि-लेखनकर्म वर्षत्रयमकार्षम्। स एव लेखनाभ्यासोऽस्य भाष्यस्य लिखने परमः सहायको मेऽभूत्।

समधीतायुर्वेदेन लवपुर एव च सम्पादनकर्म कुर्वता मया श्रीमन्तं वैद्यचूडामणिं नाथुराममौद्गल्यमुपेत्य तत आयुर्वेदीयार्षानार्षसंहितासु, प्रत्यक्षशारीरे, रसकर्मसु च विशिष्टा शिक्षाग्राहि। आयुर्वेदविज्ञाननैपुण्यञ्चावाप्यावात्सममृतसरस्येव वैद्यवृत्तिं विदधानः। तत्राहमायुर्वेदविषयाद्यगुरुणा भिषक्शिरोमणि-

---

इस 'सत्यभाष्य' में भी वह बहुत उपयुक्त हुआ है। इसलिये महान् यशस्वी श्री पूर्णचन्द्र जी महोदय का मैं बहुत ही आभारी तथा कृतज्ञ हूं।

यहां पर वाराणसीय (बनारस के रहने वाले) श्री पद्मनाभ शास्त्री के सुपुत्र **श्री केदारनाथ जी सारस्वत** भी सनमन स्मरण करने योग्य हैं। जिनके अनुग्रह से मैंने काव्य बनाने में कुशलता प्राप्त की। तथा जिनकी स्तुति मैंने **'सत्याग्रहनीतिकाव्य'** में **'सन्तीह नाना कविकर्मदक्षाः०"** इत्यादि श्लोक से की है।

उपर्युक्त प्रकार से मैंने विविधशास्त्र-विषयक अध्ययन तथा अभ्यास करके, लवपुर (लाहौर) में ही श्री जिज्ञासु महोदय के निरीक्षण (देखरेख) में अजमेर में स्थित 'परोपकारिणी सभा' में श्री स्वामी दयानन्द कृत 'पाणिनीयाष्टाध्यायी' के तृतीय और चतुर्थ अध्याय के भाष्य का सम्पादन, अनुवाद तथा टिप्पणी लिखने का कार्य ३ (तीन) वर्ष तक किया। उस ही समय का लेखाभ्यास इस भाष्य के लिखने में मेरा परम सहायक हुआ।

आयुर्वेद का अध्ययन करके लवपुर में ही सम्पादन का कार्य करते हुए मैंने वैद्यचूडामणि **श्री नाथुराम मौद्गल्य** से आयुर्वेद-सम्बन्धी ऋषि तथा तद्भिन्न विद्वत्प्रणीत संहिताओं, प्रत्यक्षशरीर तथा रसकर्म में विशेष शिक्षा प्राप्त की। तथा आयुर्वेद-विज्ञान में विचक्षणता प्राप्त करके मैं वैद्यवृत्ति (चिकित्सा आदि) करता हुआ अमृतसर में ही रहा।

पूज्य पण्डित तिलकराम-ब्रह्मचारिमहोदयेन नाडीविज्ञानें, पञ्चीकृतपञ्चभूताना-मूहापोहे च सविशेषं शिक्षितः । त एतेऽस्मद्गुरुचरणा यतिप्रवराः श्रीतिलकराम-ब्रह्मचारिणोऽस्मज्जीवनोपकरणे मूर्धाभिषिक्तं यशो भजन्ते ।

नाडीतत्त्वदर्शनाख्यं निबन्धं निबध्नन्नेवाहममृतसरस्थ "फैन्सी लाण्ड्री" स्वामिना मास्टर-हरिप्रसादमहोदयेन. ज्यौतिष-विषयकं विशिष्टं ज्ञानुमवाप्तुं क्षत्रियवंशोद्भव-'लाला' हरभजघवन-समीपे साग्रहं विनियुक्तः । तस्माच्चाहं कामरूपदेशान्तर्वर्तिशिलाङ्ग-पर्वतस्थमहात्मनः सकाशादधीतां ज्यौतिषगणना-शिक्षामग्रहीषम् । यतो मया नाडीतत्त्वदर्शनगणिते महत् साहाय्यं प्रापीति । तयो-र्मास्टरहरिप्रसाद-लालाहरभजयोर्महान् कृतज्ञताभारो मय्यस्ति ।

प्रसङ्गवशतो यैर्यैः सादरवन्दनीयचरणैर्गुरुभिः स्वप्रदत्तज्ञानानुरूपं यो यो मह्यमुपाधिः प्रदत्तः, स स वर्षमासदिननिर्देशपुरस्सरमिह प्रदर्श्यते—सर्वाङ्ग-समुदितसामवेदाध्ययनानन्तरं, भादप्रद कृ०एकादश्यां भौमे, १९९१ वि०संवत्सरे, १९ प्रविष्टायां तदनुसारं ४-९-१९३४ खिृष्टाब्दे श्री पण्डितप्रवर-शंकरराम-त्रिपाठिभिर्गुर्जरब्राह्मणैरहं 'सामस्वरभास्कर' इत्युपाधिना समयोजि ।

वहां मेरे आयुर्वेद विषय के प्रथम गुरु श्री तिलकराम जी ब्रह्मचारी ने मुझको नाडी-विज्ञान तथा पञ्चीकृत पञ्चभूतों के ऊहापोह के विषय में विशेषरूप से शिक्षित किया। ये यतिप्रवर गुरुवर तिलकराम जी ब्रह्मचारी मेरे जीवनीयोपकार में परम उत्कृष्ट यश के पात्र हैं।

'नाडीतत्त्वदर्शन' ग्रन्थ की रचना करते हुए ही मेरे को ज्योतिषशास्त्र-विषयक विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिये, अमृतसर में स्थित 'फैन्सीलाण्ड्री' के स्वामी मास्टर हरिप्रसाद महोदय ने विशेष आग्रह के साथ, क्षत्रियवंश्य श्री लाला हरभज घवन के पास भेजा। लाला हरभज घवन से मैंने ज्यौतिषगणित विद्या की विशेषरूप से शिक्षा प्राप्त की। जो कि उन्होंने एक कामरूप देशान्तर्वर्ती शिलाङ्गनामक पर्वत में रहने वाले महात्मा के पास से ग्रहण की थी। इससे मुझे 'नाड़ीतत्त्वदर्शन ग्रन्थ' के गणित में विशेष सहायता मिली। इसलिये लाला हरभज घवन और मास्टर हरिप्रसाद का मुझ पर बहुत बड़ा उपकार भार है।

प्रसङ्ग से जिन जिन पूज्य गुरुओं से मुझे स्वप्रदत्त ज्ञान के अनुरूप जो जो उपाधियां प्राप्त हुई हैं उनका भी यहां समयनिर्देशपूर्वक संकेत किया जाता है—

सर्वाङ्गपूर्ण सामवेद का अध्ययन कर लेने पर भाद्रपद कृष्णा ११ (एकादशी) मङ्गलवार विक्रम संवत् १९९१ प्रविष्टा १९ तथा खिृष्टाब्द ४-९-१९३४ को गुर्जर-ब्राह्मण श्री पं० शङ्कुरराम त्रिपाठी ने मुझे "सामस्वरभास्कर" उपाधि प्रदान की।

सामवेदसहितेतरवेदत्रय्यध्ययन-हेतुकश्च, भा० कृ० एकादश्यां भौमे १९९१ वि० संवत्सरे १९ प्रविष्टायां, तदनुसारम् ४-९-१९३४ ख्रिष्टाब्दे पण्डितवर-रामचन्द्रभट्टररराटाख्यैर्महाराष्ट्रब्राह्मणैश् 'चतुर्वेदः' इत्युपाधिर्मह्यं प्रदत्तः। 'आयुर्वेदाचार्यः' इत्युपाधिश्च मह्यं चैत्र कृ० पञ्चम्यां, वि० १९९५ संवत्सरे, तदनुसारम् १८-३-१९३९ ख्रिष्टाब्दे श्री पं० नाथुराममौद्गल्यैस्तद्विद्यालया-ध्यक्षैर्दत्तः।

"साङ्गोपवेदवेदचतुष्टयी" इत्युपाधिर्मया १६ प्र० माघे १९९८ वि० संवत्सरे, तदनुसारम् जनवरी १९४२ ख्रिष्टाब्दे श्री पं० ब्रह्मदत्त-जिज्ञासुमहोदयेभ्यः तद्विद्यालयाध्यक्षेभ्यः प्रापि। 'आयुर्वेदानूचानः' इति च पदं मया १५ प्र० माघे वि० २००२ संवत्सरे श्री पण्डित-तिलकराम-ब्रह्मचारिभ्यो लब्धम्।

ज्योतिर्ज्ञानस्य सारभूतेन रहस्यमयेन चाष्टोत्तरशत १०८ इत्यङ्कविद्या-पदेन सममान्यहं श्रीलालाहरभजनेन, ज्ञापितश्चाहमेतद्विषयकं ज्ञानम्, अतएव मयैतदङ्कविद्यापदं १०८ स्वनामतः पूर्वमङ्क्यते पद्यञ्च ममैतदत्र—

भानां विभ्रमतां भेषु रूपाण्यष्टोत्तरं शतम्।
वेद्मि वच्मि ततश्चार्थात्, ततोऽस्म्यष्टोत्तरं शतम्॥

सामवेद सहित अन्य तीनों वेदों का अध्ययन कर लेने पर इसी भा० कृ० ११ (एकादशी) मंगलवार वि० सं० १९९१ प्र० १९ तथा खिृष्टाब्द ४-९-१९३४ को महाराष्ट्र ब्राह्मण श्री पं० रामचन्द्रभट्ट रराटे ने मुझे 'चतुर्वेदी' उपाधि प्रदान की। चैत्रकृष्णा ५(पञ्चमी) विक्रम सं० १९९५, तथा खिृष्टाब्द १८-३-१९३९ को श्री पं० नाथुराम मौद्गल्य ने, जो कि विद्यालय के अध्यक्ष थे, मुझे 'आयुर्वेदाचार्य' उपाधि प्रदान की।

१६ प्र० माघ मास वि० सं० १९९८ तथा खिृष्टाब्द जनवरी १९४२ को श्री० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी ने जो कि उस ही विद्यालय के अध्यक्ष थे, मुझे "साङ्गोपवेद-वेदचतुष्टयी" उपाधि प्रदान की। १५ प्र० माघ मास वि० सं० २००२ को श्री पं० तिलकराम जी ब्रह्मचारी ने मुझे "आयुर्वेदानूचान" उपाधि प्रदान की।

लाला हरभज धवन ने १०८ इस ज्योतिर्ज्ञान के सारभूत अङ्कपद का रहस्य समझाकर मुझको इस अङ्कपद १०८ से सम्मानित किया। इसी से इस अङ्कपद को मैं अपने नाम से पूर्व लिखता हूं। इस अङ्कपद के विषय में मेरा यह स्वनिर्मित "भानां विभ्रतां भेषु०" इत्यादि पद्य है। जिसका आशय यह है—नक्षत्र तथा राशियों में भ्रमण करते हुए ग्रहों के १०८ रूप होते हैं। इस रहस्यमय विद्या का मैं पूर्ण जानकार हूं। इसीलिये मैं १०८ इस अङ्कपद से युक्त हूं।

नाड़ीतत्त्वदर्शनाख्यमस्मद्ग्रन्थमक्षरशः कर्णगोचरीकृत्य सम्यग्विमृश्य सत्यत्वेन प्रमाणीकृत्य चाहं पौष कृ० एकादश्यां, वि० २००५ संवत्सरे, वाराणसीयविद्वत्परिषदध्यक्षैः 'भिषक्-केसरी' उपाधिना सममानि।

इतरास्वपि भाषासु मया प्रभाकर-मैट्रिकादि परीक्षाः समुत्तीर्य प्रागल्भ्यमासादितमिति विदाङ्कुर्वन्तु विद्वांसः। तथा च प्रयागवास्तव्येभ्यः श्री त्रिलोकचन्द्रवसुभ्यो मया वीणावादनमशिक्षि। यद्दोषाणां सामनिरामपरिज्ञापनद्वारा मेऽत्यन्तं सहायकमभून्नाडीपरीक्षाविधौ।

'सत्याग्रहनीतिकाव्य'-'नाडीतत्त्वदर्शन'ग्रन्थयोः प्रणयनान्तरं व्यतीते कियतिचित् काले, एकदा मामकस्मात् सन्निपातरोगोऽग्रसिष्ट। विनिश्चिताशङ्कितमरणश्चाहमदृष्टवशात् कथञ्चिदसमाप्तजीवनोऽजीविषम्। तदा मेऽभून्मनस्याकस्मिकी श्रीविष्णुसहस्रनामश्रवणेच्छा, सङ्कल्पितञ्च मनसा मया यल्लब्धपूर्णस्वास्थ्यो, भगवतो विष्णोर्नाम्नां सहस्रस्य भाष्यं विधास्ये। इत्येतन्मूलकोऽयम्मे भाष्यप्रणयनोपक्रमः।

इह च भाष्ये मया विभिन्नगुरुभ्य. शिक्षितानामार्थानुसारिणः प्रासङ्गिका विविधशास्त्रविषयका विविधा विषया यथोपयोगमुपन्यासिषत पाठकहितानु-

---

मेरे बनाये हुए 'नाडीतत्त्वदर्शन' ग्रन्थ को आद्योपान्त सुनकर, विचारकर तथा सत्यरूप से प्रमाणित करके, वि० सं० २००५ पौ० कृ० ११ (एकादशी) को बनारस की विद्वत्परिषत् के अध्यक्ष ने मुझे "भिषक्-केसरी" पद प्रदान किया।

प्रभाकर तथा मैट्रिक आदि परीक्षायें उत्तीर्ण करके मैंने हिन्दी इङ्गलिश आदि भाषाओं का भी ज्ञान पूर्णरूप से प्राप्त किया। प्रयाग के रहनेवाले श्री त्रिलोकचन्द्र जी वसु से मैंने वीणावादन (वीणा बजाने) का ज्ञान प्राप्त किया, जो नाड़ी के परीक्षण में मेरा बहुत ही सहायक हुआ।

'सत्याग्रहनीतिकाव्य' तथा 'नाडीतत्त्वदर्शन' ग्रन्थ के बनाने के पश्चात् कुछ समय के बीत जाने पर एक बार मैं अत्युग्र सन्निपात रोग से ग्रस्त हो गया। तथा जीवन की आशा के समाप्त हो जाने पर भी, जीवनांश के शेष होने से अदृष्टवश मैं पुनः जीवित हो गया। तब मेरे मन में सहसा 'श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्र' के सुनने की इच्छा हुई, और मन में सङ्कल्प किया कि मैं स्वस्थ होने पर 'श्री विष्णुसहस्रनाम' का 'सत्यभाष्य' के नाम से भाष्य करूंगा। यह सङ्कल्प ही मेरे इस 'सत्यभाष्य' के निर्माण का मूल (कारण) है।

मैंने इस सत्यभाष्य में भिन्न भिन्न गुरुवरों से अधीत, नामों के अर्थानुगत, प्रासङ्गिक तथा पाठकों के हितकारक, बहुत प्रकार के शास्त्रविषयक विविध विषयों का उपन्यास

बन्धिनः। भाष्यमिदं मदुपज्ञं, मदीया चात्र स्वतन्त्रा व्याख्यानशैली, याऽन्य-भाष्यकार-व्याख्यानशैलिभ्यो भिन्ना, शास्त्रानुगता वेदार्थप्रदीपिनी चेति विभावयन्तु सुधियः।

बहुकृतज्ञताभारवहश्च तेषामहं, यैर्ज्ञानप्रदानेन, सम्मति-प्रदानेन, लेखन-शोधनादिसाहाय्यप्रदानेन वात्र भाष्ये मम कियांश्चिदप्युपकारोऽकारि। भाष्य-निर्माणोद्देश्यं, सहायकानां नामानि तथान्यदपि यत्किञ्चिदुपयुक्तं, तदवतरणिकायां सम्यङ् निर्दिष्टमिति।

कार्तिक पूर्णिमा, रविवासरः
वि० सं० २०२७
१५-११-१९७० ई०

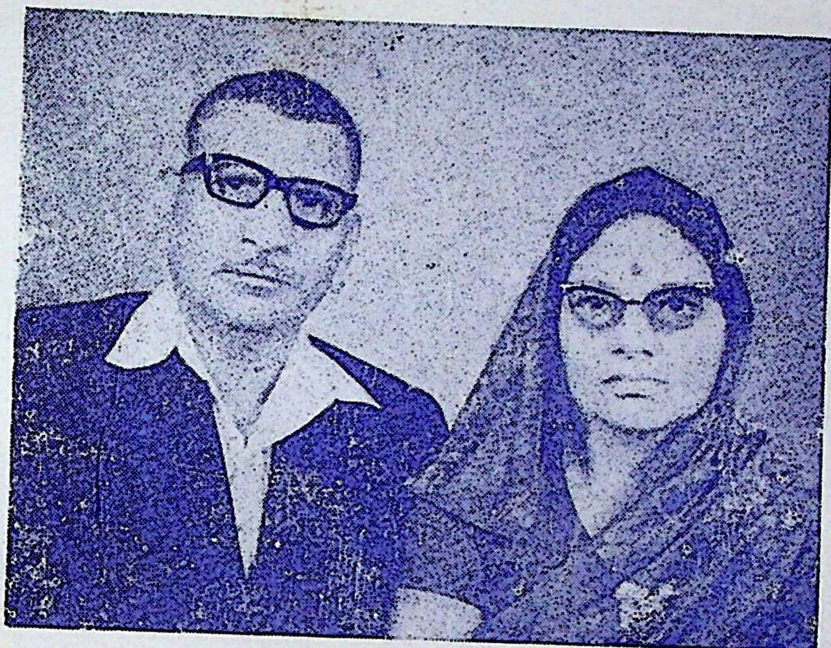
विदुषां वशंवदः—
सत्यदेवो वासिष्ठः
देवसदनम्, भिवानी

(प्रासङ्गिकरूप से वर्णन) किया है। यह भाष्य मेरा (अपना) उपज्ञ अर्थात् ज्ञानरूप है, और इसकी व्याख्याशैली भी और भाष्यकारों से भिन्न मेरी (अपनी) स्वतन्त्र तथा शास्त्रानुगत और वेद के अर्थ की प्रकाशिका है।

मैं उन पूज्य विद्वानों का आभारी तथा कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इस भाष्य में मेरा ज्ञान-प्रदान, सम्मतिप्रदान तथा लेख-शोधन आदि की सहायता प्रदान करके कुछ भी उपकार किया है। मैंने अपने भाष्य-निर्माण का उद्देश्य, सहायकों के नाम तथा अन्य उपयुक्त विषय का भाष्य की अवतरणिका में अच्छे प्रकार से निर्देश कर दिया है।

कार्तिक शुदि पूर्णिमा
रविवार सं० २०२७ वि०
१५।११।७० ई०

विद्वज्जन वशंवद—
सत्यदेव शर्मा वासिष्ठ,
भिवानी।



श्री भक्तवर पं० केशवदेव आत्रेय भिवानी तथा उनकी पत्नी सत्यवती

इस दम्पती ने इस 'विष्णुसहस्रनाम सत्यभाष्य' के छपते समय जो सामयिक अर्थ सहायता दी, वह यद्यपि कुछ कालान्तर लौटा दी गई, तो भी इनका यशोगान तथा कृतज्ञता-प्रकाश अपने को और इस सत्यभाष्य को पवित्र बनाने के लिये करता हूं।

भाष्यकारविषयको मेऽनुभवः

वन्दनीयनामधेयाः सत्यभाष्यकाराः श्री १०८ सत्यदेव-वासिष्ठाः, आयुर्वेद-विदुत्तमा नाडीतत्त्वविज्ञाननिपुणाश्चेति बहुशः श्रुतचरा अपि, षोडशोत्तरद्वि-सहस्रतमे वैक्रमे संवत्सरे श्रावणे मासि 'श्रीहरियाणाशेखावाटी-ब्रह्मचर्याश्रम' अध्यक्षैस्तत्राध्यापयितुमाहूतस्य मे प्रथमं दर्शनपथं गताः । तदानीमिमेऽचिरं सन्निपातरोगमुक्ता इति नितरां दुर्बला अपि स्वाभाविकीं गुणगणगरिमद्युति-मजहतो व्यराजन्त । बहुब्रह्मचारिविद्यार्थिगणसङ्कुलेऽप्याश्रम एषां जलस्थजल-जायमानां रागापेतमुनीयमानाञ्च प्रकृतिं दर्शं दर्शमाश्चर्यसीमामत्यक्रमिषम् ।

यावच्च तत्राश्रमेऽहमवात्सम्, तावदेषां महानुभावानां मनसि वचसि चरित्रे वा क्वचिदपि विषमतां नाद्राक्षम् । प्रत्युतैषामनपायिनी गम्भीरा प्रकृतिरविच्युतो मनोभावश्च जनमनांसि व्यमोहयत् । सर्वविस्मयकारिचरित्रविलोकनेन चैषु

भाषार्थः

पूज्यचरणकमल प्रातःस्मरणीय श्री १०८ सत्यभाष्यकार सत्यदेव जी वासिष्ठ, आयुर्वेद के प्रगाढ विद्वान्, तथा नाड़ी की गति जानने में अत्यन्त निपुण हैं, यह बार बार सुनने पर भी मैंने इनके दर्शन विक्रम सम्वत् २०१६ श्रावण मास में, जब मैं 'श्रीहरियाणा शेखावाटी ब्रह्मचर्याश्रम' में पढ़ाने के लिए आया, तब प्रथम बार किये। उस समय ये अपने स्वाभाविक सात्त्विकगुणगण से शोभित होते हुये भी सन्निपातरोग से पीड़ित होकर मुक्त होने के कारण शरीर से अत्यन्त दुर्बल थे। बहुत से विद्यार्थी और ब्रह्मचारियों से पूर्ण आश्रम में रहते हुए भी इनकी जल में स्थित रहने पर भी जल से निर्लिप्त कमल, तथा वीतराग मुनि जैसी प्रकृति को देखकर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही।

जब तक मैं ब्रह्मचर्याश्रम में रहा, तब तक मैंने इन के मन बचन तथा चरित्र में कभी किसी प्रकार की विषमता नहीं देखी। इसके विपरीत, इनकी सर्वदा एक समान प्रकृति तथा अविचल मनोभाव से आगन्तुक और पास में रहनेवाले मनुष्यों के मन मुग्ध होते थे। इस प्रकार के सब को विस्मित करने वाले इनके चरित्र को देखकर मेरा

जातो म आन्तरः स्नेहः। किन्तु तदेतत्सम्पर्कसौभाग्यमल्पकालमलप्सि, यतो हि मया तत्राल्पकालमध्याप्य जातामयेन त्यागपत्रं प्रदत्तं, कियन्तञ्चित् कालञ्च गृह एवाकार्षं वासम् ।

पूज्यैरेभिश्च मयि तत्राध्यापयत्येव प्रारब्धे श्रीसत्यभाष्यनिर्माण आश्रम-वासं सबाधं समीक्ष्य भिवान्या उत्तरेणान्तिक एव माहमे पथि भव्यमाश्रमपदमेकं निर्मापितम्, यदिदानीं 'देवसदनम्' इतिनाम्ना लब्धास्पदम्। तत्रोषित्वा चेमे संलग्ना भाष्यकरणेऽनन्यमनसः। किन्त्वेवं स्थानसौविध्ये जातेऽपि केवलाः किं किं कुर्युः, यतो हि सर्वरात्रं भाष्यलिखनं, दिवा यावन्मध्याह्नोत्तरमार्तचिकित्सयार्थार्जनम्, पुना रात्रिलिखितस्य सावधानं निरीक्ष्य शोधनम्, शोधितस्य परिष्करणं हिन्द्यनुवादश्चेति महत् सङ्कटमापन्नाः ।

भिवानीस्था योग्या विद्वांसः संशोधन-हिन्द्यादिकरणे सानुरोधं नियुक्ता अपि, दत्तञ्चापि तेभ्यो यथातदपेक्षं पारिश्रमिकम्, किन्तु न सन्तुष्टिमलभतान्तरं मनः। तत एकदौषधमादातुमागतस्य मे पुरत इदं सर्वं वृत्तं न्यवेदयन्, प्रैरयंश्च त्वमत्र मे सहायको भवेति सबलवचनम्। यद्यप्यासमहं तदानीमस्वस्थः, तथाप्य-

---

इनमें अत्यन्त हार्दिक स्नेह हुआ। किन्तु यह इनके सम्पर्क का सौभाग्य मेरे लिये थोड़े ही दिन रहा, क्योंकि मैंने वहां थोड़े समय तक पढ़ाकर रुग्ण होने के कारण वहां से त्याग-पत्र दे दिया, और कुछ समय तक घर पर ही रहा।

पूज्य भाष्यकार ने भी इस 'सत्यभाष्य' का निर्माण कार्य मेरे आश्रम में रहते हुए ही प्रारम्भ कर दिया था। किन्तु आश्रम में इनके लिये इसके निर्माण में कुछ बाधायें थीं। इसलिये भिवानी के उत्तर में पास ही महममार्ग पर एक सुन्दर आश्रम बनवा लिया, जो अब "देवसदन" नाम से विख्यात है। यहां रह कर ये अनन्य मन से भाष्य करने में लग गये। किन्तु इस प्रकार स्थान की सुविधा होने पर भी, अकेले क्या क्या करें? क्योंकि रात्रि भर तो भाष्य के लिखने में व्यस्त रहें, दिन में दोपहर बाद तक चिकित्सा के द्वारा अर्थ का सञ्चय करें फिर रात्रि में लिखित का द्वितीय बार देखकर संशोधन, संशोधित को परिष्कृत करके लिखना तथा हिन्दी में अनुवाद करना, इस प्रकार से स्थान अपना बनवा लेने पर भी सङ्कट बना ही रहा।

भिवानी के जो योग्य योग्य विद्वान् थे, उनको प्रार्थना करके इस कार्य में नियुक्त भी किया, और उनके लिये उन ही के कथनानुसार वेतन भी दिया, किन्तु फिर भी अन्तःकरण में सन्तोष नहीं हुआ। फिर एक बार जब मैं इनके पास औषध लेने के लिये आया, तब इन्होंने यह समाचार मेरे आगे सुनाया, और मुझे इस कार्य में सहायक होने के लिये प्रेरित किया। मैं उस समय अस्वस्थ था, फिर भी इनकी आज्ञा को मैंने

प्रत्याख्येया श्रेयोदा चैषामाज्ञेति मयाऽविमर्शमङ्गीकृता । तत एव प्रभृति संशोधनादिहिन्द्यनुवाद कुर्वतोऽत्रैव निवसतश्च पूज्यश्रीसत्यभाष्यकारविषयको योऽनुभवः समजनि, स इहांशतो विव्रियते ।

यद्यपि साधारण्येन 'श्रीहरियाणा शेखावाटी ब्रह्मचार्याश्रमे' अध्यापयतएव म एषामन्येभ्यो या सामान्यजनविस्मयकरी विशेषता सानुभवगोचरीभूता, तथापि दूरस्थस्य यथाकृतेः स्पष्टं प्रतीतिर्जायते, न तथा तत्स्वभावस्य तद्गुणानाञ्च । इत्यस्यैव पुष्टिकरं—

आकृतिर्दूरतो लक्ष्या न स्वभावस्तथा गुणाः ।
अन्तरङ्गो विजानाति यादृग्गुणस्वभावकः ॥

इति मदीयं वचनम् । सार्धचत्वारि वर्षाणि मयान्तरङ्गीभूयोषितेन यैषां परिश्रमक्षमता, त्यागक्षमता, विविधबाधासहनक्षमता, एकान्तनिश्चयिता तथा दानशीलता चार्दशि, तयात्यन्तं विस्मितोऽहम् । तथा हि—

भाष्यलेखनसमये यावान् यादृशश्च परिश्रमोऽकार्येभिस्तमिमेऽहं ता वा रात्र्यो जानन्ति, यासु सायं दशवादनत आरभ्य प्रातः सप्तवादनपर्यन्तं न क्षणमपि निमीलितेऽक्षिणी, यदा सर्वं चराचरं सुखं स्वपिति । ततश्चोत्थाय यावदपराह्णं

अनिवार्य और श्रेयस्कर विचार कर मान लिया । तब ही से संशोधन आदि तथा हिन्दी अनुवाद करते और इनके पास में रहते हुए जो मेरे को इनके विषय में अनुभव हुआ, उसका मैं यहां संक्षेप से वर्णन करता हूं ।

यद्यपि मुझे साधारण रूप से औरों की अपेक्षा जो इनमें विशेषता है, उसकी आश्रम में पढ़ाते हुए ही जानकारी हो गई थी, तथापि केवल साधारण सम्पर्क बनाकर दूर रहते हुए मनुष्य को दूसरे के आकार मात्र की ही स्पष्ट प्रतीति होती है, उसके स्वभाव और गुणों की नहीं । किन्तु जो जिसके पास अन्तरङ्ग बनकर रहता है, वही उसके स्वभाव और गुणों को भी स्पष्ट या विशेषरूप से जान लेता है । मैंने इनके पास साढे चार (४½) वर्ष तक इनका अन्तरङ्ग होकर रहते, जो इनका परिश्रम, त्याग, अचानक आई हुई विविध बाधाओं की सहनशक्ति, एकान्त निश्चय तथा दानशीलता देखी, उससे मैं बहुत ही विस्मित हुआ । जिसका संक्षिप्तांश इस प्रकार है—

भाष्य के लिखते समय इन्होंने जितना और जैसा परिश्रम किया, उसको ये स्वयं, मैं अथवा वे रात्रियां जानती हैं, जिनमें जहां सम्पूर्ण चराचर जगत् सुख से सोता है, इन्होंने सायङ्काल के दश (१०) बजे से लेकर प्रातःकाल के सात (७) बजे तक क्षण भर भी आंखें बन्द नहीं कीं । फिर उठकर दोपहर बाद तक रोगियों की चिकित्सा करते हुए

रोगिणश्चिकित्सद्भिर्भोजनमपि सायङ्काले कदाचिदकारि कदाचिन्नेति विलोकं विलोकं व्यस्मयिष्ट मे मनः।

त्यागक्षमताञ्चैषां विलोक्य न केवलमहमेवापि तु सभृत्यवर्गः सर्वोऽपि सहचरगणोऽसम्भवमप्येषां सम्भवतीति बह्वाश्चर्यममंस्त। तथा हि—सत्यपि सर्वविध-साधन-सम्पद्गणे सङ्कल्पमात्रलभ्ये च पदार्थजाते स्वयं शरीरावस्थान-मात्रप्रयोजनकं विरसं शुष्कं भोजनं, साधारणमल्पमूल्यञ्च वस्त्रगणमुपयुञ्जाना अपि स्वसहयोगिनः, आगन्तुकान्, भृत्यवर्गञ्च सविशेषं यथातदिच्छ सम्भोज्य परिधाप्य च महान्तं सन्तोषमाप्नुवन्तीति। किमिवाभिधीयेत भोगपराङ्मुखा-नामेषां त्यागक्षमता।

आकस्मिक-विविधबाधा-सहनक्षमताप्येषामस्मादृशजनमन-आश्चर्यकरी। तद्यथा—प्रारब्धेऽस्मिन् 'श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्र-भाष्ये' बहुशो विषमाशन-पानस्नानादिहेतुकाः शारीरिक्यः, तथाकस्मादागतबहुलव्ययरूपाश्चार्थिक्यो बाधा एभिर्महानुभावैर्ऋते मनोविक्रतेरविमर्शं सोढा। जाते च सर्वथा रुचिविघातके प्रतिश्यायादिरोगे बहून्यहान्यभुञ्जानैरेवाहर्निशं यथापूर्वं व्याख्यानं व्यधायि।

सायंकाल को भोजन भी किसी दिन किया, किसी दिन नहीं। यह देखकर भी मेरे मन में बहुत बड़ा विस्मय हुआ।

इन की स्वाभाविक त्यागशीलता को देखकर तो केवल मैं ही नहीं, किन्तु भृत्यों सहित सकल सहचरगण भी आश्चर्यचकित होता था। और विचारता था कि जो औरों के लिये असम्भव है, वह भी इनके लिये सम्भव है। जिसका संक्षिप्तांश इस प्रकार है—सब प्रकार की सुख-साधन-सम्पत्ति के होने, तथा सब प्रकार के पदार्थ-समूह के सङ्कल्प मात्र से लभ्य होने पर भी, स्वयं अपने शरीर के लिये बहुत साधारण रसरहित शुष्क भोजन, तथा साधारण अल्पमूल्य वस्त्रों का उपयोग करते हुए भी अपने सहयोगी, अतिथि, तथा भृत्यगण को उनकी इच्छा के अनुसार विशिष्ट भोजन तथा वस्त्र देकर अपने मन में अत्यन्त सन्तुष्ट होते हैं। यह है स्वयं भोग-पराङ्मुख होते हुए इनकी त्यागशीलता।

आकस्मिक (अचानक) आई हुई बाधाओं को सहन करने की शक्ति इनकी बहुत ही विलक्षण और विस्मयजनक है। जिसका संक्षिप्तांश इस प्रकार है—इस 'श्रीविष्णु-सहस्रनामस्तोत्र-भाष्य' का आरम्भ करने पर, विषम भोजन, पान तथा स्नानादि के कारण से होनेवाली शारीरिक बाधायें तथा अकस्मात्=(अचानक) अतर्कित अर्थव्यय-जनित बाधायें इन महानुभावों ने विना विचार तथा बिना किसी मानसिक विकार के अनायास ही सहन कीं। तथा सब प्रकार की रुचि के विनाशक प्रतिश्याय आदि रोग के होने पर भी इन्होंने कई दिन तक बिना ही भोजन किये रात-दिन पहले के समान स्तोत्र का व्याख्यान चालू रखा।

प्रात्यक्षिका चेयमेका घटना या मदग्रे जाता—कदाचिदेकः स्वेच्छया भ्राम्यन् साधुरिहायातः, विहितश्चैभिस्तस्य साधुजनोचितः सत्कारः। सायञ्च यदासौ यथातद्रुचि सम्भोज्य शयनाय प्राथितस्तदा तदर्थमास्तीर्णां शय्यां प्रत्याख्याय, यत्काष्ठफलकमधिष्ठाय भाष्यकाराः प्रत्यहं भाष्यं लिखन्ति स्म, तदेवास्मै शयनायारोचत। एतेन स्वप्रात्यहिककर्मणि भूयसी बाधेति विमृश्यापि साधोरिच्छा पूरणीयेति साञ्जलिबन्धमेभिस्तदप्यमन्यत। सोऽस्थितेह पञ्चदशविंशान्यहानि। तावति काले तदपेक्षित-व्ययभारो भाष्यनिर्माणविधौ जातः कालातिपातश्चैभिः सहर्षमूढः। किमतोऽधिका सहनक्षमता यत्सोऽपरिचितोऽपि साधुर्यावन्त्यहानि स्थितस्तावद् गृहेश इवैते चागन्तुका इव तावत् स्थिताः।

इदञ्चापरमेषां वैशिष्ट्यं यद्—इमे यत्कार्यमारभन्ते, तत् सम्यग् विविच्य दृढं निश्चित्य चारभन्ते। प्रारब्धञ्च पुनस्तत् कियदपि कठिनं भवेत्, कियन्तोऽपि वा तत्र विघ्नाः समुपतिष्ठेरन्, किन्त्विमे समाप्तिमन्तरा तदन्तरा न जहति, प्राणपणतो यतमानाः। तथा हि—कदाचिन्महता सन्निपातरोगेण ग्रस्तैरेभिः

इस एक घटना को मैंने प्रत्यक्ष देखा—एक बार अपनी इच्छा से भ्रमण करता हुआ एक अपरिचित साधु आ गया। उसका इन्होंने साधुजनोचित सत्कार किया। तथा सायङ्काल अच्छे प्रकार से भोजनादि करवा कर जब उनसे उनके लिये सज्जित शयन पर सोने के लिये प्रार्थना की गई, तो उस महात्मा ने उसके लिये आस्तीर्ण शय्या का प्रत्याख्यान करके, जिस काठ के तखत पर बैठकर भाष्यकार प्रतिदिन रात्रि को भाष्य लिखते थे, उस ही अन्तः प्रकोष्ठस्थित तख्त पर सोने की इच्छा प्रकट की। ऐसा करने से अपने दैनिक कार्य में बहुत बड़ी बाधा होगी, यह विचार कर भी साधुजनों की इच्छा पूरी करने के लिये भाष्यकार ने यह भी हाथ जोड़ कर स्वीकार किया। तथा वह महात्मा इनके यहां पन्द्रह बीस दिनों तक रहा। इतने दिनों तक उसने जितना भी अपनी इच्छानुसार खर्चा किया, वह खर्च और भाष्य बनाने में कालातिपात (देर) यह सब भाष्यकार ने सहर्ष वहन किया। इससे अधिक सहनशक्ति और क्या होगी ? जो कि वह अपरिचित साधु तो इतने दिनों तक घर के मालिक के समान रहा, और स्वयं भाष्यकार एक अतिथि के समान।

यह इनकी एक और विशेषता है—ये जिस कार्य को आरम्भ करते हैं, उस कार्य के विषय में पहिले अच्छे प्रकार विचार लेते हैं, तथा उसके विषय में दृढ़ निश्चय करके उसे आरम्भ करते हैं। प्रारम्भ करने के बाद वह कार्य कितना ही कठिन हो, कितने ही उसमें विघ्न आयें, किन्तु ये उसको विना समाप्त किये बीच में नहीं छोड़ते। प्रत्युत उसकी सिद्धि के लिये प्राणों की भी उपेक्षा करके यत्न करते हैं। उदाहरण के रूप में, एक बार

सङ्कल्पितं यत् स्वस्थोऽहं 'श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रभाष्यम्' करिष्यामि, यस्य नाम 'सत्यभाष्यम्' भविष्यतीति । तमेव सङ्कल्पं सफलयितुमगणयित्वाहर्निशं सोढा शारीरिक्यो भूयस्यो बाधाः, महानार्थिको व्ययश्चासंग्रहिभिरपि । किं कश्चिदनैकान्तिकनिश्चयोऽर्थवानपीदृशे परमार्थोपयोगिनि कार्येऽशीतिसहस्रपरिमित धनराशिर्व्ययेत ? यच्च सर्वं धनं भाष्यप्रणयनसमकालमेव प्रत्यहमर्जितं न तु पूर्वतः सञ्चितम् ।

सर्वतः प्रथममेभिः "डुमरावस्टेटीय" साहित्योत्तमपरीक्षायामुपविष्टैः तामन्तरैव बहिष्कृत्य सङ्कल्पितं यदात्मीयमेकं काव्यं प्रणेष्य इति । तस्यैव सङ्कल्पस्येदम् 'आर्यसमाज' द्वारासञ्चालितसत्याग्रहान्दोलन-निमित्तप्राप्त-हैदराबाद-केन्द्रियकारागार-वासेलिखितं **'सत्याग्रहनीतिकाव्यम्'** सुन्दरं फलम्, यदास्वाद्य सर्वोऽपि प्रशंसन्न श्राम्यति ।

काव्यप्रणयनानन्तरञ्च "नाडीतत्त्वदर्शनम्" नामको ग्रन्थः प्रणीतो य एषां प्रातिभज्ञानपरिचायको भिषग्गणस्य विस्मयापादकश्च । यमधीत्य विमु-

---

सन्निपात रोग से पीड़ित हुए इन्होंने सङ्कल्प किया कि मैं स्वस्थ होने पर 'श्री विष्णुसहस्रनामस्तोत्र' का भाष्य करूंगा, जिसका नाम 'सत्यभाष्य' होगा। उस ही सङ्कल्प को सिद्ध करने के लिये रात-दिन एक करके बहुत सी परिश्रम-जन्य बाधायें, तथा पास में एकदम संग्रह न होने पर भी महान् आर्थिक-व्ययजन्य बाधायें सहन कीं। क्या कोई अपने निश्चय पर अटल न रहनेवाला मनुष्य धनी होने पर भी 'सत्यभाष्य' जैसे पारमार्थिक कार्य में अस्सी हजार रुपये खर्च कर सकता है ? जिसका कि अर्जन केवल भाष्य-प्रणयन-समय में ही किया था, न कि पहले से सञ्चित था।

इन्होंने सब से पहले "डुमराव स्टेट" की साहित्योत्तमा परीक्षा में प्रविष्ट होकर और उसका अकस्मात् ही बहिष्कार करके सङ्कल्प किया कि मैं एक अपना काव्य बनाऊंगा। उस ही सङ्कल्प का यह "आर्यसमाज द्वारा सञ्चालित सत्याग्रह आन्दोलन" में निगृहीत होकर हैदराबाद सेंट्रल जेल में रहते हुए लिखा गया **"सत्याग्रहनीतिकाव्य"** नामक सुन्दर फल है। जिसका आस्वाद लेकर प्रत्येक विद्वान् इसकी प्रशंसा करता हुआ श्रान्त नहीं होता।

'सत्याग्रहनीतिकाव्य' के बनाने के बाद इन्होंने एक **"नाडीतत्त्व-दर्शन"** नामक ग्रन्थ बनाया, जो इनकी सर्वतोमुखी विलक्षण प्रतिभा का ज्ञापक तथा भिषजों (वैद्यों) के लिये आश्चर्यजनक है। जिसको पढ़कर बड़े बड़े आयुर्वेदविद् भी मोहित (विमूढ)

ह्यन्ति महान्त आयुर्वेदविदोऽपि, किमुतान्ये साधारणा भिषजः। यस्मिंश्च भाष्यकारैर्वीणावादनज्ञानस्यापि नाडीतत्त्वविज्ञाने प्रादर्श्यौपकार्यम्।

किं बहुना, यदेकवारमपि विमृश्य मनसा सङ्कल्पितमिदं करिष्य इति, तत्साधनाय प्राणा अपि पणीकृताः। शयनाशनस्नानपानादिव्यवस्थाप्युपेक्षिता। मुख्यसाधनस्यार्थस्याभावोऽपि न किञ्चिद् गणितः। प्रदर्शिता चेयं कवीनामुक्तिः सफलीकृत्य—"**क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतान्नोपकरणे**" इति।

किमियमेषां प्रवृत्तिर्नाश्चर्यकरी यत् पार्श्वे पणकस्यैकस्याप्यभावः, कार्यञ्च लक्षसाध्यं प्रारभन्ते। न कुतश्चिदन्यतोऽर्थसाहाय्यमपेक्षन्ते, दीयमानञ्च नाददते। भवति चेयता महतार्थेन साध्यमपि तत् कार्यं कोटयधीशस्येवाशुसिद्ध्युन्मुखं, न कदाचिदपि धनाभावकृतमवरोधं लभते।

श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रसत्यभाष्य-नाडीतत्त्वदर्शन-सत्याग्रहनीतिकाव्यग्रन्थानां संशोधनहिन्द्यनुवादादिकार्ये मुद्रायणे चासन्नसपादलक्षरूप्यकाणां व्ययोऽवशिष्टश्चातिरिक्तस्तदर्थस्थाननिर्मापणादिव्ययः, एष सर्वोऽपि व्ययः प्रत्यहं स्वयं

हो जाते हैं, साधारण वैद्यों की तो गणना ही क्या है? जिसमें भाष्यकार ने नाडी की गति जानने में वीणावादन ज्ञान की भी उपयोगिता दिखलाई है।

अधिक क्या कहा जाये, जिसका एक बार भी विचार कर मन में सङ्कल्प कर लिया कि इसे मैं करूंगा, उसे सिद्ध करने के लिये इन्होने अपने प्राणों को भी दाव पर रख दिया। शयन, अशन, पान, स्नान आदि व्यवस्था की उपेक्षा कर दी अर्थात् शयन आदि की परवाह न की। कार्य के प्रधान साधनरूप धन के अभाव को भी कुछ न समझा। तथा "**क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति०**" इत्यादि कवि की उक्ति को सफल करके दिखाला दिया। क्या इन्हों की यह प्रवृत्ति (आरम्भ) आश्चर्यजनक नहीं है, कि पास में एक पैसा भी नहीं है, और लाखों रुपयों से सिद्ध होने योग्य कार्य का आरम्भ करते हैं। तथा किसी दूसरे से किसी प्रकार की भी सहायता लेना नहीं चाहते, जब कि वह सानुरोध देना चाहता हो। और वह ही कार्य बहुत अधिक धन से साध्य होने पर भी, किसी कोटिपति धनिक से आरम्भ किये हुए के समान बहुत शीघ्र सिद्ध होता है। उसमें कभी भी धनाभावजन्य रुकावट नहीं आती।

इनका 'श्रीविष्णुसहस्रनाम-स्तोत्र-सत्यभाष्य', 'नाडीतत्त्वदर्शन' तथा 'सत्याग्रहनीतिकाव्य' ग्रन्थों के संशोधन हिन्दी अनुवाद तथा छपवाने आदि में सवा लाख १२५०००) के आस पास खर्चा हुआ है। इसके अतिरिक्त इसी भाष्य आदि के निर्माण के उद्देश्य से जो स्थान बनवाया इसमें जो खर्चा हुआ यह सब प्रतिदिन की आय से हुआ। न कुछ

समर्ज्यं विहितो, न कुतश्चित् सानुरोधं दीयमानमपि कियच्चिदपि गृहीतमिति सर्वमेकान्तनिश्चयितायाः फलं, यदसम्भवमपि सम्भवि भवति ।

सत्यपीयति व्यये कार्यव्यग्रतायाञ्चैषां सहजेव दानक्रियापि यथापूर्वमखण्डं प्रचलिता । तथा हि चिकित्सया सत्यपि भूयस्यायं तमशेषं भृत्यपारिश्रमिकावशिष्टमायमर्थिभ्यः सहचरेभ्यश्च यथापेक्षं विभज्य प्रदाय द्वित्रमात्ररूप्यकधनिनो रात्रावशेरतेति प्रात्यहिकं कार्यं मया साक्षाददर्शि ।

महर्घ्यतारूपनिशाचरीग्रस्त एवम्विधे काले किञ्चिदवशेष्य देयमिति मयान्येन वा केनचिन्नीरुद्धा अपि यथापेक्षं श्व आगन्तेति दृढं विश्वासमाविष्कृत्य निराकार्षुस्तन्निरोधमिति, सततं प्रावर्तत एषामेवंविधे छलछिद्रादिदोषमलीमसे कालेऽपि दानाखण्डता । यदस्मदीयं नहि तत् परेषामित्येषां दृढो निश्चयः, अत एवैषां गोपनीयं बहुमूल्यमपि वस्तु सर्वदानावृतं तिष्ठति ।

परहितकारणनिमित्तप्राप्तक्लेशमप्यगणयन्तः प्रेयोमार्गं विहाय परेषामात्मनश्च श्रेयसे निरन्तरं यतन्ते । अत एव च प्राणैषुरिदं 'श्रीविष्णुसहस्रनाम-

---

पहले से सञ्चित था, न किसी दूसरे से प्रार्थनापूर्वक देने की इच्छा होने पर भी लिया । यह सब दृढ़निश्चयिता का ही तो फल है, जो असम्भव को भी सम्भव बना देता है ।

इतना व्यय और इतनी कार्यव्यग्रता होने पर भी, इनकी दानक्रिया भी पहले के समान निर्बाध रूप से अखण्ड बनी रही । आय का स्रोत केवल एक चिकित्सा होते हुए भी आय पर्याप्त होती थी । किन्तु प्रतिदिन कर्मकरों का वेतन आदि देने पर जो कुछ शेष रहता, उसको याचक और सहचरों में विभक्त करके रात्रि को दो या तीन रुपये अपने पास शेष रखकर सोते थे, यदि बच जाते तो । यह इनकी प्रतिदिन की परिस्थिति मैंने प्रत्यक्ष देखी ।

मैंने और अन्य कुछ जनों ने जो बहुधा आया जाया करते थे, महंगाई को देखते हुए इनसे कुछ आय शेष रखने के लिये प्रार्थना भी की । किन्तु इन्होंने "जितनी जरूरत होगी, उतना कल आयेगा" पर दृढ़ विश्वास प्रकट करते हुए उसका निराकरण किया । और अपनी दानक्रिया को इस छलछिद्रादि दोषों से मलिन समय में भी निरन्तर चालू रक्खा । यह इनका दृढ़ विश्वास है कि जो कुछ मेरा है वह दूसरे का नहीं । इसीलिये ये अपनी किसी गोपनीय बहुमूल्य वस्तु को भी कभी छिपाकर नहीं रखते ।

दूसरों का किसी प्रकार से भी हित करना, इनका परम लक्ष्य है । पर-हित करने से प्राप्त अपने क्लेश को भी ये कुछ न गिनते हुए, भोगमार्ग को छोड़कर सदा अपने और दूसरों के श्रेय (कल्याण) के लिए यत्न करते रहते हैं । इसीलिये इन्होंने 'श्रीविष्णु-

स्तोत्र-सत्यभाष्यम्', यदन्येषां कृतेऽर्थदृष्टया वैदुष्यदृष्टया परिश्रमदृष्टया च दुष्कर-मेव नापि तु दुष्करतममासीत्।

चिकित्सा चैषां बह्वल्पव्ययिका निरुपद्रवा चास्त्यत एव दूराद्दूरत इह रोगिणश्चिकित्सार्थमायान्ति स्वास्थ्यञ्चाप्नुवन्ति। यदि च कश्चिद् रोगीयद-ल्पमपि व्ययितुमक्षमस्तस्मा इमे निर्व्ययानुपानव्ययसहितमौषधं यातायात-व्ययञ्च ददति। साधूनाञ्च कृते विशेषतश्चिकित्साभारस्तदर्थापेक्षितव्यय-भार-श्चैभिरेवोह्यते।

वस्तुतस्त्विमे सर्वसम्पर्कशून्या अपि लोकनिर्वाहाय लोकभवानि कर्माणि कुर्वन्तोऽपि तत्फलेप्साशून्या अधीतसाङ्गवेदोपवेदा रागद्वेषादिद्वन्द्वरहिताः सर्वत्र दयावन्तः सरलस्वभावास्तटस्थवृत्तयो विविक्तसेविनो भोगेष्वनादरा इति जीवनमुक्तोपमं जीवनं व्यत्याययन्ति, इति मे प्रात्यक्षिकानुभूतिः।

इमे च मेऽनुभूतार्थप्रतिपादकाः श्लोकाः—

सहस्रनामस्तोत्र' का निराकार निर्विकार विष्णुपरक व्याख्यान किया, जो कि दूसरों के लिये अर्थदृष्टि, वैदुष्यदृष्टि तथा परिश्रम की दृष्टि से दुष्कर ही नहीं, किन्तु अत्यन्त कठिन था।

समय को देखते हुए ये अपनी चिकित्सा में रोगी का बहुत कम व्यय करवाते हैं। तथा इनकी चिकित्सा से रोगी बहुत जल्दी ही स्वास्थ्य को प्राप्त हो जाता है। इसीलिए बहुत दूर दूर से रोगी यहां चिकित्सा करवाने के लिये आते हैं। यदि कोई रुग्ण इतना थोड़ा सा व्यय भी करने में अपनी असामर्थ्य प्रकट करता है, तो उसके लिये ये बिना कुछ लिये ही औषध, अनुपान खर्च तथा आने जाने का किराया तक अपने पास से देते हैं। विशेष करके जो साधु महात्मा इनके पास चिकित्सा के लिये आते हैं, उनका तो सब ही प्रकार का भार ये स्वय वहन करते हैं।

असलियत में इनके रहन-सहन और आचार-विचार को देखते हुए जैसा मैंने निर्णय किया, उसके अनुसार ये सब प्रकार के सांसारिक सम्बन्धों से पृथक् रहते हुए भी व्यावहारिक लोकनिर्वाह के लिये लौकिक कर्म करते हुए भी उनके फल की इच्छा न करते हुए, व्याकरण आदि अङ्गों सहित वेदचतुष्टय और उपवेदों के तत्त्वज्ञ, रागद्वेषादि द्वन्द्वों से रहित, सर्वत्र दयालु, सरलस्वभाव, उदासीनवृत्ति, एकान्तसेवी तथा भोगों का आदर न करके अर्थात् भोगों को छोड़कर अपना जीवन जीवनमुक्त के समान व्यतीत कर रहे हैं। यह मेरा अपना प्रत्यक्ष अनुभव है।

मेरे अनुभूत अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले ये कुछ श्लोक हैं—

गुण्याग्रणीरेष वदान्यधुर्यः, सदा तटस्थो मुनिमेयवृत्तिः ।
करोति कर्माणि फलानपेक्षो, विशेषतो विश्वजनीनबुद्धिः ।।१।।

सत्याग्रहः सत्प्रवणो विवेकी, वाग्मी सदोदारमना विधिज्ञः ।
समस्तवेदोक्तपथानुयायी, . वर्त्मैहिकञ्चाप्यनुवर्तमानः ।।२।।

कामादिदोषा न कदाचिदस्य, हृद्यङ्कुरत्वं स्वपतोऽपि यान्ति ।
प्रत्यक्षमेतन्मयकानुभूतं, स्थितेन कालं चिरमस्य पार्श्वे ।।३।।

दिवार्जितं तद्दिन एव सर्वं, विभज्य पात्रेष्वथ सेवकेषु ।
शेते विशङ्कोऽयमकिञ्चनः सन्, सुखेन रात्रौ जितषट्सपत्नः ।।४।।

सदाऽप्रमत्तो नियमान् यमांश्च, यथायथं सेवत एकनिष्ठः ।
परोपकारप्रवणो मनीषी, मनीषया मानसतोषमेति ।।५।।

मुनियों के समान तटस्थभावापन्न, प्रशस्त-गुणयुक्त तथा दानियों में अग्रणी, श्रीसत्यभाष्यकार जो कुछ भी कर्म करते हैं, उसमें अपने लिये फल की इच्छा न रखते हुए केवल विश्व के कल्याण की भावना से ही करते हैं ।।१।।

प्रशस्त और मधुरभाषी श्री भाष्यकार यमों में प्रधान सत्यरूप यम का आग्रहपूर्वक अर्थात् विशेषरूप से पालन, और यथासमय दानादि क्रिया करते हुए, सत्-असत् वस्तु के विवेकपूर्वक निरन्तर सत् वस्तुरूप भगवान् विष्णु को ही हृदय में रखते हुए, कर्तव्याकर्तव्य-ज्ञानपूर्वक समस्त वेदोक्त पथ का अनुसरण करते हुए, लोकसिद्ध अर्थात् लोक से स्वीकृत पथ का ही यथावत् अनुसरण करते हैं ।।२।।

पूज्य श्री भाष्यकार के हृदय में काम क्रोध लोभ आदि दोषों का कभी अंकुररूप से भी प्रादुर्भाव नहीं होता। यह मैंने बहुत दिनों तक इनके पास रहकर प्रत्यक्ष देखा है ।।३।।

राग-द्वेष आदि षट् शत्रुओं को वश में करके अर्थात् राग-द्वेष आदि शत्रुओं को अपने हृदय में स्थान न देते हुए श्री भाष्यकार जो कुछ चिकित्सा के द्वारा दिन में अर्जन करते हैं, उस सकल अर्जित द्रव्य को उस ही दिन सेवक तथा दानीयपात्रों में विभक्त करके, स्वयं रात्रि को रिक्त अर्थात् कुछ भी अर्थमात्रा को पास में न रखकर सुख से सोते हैं ।।४।।

सदा एक वस्तुतत्त्वरूप श्री भगवान् विष्णु में निष्ठ, मनीषी भाष्यकार सावधानी-पूर्वक यम और नियमों का सेवन करते हुए केवल परोपकार से ही मानसिक सन्तोष को प्राप्त करते हैं ।।५।।

रजस्तमोधर्मगणं विधूय, सदावदातः शुचिकर्मनिष्ठः ।
सङ्गस्वरूपेऽपि विहायसङ्गं, भवे तटस्थो मुनिभावमाप्तः ॥६॥

विज्ञोऽयमेनोगणसन्निवेशेऽधर्माभिभूताखिलसाधुषार्थे ।
भवे पुनर्धर्ममदभ्रधर्मा, समुद्दिधीषु यंततेऽप्रमत्तः ॥७॥

संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति, लोकोक्तिरेषेह मृषा भवन्ती ।
प्रभावमारोप्यतदाश्रितेषु, सा चारिताथ्र्यं लभते कथञ्चित् ॥८॥

यत्कामको योऽस्य समीपमेति, प्रत्येति भूयस्तमवाप्य कामम् ।
विना व्ययं स्वास्थ्यमिहाप्नुवन्ति, चिरायरुग्णा गतजीवनाशाः ॥९॥

सोढ्वा स्वयं कष्टमथापरेभ्यः, सुखं सदा दातुमना मनस्वी ।
निर्लोभवैरः सरलस्वभावः, सर्वस्वसन्तर्पितविष्णुदेवः ॥१०॥

धन्योऽस्त्ययं भारतभूमिभागो, यो यत्पदन्यासरजोऽनुबद्धः ।
पूतोऽत एवागततीर्थभावः पुण्यः पुनात्यागतजीववर्गम् ॥११॥

रज और तमोगुण के धर्म अर्थात् विकार रूप रागद्वेष आदि का तिरस्कार करके, शुद्ध-हृदय तथा सात्त्विक कर्मों को करते हुए श्री भाष्यकार इस सङ्गस्वरूप अर्थात् सङ्ग से ही जिसका प्रादुर्भाव है, ऐसे लोक में भी सङ्ग को छोड़कर मुनि के समान रहते हैं ॥६॥

अधर्म से आक्रान्त है सकल साधुसमाज जिसमें, ऐसे इस पाप-समूह से व्याप्त ससार में अब भी समग्ररूप से धर्म का आचरण करते हुए श्री विद्वान् भाष्यकार बड़े सावधान होकर धर्मोत्थान के लिये यत्न करते हैं ॥७॥

'दोष तथा गुणों का प्रादुर्भाव संसर्ग से होता है' यह लौकिक कहावत (लोकोक्ति) भी इनके विषय में विफल होती हुई, इनके पास रहने वालों को प्रभावित करके कथञ्चित् सफल होती है । अर्थात् इन पर किसी के सङ्ग का प्रभाव न होकर, दूसरो पर इनके सङ्ग का प्रभाव होता है ॥८॥

जो जिस मनोरथ को लेकर इनके पास आता है, वह सफल-मनोरथ होकर ही वापिस जाता है । जीवन से हताश हुए बहुत से असाध्य रोगी इनके पास आकर विना ही किसी प्रकार के खर्च के स्वस्थ होकर जाते हैं ॥९॥

जिस पर अपना स्वत्व है, अर्थात् जिस विभक्तावशेष को भाष्यकार अपना मानते हैं, वह सब परमतत्त्वरूप भगवान् विष्णु के अर्पित करके लोभ तथा वैर भाव से रहित, उदासीन सरल स्वभाव रहते हुए, स्वयं बड़े से बड़ा कष्ट सहकर भी दूसरों को सुख देने की चेष्टा करते हैं ॥१०॥

यह भारतभूमि का भाग, जिसमें स्वयं भाष्यकार रहते है, धन्य हैं । जो कि पूज्य भाष्यकार के चरणरज के स्पर्श से पवित्र हुआ, अतएव तीर्थभाव को प्राप्त हुआ, अपने यहां आए हुए समस्त जीववर्ग को पवित्र करता है ॥११॥

इत्येवमत्राप्तयशा महात्मा सदानुकर्तव्यवरेण्यशीलः ।
(श्री सत्यदेवो) महनीयवृत्तो महीयते मण्डनमेषमह्याः ॥१२॥

आकृतिर्दूरतो लक्ष्या न स्वभावस्तथागुणाः ।
अन्तरङ्गो विजानाति यादृग्गुणस्वभावकः ॥१३॥

सार्धचत्वारि वर्षाणि सह वसतेक्षितं मया ।
यदेषां तत्तालेखि नांशतोऽपि मृषाङ्कितम् ॥१४॥

इस प्रकार सदा सब के लिये अनुकरणीय हैं कर्म और स्वभाव जिनके, ऐसे सर्वत्र प्राप्त-कीर्ति, श्री सत्यभाष्यकार, १०८ सत्यदेवजी वासिष्ठ, सर्वत्र मही (पृथिवी) के मण्डन (भूषण) होकर पूजित हो रहे हैं ॥१२॥

किसी के गुण या स्वभाव की प्रतीति, जैसी अन्तरङ्ग बनकर रहने वाले को होती है, वैसी दूरस्थ को नहीं । दूरस्थ को तो केवल आकार की ही प्रतीती होती है ॥१३॥

मैंने साढे चार वर्ष (४½) तक इनका अन्तरङ्ग बनकर इनके पास रहते हुए जो कुछ इनके विषय में प्रत्यक्ष देखा है, वह ही लिखा है । बिना देखा और मिथ्या कुछ नहीं लिखा ॥१४॥

—मुन्शीराम शर्मा



श्रीविष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रस्य

चतुर्थभागस्थ-नाम-वर्णानुक्रमणिका

●

क्रमाङ्कः	नाम	संख्या	पृष्ठम्
	अ		
१	अक्रूरः	९१५	२४१
२	अक्षोभ्यः	८०१	७५
३	अक्षोभ्यः	९९९	३७०
४	अग्रजः	८९१	२१५
५	अचिन्त्यः	८३२	१३२
६	अणुः	८३५	१३६
७	अद्भुतः	८९५	२२०
८	अधाता (धाता)	९५१	२९०
९	अधृतः	८४२	१४७
१०	अनघः	८३१	१३१
११	अनन्तः	८८६	२०७
१२	अनन्तरूपः	९३२	२६३
१३	अनन्तश्रीः	९३३	२६५
१४	अनादिः	९४१	२७५
१५	अनियमः (नियमः)	८६५	१८०
१६	अनिर्विण्णः	८९२	२१६
१७	अनिलः	८१२	९२
१८	अनिवृत्तात्मा (निवृत्तात्मा)	७७४	२९
१९	अन्नम्	९८३	३३७
२०	अन्नादः	९८४	३३९
२१	अपराजितः	८६२	१७६
२२	अप्ययः	९००	२२५
२३	अभिप्रायः	८७१	१८७
२४	अमूर्तिः	८३०	१२९
२५	अमृतवपुः	८१४	९४
२६	अमृताशः	८१३	९३
२७	अयमः (यमः)	८६६	१८१
२८	अरौद्रः	९०६	२२९
२९	अर्कः	७९५	६२
३०	अर्हः	८७३	१८९
३१	अश्वत्थः	८२४	११२
	आ		
३२	आत्मयोनिः	९८५	३४२
३३	आधारनिलयः	९५०	२८८
३४	आश्रमः	८५२	१६३
	इ		
३५	इन्द्रकर्मा	७८६	४८
	उ		
३६	उत्तारणः	९२३	२५२
३७	उदुम्बरः	८२३	११०
३८	उद्भवः	७९०	५३
	ऊ		
३९	ऊर्ध्वगः	९५४	२९४
४०	ऊर्जितशासनः	९१०	२३४

क्रमाङ्कः	नाम	संख्या	पृष्ठम्
	ए		
४१	एकपात्	७७२	२८
४२	एकात्मा	६६५	३१०
	क		
४३	कथितः	८४८	१५८
४४	कपिः	८६६	२२४
४५	कपिलः	८६८	२२३
४६	कुण्डली	६०७	२३१
४७	कुन्दः	८०६	८७
४८	कुन्दरः	८०८	८५
४६	कुमुदः	८०७	८३
५०	कृतकर्मा	७८८	५१
५१	कृतागमः	७८६	५२
५२	कृशः	८३७	१३६
५३	क्षमिणां वरः	६१६	२४७
५४	क्षामः	८५४	१६६
५५	क्षितीशः	६६१	३५५
	ग		
५६	गदाग्रजः	७६४	२१
५७	गदाधरः	६६७	३६६
५८	गभीरात्मा	६३७	२७०
५६	गुणभृत्	८३६	१४३
	च		
६०	चक्री	६०८	२३२
६१	चक्री	६६५	३६२
६२	चतुर्गतिः	७६८	२३
६३	चतुर्बाहुः	७६६	२४
६४	चतुर्भावः	७७०	२५
६५	चतुर्मूर्तिः	७६५	२३
६६	चतुर्वेदवित्	७७१	२५
६७	चतुर्व्यूहः	७६७	२५
६८	चतुरश्रः	६३६	२६८
६६	चतुरात्मा	७६६	२४
७०	चाणूरान्ध्रनिषूदनः	८२५	११६
	ज		
७१	जनजन्मादिः	६४७	२८३
७२	जननः	६४६	२८२
७३	जन्ममृत्युजरातिगः	६६६	३१२
७४	जयन्तः	७६८	६८
७५	जितमन्युः	६३४	२६६
७६	जीवनः	६३०	२६०
७७	ज्योतिः	८७७	१६६
	त		
७८	तत्त्वम्	६६३	३०७
७६	तत्त्ववित्	६६४	३०८
८०	तन्तुवर्धनः	७८५	४६
८१	तारः	६६८	३१६
८२	तेजोवृषः	७५७	१०
८३	त्रिलोकधृक्	७५१	१
	द		
८४	दक्षः	६१७	२४४
८५	दक्षिणः	६१८	२४६
८६	दमः	८६१	१७५
८७	दण्डः	८५६	१७३
८८	दमयिता	८६०	१७४
८६	दिशः	६४०	२७४

क्रमाङ्कः	नाम	संख्या	पृष्ठम्
९०	दुर्गः	७७९	३७
९१	दुर्गमः	७७८	३६
९२	दुर्जयः	७७५	३२
९३	दुरतिक्रमः	७७६	३३
९४	दुर्लभः	७७७	३५
९५	दुरारिहा	७८१	४०
९६	दुरावासः	७८०	३९
९७	दुष्कृतिहा	९२४	२५३
९८	दुःस्वप्ननाशनः	९२६	२५६
९९	देवकीनन्दनः	९८९	३४९
१००	द्युतिधरः	७५८	१२
	ध		
१०१	धनुर्धरः	८५७	१७१
१०२	धनुर्वेदः	८५८	१७२
१०३	धराधरः	७५६	९
१०४	धन्यः	७५४	६
	न		
१०५	नन्दकी	९९४	३६०
१०६	निग्रहः	७६१	१६
१०७	नियन्ता	८६४	१७८
१०८	निर्गुणः	८४०	१४५
१०९	नैकजः	८९०	२१३
११०	नैकशृंगः	७६३	१८
१११	न्यग्रोधः	८२२	१०८
	प		
११२	पणः	९५८	३००
११३	पर्जन्यः	८१०	८८
११४	पर्यवस्थितः	९३१	२६१
११५	पापनाशनः	९९२	३५६
११६	पावनः	८११	९१
११७	पुण्यः	९२५	२५५
११८	पुण्यश्रवणकीर्तनः	९२२	२५०
११९	पुष्पहासः	९५२	२९१
१२०	पेशलः	९१६	२४३
१२१	प्रग्रहः	७६०	१५
१२२	प्रजागरः	९५३	२९३
१२३	प्रणवः	९५७	२९९
१२४	प्रपितामहः	९७०	३१९
१२५	प्रमाणम्	९५९	३०२
१२६	प्राग्वंशः	८४५	१५१
१२७	प्राणजीवनः	९६२	३०६
१२८	प्राणदः	९५६	२९७
१२९	प्राणनिलयः	९६०	३०३
१३०	प्राणभृत्	९६१	३०५
१३१	प्रियकृत्	८७४	१९०
१३२	प्रियार्हः	८७२	१८८
१३३	प्रीतिवर्धनः	८७५	१९२
	ब		
१३४	बृहत्	८३६	१३६
	भ		
१३५	भयकृत्	८३३	१३२
१३६	भयनाशनः	८३४	१३५
१३७	भयापहः	९३५	२६७
१३८	भारभृत्	८४७	१५७
१३९	भीमः	९४८	२८५
१४०	भीमपराक्रमः	९४९	२८६
१४१	भूर्भुवः	९४२	२७६
१४२	भूर्भुवःस्वस्तरुः	९६७	३१३

क्रमाङ्कः	नाम	संख्या	पृष्ठम्
१४३	भोक्ता	८८८	२११
	म		
१४४	महाकर्मा	७८७	४९
१४५	महागर्तः	८०४	७९
१४६	महानिधिः	८०६	८२
१४७	महान्	८४१	१४६
१४८	महाभूतः	८०५	८१
१४९	महाह्रदः	८०३	७७
१५०	मेघजः	७५३	५
	य		
१५१	यज्ञः	९७१	३२०
१५२	यज्ञकृत्	९७७	३२८
१५३	यज्ञगुह्यम्	९८२	३३५
१५४	यज्ञपतिः	९७२	३२१
१५५	यज्ञभुक्	९७९	३३१
१५६	यज्ञभृत्	९७६	३२७
१५७	यज्ञवाहनः	९७५	३२६
१५८	यज्ञसाधनः	९८०	३३२
१५९	यज्ञाङ्गः	९७४	३२३
१६०	यज्ञान्तकृत्	९८१	३३४
१६१	यज्वा	९७३	३२२
१६२	यज्ञी	९७८	३३०
१६३	योगी	८४९	१६०
१६४	योगीशः	८५०	१६१
	र		
१६५	रक्षणः	९२८	२५८
१६६	रत्ननाभः	७९३	५८
१६७	रथाङ्गपाणिः	९९८	३६७

क्रमाङ्कः	नाम	संख्या	पृष्ठम्
१६८	रविः	८८१	२०१
१६९	रविलोचनः	८८५	२०६
१७०	रुचिराङ्गदः	९४५	२८०
	ल		
१७१	लक्ष्मीः	९४३	२७८
१७२	लोकाधिष्ठानम्	८९४	२१८
१७३	लोकसारङ्गः	७८३	४३
	व		
१७४	वंशवर्धनः	८४६	१५५
१७५	वाजसनः	७९६	६५
१७६	वायुवाहनः	८५६	१६९
१७७	विक्रमी	९०९	२३३
१७८	विदिशः	९३८	२७२
१७९	विद्वत्तमः	९२०	२४८
१८०	विभुः	८८०	२००
१८१	विरोचनः	८८२	२०२
१८२	विहायसगतिः	८७६	१९४
१८३	वीतभयः	९२१	२४९
१८४	वीरहा	९२७	२५७
१८५	व्यग्रः	७६२	१७
१८६	व्यादिशः	९३९	२७३
१८७	वैखानः	९८७	३४५
	श		
१८८	शंखभृत्	९९३	३५८
१८९	शत्रुजित्	८२०	१०६
१९०	शत्रुतापनः	८२१	१०७
१९१	शब्दसहः	९१२	२३७
१९२	शब्दातिगः	९११	२३६

क्रमाङ्कः	नाम	संख्या	पृष्ठम्
१९३	शर्वरीकरः	९१४	२४०
१९४	शार्ङ्गधन्वा	९९६	३६४
१९५	शिशिरः	९१३	२३९
१९६	शुभाङ्गः	७८२	४२
१९७	श्रमणः	८५३	१६५
१९८	शृङ्गी	७९७	६७
	स		
१९९	सत्पथाचारः	९५५	२९६
२००	सत्यः	८६९	१८४
२०१	सत्यधर्मपरायणः	८७०	१८५
२०२	सत्यमेधाः	७५५	७
२०३	सत्त्ववान्	८६७	१८२
२०४	सदामर्षी	८९३	२१७
२०५	सनात्	८९६	२२१
२०६	सनातनतमः	८९७	२२२
२०७	सन्तः	९२९	२५९
२०८	सप्तजिह्वः	८२७	१२३
२०९	सप्तवाहनः	८२९	१२६
२१०	सप्तैधाः	८२८	१२५
२११	समावर्तः	७७३	२९
२१२	सर्वकामदः	८५१	१६२
२१३	सर्वज्ञः	८१५	९७
२१४	सर्वतोमुखः	८१६	९९
२१५	सर्वप्रहरणायुधः	१०००	३७१
२१६	सर्ववागीश्वरेश्वरः	८०२	७६
२१७	सर्वविज्जयी	७९९	७०
२१८	सर्वशस्त्रभृतां वरः	७५९	१३
२१९	सर्वसहः	८६३	१७७
२२०	सविता	८८४	२०५
२२१	सविता	९९९	३१८
२२२	सहस्रार्चिः	८२६	१२०

क्रमाङ्कः	नाम	संख्या	पृष्ठम्
२२३	सात्त्विकः	८६८	१८३
२२४	सामगायनः	९८८	३४७
२२५	सिद्धः	८१९	१०४
२२६	सुखदः (असुखदः)	८८९	२१२
२२७	सुनन्तुः	७८४	४५
२२८	सुन्दः	७९२	५६
२२९	सुन्दरः	७९१	५५
२३०	सुपर्णः	८५५	१६७
२३१	सुमेधाः	७५२	२
२३२	सुरुचिः	८७८	१९८
२३३	सुलभः	८१७	१०१
२३४	सुलोचनः	७९४	६०
२३५	सुवर्णबिन्दुः	८००	७२
२३६	सुव्रतः	८१८	१०३
२३७	सुवीरः	९४४	२७९
२३८	सूर्यः	८८३	२०३
२३९	स्थूलः	८३८	१४१
२४०	स्वधृतः	८४३	१४९
२४१	स्वयंजातः	९८६	३४३
२४२	स्वस्ति	९०३	२२७
२४३	स्वस्तिकृत्	९०२	२२७
२४४	स्वस्तिदः	९०१	२२७
२४५	स्वस्तिदक्षिणः	९०५	२२७
२४६	स्वस्तिभुक्	९०४	२२७
२४७	स्वास्यः	८४४	१५०
२४८	स्रष्टा	९९०	३५३
	ह		
२४९	हुतभुक्	८७९	१९९
२५०	हुतभुक्	८८७	२०९

श्री त्रिलोचनचन्द्र वसु जी का संक्षिप्त परिचय

त्रिलोचनचन्द्र वसु यन्त्र-संगीत के विषय में एक विज्ञ, तथा योग्य व्यक्ति हैं। पच्चास वर्ष यावत् इन्होंने 'दिलरुबा' की सहायता से यन्त्र-संगीत की विभिन्न शैलियों का अभ्यास तथा अनुकरण किया है। श्रद्धेय उस्ताद करामात उल्लाखां साहेब "सरोदिया", संगीत ऋषि प० हरिनारायण मुखोपाध्याय तथा तदीय शिष्य इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अध्यापक पं० अनुकूल चन्द्र मुखोपाध्याय के निकट इन्होंने सुदीर्घकाल तक संगीत की शिक्षा प्राप्त की।

त्रिलोक बाबू का आदि अभिजन निवास बंगाल में होते हुए भी, १९०२ ई० सन् में इन्होंने उत्तरप्रदेश के उन्नाव ग्राम में जन्म ग्रहण किया।

शैशव में पितृविहीन होकर इलाहाबाद में मातामह के यहां प्रतिपालित हुए। वहीं पर १९२१ सन् में अपनी शिक्षा समाप्त करके E. I Rly डिविजनल सुपरिन्टेण्डेंट के कार्य्यालय में भृति (नौकरी) कर ली थी। तथा प्रथम मास के वेतन से ही इन्होंने बहुत दिनों की आशा-इच्छा पूत्यर्थं एक दिलरुबा खरीदा। इनकी शैशवकाल से ही संगीत में प्रीति थी। वही सुप्त इच्छा जागृत हो उठी, जब से कर्मजीवन में प्रवेश किया, सन् १९५५ से चाकरी से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् भी संगीत चर्चा लेकर ही संलग्न रहे, इनके पिता का नाम था सुरेन्द्रनाथ वसु था।



श्री त्रिलोचनचन्द्रवसुमहोदयाः
वीणावादन-शिक्षकाः

ग्रन्थकारः—सत्यदेवो वासिष्ठः
वीणावादन-शिक्षमाणः

अथ

महाभारतान्तर्गत (अनुशासन पर्व-अ० १४९)

श्रीविष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम्

उत्तरार्धम्

[श्री १०८ पं० सत्यदेव-वासिष्ठ-विरचित-सत्यभाष्य-समन्वितम्]

··· ··त्रिलोकधृक् ।
सुमेधा मेधजो धन्यः सत्यमेधा धराधरः ॥६३॥

तत्र—

त्रिलोकधृक्—७५१

त्रीन् लोकान् धृष्णोतीति त्रिलोकधृक् ।

"ञिधृषा प्रागल्भ्ये" इति सौवादिकधातोः क्विनि, जश्त्वे, क्विन्प्रत्ययस्य कुः (पा० ८।२।६२) इति कुत्वे च धृक्—शब्दसिद्धिः । लक्षणया च धारण-पोषणरूपोऽर्थः ।

यद्वा त्रिलोकधृत्—इत्यपि क्वचिद् दृश्यते, तत्र "धृञ् धारण" इति धातोः क्विपि, तुकि, च स सिध्यति ।

त्रिलोकधृक्—७५१

तीनों लोकों को जो धारण करता है, उसका नाम त्रिलोकधृक् है । प्रागल्भ्यार्थक स्वादिगण पठित धृष धातु से क्विप् प्रत्यय, जश्त्व, तथा कुत्व करने से धृक् शब्द सिद्ध होता है । लक्षण से धारणरूप अर्थ ग्रहण किया जाता है । किसी-किसी के मत से 'त्रिलोक धृत्' ऐसा पाठ है, वह धृञ् इस धारणार्थक धातु से क्विप् तथा तुक् करने से सिद्ध होता

भूतं—वर्तमानं—भविष्यच्च सर्वं स एव धारयतीति निश्चाययितुं स त्रिलोकधृक्—त्रिलोकधृदित्यनेन वा नाम्ना स्तूयते। लोकेऽपि च पश्यामः—जीवः प्रार्थयते भगवन्तं **"यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु शन्नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः"** (यजुः ३६।२) मनश्चक्षुर्हृदयञ्चापि त्रिकालं भूतभवद्भविष्यद्रूपं धारयति। एतेनैतेषु त्रिषु लोकत्वमुपचर्यते। अमुथैवायं सूर्योऽपि, यापितं—यापयिष्यमाणं याप्यमानञ्च तद्व्यवस्थया व्यवस्थितं धारयति। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"अधि क्षियन्ति भुवनानि विश्वा।" १।१५४।२॥

भवति चात्रास्माकम्—

त्रिलोकधृग् विश्वमिदं समस्तं भवद् भविष्यत् किमुवापि भूतम्।
स्वज्ञानमात्रे नियतं विधार्य पात्रं यथापो निहितं बिभर्ति ॥१॥

सुमेधाः—७५२

सूपसर्ग उत्तमार्थकः। मेधाशब्दो "मिदृ मेदृ मेधाहिंसनयोः" इति भौवादिकौ धातू, तौ च मतभेदेन थान्तौ धान्तौ च। अस्माभिश्चात्र धान्तोऽनुकल्पः स्वीक्रियते। मेधृ धान्तधातोः **"गुरोश्च हलः"** (पा० ३।३।१०३) सूत्रेण स्त्रिया-

---

है। भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् को भगवान् विष्णु ही धारण करता है, इस अर्थ को बतलाने के लिये महापुरुषों ने उसकी त्रिलोकधृक् या त्रिलोकधृत् नाम से स्तुति की है, लोक में भी **"यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वा"** (यजुः ३६।२) इत्यादि मन्त्र में इसी प्रकार जीवकृत प्रार्थना देखने में आती है। मन चक्षु और हृदय भी भूत वर्तमान भविष्यत् रूप तीनों कालों को धारण करते हैं, इसलिये इन तीनों में भी लोकत्व का व्यवहार होता है। इस प्रकार सूर्य भी भगवान् की व्यवस्था से व्यवस्थित, व्यतीत, बीतते हुये तथा बीतें जाने वाले सब को धारण करता है। जैसा कि **"अधि क्षियन्ति भुवनानि विश्वा"** (ऋक् १।१५४।२) मन्त्र से सिद्ध है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम त्रिलोकधृक् इसलिये है कि वह इस सकल भूत वर्तमान तथा भविष्यत् रूप विश्व को अपने ज्ञान में इस प्रकार धारण करता है, जैसे पात्र जल को धारण करता है।

सुमेधाः—७५२

सु यह शोभनार्थक (श्रेष्ठार्थक) उपसर्ग है। मिदृ तथा मेदृ ये मेधा और हिंसार्थक भ्वादिगण पठित दो धातु हैं, इनको कोई थकारान्त मानता है, तथा कोई धकारान्त। हम यहां धकारान्त पक्ष को स्वीकार करते हैं। मेधृ इस धान्त धातु से स्त्रीत्व विशिष्ट

मकारप्रत्ययस्ततष्टाप् मधेति । शोभना मेधा यस्येति बहुव्रीहौ **"नित्यमसिच् प्रजामेधयोः"** (पा० ५।४।१२२) सूत्रेण समासान्तः असिच् प्रत्ययः **"यस्येति च"** (पा० ६।४।१४८) सूत्रेणाकारलोपः प्रातिपदिकसंज्ञा, सुबादिकार्यम्, असन्तलक्षणो दीर्घश्च । **नित्यमसिजिति** सूत्रे नित्यग्रहणमन्यपूर्वपदादपि भवत्यसिज्, न केवलं नञ्दुःसुभ्य एवेति सूचयति । तथा च—

श्रोत्रियस्येवते राजन् मन्दकस्याल्पमेधसः ।
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी ।"

द्र० महा० शान्ति० १०।१ ।।

मेधा धारणात्मिका बुद्धिरित्यनुशुश्रुम । सर्वत्रानुस्यूतलक्षणः सुमेधः-संज्ञो भगवान् विष्णुर्न कदापि कृतं विस्मरति । अथवा यावत्यो मेधाः संसृतौ तावत्यः सर्वास्तदनुगुणा एव । यो हि यावद् भगवतः सुमेधस्त्वं जानाति, स तावन्मेधासाम्राज्यं लभते—इतरप्राणिनाञ्च मेधास्तिरस्करोति, तज्जं वा ज्ञानमधिगच्छतीति बोद्धव्यम् । एवमन्यप्राणिष्वपि यथायथमूह्यम् । अत्र विष्णोर्नाम **सत्यमेधाः** (सं० ७५५) इत्यपि संगृहीतमस्ति । कदाचिदपि तस्य मेधा न विपर्येति अत एव स सुमेधा उक्तो भवति । मन्त्रलिङ्गञ्च—

भाव में अ प्रत्यय तथा स्त्रीत्व के वाच्य होने पर टाप् प्रत्यय करने से मेधा शब्द सिद्ध होता है शोभन है मेधा जिसकी, इस प्रकार बहुव्रीहि समास में समासान्त असिच् प्रत्यय करने से, सुमेधस् शब्द बनता है, तथा सुबन्त बनने पर प्रथमा के एक वचन में सुमेधाः शब्द बन जाता है ।

"नित्यमसिच् प्रजामेधयोः" (पा० ५।४।१२२) इस सूत्र में नित्यग्रहण, केवल नञ् दुस् सु इनके पूर्वपद रहने पर ही मेधाशब्द से समासान्त असिच् प्रत्यय नहि होता, किन्तु अन्य पद पूर्वपद रहने पर भी होता है, यह सूचित करता है, जिससे **"श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याल्पमेधसः"** (द्र० महा० शान्ति० १०।१) इत्यादि पद्योक्त, अल्पमेधाः शब्द सङ्गत हो जाता है ।

मेधा नाम अर्थ धारण करने वाली बुद्धि का है । सर्वत्र ओत प्रोत हुआ भगवान् विष्णु सुमेधा नामक किसी समय भी किये हुये अर्थात् कार्य को नहीं भूलता अर्थात् जो कुछ भी भूत भवत् भव्य है, वह सब भगवान् की बुद्धि में स्थिर है, अथवा जितनी भी जगत् के प्राणियों में मेधायें हैं, वे सब भगवान् की मेधा से अनुस्यूत अर्थात् व्याप्त हैं । जो विद्वान् जितने रूप में भगवान् के सुमेधस्त्व रूप गुण को समझ लेता है, वह विद्वान् उतना ही मेधा पर अपना अधिकार कर लेता है, अर्थात् मेधावी बन जाता है, तथा और प्राणियों की मेधायें उससे तिरस्कृत हो जाती हैं अथवा वह दूसरे प्राणियों के मानस ज्ञान अर्थात् रहस्य को समझने लग जाता है ।

इसी प्रकार और मनुष्येतर प्राणियों में भी समझ लेना चाहिये ।

"सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्। सनिं मेधामयासिषम्॥
यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति।
ऋक् १।१८।६, ७॥

इति दिङ्मात्रमुक्तम्। विशेषजिज्ञासुभिर्वेदोऽनुसन्धेयः बुद्धिवैशद्याय, सत्यज्ञानमयो हि वेदः।

"न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन्।"
अथर्व ५।११।४॥

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुः सुमेधाः स हि सत्यमेधा व्यनक्ति विश्वं प्रपदं तमेव।
तमेव देवं वरुणं तथाग्निं प्रजापतिं वायुमथापि मत्वा॥२॥

तथा—

मेधाभिलाषी निजदोषमृष्टचै यथार्हंमार्गञ्च गुरूपदेशात्।
लब्ध्वा व्रतान्याकलयन् समेति मेधां सुमेधामुत सत्यमेधाम्॥३॥

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"मेधाम्मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे॥
यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा। यजु ३२।१५, १४॥

इस स्तोत्र में भगवान् का **सत्यमेध** नाम भी संगृहीत है। उसकी मेधा कभी भी विपरीत नहीं होती, इसीलिये उसका नाम सुमेधा है। इस नाम में **"सदसस्पतिमद्भुतम्"** तथा **"यस्मादृते न सिध्यति"** (ऋक् १।१८।६, ७) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है। यह हमने केवल मार्गमात्र का प्रदर्शन किया है। विशेष रूप से जानने के लिये वेद का मनन करना चाहिये, क्योंकि वेद ही सत्यज्ञान रूप है। जैसा कि **"न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो"** (अथर्व ५।११।४) इत्यादि मन्त्र का अभिधान है, इससे पूर्वोक्त भाव प्रमाणित होता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम सुमेधा तथा सत्यमेधा है, यह विश्व उस सुमेधा तथा सत्य-मेधा को ही देव, वरुण, अग्नि, प्रजापति तथा वायु रूप से पद-पद पर प्रकट कर रहा है।

इसी प्रकार—अपने दोषों का मार्जन करने के लिये मेधा को चाहने वाला विद्वान् गुरु के उपदेश से योग्य मार्ग निश्चित करके गुरु के उपदेश का सतत मनन करता हुआ, मेधा, सुमेधा अथवा सत्यमेधा को प्राप्त कर लेता है।

वरुण आदि रूप भगवान् से मेधा प्राप्त करना **"मेधाम्मे वरुणो ददातु"** (यजुः ३२।१५) इत्यादि मन्त्र से प्रमाणित होता है।

मेधजः—७५३

मिधृ मेधृ मेधाहिंसनयोरिति भौवादिकौ धातू । तत्र मेधृ धातोः "हलश्च" (पा० ३।३।१२१) सूत्रेणाधिकरणे घञ् प्रत्ययः, उपदेशसिद्धश्च गुणो मेधः । सप्तम्यन्ते मेध इत्युपपदे जनिधातोः "सप्तम्यां जनेर्डः" (पा० ३।२।९७) सूत्रेण डः प्रत्ययः, तस्मिंश्च परतष्टेर्लोपः मेधज इति । जनिभावमापद्य जनमेधायां तिष्ठासुर्भगवान् विष्णुर्जगदाविष्करोति, ततश्च स मेधास्थित एव मेधज इत्युच्यते ।

यद्वा—जगदाविष्करणमेव मेधो=यज्ञस्तस्मिन् जायते=जायमान इव प्रतीयत इति मेधजो भगवान् विष्णुः । तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"कामस्तदग्रे समवर्तताधि ।" ऋक् १।१२९।४ ॥

"तन्महिना जायतैकम् ।" ऋक् १०।१२९।३ ॥

"ऋतञ्च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।" ऋक् १०।१९०।१ ॥

तथा—

"यथापूर्वमकल्पयद् ।" ऋक् १०।९०।३ ॥

अन्यच्चापि मन्त्रलिङ्गम्—

"अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम् ।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ।" अथर्व १०।८।३३ ॥

लोकेऽपि च पश्यामो यथाभिमतं चिकीर्षुः कर्म, पूर्वं मेधायां चित्रयति,

---

मेधजः—७५३

मिधृ तथा मेधृ ये मेधा तथा हिंसार्थक धान्त धातु हैं । मेधृ धातु से अधिकरण अर्थ में घञ् प्रत्यय करने से मेध शब्द सिद्ध होता है । इस सप्तम्यन्त मेध शब्द के उपपद रहने पर प्रादुर्भावार्थक जन धातु से ड प्रत्यय और टि का लोप करने से मेधज यह सुबन्त पद बन जाता है । जगत् का आविष्कार करके भगवान् जनों की मेधा में स्थित होता है । इसलिये महापुरुषों ने उसको मेधज नाम से कहा है अथवा जगत् का आविष्कार ही मेध (यज्ञ) है, उसमें जायमान के समान प्रतीत होता हुआ भगवान् मेधज नाम से कहा जाता है । इस अर्थ के प्रतिपादक **"कामस्तदग्रे समवर्तताधि"** (ऋक् १।१२९।४) **"तन्महिना जायतैकम्"** (ऋक् १०।१२९।३) **"ऋतञ्च······यथापूर्वमकल्पयत्"** (ऋक् १०।१९०।१–३) तथा **"अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति"** (अथर्व १०।८।३३) इत्यादि मन्त्र हैं ।

हम लोक में भी देखते हैं, प्रत्येक मनुष्य जिस कार्य को करना चाहता है, उस कार्य को पहले अपनी मेधा अर्थात् बुद्धि में चित्रित करता है और फिर उसे करता है, अर्थात्

तच्चित्रं पश्चात्तत् करोति, पुनस्तदभिसम्पद्यते। तथैव मेधात्मके यज्ञे जातः स्वाभाव्येन प्रादुर्भूतो भगवान् विष्णुराकाशवत् सर्वत्र व्यष्टो मेधज इति नाम्ना स्तूयते। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"इन्द्रमिद् विमहीनां मेधे वृणीत मर्त्यः।
इन्द्रं सनिष्युरूतये।" ऋक् ८।६।४४॥

तथा—

"स हि क्रतुः स मर्यः स साधुमित्रो न भूदद्भुतस्य रथीः।
तं मेधेषु प्रथमं देवयन्तीर्विश उपब्रुवते दस्ममारीः।" ऋक् १।७७ ३॥

भवति चात्रास्माकम्—

स मेधजो विष्णुरनेकनामा मेधेषु यज्ञेषु विराजमानः।
स्वकं स्वरूपं विविधं व्यनक्ति तं मेधजं तत्त्वविदः स्तुवन्ति॥४॥

एवं मेधपतिनाम्नाऽप्ययं स्तुतो भवति। तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"गाथपतिं मेधपतिं रुद्रं जलाषभेषजम्। तञ्छयोः सुम्नमीमहे।
ऋक् १।४३।४॥

धन्यः—७५४

"धन धान्य" इति जौहोत्यादिको धातुस्ततः पचाद्यच् धनम्. धनशब्दाच्च धनं लब्धेत्यर्थे **"धनगणं लब्धा"** (पा० ४।४।८४) सूत्रेण यत् प्रत्ययस्ताद्धितः,

---

वह मेधा में चित्रित ही कार्य रूप में आता है। इसी प्रकार मेधरूप यज्ञ में स्वभाव से प्रकट हुआ भगवान् मेधज इस नाम से स्तुत होता है, आकाश के समान सर्वत्र व्यापक हुआ है। इस अर्थ के प्रतिपादक मन्त्र **"इन्द्रमिद् विमहीनां मेधे"** (ऋक् ८।६६।४४) तथा **"स हि क्रतुः स मर्यः"** (ऋक् १।७७।३) इत्यादि हैं।

भाष्यकार इस भाव को अपने पद्य से इस प्रकार व्यक्त करता है—

वह अनेकनामा भगवान् विष्णु मेधज नाम से भी कहा जाता है, क्योंकि वह अनेक मेध अर्थात् यज्ञों में विराजमान होता हुआ अपने नानाविध स्वरूप को प्रकट करता है, इसलिये तत्त्ववित् पुरुष उसकी मेधज नाम से स्तुति करते हैं।

मेधपति नाम से भी भगवान् की स्तुति की जाती है जैसा कि **"गाथपतिं मेधपतिं रुद्रम्"** (ऋक् १।४३।४) इत्यादि मन्त्र से प्रतिपादित है।

धन्यः—७५६

धान्यार्थक जुहोत्यादिगण पठित धन धातु से पचादि अच् प्रत्यय करने से धन शब्द सिद्ध होता है। धन शब्द से तद्धित यत् प्रत्यय करने से धन्य शब्द सिद्ध होता है। धन को

धनं लब्ध्वा, कृतार्थो वा धन्य इति । सर्वधनेश्वरो हि धन्यः । यो हि यदर्थकामोऽयं स्तौति, स च ददाति यथाकाममर्थं स्तावकाय, स दाता धन्यमात्मानुमनभवति । स एक एव च बुद्धिभेदात् प्रयोजनभेदाच्च विविधाभिः स्तुतिभिः स्तूयते । "राधानां पते" (ऋक् १।३०।५; ३।५१।१०) तथा "राधस्पते" (ऋक् १०।६१।१४) इति मन्त्रलिङ्गम् । धन्याभिधानेऽपि मन्त्रलिङ्गम् यथा—

"पवमान मह्यर्णो वि धावसि सूरो न चित्रो अव्ययानि पव्यया ।
गभस्तिपूतो नृभिरद्रिभिः सुतो महे वाजाय धन्वसि ।"

ऋक् ९।८६।३४ ॥

भवति चात्रास्माकम्—

धन्यो हि सूर्यः स हि विष्णुरुक्तः स स्तूयतेऽनन्तविभेदभक्तः ।
यदर्थकामोऽर्थयते तमर्थी तथाविधार्थेन स तं पिपर्ति ॥५॥

१—पिपर्ति=पूर्णं करोतीत्यर्थः ।

सत्यमेधाः—७५५

अस्तेः शतरि सत्, तस्मात् "तत्र साधुः" (पा० ४।४।९८) सूत्रेण यत् प्रत्ययः ततः स्त्रियां टाप् सत्या । मेधा शब्दश्च मेधतेर्व्युत्पादितचरः । सत्या= अव्यभिचारिणी=मेधा=अर्थधारणात्मिका शक्तिर्यस्य स सत्यमेधा इति

प्राप्त करने वाला या कृतार्थ धन्य शब्द से कहा जाता है । सब धनों का जो स्वामी है, उसका नाम धन्य है । जो जिस मनोरथ से किसी की स्तुति करता है, वह उस स्तावक के मनोरथ को पूर्ण करके दाता अपने आपको धन्य समझता है तथा वह एक ही बुद्धि तथा मनोरथों के भेद से विविध प्रकार की स्तुतियों से स्तुत होता है, अर्थात् उसकी विविध प्रकार की स्तुतियां की जाती हैं । इसमें "राधानां पते" (ऋक् १।३०।५, ३।५१।१०) तथा "राधस्पते" (ऋक् १०।६१।१४) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है । धन्य नाम में "पवमान मह्यर्णो वि धावसि" (ऋक् ९।८६।३४) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है ।

भाष्यकार इस भाव को अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु तथा सूर्य का नाम धन्य है, क्योंकि अनन्त बुद्धि तथा मनोरथों के भेद से विविध प्रकार से स्तुति किया हुआ वह अर्थी के मनोरथ को पूर्ण करता है ।

सत्यमेधा—७५५

सत्तार्थक अस् धातु से शतृप्रत्यय करने से सत् शब्द सिद्ध होता है, उस सत् शब्द से साधु अर्थ में यत् प्रत्यय करने से सत्य शब्द बनता है, स्त्रीलिङ्ग वाच्य होने पर टाप् प्रत्यय करने से सत्या शब्द बन जाता है । मेधा शब्द का व्युत्पादन मेधृ धातु से किया गया है । सत्य=व्यभिचार रहित है, मेधा=अर्थ धारण करने वाली शक्ति अर्थात् बुद्धि

"नित्यमसिच् प्रजामेधयोः" (पा० ५।४।१२२) सूत्रे=नित्यग्रहणात् क्वचिद-न्यपूर्वपदादपीति ज्ञाप्यते। अतः सत्यपूर्वपदान्मेधाशब्दात् समासान्तोऽसिच् प्रत्ययः **यथाल्पमेधस** इत्यत्र। मन्त्रलिङ्गञ्च भावप्रधानम्—

"देव इव सविता सत्यधर्मा।" ऋक् १०।३४।८ ॥ तथा

"देवो न यः सविता सत्यमन्मा।" ऋक् १।७३।२ ॥

"भुवः सम्राडिन्द्र सत्ययोनिः।" ऋक् ४।१९।२ ॥

इति दिङ्मात्रमुक्तम्।

लोकेऽपि च पश्यामः—सर्वे हि पदार्था भगवता सत्यमेधसा सत्यमेधोरूपेण स्वगुणेनाकल्पं सुव्यवस्थं प्रवर्त्यन्ते, नहि तदीयं ज्ञानं क्वचिद् व्यभिचरति। यतो हि स ईश्वरः सत्यः कविश्च। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"अग्निर्होता कविः क्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरागमत्।" ऋक् १।१।५ ॥

भवतश्चात्रास्माकम्—

स सत्यमेधा भगवान् वरेण्यः सत्यः स विष्णुर्न जहाति धर्मम्।
यथाविधं यद्रचितं हि पूर्वं तथाविधं तद्रचयन् समेति ॥६॥

अमोघ उक्तः स हि विश्वकर्मा स सत्यधर्मा स च सत्ययोनिः।
मेधापि तस्मात् कथितास्ति सत्या तस्येति लोकेऽपि तथैव दृश्या ॥७॥

जिसकी उसका नाम है सत्यमेधाः, **"नित्यमसिच् प्रजामेधयोः"** (पा० ५।४।१२२) इस सूत्र में नित्यग्रहण करने की सामर्थ्य से **अल्पमेधाः** के समान यहां समासान्त असिच् प्रत्यय हुआ है। इसमें यह भाव प्रधान **"देव इव सविता सत्यधर्मा"** (ऋक् १०।३४।८) तथा **"भुवः सम्राडिन्द्र सत्ययोनिः"** (ऋक् ४।१०।२) आदि मन्त्र प्रमाण है। यह अल्प मात्र हमने दिखाया है।

लोक में भी हम देखते हैं, भगवान् सत्यमेधा अपने सत्यमेध रूप से सब पदार्थों को कल्पपर्यन्त सुव्यवस्थित रूप से चला रहा है, उसका ज्ञान कभी भी व्यभिचरित नहीं होता, क्योंकि भगवान् सत्यस्वरूप तथा कवि है, इसमें **"अग्निर्होता कविः क्रतुः सत्यश्चित्र-श्रवस्तमः"** (ऋक् १।१।५) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है।

इसी भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

सर्वश्रेष्ठ सब का प्रार्थनीय भगवान् विष्णु सत्यमेधा है, क्योंकि वह कल्प के आदि से प्रत्येक पदार्थ को कल्प के अन्त तक समान रूप में बनाता हुआ अपने धर्म को नहीं छोड़ता।

इसीलिये उसको ज्ञानी पुरुषों ने अमोघ, विश्वकर्मा, सत्यधर्मा तथा सत्ययोनि आदि नामों से कहा है, तथा इसीलिये उसकी मेधा भी सत्य है, जैसी कि लौकिक पदार्थों के देखने से सिद्ध होती है।

धराधरः—७५६

धृञ् धारण इति भौवादिको धातुस्ततः पचाद्यच् प्रत्ययः, गुणो रपरः। धरति, धारयति वा धरः, स्त्रियां टाप् धरा। तां धरतीति धराधरो विष्णुः अथवा—धराधर इत्यत्र धरा+आधर इतिच्छेदे—आङ्पूर्वाद्धरतेः पचाद्यच्। आ=समन्ताद्धरतीत्याधरः। धरां आधरति=धराधरो विष्णुः।

यद्वा 'चराचरः चलाचलः पतापतः वदावदः' इतिवत् अचि धातोर्द्वित्व-माक् चाभ्यासस्य 'धराधरः'। अस्मिन् पक्षे **चरिचलिपतिवदीनां द्वित्वमाक् चाभ्यासस्य** (वा० ६।१।१२) इत्यत्र धृञोऽप्युपसंहारो द्रष्टव्यः। धराधरः= अत्यन्तं धारणशीलो विष्णुः। मन्त्रलिङ्गञ्च--

"स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्।" ऋक् १०।१२१।१॥

"तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।" यजु ३१।१९॥

"यस्मिन् क्षियन्ति भुवनानि विश्वा।" इत्यादि।

प्रत्येकं वस्तु किञ्चिन्न किञ्चिद्धारयति, अतः सर्वे पदार्था धरा उच्यन्ते, तेषाञ्च सर्वेषां य आधारः स सर्वाधारो धराधर इत्युच्यते।

लोकेऽपि च पश्यामो देहाभिमान्यात्मा पृथिवीमिव दोषधातुमलमूत्राधरं

धराधरः—७५६

धारणार्थक धृञ् धातु से पचादि अच् प्रत्यय और रेफपरक गुण करने से धर शब्द तथा स्त्रीलिङ्ग में टाप् से धरा शब्द सिद्ध होता है। जो धारण करता है या करती है उसका नाम धरा है। जो धरा=पृथिवी को धारणा करता है वह धराधर कहाता है अथवा धरा-धर इस नाम में धरा+आधर ऐसा भी पदच्छेद हो सकता है। यहां आङ्पूर्वक धृ धातु से पचादि अच् प्रत्यय होता है, तथा सब प्रकार से या सब ओर से धरा को धारण करने वाला यह धराधर शब्द का अर्थ होता है अथवा चराचरः पतापतः के समान यहां अच् प्रत्यय परे धातु को द्वित्व, अभ्यास को आक् का आगम होता है—'धर् आ धर'=धराधर अर्थात् अत्यन्त धारणशील।

यह भगवान् विष्णु का नाम है। इसमें **"स दाधार पृथिवीम्०"** (ऋक् १०।१२१।१) तथा **"तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि"** (यजुः ३१।१०) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है।

प्रत्येक पदार्थ धारक है, अर्थात् वह कुछ-न-कुछ धारण करता ही है, इसलिये प्रत्येक पदार्थ का नाम धर है और उन सब का जो आधार है, उसका नाम धराधर है, यह सर्वाधार विष्णु का नाम है।

हम लोक में भी देखते हैं, देह का अभिमानी जीवात्मा, पृथिवी के समान, दोष

वपुर्धारयति=जीवयति, तेजसा च तत् पिपर्ति। एवं जीवोऽपि तमनुकुर्वाणो धराधर उक्तो भवति। "अनड्वान्[1] दाधार पृथिवीम्" (अथर्व ४।११।१) इति च मन्त्रलिङ्गम्।

भवति चात्रास्माकम्--

धराधरो विष्णुरनेकशक्तिः सर्वं जगद्धारयतीति मन्ये।
तथा यथा भारवहं वपुश्च जीवोऽविकारी धरते सहर्षम् ॥८॥

एतेन स सर्वाधार इत्यप्युक्तो भवति।



तेजोवृषो द्युतिधरः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
प्रग्रहो निग्रहो व्यग्रो नैकशृङ्गो गदाग्रजः ॥६४॥

तेजोवृषः—७५७

तिज निशाने इति भौवादिकश्चौरादिकश्च, तेज पालने इति भौवादिको वा धातुस्ततः "सर्वधातुभ्योऽसुन्" (४।१८९) इत्यौणादिकः "असुन्" प्रत्ययः, सस्य रुत्वोत्वगुणाः, धातोरिकारस्य लघूपधलक्षणो गुणश्च तेज इति।

धातु मल मूत्र के आधार रूप शरीर को धारण करता है, अर्थात् उसे जीवित रखता हुआ, तेज से पूर्ण करता है। इस प्रकार जीव भी उस भगवान् धराधर का अनुकरण करता हुआ धराधर नाम से कहा जाता है। इसमें "अनड्वान् दाधार पृथिवीम्" (अथर्व ४।११।१) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

अनन्त शक्ति भगवान् विष्णु का नाम धराधर है, क्योंकि वह इस सकल जगत् को उसी प्रकार धारण करता है, जिस प्रकार कि मलमूत्र आदि के आधार इस शरीर को अविकारी जीवात्मा सहर्ष धारण करता है। इस पूर्वोक्त प्रकार से वह सर्वाधार भी कहा जा सकता है।

तेजोवृषः—७५७

निशान=तीक्ष्णीकरणार्थक भ्वादि वा चुरादिगण पठित तिज धातु से यद्वा भ्वादि गणपठित पालनार्थक तेज धातु से उणादि असुन् प्रत्यय, लघूपधगुण तथा वृष शब्द से सम्बन्ध होने पर सकार रुत्व, उत्व और गुण होने से तेजोवृष शब्द सिद्ध होता है। वृष शब्द सेचनार्थक वृषु धातु से इगुपधलक्षण क प्रत्यय तथा किन्निमित्तक गुण का अभाव होने

१—अनड्वान् उक्षा सूर्य इत्यनर्थान्तरम्। अत एव लौकिकोऽप्ययम् अनड्वान् सूर्यदैवतकः पृथिवीं पिपर्त्ति अन्नोत्पादने प्रजनने च साधनीभूतः।

वृषः—वृषु सेचन इति भौवादिको धातुस्तत "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" (पा० ३।१।१३५) इति सूत्रेण कः प्रत्ययः कित्त्वाद् गुणाभावः। वर्षतीति वृषः। तेजसो वृषः तेजोवृषः। यद्वा तेजश्चासौ वृष इति तेजोवृषः। तेजः पालनलक्षणं, सन्तापलक्षणञ्च। प्रजायाः पालनलक्षणं तेजो वर्षति, सन्तापलक्षणं वा तेजो वृषंतीति तेजोवृषः स उच्यते भगवान् विष्णुः। अथवा सः तेजाः =पालको, वृषः=वर्षकः सिञ्चकश्च। यतो हि सर्वं स पालयति, वर्धयति च सर्वं सेचनेन। सर्वं हि वस्तु सम्यक् पालितं सत् सन्तापलक्षणेन तेजसा परिपोषमेति। तेजोवृष इति सूर्यस्याग्नेर्वापि नाम, सूर्याश्रितो ह्यग्निः। शरीरे च पित्तधातुरेवाग्निः। यद्वा तेजोरूपाणां सूर्यादीनां वर्षकः शक्तेर्बन्धकः शक्तिदाता वा, तेजोवृष इति विष्णोर्नाम। व्याप्तश्चायं भगवान् तेजोवृषत्वरूपेण स्वेन गुणेन समस्ते विश्वे।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।" यजुः १९।९॥

यद्वा तेजांसि=आपः तानि वर्षतीति, तेजोवृषः सूर्यः। लोकेऽपि च पश्यामः प्रतिवस्तु स्वरं वर्षति। चिन्तयितुमप्यशक्यानि, तेजोजानि नानाविधानि रूपाणि लोके भवन्तीति प्रत्यक्षं दृश्यते। तथा च—यथा—मनुष्यशेफो रेतो मूत्रञ्च मुञ्चति।

से सिद्ध होता है। जो वर्षण अर्थात् सिञ्चन करता है, उसका नाम वृष है। तेज के वर्षक का नाम तेजोवृष है। तेज नाम पालन और सन्तापन का है। प्रजा का पालन या सन्तापन तेज का जो=सिञ्चन करता है, उसका नाम तेजोवृष है। यह भगवान् विष्णु का नाम है अथवा वह पालक और सिञ्चक होने से तेजोवृष नाम से कहा है, क्योंकि वह सबका पालन करता है, तथा सिञ्चन करके सबको बढ़ाता है। प्रत्येक वस्तु रक्षित हुई, सन्ताप लक्षण तेज से पुष्ट होती है।

तेजोवृष नाम अग्नि या सूर्य का भी है, अग्नि का आश्रय सूर्य ही है। इस पार्थिव शरीर में पित्तनामक धातु ही अग्नि है अथवा तेजोरूप सूर्य आदि के तेज अर्थात् शक्ति का बन्धक या शक्ति का दाता होने से भगवान् तेजोवृष है। भगवान् विष्णु अपने तेजोवृषत्व रूप गुण से इस समस्त विश्व में व्याप्त है। इसमें **"तेजोऽसि तेजो मयि धेहि"** (यजुः १९।९) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है अथवा तेजोवृष नाम सूर्य का इसलिये है कि वह तेज अर्थात् जलों की वर्षा करता है। हम लोक में प्रत्येक वस्तु में स्वर की वर्षा देखते हैं, और जिनका चिन्तन भी असम्भव है, ऐसे तेज उत्पन्न नानाविध रूप प्रत्यक्ष देखने में आते हैं। जैसे मनुष्य का गुह्य इन्द्रिय, वीर्य और मूत्र का सिञ्चन करता है।

भवति चात्रास्माकम्—

तेजोवृषो विष्णुरिदं प्रकल्प्य करोति सर्वं स्वगुणानुरूपम् ।
तेजो जलं तेज इहास्ति वाग्निः सूर्यो नरो वौषधिपश्च[1] तद्वत् ॥६॥

तद्वत्—तेजोवृषवत् ।

द्युतिधरः—७५८

ओजस्तेजोद्युतिधरः (सं० २७५) इति नामव्याख्याप्रसङ्गे व्याख्यातमेतन्नाम । इह तु पुनरेतत् स्वतन्त्रन्नामोपदिष्टमिति । द्योतत इति द्युतिः—**"इगुपधात् कित्"** (उ० ४।१२०) इत्युणादिसूत्रेण किद्वद्भावभावितः 'इन्' प्रत्ययो विहितः कित्त्वाद् गुणाभावः । द्योतते=प्रकाशत इति द्युतिः । धरतेः पचाद्यचि धर इति । द्युतिश्चासौ धर इति द्युतिधरः । स्वयम्प्रकाशमानः सर्वं धरति इति वास्तविकार्थः प्रकाशमानः सर्वस्याधारश्चेत्यर्थः ।

लोकेऽपि च पश्यामः—शरीरे हि जीवात्मा प्रकाशमानः स्वरूपेण शरीरं धरतेऽतोऽयं द्युतिधर इत्युच्यते । मन्त्रलिङ्गञ्च—

"त्वेषस्ते धूमऋण्वति दिविषञ्छुक्र आततः ।
सूरो नहि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ।" ऋक् ६।२।६ ॥

भाष्यकार इस भाव को अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

तेजोवृष नाम भगवान् विष्णु का है, क्योंकि वह इस समस्त विश्व को बनाकर अपने गुणानुरूप तेजोवृष अर्थात् इसकी रक्षा करता हुआ इसे बढ़ाता है । तेज नाम जल, अग्नि, सूर्य, नर तथा चन्द्र का है । तद्वत् का अर्थ तेजोवृष के समान ऐसा है ।

द्युतिधरः—७५८

यद्यपि द्युतिधर नाम का व्याख्यान **"ओजस्तेजोद्युतिधर"** (सं० २७५) नाम की व्याख्या में कर दिया है । फिर भी यहां यह स्वतन्त्र रूप से व्याख्यान का विषय है । द्योतनार्थक द्युत धातु से किद्वद्भाव युक्त इन् प्रत्यय तथा कित् निमित्तक गुण का अभाव अभाव होने से द्युति शब्द सिद्ध होता है । जो प्रकाशमान होता है उसका नाम द्युति है । धारणार्थक धृञ् धातु से पचादिलक्षण अच् प्रत्यय करने से धर शब्द सिद्ध होता है । जो द्युति तथा धर है, उसका नाम द्युतिधर है, अर्थात् स्वयम्प्रकाशमान और सब के आधार भूत तत्त्व का नाम द्युतिधर है ।

हम लोग भी देखते हैं, यह शरीर का अधिष्ठाता जीवात्मा स्वरूप से शरीर को धारण करने तथा स्वतः प्रकाशमान होने से द्युतिधर नाम से कहा जाता है । इसमें **"त्वेषस्ते धूमऋण्वति"** (ऋक् ६।२।६) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है ।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्हि लोकं स्वगुणानुरूपं करोति चित्रं द्युतिमप्रमेयम् ।
तथा यथा देहगतो हि जीवो वपुर्दधात्यात्मसमानदीप्रम् ।।१०।।

सर्वशस्त्रभृतांवरः–७५६

सर्वशब्दः सर्व इति स्वतन्त्रनामव्याख्याने व्याख्यातम् । शस्त्रम्—शसु हिंसायामिति सौवादिको धातुस्ततो **"दाम्नीशसयुयुज"** (पा० ३।२।१८२) इत्यादिना सूत्रेण करणे ष्ट्रन् प्रत्ययः **"षः प्रत्ययस्य"** (पा० १।३।६) इति षस्य इत्संज्ञा तस्य लोपश्च । **"हलन्त्यम्"** (पा० १।३।३) इति नकारस्येत्संज्ञा, तस्य लोपः । **"निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः"** इति नियमात् षकारविगमे टकारस्यापि तकारः । **"तितुत्र"** (पा० ७।२।९) इति सूत्रेणेण्निषेधः । शस्त्रमिति । भृत्—भृञ् धातोः क्विप् तस्य च सर्वापहारः । **"ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्"** (पा० ६।१।) इति तुक् । सर्वेषां शस्त्रभृतां मध्ये वरः श्रेष्ठः । **"न निर्धारणे"** (पा० २।२।१०) इति सूत्रेण निर्धारणषष्ठ्या समासनिषेधः । समुदायात् षष्ठीबहुवचनम् । वर इति वृञ् वरणे धातोः—**"ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च"** (पा० ३।३।६८) सूत्रेण कर्मणि अप् प्रत्ययो गुणो रपरः । सर्वेषां शस्त्रभृतां मध्ये वरीतुमर्हः क इति चेत् स एव भगवान् विष्णुः । कुतः ? जगति यावत्

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता हैं—

भगवान् विष्णु का ही नाम द्युतिधर है, क्योंकि वह इस विश्व को अपने गुणानुरूप प्रकाशरूप, अपरिमित तथा विचित्र स्वरूप बनाता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि देह में स्थित जीवात्मा अपने गुणानुरूप इस प्रकाशशील शरीर को धारण करता है ।

सर्वशस्त्रभृतां वरः—७५६

सर्व शब्द का व्याख्यान सर्व इस स्वतन्त्र नाम में कर दिया है । शस्त्र शब्द शसु इस हिंसार्थक धातु से करणकारक में ष्ट्रन् प्रत्यय, प्रत्यय षकार की इत्संज्ञा तथा लोप, अन्त्यनकार की इत्संज्ञालोप, निमित्त भूत षकार के हट जाने से नैमित्तिक ट्र को त्र तथा इट् का निषेध होने से सिद्ध होता है । भृत् शब्द धारणार्थक भृञ् धातु से क्विप् प्रत्यय उसका सर्वापहार तथा तुक् का आगम करने से सिद्ध होता है । जो सब शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ है, उसका नाम सर्वशस्त्रभृतांवर है, यहां निर्धारण में षष्ठी होने से समास नहीं हुआ । सर्वशस्त्रभृतां यह षष्ठी विभक्ति का बहुवचन है ।

वर शब्द वरणार्थक वृञ् धातु से कर्मकारक में अप्प्रत्यय तथा रेफपरक गुण करने से सिद्ध होता है । यदि प्रश्न किया जाये कि सब शस्त्रधारियों में वरणे योग्य अर्थात् श्रेष्ठ कौन है । तो उत्तर होगा भगवान् विष्णु, फिर यदि कोई पूछे कि यह कैसे ? तब इसका उत्तर इस प्रकार होगा, इस जगत् में जो कुछ भी स्थावर या जङ्गमरूप वस्तु है, वह सब

स्थावरं जङ्गमं वा दृश्यते, तत् सर्वं भगवता व्यवस्थापितं नाशाय उपकाराय वा प्रभवति । यथा च हिंस्रः पशुः स्वनखदन्तशृङ्गपुच्छशुण्डचञ्चुलत्ता*द्याघातं भगवद्व्यवस्थाबद्धः स्वरक्षार्थं भक्षणार्थं वा प्रयुङ्क्ते, तत्र पशोरेकशस्त्रप्रयोगः । भगवांस्तु सर्वं प्रयुङ्क्ते तथा च भूकम्पाज्जनपदध्वंसो भवति, दूषितवातप्रवाहेण महामारी प्रवर्तते तया भूयसां मृत्युर्भवति सर्पादिघातकजन्तवश्च निमित्तवशादपरं घ्नन्ति ।

मनुष्योऽपि भगवन्तमनुकुर्वन् शस्त्रभृत् सर्वशस्त्रभृदतिशायी सर्वैः शस्त्रभृद्भिर्व्रियते=मान्यते पूज्यत इत्यर्थः । अतः सोऽपि सर्वशस्त्रभृतांवर उच्यते । भगवान् विष्णुः नखशृङ्गपुच्छशुण्डदन्तदंशलत्ताताडनादीनां बहुत्वं विज्ञापयितुं प्राणिषु नखादिभेदं विधत्ते ।

यथा--गोमहिषी—अज—गण्डकानां[1] शृङ्गवैविध्यम् । विडालाश्वसिंहानां नखभेदः । पक्षिणां चञ्चुभेदः । उष्ट्रे ककुद्, हस्तिनि शुण्डम्, अश्वे च लत्तां* बहुधा वितनोति, एवं सर्वत्रोह्यम् । अत एव स सर्वशस्त्रभृतांवर इत्युच्यते ।

१—गण्डकस्यैव द्वीपीत्यपि नामान्तरम् ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"तं तमुग्रं करोमि ।" ऋक् १०।१२५।५ ।।

भगवान् की व्यवस्थानुसार मारक या उपकारक बनता है । हिंसक पशु अपने दन्त शृङ्ग पुच्छ शुण्ड चञ्चु लत्ता (लात) आदि से आघात (ताडन) को भगवान् की व्यवस्थानुसार अपनी रक्षा या भक्षण के लिये प्रयुक्त करता है । इसमें पशु के एक शस्त्र का प्रयोग होता है, किन्तु भगवान् सब शस्त्रों का प्रयोग करता रहता है, जैसे भूकम्प से सब देश का नाश हो जाता है, दूषित वायु के चलने से महामारी (विमारी) शुरू हो जाती है, कारणवश से सर्प आदि घातक जीव दूसरे को मार देते हैं । ये सब भगवान् के शस्त्र विशेष हैं । कोई मनुष्य भी शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ शस्त्रभृत् होने से दूसरे शस्त्रधारियों से वृत होता है: अर्थात् पूजा जाता है ।

इसलिये यह भी सर्वशस्त्रभृतांवर नाम से कहा जाता है । भगवान् ने नख शृङ्ग पुच्छ आदि से ताडन के बहुत्व को व्यक्त करने के लिये ही प्राणियों में नख आदि का भेद किया है । जैसे गो महिषी (भैंस) अजा (बकरी) तथा गण्डक (गैंडा) आदि के शृङ्गों की विविधता, विडाल, श्वान (कुत्ता) सिंह आदि की नखों की विविधता पक्षियों की चञ्चु की विविधता का तथा हस्ती के शुण्ड, उष्ट्र के कूबड़ अश्व (घोड़े) की लत्ता (लात) का विभिन्न प्रकार से निर्माण किया है । इसीलिये भगवान् का सर्वशस्त्रभृतांवर यह नाम है । इसमें "तं तमुग्रं करोमि" (ऋक् १०।१२५।५) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है ।

---

*अश्वगर्दभयोः पश्चात्तनपादयोरखरौ भागौ, याभ्यामुभौ ताडयतः । लत्ता इत्यस्यैव 'लत' इत्यपभ्रंशः पंजाबी भाषायां, 'लात' इति च हिन्दीभाषायाम् ।

भवति चात्रास्माकम्—

शस्त्रं जगत्यां यदिहास्ति दृश्यं मूलं तु तस्यास्ति स एव विष्णुः।
रक्षार्थमेवं व्यवहारसिद्ध्यै स प्राणिनः शस्त्रभृतो विधत्ते ॥११॥

प्रग्रहः—७६०

प्र उपसर्गः, ग्रह उपादान इति क्र्यादिको धातुस्ततः प्रकर्षेण गृह्णाति विश्वमिति प्रग्रहः, पचाद्यच् प्रत्ययः कर्तरि। अथवा प्रगृह्यते विश्वं येनेति करणे **"ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च"** (पा० ३।३।५८) सूत्रेण 'अप्' प्रत्ययः प्रग्रहः। स च प्राणिषु मन इति नाम्ना प्रसिद्धं, भगवति च चेतनाख्यं मनः ज्ञानमिति प्रसिद्धम्। सर्वज्ञानमयेन भगवतेदं विश्वं विशेषेण ग्रहणेन गृहीतमिति स प्रग्रह इत्युक्तो भवति।

लोकेऽपि च पश्यामः—सर्वञ्चेदं शरीरं सन्धिभिः सन्धितं प्रगृहीतमिव। सर्वञ्चेदं जगत् प्रग्रहरूपेण मनसा व्यापारे व्याप्रियते। तत्र मन्त्रलिङ्गम्—

"सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयते......
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।" यजुः ३४।६ ॥ तथा—

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

इस सकल जगत् में जो भी कुछ शस्त्र नाम से कहा जाता है, उसका मूल अर्थात् उद्गम स्थान भगवान् विष्णु ही है, क्योंकि वह ही रक्षा या व्यवहारसिद्धि के लिये प्राणियों को शास्त्रों से युक्त करता है, इसीलिये वह सर्वशस्त्रभृतांवर है।

प्रग्रहः—७६०

उपादानार्थक ग्रह धातु से पचादि अच् प्रत्यय करने से प्रग्रह शब्द बनता है जो प्रकृष्ट रूप से ग्रहण करता है विश्व को, उसका नाम प्रग्रह है अथवा जिसके द्वारा प्रकर्ष से विश्व का ग्रहण किया जाता है उसका नाम प्रग्रह है, करणकारक में अप् प्रत्यय होता है। वह प्रग्रह प्राणियों में मन नाम से प्रसिद्ध है तथा भगवान् में चेतनरूप ज्ञान नाम से प्रसिद्ध है। सर्वज्ञान रूप भगवान् विष्णु ने इस विश्व को विशेष प्रकार के ग्रहण से ग्रहण किया हुआ है, इसलिये उनका नाम प्रग्रह है।

लोक में भी हम देखते हैं, यह विविध प्रकार की सन्धियों से सन्धित (जोड़ा हुआ) शरीर प्रगृहीत सा अर्थात् प्रकर्ष से ग्रहण किये हुये के समान प्रतीत होता है। सकल जगत् को प्रग्रह रूप मन ही व्यापारित अर्थात् व्यापार (व्यवहार) में लगाता है।

इसमें यह **"सुषारथिरश्वानिव"** (यजुः ३४।४)। यह मन्त्र तथा

"यथाज्यं प्रगृहीतमालुम्पेत् स्रुचो अग्नये ।
एवा ह ब्रह्मभ्यो वशामग्नय आवृश्चतेऽददत् ।" अथर्व १२।४।३४ ॥

तथा—

"ऋजीतिभी रशनाभिर्गृभीतान् ।" ऋक् १०।७९।७ ॥

इति प्रग्रहे लिङ्गम् ।

भवति चात्रास्माकम्—

स प्रग्रहो विष्णुरनन्तभेदं जगद् विरच्यापि [1]मनोऽनुबद्धम् ।
[2]असङ्गमात्रः स [3]मनोग्रहेण प्रगृह्य विश्वं नयते [4]विदिक्षु ।।१२।।

१—मनः—अन्तरिन्द्रियम् । २—निर्लिप्तः ।
३—मनोग्रहेण=ज्ञानग्रहेण । ४—विदिक्षु=नानादिक्षु ।

निग्रहः—७६१

नि—उपसर्गः । 'ग्रह उपादाने' इति धातोर् **"ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च"** इति (पा० ३।३।५७) सूत्रेण कर्तृभिन्ने कारके अप् प्रत्यये निपूर्वो बहुव्रीहिः । नि=निश्चयेन गृह्यते येनेति निग्रहो विष्णुः । अत्र च मन्त्रलिङ्गम्—

"येन द्यौरुग्रापृथिवी च दृढा येन स्व स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।"
ऋक् १०।१२१।५ ॥

"यथाज्यं प्रगृहीतमालुम्पेत्" (अथर्व १२।४।३४) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है । तथा **"ऋजीतिभी रशनाभिर्गृभीतान्"** (ऋक् १०।७९।७) इत्यादि मन्त्र में पठित प्रग्रह के पर्याय रशना शब्द से प्रग्रह नाम प्रमाणित होता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम प्रग्रह है, क्योंकि वह अनन्त भेदों से विभिन्न इस जगत् को मन से बांधकर तथा प्रग्रहरूप ज्ञान से ग्रहण करके इससे पृथक् रहता हुआ भी इसको विभिन्न मार्गों में चला रहा है ।

निग्रह,—७६१

नि उपसर्ग है । उपादानार्थक ग्रह धातु से कर्तृभिन्नकारक में अप् प्रत्यय करने से तथानिपूर्वक बहुव्रीहि समास करने से निग्रह शब्द बनता है, निश्चित है ग्रह जिससे, या जिसके द्वारा उसका नाम है निग्रह । यहां यह **"येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा"** (ऋक् १०।१२१।५) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है । जैसे शरीराधिष्ठाता जीवात्मा शरीर का निग्रह

यथा शारीर आत्मा शरीरस्य निगृहीता भवति, तथा भगवान् विष्णुरस्य विश्वस्य निगृहीता भवत्यतः स निग्रह इत्युक्तो भवति। लोकेऽपि च पश्यामो यथा यन्त्रस्य चालको यन्त्रस्य निगृहीता भवत्यप्रत्यक्षमपि वर्तमानः, यन्त्राधिपतिर्वा यथा यन्त्रनियामकः, तथैवायं विष्णुः स्वशक्त्या निगृह्य यथाधुरं यन्त्रमिमं संसारं नियतं सारयति।

भवति चात्रास्माकम्—

स निग्रहो विष्णुरमोघवर्त्मा निगृह्य विश्वं नयते यथावत्।
सूते स [1]जन्यञ्च विहन्ति [2]मर्त्यं सर्वं स्वतन्त्रं कुरुते निगृह्णन्॥१३॥

१—जन्यं=जनयितुमर्हम्। २—मर्त्यम्=मारयितुं योग्यम्।

व्यग्रः—७६२

'अगि गतौ' इति भौवादिको धातुस्तत "ऋज्रेन्द्राग्रवज्र" (उ० २।२८) इत्यादिनोणादिसूत्रेण रन् प्रत्ययो नलोपश्च निपात्यते। अङ्गतीत्यग्रः। विविधं =यथास्वभावसम्भूतं—अङ्गनं=गमनं यो विधत्ते व्यवहरतीत्यर्थः स व्यग्र उच्यते।

भगवांश्च यथास्वभावमात्मनि क्षियन्तं समस्तं यथावर्त्म गमयतीति व्यग्र इवास्ते। या चेयं लोके व्यग्रता दृश्यते, तस्या अपि मूलं स एव। यद्वा विविधं-मुत्तरायणदक्षिणायनादिभेदेन अङ्गति=गच्छतीति व्यग्रः सूर्यो ग्रहोपग्रहपरिवृतः।

करता है, उसी प्रकार भगवान् विष्णु इस सकल जगत् का निग्रह करता है, इसलिये भगवान् का नाम निग्रह है। लोक में भी हम देखते हैं, जैसे यन्त्र का चालक न दीखता हुआ भी यन्त्र का निग्रह करता है, जिस प्रकार यन्त्र का स्वामी यन्त्र का निग्रह करता है, उसी प्रकार भगवान् विष्णु अपनी शक्ति से नियन्त्रित करके इस संसार यन्त्र को धुरी पर चला रहा है।

भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस भाव को इस प्रकार व्यक्त करता है—

अमोघवर्त्म भगवान् विष्णु का नाम निग्रह है, क्योंकि वह विश्व को निगृहीत करके नियत रूप से चला रहा है, वह उत्पन्न करने योग्य को उत्पन्न करता है, तथा मारने योग्य को मारता है।

व्यग्रः—७६२

गत्यर्थक अगि इस धातु से उणादि रन् प्रत्यय और नकार के लोप के निपातन से अग्र शब्द सिद्ध होता है। जो चलता है उसका नाम अग्र तथा स्वभावानुसार विविध प्रकार से जो चलता है उसका नाम व्यग्र है। अङ्गन=गमन अथवा व्यवहार का नाम है। भगवान् विष्णु स्वभावानुसार अपने में रहते हुये इस विश्व को इसके अनुरूप मार्ग से चलाता हुआ, व्यग्र नाम से कहा जाता है। लोक में जो व्यग्रता देखने में आती है, उसका

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"इमा अभि प्र णोनुमो विपामग्रेषु धीतयः ।
अग्नेः शोचिर्न दिद्युतः ।" ऋक् ८।६।७ ।।

भवति चात्रास्माकम्—

व्यग्रः स विष्णुः स्वयमग्रधर्मा व्यग्रञ्च विश्वं तनुते स सर्वम् ।
व्यग्रोऽस्ति जीवो निजलक्ष्यलब्ध्यै सूर्यादयो व्यग्रतमाश्च तस्मात् ।।१४।।

नैकशृङ्गः—७६३

एतेः कनि व्युत्पादित एकशब्दः एकः (सं० ७२५) इति स्वतन्त्रनाम-व्याख्याने । शृङ्गशब्दश्च शृ हिंसायां धातोः **"शृणातेर्ह्रस्वश्च"** इत्युणादिसूत्रेण गन् प्रत्ययो, नुडागमो, धातोर्ह्रस्वश्च । गनो गकारस्य नेत्त्वम् **"उणादयो बहुलम्"** (पा० ३।३।१) इति वचनात् । यद्वा गनः कित्त्वविधानसामर्थ्यान्नेत्त्वम् । **"नेड् वशि कृति"** (पा० ७।२।८) इतीण्निषेधः, अनुस्वारपरसवर्णौ । नास्ति एकः शृङ्गो यस्य य नैकशृङ्गः, नञा समासे नलोपाभावः । नैकशृङ्गः' सूर्यो विष्णुर्वा । शृङ्गमिति दीप्तेर्नाम, दक्षिणोत्तराभ्यां परिभ्रमतः सूर्यस्य

भी मूल भगवान् विष्णु ही है अथवा उत्तरायण दक्षिणायन आदि भेद से, विविध प्रकार से चलते हुये ग्रह उपग्रह आदि से युक्त सूर्य का नाम व्यग्र है । इसमें **"इमा अभि प्र णोनुमो०"** (ऋक् ८।६।७) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है ।

इस भाव को भाष्यकार इस प्रकार व्यक्त करता है—

सर्वत्र अग्ररूप से स्थित रहने वाले भगवान् विष्णु का नाम व्यग्र है, क्योंकि वह इस समग्र विश्व को व्यग्र ही वनाता है, जैसे कि अपनी लक्ष्य प्राप्ति के लिये यह जीवात्मा व्यग्र है तथा अपने-अपने कर्म में सूर्य आदि व्यग्रतम हैं ।

नैकशृङ्गः—७६३

एक शब्द का व्याख्यान इण् धातु से कन् प्रत्यय करके स्वतन्त्र **एक** (७२५) नाम के व्याख्यान में किया गया है । शृङ्ग शब्द हिंसार्थक शृ धातु से उणादि गन् प्रत्यय, धातु के ऋकार को ह्रस्व, नुट् का आगम गन् के गकार की वाहुलक अथवा गन् के कित् विधान के सामर्थ्य से इत्संज्ञा का अभाव तथा अनुस्वार परसवर्ण करने से सिद्ध होता है । जिसके एक शृङ्ग नहीं है अर्थात् जिसके वहुत शृङ्ग हैं, उसका नाम नैकशृङ्ग है । नञ् के साथ एकशृङ्ग शब्द का वहुव्रीहि समास तथा नञ् के नलोपाभाव करने से नैकशृङ्ग शब्द बन जाता है । नैकशृङ्ग नाम सूर्य या विष्णु का है । शृङ्ग नाम दीप्ति (प्रभा) का है, दक्षिण तथा उत्तर की ओर भ्रमण करते हुये सूर्य की मृदु तीक्ष्ण तथा मध्यमरूप अनेक दीप्तियां होती हैं । इसलिये सूर्य का यह नाम होता है । शृङ्ग यह नाम हिंसा के साधन तथा पर

मृदुतीक्ष्णरूपा नेका दीप्तयो भवन्त्यतः सूर्यस्य नैकशृङ्ग इति नाम। हिंसासाधनं तथा परकृतबाधानिराकरणसाधनमपि शृङ्गम्; बहूनि च सर्वव्यापकस्य विविध-रूपस्य विष्णोर्हिंसासाधनानि। तथा हि प्रत्येकंव्यक्तिः स्वेप्सितप्रतिबन्धकान् प्रत्यूहान् निराकर्तुं सर्वथा प्रयतते, तत्र येन प्रयतते तन्निराकरणसाधनं शृङ्ग-शब्देनाभिधीयते, तथा चानेकशफानां पशूनां शिरसो निर्गते शृङ्गे भवतः, यथा गोमहिषीहरिणाजादीनाम्। मनुष्यस्य हस्तौ शृङ्गे। गण्डकस्य मस्तिष्का-न्निर्गतमेकमेवं शृङ्गं भवति। द्विशफानां मेषप्रभृतीनां लोमान्येव शृङ्गाणि। सिंहानां नखाः, सूकराणां हनवस्तथा हस्तिनां दन्ता एवशृङ्गाणि भवन्ति। तथा च—

"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्।" ऋक् ८।५८।२॥

इत्यृङ्मन्त्रस्य व्याख्याभूतं जगत्तमेव व्यवस्थापयितारं जगदध्यक्षं विष्णुं गमयति। इति दिङ्मात्रमुदाहृतम्। तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"शिशानो वृषभो यथाग्निः शृङ्गे दविध्वत्।
तिग्मा अस्य हनवो न प्रतिदधृषे सुजम्भः सहसो यहुः।"

ऋक् ८।६०।१३॥

शृङ्गं ह्युदितमिव भवति तथा सूर्योऽपि दक्षिणोत्तरायणादिभेदेन नैकधोद-यनान्नैकशृङ्ग उच्यते। एवं सर्वविधप्राणिनामुदयनकालः (प्रसवकालः) नियतो

(दूसरे) से प्राप्त बाधाओं को निराकरण (हटाने) के साधन का भी है। भगवान् विष्णु के हिंसा साधन बहुत प्रकार के हैं। जैसे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मनोरथों की सिद्धि में बाधक भूत विघ्नों के निराकरण के लिये सब प्रकार से यत्न करता है। वह विघ्नों के हटाने (दूर करने) में जिस वस्तु को साधन बनाता है, उसका नाम शृङ्ग है। इस प्रकार जो अनेकशफों (अनेक खुरों) वाले गो महिषी हरिण अजा (बकरी) आदि पशु होते हैं, उनके शिर से निकला हुआ अङ्गविशेष शृङ्ग शब्द से कहा जाता है। मनुष्य अपने हाथों से विघ्नों का निराकरण करता है, इसलिये मनुष्य के हाथ ही शृङ्ग हैं। दो शफ (खुर) वाले मेष (मेढा) आदि जो पशु हैं, उनके लोम ही शृङ्ग हैं। सिंहों के नख, सूअरों के हनु (हूड) तथा हाथियों के दन्त ही शृङ्ग होते हैं। इस प्रकार से **"एकं वा इदं विबभूव सर्वम्"** (ऋक् ८।५८।२) इत्यादि वेदमन्त्र का व्याख्यान रूप यह जगत् अपने व्यव-स्थापक तथा अध्यक्ष भगवान् विष्णु को ही कह रहा है। यह केवल मार्गमात्र का प्रदर्शन हमने किया है। इसी भाव का प्रतिपादक **"शिशानो वृषभो यथाग्निः शृङ्गे दविध्वत्"** (ऋक् ८।६०।१३) इत्यादि मन्त्र है। शृङ्ग उदित 'उपर को ऊगा सा' होता है, इसी लिये सूर्य भी दक्षिणोत्तरायणादि भेदों से विविध प्रकार से उदित होने से शृङ्ग नाम से कहा जाता है, अर्थात् वह दक्षिण उत्तर आदि गति भेद से विविध प्रकार से ऊपर को आता हुआ प्रतीत होता है। सब प्राणियों का भी उदयकाल अर्थात् जन्मकाल एक रूप से नियत नहीं होता, परन्तु सब का प्रसवसमय भिन्न-भिन्न होता है। यह भगवान् नैकशृङ्ग की

न भवति, किन्तु सर्वेषां भिन्नकालिकः प्रसव इति भगवतो नैकशृङ्गस्यैवायं धर्मो व्याप्तः सर्वत्र लोके। सर्वत्र सूर्य एवात्मरूपेण व्याप्तः। तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।" यजुः ७।४२॥

नैकशृङ्गवत्त्वे मन्त्रलिङ्गम्—

"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे।" ऋक् ४।५८।३॥

इत्यादि। व्याख्यातोऽयं मन्त्रः पातञ्जलमहाभाष्ये। केवलशृङ्गत्वे मन्त्रलिङ्गम्—

"वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा।
प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे।"
ऋक् ५।२।९॥

एक एवाग्निर्बहुधा स्तूयते। तथा च वेदः—

"एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्।"
ऋक् ८।५८।२॥

तमेव च सूर्यं नक्षत्रनाम्ना विशिनष्टि। तथा च—

"ज्योतिष्मन्तं केतुमन्तं त्रिचक्रं सुखं रथं सुषदं भूरिवारम्।
चित्रा मघा यस्य योगेऽधिजज्ञे तं वा हुवे अति रिक्तं पिबध्यै।"
ऋक् ८।५८।३॥

"तनूनपात् पवमानः शृङ्गे शिशानो अर्षति। अन्तरिक्षेण रारजत्।"
ऋक् ९।५।२॥

"चतुःशृङ्गोऽवमीद् गौर एतत्।" ऋक् ४।५८।२॥

इति पथः प्रदर्शनम्।

सार्वलौकिक व्याप्त का ही प्रभाव है। भगवान् सूर्य ही सर्वत्र आत्मत्वरूप से व्याप्त है। जैसा कि **"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"** (यजुः ७।४२) इत्यादि वेद मन्त्र से प्रतिपादित है। भगवान् का नैकशृङ्ग नाम **"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य"** (ऋक् ४।५८।३) इत्यादि मन्त्र से प्रमाणित है। इस मन्त्र का व्याख्यान पातञ्जल महाभाष्य में शब्दपरक किया गया है। तथा केवल शृङ्गनाम **"विज्योतिषा बृहता भात्यग्निरावि-र्विश्वानि०"** (ऋक् ५।२।९) इत्यादि मन्त्र से प्रमाणित है। वेद में एक ही अग्नि की बहुत प्रकार से स्तुति की गई है, जैसा कि **"एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः"** (ऋक् ८।५८।२) इत्यादि वेद मन्त्र से सिद्ध होता है। सूर्य को जहां-तहां नक्षत्रों के नामों से भी विशिष्ट किया है, जैसा कि **"ज्योतिष्मन्तं केतुमन्तं त्रिचक्रं सुखं रथं सुषदं"** (ऋक् ५।५८।३) इत्यादि मन्त्र में देखने में आता है। इसी प्रकार **"तनूनपात् पवमानः शृङ्गे"** (ऋक् ९।५।२) तथा **"चतुःशृङ्गोऽवमीद्"** (ऋक् ४।५८।२) इत्यादि मन्त्रों में भी भगवान् के शृङ्ग नाम का अभिधान है।

भवतश्चात्रास्माकम्—

स नैकशृङ्गो भगवान् वरेण्यो विष्णुः ससर्ज विविधप्रभेदम् ।
शृङ्गं सदेकं द्विविधं विभज्य स हस्तशृङ्गं मनुजं करोति ॥१५॥

नखी तथा चैकशफी न शृङ्गी दन्ती च वा सूकर एष लोके ।
शुण्डा करिण्यां थुहनं तथोष्ट्रे विभक्तलीलं विधुनोति विश्वम् ॥१६॥

गदाग्रजः—७६४

'गद व्यक्तायां वाचि' भौवादिको धातुस्ततः कर्तरि पचाद्यच् प्रत्ययो गदतीति गदः ।

अग्रः—'अगि गतौ' इति भौवादिकाद्धातोरुणादिरन् प्रत्ययो, नलोपश्च निपातनात् । अङ्गन्तीति—अग्राः । गदेषु=गदनशीलेषु, अग्रेषु=गमनशीलेषु चानुप्रविष्टो जात इव प्रतीयमानो गदाग्रज इति विष्णोर्नाम । 'जनी प्रादुर्भावे' इति दैवादिको धातुः, ततः **"सप्तम्यां जनेर्डः"** (पा० ३।२।९७) सूत्रेण डः प्रत्ययो **"डित्यभस्यापि टेर्लोपः"** इति वार्तिकानुशासनादिलोपश्च गदाग्रजः ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

सब का प्रार्थनीय सब से श्रेष्ठ भगवान् विष्णु का नाम नैकशृङ्ग है, क्योंकि वह एक ही शृङ्ग=हिंसासाधन या रक्षासाधन को प्रति-प्राणी भिन्न-भिन्न अर्थात् अनेक प्रकार से बनाता है, जैसे कि शृङ्ग को दो भागों में विभक्त करके मनुष्य को हस्त रूप शृङ्ग से युक्त किया है ।

नखों तथा एकशफ(एक खुर) वाले जीवों के शिर से निर्गत शृङ्ग नहीं होता, किन्तु उनके रक्षा वा हिंसा के साधन शृङ्ग दूसरे होते हैं, जैसे हाथी के दान्त, सूअर के हनु (हूड), करिणी (हथिनी) के शूण्डादण्ड, उष्ट्र (ऊंट) के थुहन (छाती से नीचे को निकला हुआ भाग) ये सब शृङ्ग होते हैं, क्योंकि ये सब इन ही से किसी को मारते या अपनी रक्षा करते हैं । इस प्रकार भगवान् विष्णु नैकशृङ्गरूप से अपनी लीला को विभक्त करके विश्व का विधुवन कर रहा है, अर्थात् कम्पा रहा है ।

गदाग्रजः—७६४

व्यक्तवाक् (स्पष्ट बोलने) अर्थ में विद्यमान गद धातु से कर्ता अर्थ में पचादि अच् प्रत्यय करने से गद शब्द सिद्ध होता है, जो स्पष्ट वाणी बोलता है उसका नाम गद है । अग्र शब्द भ्वादिगण गत्यर्थक अगि धातु से उणादि रन् प्रत्यय तथा नलोप के निपातन से सिद्ध होता है जो गमन करता है, या करते हैं, उनका नाम अग्र है । बोलने वाले तथा चलने वालों में प्रविष्ट=व्याप्त होकर जो जात अर्थात् उत्पन्न हुआ सा प्रतीत होता है, उसका नाम गदाग्रज है यह भगवान् विष्णु का नाम है ।

लोकेऽपि च पश्यामः—शब्दायमाने, गमनशीले च जीवितशरीर एव जीवात्मनोऽवभासः प्रकाश इत्यर्थः। एवञ्च भगवान् विष्णुरात्मनश्चेतनारूपेण गुणेन प्रकृतिं गतिमतीं विधाय स्वयं खमिव व्यापकमात्मानं तत्र जातमिव प्रकाशयति—अतएव गदाग्रजपदेन तं देवाः तुष्टुवुः। आत्मगुणसम्पृक्तञ्च जनयति विश्वम्, तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"अग्निर्विश्वानि काव्यानि विद्वान्।" ऋक् ३।१।१८॥

"इमं स्वस्मै हृद आ सुतष्टं मन्त्रं वोचेम कुविदस्य वेदत्।
अपां नपादसुर्यस्य मह्ना विश्वान्यर्यो भुवना जजान।"

ऋक् २।३५।२॥

"देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोषः प्रजाः पुरुधा जजान।
इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद् देवानामसुरत्वमेकम्।"

ऋक् ३।५५।१९॥

तथा—

"हिरण्यरूपं जनिता जजान।" ऋक् १०।२०।९॥

एवं वहुत्र जनेः प्रयोगो वेदे कालभेदप्रत्ययनिमित्तः। निदर्शनमात्रं नः प्रयोजनम्।

यद्वा गदानां व्यक्तं शब्दं कुर्वतां मनुष्याणाम् अग्रजः=ज्येष्ठः=श्रेष्ठः। तेन हि भगवता सृष्टयादौ मानवेभ्यः श्रुतिरूपिणी स्वकीया वाणी प्रदत्ता। अतएव स वेदेषु बहुत्र **वाचस्पति**शब्देन स्तूयते।

प्रादुर्भावार्थक दिवादिगण पठित जनी धातु से गदाग्र इस सप्तम्यन्त पद के उपपद रहते हुये ड प्रत्यय तथा टि का लोप होने से गदाग्रज शब्द सिद्ध होता है। जैसा कि लोक में शब्दायमान तथा गमनशील इस जीवित शरीर में जीवात्मा का अवभास अर्थात् प्रकाश होता है। इसी प्रकार अपने चेतनारूप गुण से प्रकृति को गमनशील वनाकर उसमें आकाश के समान व्यापक अपने आपको उत्पन्न हुये के समान प्रकाशित करता हुआ भगवान् विष्णु देवताओं के द्वारा गदाग्रज नाम से स्तुत होता है तथा भगवान् इस विश्व को भी अपने गदाग्रजत्वरूप गुण से युक्त ही उत्पन्न करता है। इसमें **"अग्निर्विश्वानि काव्यानि विद्वान्"** (ऋक् ३।१।१८) इत्यादि मन्त्र से लेकर **"हिरण्यरूपं जनिता जजान"** (ऋक् १०।२०।९) इत्यादि मन्त्र पर्यन्त सव ही निर्दिष्ट मन्त्र प्रमाण हैं। वेद में काल तथा प्रत्यय भेद से जनी धातु का प्रयोग वहुत देखने में आता है। हमने केवल उदाहरण मात्र दिखलाया है।

अथवा व्यक्त शब्द करने वाले मनुष्यों में जो अग्रज=ज्येष्ठ=श्रेष्ठ है वह गदाग्रज कहाता है। भगवान् विष्णु ने सृष्टि के आरम्भ में मानवों को अपनी वेदरूपी वाणी प्रदान की। इसीलिये वेद में भगवान् की **वाचस्पति** नाम से भी वहुत्र स्तुति की गई है।

भवति चात्रास्माकम्—

गदाग्रजो विष्णुरनेकरूपः प्रजाः सिसृक्षुः पुरुधा ससर्ज ।
वदत्सु वाणीमधिजायतेऽसौ गच्छत्सु यातोऽस्ति च जातपूर्वः ॥१७॥



चतुर्मूर्तिश्चतुर्बाहुश्चतुर्व्यूहश्चतुर्गतिः ।
चतुरात्मा चतुर्भावश्चतुर्वेदविदेकपात् ॥

चतुर्मूर्तिः—७६५ । चतुर्बाहुः—७६६ । चतुर्व्यूहः—७६७ । चतुर्गतिः—७६८ । चतुरात्मा—७६९ । चतुर्भावः—७७० । चतुर्वेदवित् ७७१ ।

चतुर्मूर्तिः—चतस्रो मूर्तयो यस्य सः । तथा च मन्त्रलिङ्गं तस्य चतुष्ट्वस्य प्रतिपादकम्—

"अग्ने ! कविर्वेधा असि होता पावक यक्ष्यः ।
मन्द्रो यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यो विप्रेभिः शुक्र मन्मभिः ।"

ऋक् ८।६०।३ ॥

"पाहि चतसृभिर्वसो !" ऋक् ८।६०।९ ॥

गतिभिरिति शेषः ।

"त्वां विप्रासः समिधान दीदिव आ विवासन्ति वेधसः ।"

ऋक् ८।६०।५ ॥

भाष्यकार इस भाव को अपने पद्य से इस प्रकार स्पष्ट करता है—

अनेकरूप भगवान् विष्णु का नाम गदाग्रज इसलिये है कि वह विभिन्न प्रकार के प्राणियों की रचना करके बोलते हुये तथा गमन करते हुये उन प्राणियों में पूर्व से ही विद्यमान रहता हुआ भी जात=उत्पन्न हुये के समान प्रतीत होता है ।

चतुर्मूर्तिः—७६५ । चतुर्बाहुः—७६६ । चतुर्व्यूहः—७६७ । चतुर्गतिः—७६८ । चतुरात्मा—७६९ । चतुर्भावः—७७० । चतुर्वेदवित्—७७१—

चतुर्=चार हैं मूर्तियां जिसकी उसका नाम चतुर्मूर्ति है, अर्थात् कर्म या गुण आदि के भेद से जो चार प्रकारों में वर्तमान है उसे चतुर्मूर्ति कहते हैं, जैसा कि उसके चतुष्ट्व का प्रतिपादक **"अग्ने कविर्वेधा असि"** (ऋक् ८।६०।३), **"पाहि चतसृभिर्वसो"** (ऋक् ८।६०।९) तथा **"त्वां विप्रासः समिधान दीदिवः"** (ऋक् ८।६०।५) इत्यादि वेदमन्त्र हैं । जिस प्रकार वह चतुर्मूर्ति है, इसी प्रकार वह चतुर्बाहु अर्थात् चतुरङ्ग,

चतुरङ्गता च तस्य—

"ते हि द्यावापृथिवी भूरिरेतसा नराशंसश्चतुरङ्गो यमोऽदितिः ।
देवस्त्वष्टा द्रविणोदा ऋभुक्षणः प्र रोदसी महती विष्णुर्रहिरे ।"

ऋक् १०।९२।११ ॥

चतुरनीकता—

"स जिह्वया चतुरनीक ऋञ्जते चारुवसानो वरुणो यतन्नरिम् ।
न तस्य विद्म पुरुषत्वता वयं यतो भगः सविता दाति वार्यम् ।"

ऋक् ५।४८।५ ॥

तथा—

"एकं विचक्र चमसं चतुर्धा ।" ऋक् ४।३५।२ ॥
'चतुः शृङ्गोऽवमीद् गौर एतत् ।" ऋक् ४।५८।२ ॥

तथा च चतुःसमुद्रता—

"स्वयुधं स्ववसं सुनीथं चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम् ।
चर्कृत्यं शस्यं भूरिवारमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ।"

ऋक् १०।४७।२ ॥

"चत्वार ईं बिभ्रति क्षेमयन्तो० ।" ऋक् ५।४७।४ ॥

"चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम् ।" ऋक् १०।५८।४ ॥

एवं बहुश ऋगालोचनेन भगवतो विष्णोश्चतुष्ट्वजन्यं महत्वं प्रकाशते, तदेव द्योतयितुं—चतुर्मूर्त्तिः, चतुर्बाहुः, चतुर्व्यूहः, चतुरात्मा, चतुर्गति रित्यादीनां नाम्नां संग्रहोऽत्र ।

चतुर्व्यूह अर्थात् चतुरनीक तथा चतुर्गति भी है। चतुराङ्गगता का प्रतिपादक "ते हि द्यावापृथिवी भूरिरेतसा नराशंसश्चतुरङ्गो०" (ऋक् १०।९२।११) इत्यादि ऋग्वेद मन्त्र है। "स जिह्वया चतुरनीक ऋञ्जते" (ऋक् ५।४८।५) इत्यादि वेद मन्त्र से उसकी चतुरनीकता और "एकं विचक्र चमसं चतुर्धा" (ऋक् ४।३५।२) तथा "चतुःशृङ्गोऽवमीद् गौर एतत्" (ऋक् ४।५८।२) इत्यादि मन्त्र से उसका चतुर्गतित्व सिद्ध होता है। पूर्वोक्तक्रम से उसकी चतुःसमुद्रता भी "स्वायुधं स्ववक्षं सुनीथं चतुःसमुद्रम्" (ऋक् १०।४७।२) तथा "ईं बिभ्रति क्षेमयन्तो०" (ऋक् ५।४७।४) इत्यादि मन्त्र से प्रमाणित होती है। उसके चतुर्गतित्व का प्रतिपादक "चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम्" (ऋक् १०।५८।४) यह मन्त्र भी है। इस प्रकार ऋचाओं के विचारने से भगवान् की चतुष्ट्व से प्रतिपादित महिमा का प्रकाश है और उस महिमा को ही प्रकाशित करने के लिये इस विष्णुसहस्रनामस्तोत्र में चतुर्मूर्ति, चतुर्बाहु, चतुर्व्यूह, चतुरात्मा तथा चतुर्गति आदि नामों का संग्रह किया है।

चतुर्व्यूहः—चतुर्विधविशिष्टरचन इत्यर्थः । तथा चैका वाक् चतुर्धा भिद्यते विशिष्टस्वरूपा । यथा च वेदः—

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।"
ऋक् १।१६४।४५ ।।

गतिश्चापि दिग्भेदनिमित्ततश्चतुर्धा भिद्यते । यथा च वेदः—

"चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम् ।" ऋक् १०।५८।४ ।।

तथा च स्वरूपमपि चतुर्धा भिद्यते योनिभेदनिमित्तम् । तच्च विद्योत्यते चतुरात्मनाम्ना, आत्मशब्दः स्वरूपपर्य्यायः । चतुर्धाविक्लृप्तयोनिरित्यर्थः । तद्यथा जरायुजाः, अण्डजाः, स्वेदजाः, उद्भिज्जाश्चेति चातुर्विध्यं योनीनाम् । तासु च तादृश एव विष्णुरनुभूयते ।

चतुर्भावः—भवन्त्यस्मिन्निति भावः । भवतेरधिकरणे घञ् । ते च भावाः **भाव (सं० ७)** नाम व्याख्याने विशदं व्याख्याताः, तत्र द्रष्टव्याः । चत्वारो भावा यस्येति स चतुर्भावः ।

चतुर्वेदवित्—चतुरो वेदान् वेत्तीति चतुर्वेदविदिति । चतुर्धा विभक्तं

चतुर्व्यूह शब्द का अर्थ जिसने चार प्रकारों से विशिष्ट रचना की है, ऐसा होता है। एक ही वाणी के चार भेद होते हैं। जैसा कि **"चत्वारि वावपरिमिता पदानि"** (ऋक् १ १६४।४) इत्यादि वेदमन्त्र से सिद्ध है।

गति के भी दिशाओं के भेद के कारण चार भेद होते हैं, यह **"चतस्रः प्रदिशो मनो जगाम दूरकम्"** (ऋक् १०।५८।४) मन्त्र से प्रतिपादित है। इसी प्रकार योनि-भेद के कारण स्वरूप भी चार प्रकार का होता है, जैसा कि **चतुरात्मा** नाम से प्रकट होता है। चतुरात्मा नाम में आत्मा शब्द स्वरूप का पर्य्याय है, अर्थात् जिसने चार प्रकार की योनियों का निर्माण किया है, उसका नाम चतुरात्मा है। योनियां—जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज भेद से चार प्रकार की हैं और उनमें योनियों के स्वरूपानुसार ही भगवान् के स्वरूप का अनुभव होता है।

चतुर्भावः—भू इस सत्तार्थक धातु से अधिकरण अर्थ में घञ् प्रत्यय करने से भाव शब्द सिद्ध होता है। जिसमें होता है अर्थात् जो सत् रूप वस्तु का अधिकरण=आधार है, उसका नाम भाव है। भावों का विवरण **भाव** (सं० ७) नाम में विस्तार से किया गया है। चार हैं भाव जिसके उसका नाम है चतुर्भाव, यह भगवान् विष्णु का नाम है।

चतुरर्वेदवित्—चारों वेदों को जो जानता है, उसका नाम चतुर्वेदवित् है। चतुर्धा विभक्त वेद को भगवान् तत्त्व से जानता है। इस अर्थ को प्रकट करने के अभिप्राय

वेदमसौ सम्यग् जानातीति तं स्तोतु—चतुर्वेदविदिति नाम। सूर्यो हि सृष्टेरारम्भतो जनिमतां प्राणिनां हृदयस्थान् भावान् यथा याथार्थ्यतो जानाति न तथा जीवः। सूर्यो हि सदानावृतैकरसज्ञानोऽजरामरत्वात्, जीवश्च तिरोहितज्ञानो जन्ममरणशीलत्वात्। **"अग्निर्जन्मानि वेद"** इति (ऋक् ७।१०।२) अतएव चोपपद्यते—

"अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह।" अथर्व ७।१०५।१ ॥

तथा—

"देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जार्यति।" अथर्व १०।८।३२ ॥

जगदेव देवस्य काव्यमिति **वेदनाम** (सं० १२७) व्याख्याप्रसङ्गे विशदं व्याख्यातम्। इति चतुष्ट्वयोजना संक्षेपतो दर्शिता, मनीषिभिर्यथाबुद्धिबलोदयं विस्तार्या उक्तञ्च दृढं दृढबलेन चरके यथा—

"विस्तारयन्ति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम्।
संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणञ्च पुनर्नवम्।" सिद्धिस्थान १२।६६ ॥

भाष्यकर्तापि संस्कर्तैव भवति, तस्मान्मयापि यथायोग्यं प्रयतितमत्र विष्णुसहस्रनामभाष्ये।

से ही भगवान् का चतुर्वेदवित् नाम से स्तवन किया गया है। सृष्टि के आदि से प्राणियों के हृदयों में स्थित भावों को यथार्थरूप से जैसा सूर्यदेव जानता है, वैसा जीव नहीं जानता, क्योंकि सूर्य के अजर-अमर होने से उसका ज्ञान सदा एक समान तथा अनावृत अर्थात् आवरण-हीन है तथा जीव के जरा मरणशील होने से जीव का ज्ञान आवृत अर्थात् आच्छादित है। **"अग्निर्जन्मानि वेद"** (ऋक् ७।१०।२) यह ही भाव इन **"अपक्रामन् पौरुषेयाद्०"** (अथर्व ७।१०५।१) तथा **"देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति"** (अथर्व १०।८।३२) इत्यादि मन्त्रों से उपपन्न होता है।

यह जगत् ही देव का काव्य है, यह हमने **वेद** (सं० १२७) नाम के व्याख्यान में स्पष्ट कर दिया है। हमने यह चतुष्ट्व की योजना संक्षेप से दिखलाई हैं, बुद्धिमानों को अपनी बुद्धि के अनुसार इसका विस्तार कर लेना चाहिये। **चरक** (सिद्धिस्थान १२।६६) में दृढबल ने दृढ़ता के साथ कहा है कि संस्कर्ता अर्थात् पुनः संस्कार करने वाला, संक्षेप से कहे हुये को विस्तृत तथा विस्तार से कहे हुये को संक्षिप्त करता है, तथा पुराने ग्रन्थ को नया रूप दे देता है। संस्कर्ता भाष्यकर्ता भी होता है, इसलिये मैंने भी इस विष्णुसहस्रनामस्तोत्र के सत्यभाष्य के करने में बहुत प्रयत्न किया है।

भवन्ति चात्रास्माकम्—

सोऽग्निश्चतुर्मूर्तिरचिन्त्यशक्तिः स एव विष्णुः स उ वास्ति सूर्यः ।
बध्नाति विश्वं ह्यभितोऽत्त उक्तोः विष्णुश्चतुर्बाहुरमोघवीर्यः ॥१८॥
सोऽग्निश्चतुर्व्यूहपदप्रसिद्धः संव्यूह्य विश्वं गमयत्यजस्रम् ।
यथा शरीरी सकलं शरीरं वृण्वान एत्यात्ममनोऽर्थ्यमाप्तुम् ॥१९॥
चतुर्गतिश्चापि स विष्णुरेको गन्तुं चतस्रश्च दिशः करोति ।
एकः स्वयं सन् चतुरात्मभूतो विष्णुर्हि विश्वं विभिनत्ति भेदैः ॥२०॥
पृथक् पृथग् योनिषु वर्तमानं चतुष्कसंख्यासु विचित्रकासु ।
विष्णुश्चतुर्भावपदप्रसिद्धम् [1]त्रिधा विभज्याकलते च विश्वम् ॥२१॥
स एवात्मगतं वेदं वेदञ्चापि यथार्थतः ।
चतुर्भेदसमापन्नं जानाति नात्रसंशयः ॥२२॥

'वेदोऽसि" (यजुः २।२१) इत्यपि च मन्त्रलिङ्गम्—

१—४—७—१०
२—५—८—११
३—६—९—१२ इत्युक्तः प्रपञ्चो वहुत्र ।

इस पूर्वोक्त सम्पूर्ण भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

अचिन्त्यशक्ति भगवान् विष्णु, सूर्य वा अग्नि चतुर्मूर्ति नाम से कहा जाता है, तथा विष्णु ही अमोघ बलशाली होने से सब ओर से विश्व को बान्धता हुआ चतुर्बाहु नाम से कहा जाता है। अग्नि नाम से प्रायः सूर्य का ग्रहण है। वह अग्नि चतुर्व्यूह नाम से इसलिये कहा जाता है कि वह इस विश्व की रचना करके इसे निरन्तर गतिशील रखता है, जैसे जीवात्मा शरीर में प्रवेश करके अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये इसे गतिशील रखता है।

भगवान् विष्णु का नाम चतुर्गति इसलिये है क्योंकि वह गति करने के लिये चार दिशाओं का निर्माण करता है, तथा वह चतुरात्मस्वरूप इस विश्व को रूप से भिन्न-भिन्न करता है।

भगवान् विष्णु ही अपने में नित्यज्ञान रूप से स्थित तथा चतुर्धा विभक्त इस वेद को अच्छे प्रकार से जानता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। "वेदोऽसि" (यजु, २।२१) यह मन्त्र प्रमाण है।

भगवान् विष्णु का नाम चतुर्भाव इसलिये है क्योंकि वह विचित्र चतुःसंख्यक योनियों में पृथक्-पृथक् वर्तमान इस विश्व को तीन प्रकार से विभक्त करके बनाता है। तीन प्रकार विभाजन का प्रकार—

१—४—७—१०
२—५—८—११
३—६—९—१२

इत्यादिरूप से बहुत स्थानों में निरूपण किया है।

एकपात्—७७२

'इण् धातोः' औणादिके कनि प्रत्यये 'एकः' इति शब्दो व्युत्पादितः। (पूर्वत्र सं० ७२५) पादः—"पद गतौ" इति दैवादिको धातुस्ततः "पदरुज विशस्पृशो घञ्" (पा० ३।३।१६) सूत्रेण विहितो घञ् "कृल्ल्युटो बहुलम्" (वा० ३।३।११३) इति वार्तिकेन द्रष्टव्यः। उपधा वृद्धिः। एकः पादो यस्येति बहुव्रीहौ "संख्यासुपूर्वस्य" (पा० ५।४।१४०) सूत्रेण पादान्तलोपः समासान्तः चर्त्वम्, एकपात्। सर्वमेत्य=प्राप्य गतो भवतीत्यर्थः। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्यज एकपात् पृथिवी समुद्रः।
विश्वे देवा ऋतावृधो हुवानाः स्तुता मन्त्राः कविशस्ता अवन्तु।"
ऋक् ६।५०।१४॥

"शन्नो अज एकपाद् देवो अस्तु शन्नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः।
शं नो अपांनपात् पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा।"
ऋक् ७।३५।१३॥

तथा—

"सूर्य एकाकी चरति।" यजुः २३।१०, ४६॥

सूर्यो हि यथा—एकाकी चरति तथा मनुष्योऽपि स्वक्रियासिद्ध्यै एकाकी चरति, सजीवः सर्व एव वा प्राणिवर्गः स्वाभीष्टसिद्धये केवलः=एकाकी

एकपात् – ७७२

एक शब्द की सिद्धि, इण् इस गत्यर्थक धातु से उणादि कन् प्रत्यय करके की गई है (द्र० सं० ७२५)।

पाद शब्द गत्यर्थक दिवादिगणपठित पद धातु से भाव में विहित पा० ३।३।११३ के वार्तिक से कर्ता में घञ् प्रत्यय तथा उपधा वृद्धि करने से बनता है। एक है पाद जिसका, इस बहुव्रीहि समास में पाद के अन्त्य अकार का समासान्त लोप हो जाता है। इस प्रकार जो सबके पास व्यापकरूप से गया हुआ है, उसका नाम एकपाद् हुआ। यह भगवान् का नाम **"उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्यज एकपात्"** (ऋक् ६।५०।१४) इत्यादि मन्त्र से प्रमाणित होता है। तथा **"शन्नो अज एकपाद् देवो अस्तु"** (ऋक् ७।३५।१३) और **"सूर्य एकाकी चरति"** (यजुः २३।१७।४६) इत्यादि मन्त्रों से भी यह नाम प्रमाणित होता है। जिस प्रकार सूर्यदेव किसी अन्य की सहायता के विना अकेला ही विचरता है, उसी प्रकार सजीव मनुष्य या समस्त प्राणिवर्ग भी अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिये अकेला ही विचरता है। यह एकाकीचरण रूप गुण जो विश्वभर में दीखता है, वह भगवान् विष्णु का ही है, क्योंकि भगवान् विष्णु, विश्व के सर्जनरूप कार्य में किसी अन्य की सहायता

चरति । एकचररूपोऽयं गुणो जगति व्याप्तो भगवतो विष्णोरेव । भगवान् विष्णुर्हि विश्वं सिसृक्षुरपरं नापेक्षते सहायकमिति निश्चापयितुमेकपाद् नाम्ना स्तूयते ।

भवति चात्रास्माकम् --

विष्णुर्हि लोके स्वत एव सिद्धः स्वकानि गन्तव्यपदानि याति ।
नापेक्षतेऽन्यं [1]मनुजोऽपि तद्वत् [2]जीवात्मबन्धुः क्रमते [3]क्रियायाम् ॥२३॥

१—मनुज इति जीवितस्योपलक्षणम् ।
२—जीवात्मबन्धुः=अन्यसाहाय्यानपेक्षः ।
३—एको म्रियते—एको वा जायत इति च स्पष्टं दृश्यते ।



समावर्तोऽनिवृत्तात्मा दुर्जयो दुरतिक्रमः ।
दुर्लभो दुर्गमो दुर्गो दुरावासो दुरारिहा ॥९६॥

७७३ समावर्तः, ७७४ अनिवृत्तात्मा [निवृत्तात्मा], ७७५ दुर्जयः, ७७६ दुरतिक्रमः, ७७७ दुर्लभः, ७७८ दुर्गमः, ७७९ दुर्गः, ७८० दुरावासः, ७८१ दुरारिहा ।

समावर्त्तः—७७३

समुपसर्गः, आङ् च सर्वतोभावेऽर्थे । "वृतु वर्तने" इति भौवादिको धातुस्ततो ण्यन्त्याद् "एरच्" (पा० ३।२।५६) सूत्रेण अच प्रत्ययो, णिलोपश्च, गति-

---

नहीं लेता । इसी भाव का निश्चय करवाने के लिये उसकी महापुरुषों ने "एकपाद्" नाम से स्तुति की है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

स्वतः सिद्ध भगवान् विष्णु अपने गन्तव्यपद अर्थात् सृष्टि आदि कार्यों को जैसे किसी अन्य की सहायता के विना ही करता है, उसी प्रकार यह सजीव मनुष्य भी अन्यों की सहायता के विना ही अपने कार्यों में प्रवृत्त होता है ।

यहां पद्य में मनुज शब्द सजीव का उपलक्षक है । जीवात्मबन्धु शब्द का अन्य साहाय्यानपेक्ष अर्थ है और यह स्पष्ट देखने में आता है कि वह अकेला ही जन्मता है तथा अकेला ही मरता है ।

समावर्तः—७७३

सम् यह समीचीनार्थक उपसर्ग है, तथा आङ् यह सब ओर से होने अर्थ में निपात है । वर्तन अर्थात् होने अर्थ में विद्यमान वृतु इस ण्यन्त धातु से भाव में अच् प्रत्यय, णिलोप

समासः, समीचीनमावर्तयतीति समावर्त्तः । यद्वा सम्=एकीभावे यथापूर्वं विश्वमावर्तयति । यथापूर्वं चेतनं जगत् क्रियया योजयन् सूर्योऽपि समावर्त्तः । सूर्यञ्च यथा भगवान् विष्णुरावर्तयति, तथा प्रवाहनित्यमिदं जगदपि यथापूर्वं व्यवहारक्षमं विधत्तेऽतोऽयं विष्णुः समावर्त्तः यद्वा—यथायं सूर्य उदयास्ताभ्यां विशिष्यते, तथाय नित्योऽपि जीवो जन्ममृत्युभ्यामावर्तमानो विशिष्यते । एवञ्च योऽयं लोके समावर्तनात्मको गुणो व्याप्तो दृश्यते, स भगवतो विष्णोरेवेति समावर्त इत्यन्वर्थनामा भगवान् विष्णुः । मन्त्रलिङ्गञ्च—

"स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुनर्ददताऽघ्नता जानता सं गमेमहि ।" ऋक् ५।५१।१६ ।।

तथा—

"यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ।"
ऋक् १०।१२१।६ ।।

भवति चात्रास्माकम्—

विभाति यस्मिन्नुदितो ह सूर्यो व्यवस्थया वा पुनरेति यस्य ।
यो वा समावर्तयतीह चक्रं विश्वस्य वन्द्यः स हि विष्णुरुक्तः ।।२४।।

निवृत्तात्मनाम्नि (सं० ५६७; ७७४) यन्मन्त्रलिङ्गं तदेवात्राप्यावर्तनाम्नि ज्ञेयमिति ।

तथा सम् और आङ् के साथ गति समास करने से समावर्त शब्द बनता है । समावर्त शब्द से मतुवर्थक अच् करने से जो अच्छे प्रकार से आवर्तन करता है, उसका नाम समावर्त है । अथवा सम् उपसर्ग का एकीभाव अर्थ लेने से, जो एकरूप से पूर्व के समान विश्व का आवर्तन करता है, उसका नाम समावर्त है । सूर्य का नाम भी समावर्त है, क्योंकि वह इस समस्त चेतन जगत् को पूर्व के समान क्रिया से युक्त करता है । सूर्य का नित्य आवर्तन करता हुआ, तथा प्रवाह रूप से नित्य इस जगत् को व्यवहार में समर्थ करता हुआ भगवान् समावर्त नाम से कहा जाता है । अथवा जिस प्रकार सूर्य अपने उदय और अस्त-रूप धर्म से विशिष्ट होता है, उसी प्रकार यह नित्य जीवात्मा भी अपने जन्म और मृत्यु से आवर्तन करता है । इस प्रकार जो यह लोक में समावर्तरूप गुण दीखता है, वह भगवान् विष्णु का ही है, इसलिये भगवान् का यह समावर्त नाम अन्वर्थ अर्थात् सार्थक है । इसमें **"स्वस्ति पन्थामनु चरेम"** (ऋक् ५।५१।१५) तथा **"यत्राधि सूर उदितो विभाति"** (ऋक् १०।१२१।६) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

जिस आधार भूत भगवान् विष्णु की व्यवस्था से यह सूर्य पुनः पुनः उदित तथा अस्त होता हुआ प्रकाशमान है, तथा जो इस विश्व का बार-बार पूर्व के समान आवर्तन करता है, वह विश्व का वन्दनीय भगवान् समावर्त नाम से कहा गया है । जो मन्त्रलिङ्ग निवृत्तात्मा नाम (सं० ५६७, ७७४) में दर्शित है, वह ही यहां भी जानना चाहिये ।

निवृत्तात्मा—७७४

इदं नाम पूर्वं ५६७ संख्यायां व्याख्यातम् । इह पुनः किञ्चिद् भेदेन व्याख्यायते ।

नि उपसर्गः, 'वृतु वर्तने' इति भौवादिको धातुस्ततः कर्तरि क्तः उदित्त्वान्निष्ठायां नेट्, गुणाभावः । निवृत्त आत्मा=स्वरूपं यस्य स निवृत्तात्मा बहुव्रीहिः । आत्मशब्दः—स्वरूपवचनः पूर्वं व्युत्पादितः । यथाचायं सूर्यः पृथिव्या वर्तुलत्वाद्—कुतश्चित् पृथिव्यंशस्थैरुदित इति कैश्चिच्चास्तं गत इति दृश्यते तथा चोच्यते । तथैव विश्वस्य कर्ता भगवान् कुतश्चिन्निवृतः क्वचित् प्रवृत्तश्च लक्ष्यते । तद्यथा नह्येकस्मिन् काले माता बहून् पुत्रान् जनयति, परन्त्वेकैकं जनयन्ती बहूनामपत्यानां जनयित्री भवति, तथैवायं भगवान् विष्णुर्निवृत्तिप्रवृत्तिधर्मा निवृत्तात्मनाम्ना स्तुतिमभ्युपैति ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"यन्नियानं न्ययनं संज्ञानं यत् परायणम् ।
आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे ।" ऋक् १०।१९।४ ।।

"य उदानड् व्ययनं य उदानट् परायणम् ।
आवर्तनं निवर्तनमपि गोपा नि वर्तताम् ।" ऋक् १०।१९।५ ।।

निवृत्तात्मा—७७४

यह नाम पूर्व ५७६ संख्या पर व्याख्यात किया जा चुका है पुनरपि किञ्चिद् भेदोन व्याख्यान करते हैं—

नि यह उपसर्ग है । वर्तनार्थक वृतु धातु से, कर्ता अर्थ में क्त प्रत्यय करने से निवृत्त शब्द सिद्ध होता है । उदित् होने से निष्ठा में इट् नहीं होता, तथा कित् होने से गुण भी नहीं होता । निवृत्त है आत्मा=स्वरूप जिसका, उसका नाम निवृतात्मा है, यह बहुव्रीहि समास है । आत्मा शब्द का स्वरूप अर्थ है, यह पहले कहा गया है । पृथिवी के गोल होने से, पृथिवी के किसी भाग में स्थित मनुष्य सूर्य को उदित, अर्थात् उदय हुआ देखते हैं तथा किसी भाग में स्थित अस्त हुआ देखते हैं, और वे वैसा ही अर्थात् उदय हुआ या अस्त हुआ ही कहते हैं । इसी प्रकार भगवान् विभाग में निवृत्त, तथा सन्धान=मेल (मिलन) में प्रवृत्त होता है, तथा निवृत्त और प्रवृत्त शब्दों से कहा जाता है । जिस प्रकार स्त्री, एक काल में अनेक पुत्र=सन्तानों के उत्पन्न करने में असमर्थ होने से निवृत्त, तथा एक-एक सन्तान को उत्पन्न करती हुई, बहुत सन्तानों की जननी होने से प्रवृत्त नाम से कही जा सकती है, उसी प्रकार भगवान् प्रवृत्ति तथा निवृत्ति उभयधर्मा होने से, निवृत्तात्म नाम से स्तुत होता है । इसमें **"यन्नियानं न्ययनम्"** (ऋक् १०।१९।४) **"य उदानड् व्ययनम्"**

"आ निवर्त नि वर्तय पुनर्न इन्द्र गा देहि ।
जीवाभिर्भुनजामहे ।" ऋक् १०।१९।६ ॥

"आ निवर्तन वर्तय नि निवर्तन वर्तय ।
भूम्याश्चतस्रः प्रदिशस्ताभ्य एना नि वर्तय ।" ऋक् १०।१९।८ ॥

इत्यादि ।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्निवृत्तात्मपदेन सिद्धः करोति विश्वञ्च निवर्तमानम् ।
प्रवर्तते यः स निवर्तते वा तस्मात् स्मरन् तं प्रभुमात्मगूढम् ॥२५॥

दुर्जयः—७७५

दुसुपसर्गः । 'जि जये' इति भौवादिको धातुस्तत "ईषद्दुः सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्" (पा० ३।३।१२६) सूत्रेण कृच्छ्रार्थे दुस्युपदे खल् प्रत्ययो गुणः सस्य रुत्वञ्च दुःखेन, जेतुं शक्यो दुर्जयः । मन्त्रलिङ्गञ्च—

"शूरो नियुं धाधमद्दस्यून् ।" ऋक् १०।५५।८ ॥

"तिग्मायुधो अजयच्छत्रुमिन्द्रः ।" ऋक् २।३०।३ ॥

"आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ।
सङ्क्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः ।"
ऋक् १०।१०३।१ ॥

(ऋक् १०।१९।५) "आ निवर्त नि वर्तय" (ऋक् १०।१९।६) तथा "आ निवर्तन वर्तय नि निवर्तन वर्तय" (ऋक् १०।१९।५) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य से प्रकट करता है—

भगवान् विष्णु का नाम निवृत्तात्मा है, क्योंकि वह अपने स्वरूपानुसार इस विश्व को भी निवर्तमान बनाता है, इसलिये अपने में निगूढ रूप से स्थित भगवान् का स्मरण करता हुआ मनुष्य, निवृत्ति या प्रवृत्ति धर्म को स्वीकार करता है ।

दुर्जयः—७५५

दुस् उपसर्ग पूर्वक जयार्थक जि धातु से कर्म अर्थ में खल् प्रत्यय, गुण, अय् आदेश तथा सकार को रुत्व करने से दुर्जयः शब्द सिद्ध होता है । जिसका जीतना (पराजित करना) कठिन होवे, उसका नाम दुर्जय है, अर्थात् जिसे कोई पराजित न कर सके, उसका नाम दुर्जय है । यह ही भावार्थ "शूरो नियुं धाधमद् दस्यून्" (ऋक् १०।५५।८) "तिग्मायुधो अजयच्छत्रुमिन्द्रः" (ऋक् २।३०।३) तथा "आशुः शिशानो वृषभो न भीमः" (ऋक् १०।१०३।१) इत्यादि मन्त्रों से पुष्ट होता है । भगवान् विष्णु की दुर्जयता

एवं बहुत्र दुर्जयत्वं तस्य विष्णोः परिलक्षितं भवति, तस्मात् स दुर्जयः। लोके चापि दृश्यते—भगवन्नियमानुरूपं कर्म कुर्वाणो न केनापि जेतुं शक्य इति विष्णोस्तत्र व्याप्तिः, दुर्जयश्च विष्णुः।

भवति चात्रास्माकम्—

यो दुर्जयो यत्र च दुर्जयत्वं तत्रास्ति विष्णुः स्वबलं दधानः।
नरो हि योऽधीत्य जगत् जगत्यां तनोति कृत्यानि स दुर्जयः स्यात् ॥२६

दुरतिक्रमः—७७६

दुरिति दुष्टः=दुःखजनको अतिक्रमः=नियमोच्चारो यस्य स दुरतिक्रमः। 'क्रमु पादविक्षेपे' इति भौवादिकधातोरत्युपपदे भावे घञ्, अतिक्रमणमतिक्रमः। एवञ्च यो भागवतं नियममुल्लङ्घते स शश्वद्दुःखमेवाप्नोतीति दुरतिक्रमनामगम्योऽर्थः। अथवा क्रमशब्देनात्र क्रम्यतेऽस्मिन्नित्यधिकरणार्थकेन घञन्तेन सूर्यभ्रमणकक्षा गृह्यते। तस्याश्च सूर्यकृतातिक्रमाद्ः समस्तं जगद्दुःखमाप्नुयादिति

के प्रतिपादक बहुत से मन्त्र हैं। इसलिये भगवान् विष्णु ही दुर्जय है। लोक में भी देखने में आता है कि जो मनुष्य भगवान् के नियम के अनुसार कार्य करता है वह अजय्य होता है, अर्थात् वह किसी से भी पराजित नहीं होता, क्योंकि वहां भगवान् विष्णु की व्याप्ति है और भगवान् विष्णु दुर्जय है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

जो दुर्जय अर्थात् जिसमें दुर्जयता देखने में आती है, वहां स्वयं भगवान् विष्णु अपने बल का आधान (स्थापन) करके दुर्जय रूप से स्थित है। इसी प्रकार जो मनुष्य जगत् का अध्ययन करके, अर्थात् जगत् में व्याप्त भगवान् के नियमों का विचार करके, कार्यों को करता है, वह दुर्जय हो जाता है।

दुरतिक्रमः—७७६

दुःखजनक है, अतिक्रम अर्थात् नियमों का अतिक्रमण (उल्लंघन) जिसका, उसका नाम है दुरतिक्रम।

पादविक्षेपणार्थक भ्वादिगण पठित 'क्रमु' धातु से 'अति' उपसर्ग उपपद रहते हुये भाव में घञ् प्रत्यय करने से अतिक्रम शब्द सिद्ध होता है। जो भगवान् के नियमों का अतिक्रम (उल्लङ्घन) करके व्यवहार करता है, वह सदा दुःखों को ही प्राप्त करता है, यह इस नाम का वास्तविक अर्थ है।

अथवा अधिकरणार्थक घञन्त क्रम शब्द से यहां सूर्य की भ्रमण कक्षा का ग्रहण है, उसका सूर्य द्वारा अतिक्रमण करने से समस्त विश्व सङ्कट ग्रस्त हो जाये, इससिये भगवान् के द्वारा व्यवस्थापित सूर्य अपनी कक्षा में भ्रमण करता हुआ तथा लोकों को देखता हुआ

भगवान् भास्करः प्रभुव्यवस्थया व्यवस्थापितस्तस्यामेवक्रममाणो भूयो लोकानुपकरोति, पश्यति च ।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ।।"

यजुः ३३।४३ ।।

लोकेऽपि च पश्यामः—आत्माननुमतं कुर्वाणो न सुखमाप्नोत्यपितु महद्दुःखमवाप्नोति । नहि च कश्चित् सूर्यशक्तिमतिक्रमितुं क्षमः, सूर्यो हि सर्वग्रहाधिपतिः । तस्मात् सोऽपि दुरतिक्रम इत्युक्तो भवति ।

भवति चात्रास्माकम्—

अतिक्रमो दुःखमिहास्ति विष्णोः तथा यथा राजविधानभङ्गः ।
दुःखाम्बुधौ सर्वजगन्निमज्जेदत्याक्रमेच्चेन्निजवर्त्म सूर्यः ।।२७।।

तथा—

विष्णुर्हि मूलं सकलस्य लोके जीवो हि मूलं वपुषो जगत्याम् ।
तथा हि मूलं सविता क्रियाया अतिक्रमे दुःखमियात् समग्रम् ।।२८।।

तस्माद् दुरतिक्रमः स=इति शेषः ।

उनका बहुत उपकार करता है । यह दुरतिक्रम शब्द का अर्थ है । इसी अर्थ की पुष्टि "आ कृष्णेन रजसा" (यजुः ३३।४३) इत्यादि वेदमन्त्र से होती है । हम लोक भी देखते हैं, आत्मा का अननुमत अर्थात् जिसे आत्मा न माने, उस कार्य को करता हुआ मनुष्य सुख के अतिरिक्त बहुत बड़ी विपत्ति को प्राप्त करता है । सूर्य की शक्ति का भी अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता, क्योंकि सूर्य सब ग्रहों का स्वामी है, इसलिये सूर्य का नाम भी दुरतिक्रम है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु के नियमों का अतिक्रमण उसी प्रकार दुःखदायी है, जिस प्रकार कि राजा की व्यवस्था का भङ्ग करना । इसी प्रकार यदि सूर्यदेव अपने वर्त्म (भ्रमण-कक्षा) का अतिक्रम (उल्लङ्घन) कर दे तो यह सकल जगत् दुःख रूप समुद्र में डूब जाये ।

इस सकल विश्व का मूल भगवान् विष्णु है, सकल शरीर का मूल जीवात्मा है, तथा सब क्रियाओं का मूल सूर्य है, यदि मूलागत नियमों का अतिक्रम किया जाये तो वह सब के दुःख का कारण होता है । इसलिये भगवान् दुरतिक्रम है ।

दुर्लभः—७७७

"डु लभष् प्राप्तौ" इति भौवादिको धातुस्ततो दुस्युपपदे "ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्" (पा० ३।३।१२६) सूत्रेण खल् प्रत्ययः, सस्य रुत्वम्। दुर्लभ इत्यत्र "लभेश्च" (पा० ७।१।६४) सूत्रेण नुम् प्राप्तः, तस्य च "न सुदुर्भ्यां केवलाभ्याम्" (पा० ७।१।६८) सूत्रेण निषेधः। दुःखेन=कृच्छ्रेण लभ्यो दुर्लभः। तथा हि भगवतः सर्वव्यापकस्य समष्टिव्यष्टिरूपजगद्रचनरूपंक्रिया-कौशलमपि दुर्लभं, लब्धुं=ज्ञातुमशक्यं किमुत भगवान् स्वरूपतो दुर्लभो दुर्ज्ञेयो दुःशक्यप्राप्तिर्वा। तद्विषयकं यत्किञ्चिज्ज्ञानमपि बहुक्लेशयति विद्वांसं, किमुताविदं जनम्। शृणुमश्च लोके शास्त्रपरम्परातः मार्कण्डेयादयोऽपि चिर-ञ्जीविनो महर्षयस्तत्तत्त्वतोऽज्ञात्वैव तद्दुर्लभतामनुभवन्तो मृत्युमवापुः।

अयञ्चात्राभिप्रायः—जीवस्य कदायमात्मा शरीरेण संयोगं वियोगं वा लप्स्यत इति ज्ञानमपि यत्र दुर्लभं तत्र विष्णुविषयिका ज्ञानप्राप्तिस्तु सुतरां दुर्लभेति। अपवादं निहाह। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं निदधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय।"

अथर्व ५।९।७॥

दुर्लभः—७७७

प्राप्त्यर्थक भ्वादिगण पठित 'डुलभष्' धातु से, कृच्छ्रार्थक 'दुस्' उपपद रहते हुये कर्म में खल् प्रत्यय, तथा **"लभेश्च"** (पा० ७।१।६४) सूत्र से प्राप्त नुम् का **"न सुदुर्भ्यां केवलाभ्याम्"** (पा० ७।१।६८) सूत्र से निषेध होने से दुर्लभ शब्द सिद्ध होता है। जो बड़े कष्ट से प्राप्त किया जा सके उसका नाम दुर्लभ है। सर्वव्यापक भगवान् विष्णु की इस समष्टि तथा व्यष्टि रूप जगत् की रचना चातुरी का ही ज्ञानना बड़ा कठिन है, फिर उस भगवान् विष्णु को स्वरूप से जानना या प्राप्त करना तो बहुत ही कठिन है। भगवान् विष्णु विषयक यत्किञ्चित् (थोड़ा सा) ज्ञान विद्वान् को भी बड़े क्लेश से होता है, मूर्ख की तो तद्विषयक ज्ञान में अल्पमात्र भी गति नहीं है। शास्त्र परम्परा से लोक में सुनने में आता है कि दीर्घकाल तक जीने वाले महर्षि मार्कण्डेय आदि को भी भगवान् का तात्त्विक ज्ञान नहीं हुआ, तथा वे भगवद्विषयक ज्ञान की दुर्लभता का अनुभव करते हुये ही अपना शरीर छोड़ गये। यहां यह अभिप्राय है, इस बेचारे जीव को तो इतना भी ज्ञान नहीं होता कि यह जीवात्मा कब शरीर से संयुक्त या वियुक्त होगा। कहीं-कहीं अपवाद भी देखने में आता है। ऐसी स्थिति में भगवद्विषयक ज्ञान का होना तो नितान्त दुर्लभ है। इस भाव की पुष्टि **"सूर्यो मे चक्षुर्वातः"** (अथर्व ५।९।७) इत्यादि मन्त्र से होती है। 'लभ' धातु का

लभधातोः प्रयोगः केवलमथर्वाणि दृश्यते । यथा "लभेत्" (अथर्व २०।१३६।१६) "लब्ध्वा" (अथर्व १।८।२; ५।८।८)

भवति चात्रास्माकम्—

स दुर्लभो विष्णुरनन्तरूपो मृल्लोष्ठवल्लब्धुमिहास्त्यशक्यः ।
तं दुर्लभं विश्वसृजं सुधीरा मन्यन्त आत्मानमिवात्मसंस्थम् ॥२६॥

दुर्गमः—७७८

दुसुपपदाद् "गम्लृ गतौ" इति भौवादिकाद्धातोः **"ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्"** इति (पा० ३।३।१२६) सूत्रेण खल् प्रत्ययो दुर्गमः । दुःखेन गम्यते=ज्ञायते, ज्ञाप्यते वा दुर्गमः ।

यद्वा दुरिति दुःखजनकं गमनं येन सहेति: दुर्गम सूर्यः । सूर्येण सह शक्तस्यापि कस्यचिदपरस्य गमनं कृच्छ्रदं भवतीति दुर्गमः सूर्य उक्तो भवति । अत्र शरीरे चात्मा सूर्यः । लोके चापि दृश्यतेन ह्यन्यप्राणिनोऽन्येन प्राणिना हृत्स्थं किञ्चिज्ज्ञायते, भज्यते वा साम्यं गुणधर्मस्वभावक्रियावैभवादिभिः । कुत एतत् ? दुर्गमो हि आत्मा—आत्मनश्च दुर्गमत्वात् सर्वमेतदुपपद्यते ।

यद्वा—पार्थिवाच्छरीरान्निर्जिगमिषुरयमात्मा प्राप्तकालः केवलो याति न चान्यः कश्चित्तदुपस्थाता (=सेवकः) तेन सह याति, सूर्यस्येव जीवस्यापि

प्रयोग (अ० २०।१३६।१६; १।८।२ तथा ५।८।८) आदि अथर्ववेद में ही **"लभेत्, लब्ध्वा"** आदि रूप से देखने में आता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम दुर्लभ है, क्योंकि वह मिट्टी के ढेले के समान सुलभ नहीं है । उस ही विश्व के स्रष्टा भगवान् दुर्लभ नामक विष्णु को धीर पुरुष जीवात्मा के समान अपने में स्थित मानते हैं ।

दुर्गमः—७७८

दुस् उपसर्ग के उपपद रहते हुये गत्यर्थक गम् धातु से कर्म में खल् प्रत्यय तथा सकार को रुत्व करने से दुर्गम शब्द सिद्ध होता है । जिसका जानना या प्राप्त करना कठिन है, उसका नाम दुर्गम है । अथवा जिसके साथ गमन करना दुःखोत्पादक है उसका नाम दुर्गम है । यह सूर्य का नाम है । कोई कितना ही शक्तिशाली भी क्यों न हो वह भी सूर्य के साथ चलने में दुःख का अनुभव करता है । इसलिये सूर्य को दुर्गम नाम से कहा है । इस शरीर में आत्मा ही सूर्य है ।

लोक में भी हम देखते हैं कि कोई भी प्राणी किसी अन्य प्राणी के साथ हृदयस्थ भाव को नहीं जानता, तथा न किसी अन्य प्राणी के साथ गुण कर्म स्वभाव से समानता रखता है । ऐसा क्यों होता है ? इस प्रश्न का समाधान यह ही है कि आत्मा दुर्गम है, और आत्मा के दुर्गम होने से ही यह सब कुछ होता है । अथवा पार्थिव शरीर से निकल

दुर्गमत्वात् । एवमेतादृग्गुणो विष्णुर्विश्वं व्यश्नुवानो दृश्यते । दुर्गमशब्दो वेदे न क्वचिद् दृश्यते । मन्त्रलिङ्गमर्थप्राधान्येन—

"सुगेभिर्दुर्गमतीता० ।" ऋक् १०।८५।३२ ॥

भवतश्चात्रास्माकम्—

स दुर्गमो विष्णुरनन्तकर्मा विश्वं करोत्यात्मगुणानुरूपम्[1] ।
अहो ऋतस्य महिमा विचित्रस्तत्कर्म दृष्ट्वापि गतिर्न तत्र ॥३०॥
सूर्यस्तथानन्तविकर्त्त एवं वपुर्जहद् दुर्गम एव जीवः ।
न तद्गतौ मर्त्यगतिः कदाचित् [2]सूर्यो गतिं स्वां स्वयमाह मर्त्यम् ॥३१॥

१—दुर्गममित्यर्थः ।
२—सूर्यो भास्करः, स सूर्यसिद्धान्तस्य प्रवक्ता । स च ।

दुर्गः—७७८

दुरुपसर्गः । "गम्लृ गतौ" इति धातु र्भौवादिक स्ततः "सुदुरोरधिकरणे" (पा० ३।२।४८) वार्तिकेनाधिकरणे 'डः' प्रत्ययः डित्त्वाट्टेर्लोपो दुर्गं इति ।

कर यह जीवात्मा अकेला ही जाता है । इसके साथ इसका सेवक आदि कोई नहीं जाता, क्योंकि यह भी सूर्य के समान दुर्गम है । इस प्रकार दुर्गमत्वरूप गुण वाला भगवान् विष्णु इस समस्त विश्व में व्याप्त हो रहा है । दुर्गम शब्द अपने रूप से वेद में कहीं भी नहीं देखने में आता, किन्तु इस शब्द के अर्थ में "सुगेभिर्दुर्गमतीता०" (ऋक् १०।८५।३२) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

अनन्तकर्मा भगवान् विष्णु का नाम दुर्गम है, क्योंकि वह अपने गुणानुसार विश्व को भी दुर्गम बनाता है । यह सर्वव्यापक भगवान् की बड़ी विलक्षण महिमा है, जो कि उसके प्रत्यक्ष सिद्ध कर्मों को देखकर भी मनुष्य उसको जानने या प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता । इसी प्रकार अनन्त विविध कर्मों का हेतु भगवान् सूर्य तथा इस शरीर का त्याग करता हुआ जीवात्मा भी दुर्गम है, क्योंकि इसके ज्ञान या इसके साथ गमन में मनुष्य की किञ्चिन्मात्र भी शक्ति नहीं है । इस अपनी गति का स्वयं मनुष्य को उपदेश करता है, जैसा कि सूर्य सिद्धान्त नामक ज्योतिष के ग्रन्थ से सिद्ध है । सूर्य=भास्कर नाम का आचार्य इस ग्रन्थ का प्रवक्ता है ।

दुर्गः—७७८

दुर् उपसर्ग के उपपद रहते हुये गत्यर्थक गम् धातु से अधिकरण अर्थ में ड प्रत्यय तथा टि का लोप करने से दुर्ग शब्द सिद्ध होता है । दुर् उपसर्ग कृच्छ्रार्थक है । जहां जाना कठिन हो, उसका नाम दुर्ग है, अर्थात् जिसका जानना असम्भव है, उसका नाम दुर्ग है ।

दुरत्र कृच्छ्रार्थः। कृच्छ्रेण गम्यते यत्रेति दुर्गः। तथा हि सततं प्रयतमाना मनीषिणोऽपि विष्णोः कर्माणि साक्षात् पश्यन्तश्च तत्कर्माणि तत्त्वतो न विदन्ति, तत्र कुतः पुनः साक्षाद्विष्णुतत्त्वेऽन्तःप्रवेश इत्यभिप्रेत्य स दुर्ग इति नाम्ना स्तूयते।

अथवा भगवद्विष्णुज्ञानोपपत्तये यावत् प्रयत्यते तावदेव तद्गहनतां प्रतिपद्यतेऽनन्तात्वात्, अतः स दुर्गः। अथवा—अविद्यावृतचेतोभिस्तत्स्वरूपान्तःप्रवेशो दुर्लभ इति स दुर्गनामवाच्यो भगवान् विष्णुः।

विश्वाध्यक्षोऽनन्तरश्मिकः सूर्योऽपि लोकलोकान्तरस्थावरजङ्गमर्त्वयनांशकृद् गतिभेदाद् भिन्नं-भिन्नं रूपयन् प्रत्येकं गुणवीर्यविपाकैश्च योजयन् प्राणिवर्गमुत्कर्षविकर्षाभ्यां द्वादशभावगुणवैशिष्टयेन तद्भावाधीशानां संस्थानभेदाच्चानन्तभेदविभक्तं कुर्वन् दुर्ग इत्यभिधीयते, दुःखगम्यत्वात्। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः॥"

ऋक् १।९९।१॥

भवति चात्रास्माकम्—

दुर्गः स विष्णुः कथितः पुराणैः सूर्योऽपि दुर्गः कथितस्तथैव।
दुर्गस्य कर्मापि न चाशुबोधं गतिश्च दुर्गास्ति तथैव भानोः॥३२॥

निरन्तर प्रयत्न करते हुये तथा साक्षात् देखते हुये भी विद्वान् पुरुष, भगवान् विष्णु के कर्मों को भी जानने में तत्त्व से समर्थ नहीं होते, तो फिर स्वयं भगवान् विष्णु को तत्त्व से कैसे जान सकते हैं? इस अभिप्राय से ही विष्णु को दुर्ग नाम से कहा है।

अथवा भगवद्विषयक ज्ञान की सिद्धि के लिये जितना प्रयत्न किया जाता है, उतना ही वह गहन होता जाता है, अनन्त होने से। इसलिये उसका नाम दुर्ग है। अथवा, अविद्या से आच्छन्न अन्तःकरण वाले पुरुषों का विष्णु विषयक तत्त्वज्ञान में प्रवेश दुर्लभ है, इसलिये भगवान् का नाम दुर्ग हैं। भगवान् सूर्य भी दुर्ग नाम से कहा जाता है, क्योंकि वह विश्व का अध्यक्ष अनन्त किरणों वाला सूर्य, लोक-लोकान्तर, स्थावर जङ्गम तथा ऋतु और अयनांश हेतुक गतिभेद से प्रत्येक प्राणी को भिन्न-भिन्न गुण-वीर्य-विपाक तथा रूप से युक्त करता हुआ, और प्रत्येक प्राणिवर्ग को द्वादश भावों की विशेषता से उत्कर्ष तथा अपकर्ष युक्त करता हुआ, द्वादश भावाधीशों के स्थानभेद से इस समस्त विश्व को अनन्त भेदों से विभक्त करता है। इसीलिये वह दुर्ज्ञेय होने से दुर्ग हैं। यह भाव "जातवेदसे सुनवाम०" (ऋक् १।९९।१) इत्यादि मन्त्र से प्रमाणित है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

पुरातन अभिज्ञ पुरुषों ने, भगवान् विष्णु या सूर्य को दुर्ग नाम से कहा है, क्योंकि भगवान् विष्णु का कर्म तथा सूर्य की गति अत्यन्त दुर्बोध है; उसे आसानी से नहीं जाना जा सकता।

तथा च—

एवं हि यो वेत्ति स वेत्ति विश्वं दुर्गं स विष्णुं किमुवाऽपि सूर्यम् ।
वित्वा स्वकान्तःसुखमेत्यपूर्वं विसंशयः स्तौति तमेव नित्यम् ।।३३।।

दुरावासः—७०८

आसमन्तादुष्यतेऽस्मिन्नित्यावासः, अधिकरणे घञ् । दुर्गमं आवासो दुरावास इयदिति परिमित्यभावाद् दुर्ज्ञेयस्थान इत्यर्थः । एतदेव बोधयितुं भगवतो दुरावास इति नाम ।

यद्वा दुर्धराणां सूर्यचन्द्रान्तरिक्षादीनाम् आवासः स्थानं यस्मिन् स दुरावासः **"प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः"** (पा० २।२।२४) इति वार्तिकेन बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च वैकल्पिकः । तथा चोक्तं पूर्वं ज्येष्ठ-नाम्नो (संख्या ६७) व्याख्याने, सूर्याचन्द्रमसौ नेत्रे, दिशः श्रोत्रम्, अन्तरिक्ष-मुदरम् । तत्र मन्त्रलिङ्गञ्च—

"अन्तरिक्षमुतोदरम्, दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।"
अथर्व १०।७।३२ ।।

इदं शरीरमपि जीवस्यावासः । मन्त्रलिङ्गञ्च—

"ईशावास्यमिदंँ सर्वं यत् किं च जगत्यां जगत् ।" यजुः ४०।१ ।।

इस प्रकार से दुर्ग रूप विष्णु या सूर्य को जो मनुष्य जानता है, वह ही वस्तुतः विश्व को जानता है, और ऐसा जानता हुआ वह अपने हृदय में आनन्दित होता हुआ, निःसन्देह निरन्तर भगवान् की स्तुति करता है ।

दुरावासः—७८०

जो सब ओर से वसने का अधिकरण है, उसका नाम आवास है, दुर्गम आवास का नाम दुरावास है, अर्थात् परिमाण रहित होने से जिसका आवास=स्थान दुर्ज्ञेय है । इस अर्थ को बोधित करने के लिये ही भगवान् का यह दुरावास नाम है ।

अथवा दुर्धर जो सूर्य चन्द्र आदि, उनका है वास=स्थान जिसमें, उसका नाम दुरावास है । जैसा कि ज्येष्ठ नाम (संख्या ६७) के व्याख्यान में भगवान् के सूर्य और चन्द्रमा नेत्र हैं, दिशायें श्रोत्र हैं, अन्तरिक्ष उदर है, इत्यादि रूप से कहा गया है । इसमें **"अन्तरिक्षमथो दरम्, दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्"** इत्यादि अथर्ववेद (१०।७।३२) मन्त्र प्रमाण हैं । यह प्राणियों का शरीर भी जीव का आवास है, जैसा कि **"ईशावास्यमिदंँ सर्वम्"** (यजुः ४०।१) इत्यादि वेद मन्त्र से प्रतिपादित है ।

यद्वा दुर्गतमपि प्राणिवर्गं यथाव्यवस्थं दुःखमनुभवन्तमावासयतीति दुरावासः। पचादेराकृतिगणत्वाण्ण्यन्तादच् प्रत्ययो णेर्लोपश्च। सूर्योऽपि दुरावासो दुर्धरं जगदावासयति ज्योतिषा धारयति दुरावास इव। जीवोऽपि दुरावासो दुर्धरमिदं पार्थिवं शरीरमावासयति। एवंविधा योजना प्रकृतौ विकृतौ च सर्वत्र कल्पनीया।

भवति चात्रास्माकम्—

दुरावासो वरेण्यो यः स विष्णुः सविता च सः।
स ज्येष्ठः स च वा श्रेष्ठः, तं स्तुवन्ति नमन्ति च ॥३४॥

दुरारिहा—७८१

दुरुपसर्गो दुःखार्थकः। आ=समन्तात्, अर्पयतीति, अरिः। 'ऋ गतिप्रापणयोः' भौवादिकः, 'ऋ गतौ' जौहोत्यादिको वा धातुस्ततः—**"अच इः"** (उ० ४।११४) इत्यौणादिकेन सूत्रेण इः प्रत्ययः, रपरो गुणः—अरिः। दुर्=

अथवा जो दुर्गत अर्थात् सब प्रकार के जीवनोपयोगी साधनों से हीन, दुःख का अनुभव करते हुये प्राणी को भी अपनी व्यवस्थानुसार बसता अर्थात् जीवित रखता है, उसका नाम दुरावास है। पचादिगण के आकृतिगण होने से ण्यन्त वस धातु से अच् प्रत्यय तथा णि का लोप होने से दुरावास शब्द बन जाता है। सूर्य का नाम भी दुरावास है, क्योंकि वह दुरावास के समान इस दुर्धर जगत् को अपनी ज्योति से धारण करता है। जीव का नाम भी दुरावास है, क्योंकि वह भी इस दुर्धर पार्थिव शरीर को धारण करता है। इस प्रकार की योजनायें प्राकृत तथा विकृत सब पदार्थों में कर लेनी चाहियें।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

जो सबका प्रार्थनीय भगवान् विष्णु है, वह ही दुरावास सविता, ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ है, उस ही को विद्वान् पुरुष नमस्कार तथा उस ही की स्तुति करते हैं।

दुरारिहा—७८१

दुर् यह दुःखार्थक उपसर्ग है। आङ् यह 'सब ओर से' इस अर्थ वाला उपसर्ग है। ऋ इस गति तथा प्रापणार्थक भ्वादिगणीय धातु से, अथवा गत्यर्थक जुहोत्यादिगण पठित ऋ धातु से उणादि इ प्रत्यय, तथा रेफपरक गुण करने से अरि शब्द सिद्ध होता है। इसकी दुर् आ के साथ सन्धि करने से दुरारि शब्द बन जाता है। दुरारि कर्मपूर्वक हन् धातु से सार्वकालिक क्विप् और उसका सर्व लोप करने से सुवन्त दुरारिहा शब्द बन जाता है। दुरारि नाम सब ओर से दुःख देने वाली दुष्ट मति का है। उसका जो हनन=विनाश करे, उसका नाम दुरारिहा है। यह भगवान् का नाम है। इसका स्पष्ट व्याकरण **"विरहा"** (संख्या १६७) नाम में दिखा दिया है, वहां देखना चाहिये।

दु:खं समन्तादर्पयति=प्रापयतीति दुरारि:=दुर्मतिस्तां हन्तीति दुरारिहा । दुरारिकर्मपूर्वकाद् हनधातोः सार्वकालिकः क्विप् । अस्य विशदं व्याकरणं वीरहा (संख्या १६७) इति नामव्याख्याने प्रदर्शितं, तत्र द्रष्टव्यम् । दुरारिहा विष्णुः सूर्यो वा । भगवान् दुरारिहा, दुर्मतिं विनाश्य यं सुमेधया संयुनक्ति, तस्य सर्वथा दुर्लभमपि वस्तु सुलभं भवति । तथा च लोकेऽपि पश्यामः—जीवेन स्वतः प्राप्तुमशक्यमत्यन्तं दुर्लभं शरीरं दशभिर्मासैः सकलाङ्गं समर्थं कृत्वा जीवाय ददाति भगवान् । मनुष्योऽपि दुरारिहणं भगवन्तमनुकुर्वन्, स्वलक्ष्यबाधकान् विहत्य स्वं लक्ष्यं सौकर्येण प्राप्नोति । एवं सर्वत्र योजनीजम् । अत एव च प्रार्थ्यंते—

"तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।"

ऋक् ३।६२।१०॥

तथा—

"मेधाम्मे वरुणो ददातु ।" यजुः ३२।१५ ॥ इत्यादि ।

मन्त्रलिङ्गम् यथा वा—

"अशस्तिहा विश्वमनास्तुराषाट् ।" ऋक् १०।५५।८ ॥

"मान्तः स्थुर्नो अरातयः ।" ऋक् १०।५७ १ ॥

भवति चात्रास्माकम्—

दुरारिहा विष्णुरयोनिजन्मा सर्वं जगत्यां सुलभं करोति ।
नरोऽपि तं चानुनयन् स्वभावे हत्वा दुरारिं सुलभं [1]सदैति ॥३५॥

१—सदैति—सदा एति=प्राप्नोति ।

दुरारिहा नाम भगवान् विष्णु या सूर्य का है। भगवान् दुरारिहा जिसको दुर्मति का नाश करके सुमेधा से युक्त करता है, उसके लिये दुर्लभ वस्तु भी सुलभ बन जाती है। जैसे जीव को अपने आप से अत्यन्त दुष्प्राप्य शरीर भगवान् विष्णु, दश मासों में सकलाङ्गपूर्ण करके दे देता है, यह हम लोक में देखते हैं। जीव भी भगवान् दुरारिहा का अनुकरण करता हुआ अपने लक्ष्य सिद्धि के विघातकों का नाश करके, सुगमता से अपने लक्ष्य को सिद्ध कर लेता है। इसी प्रकार सर्वत्र योजना करनी चाहिये। इसी प्रकार की स्वेष्टसिद्धि के लिये **"तत् सवितुर्वरेण्यम्"** (ऋक् ३।६२।१०) **"मेधाम्मे वरुणो ददातु"** (यजुः ३२।१५) **"अशस्तिहा विश्वमनास्तुराषाट्"** (ऋक् १०।५५।८) तथा **"मान्तः-स्थुर्नो अरातयः"** (ऋक् १०।५७।१) इत्यादि मन्त्रों से भगवान् की स्तुति की जाती है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

अयोनिजन्मा भगवान् विष्णु दुरारिहा इसलिये है कि वह मनुष्य की दुर्मति का नाश करके उसको सुमेधा से युक्त कर देता है, जिससे कि उसके लिये दुर्लभ भी सुलभ हो जाता है। मनुष्य भी भगवान् दुरारिहा का अनुकरण करता हुआ अपने लक्ष्य के बाधक अनिष्टों का निवारण करके अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

शुभाङ्गो लोकसारङ्गः सुतन्तुस्तन्तुवर्धनः ।
इन्द्रकर्मा महाकर्मा कृतकर्मा कृतागमः ॥९७॥

७८२ शुभाङ्गः, ७८३ लोकसारङ्गः, ७८४ सुतन्तुः, ७८५ तन्तुवर्धनः । ७८६ इन्द्रकर्मा, ७८७ महाकर्मा, ७८८ कृतकर्मा, ७८९ कृतागमः ॥

शुभाङ्गः—७८२

"शुभ शोभार्थे" भौवादिको धातुस्ततः **"इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः"** इति (पा० ३।१।१३५) सूत्रेण कः प्रत्ययः, कित्त्वाद् गुणाभावः । अङ्ग इत्यङ्गतेः पचाद्यच्, भावे घञ् वा । एवञ्च शोभमानोऽङ्गति=गच्छति यः स शुभाङ्गः, शुभम् अङ्गनं वा यस्य स शुभाङ्गः, अङ्गनं—सार्वकालिकं सार्वदेशिकञ्च व्यापनमित्यर्थः । अङ्गन्तेर्ण्यन्ताद् वा बाहुलकात् पचाद्यच् । एवञ्च शोभायञ्जगद् गमयतीत्यर्थः सम्पद्यते । अथवा शोभमानोऽङ्गन् सूर्यः शुभाङ्ग उच्यते । सोऽस्यास्ति तस्याध्यक्षत्वेन मत्वर्थीयेऽचि । विष्णुः शुभाङ्गः, सूर्यो हि सर्वदैकविधां गतिमादधानः लोकेन दृश्यते गच्छन्नतो **"यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते"** (ऋक् ५।४४।६) इति वेदवचनात् सूर्यः शुभाङ्ग उक्तो भवति । भगवान् विष्णुरपि **"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयद्"** (ऋक् १०।१९०।३) इति वेदवचनानुसारं स्वरूपेण शोभमानो जगद् गमयत्यतः शुभाङ्ग इति विष्णुनाम ।

शुभाङ्गः—७८२

भ्वादिगण पठित शोभार्थक शुभ धातु से इगुपधलक्षण क प्रत्यय, तथा कित् निमित्तक गुणाभाव होने से शुभ शब्द सिद्ध होता है । अङ्ग शब्द, गत्यर्थक अगि धातु से पचादि अच्, अथवा घञ् प्रत्यय करने से बनता है । इस प्रकार जो शोभित होकर चलता है, उसका नाम शुभाङ्ग होता है । अथवा जिसका सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक अङ्गन=व्यापन शुभ है, उसका नाम हुआ शुभाङ्ग । अथवा बाहुलक से ण्यन्त अगि धातु से पचादि अच् प्रत्यय करने से जो शोभित करके जगत् को चला रहा है, उसका नाम शुभाङ्ग है ।

अथवा शोभा पाकर चलता हुआ सूर्य शुभाङ्ग नाम से कहा जाता है, तथा वह शुभाङ्ग=सूर्य जिसका है, उसका नाम शुभाङ्ग है, मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करने से सूर्य के अध्यक्ष विष्णु का नाम होता है । सूर्य सदा एक समान गति से चलता हुआ लोक के द्वारा देखा जाता है । इसलिये **'यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते"** (ऋक् ५।४४।६) इस वेदवचनानुसार सूर्य का नाम शुभाङ्ग होता है । भगवान् विष्णु का भी **"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्"** (ऋक् १०।१९०।३) इत्यादि वेदवचनानुसार अपने स्वरूप से शोभित हुआ जगत् को चला रहा है । इसलिये उसका नाम शुभाङ्ग है । जीवात्मा का नाम भी शुभाङ्ग है, क्योंकि वह शोभान्वित हुआ अपने अभीष्ट अर्थों को प्राप्त करता है । इस

आत्मापि शुभाङ्ग उच्यते। यतो हि स स्वयुक्तशरीरेण शोभमानः स्वाभिलिप्स्यानि गच्छति। एवं भगवतः शुभाङ्गत्वरूपो गुणो जगति व्याप्तः प्रेरयति सबलं भगवन्तं शुभाङ्गेतिनाम्ना स्तोतुम्। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"क्षेत्रादपश्यं सनुतश्चरन्तं सुमद् यूथं न पुरु शोभमानम्।"

ऋक् ५।२।४॥

शोभे, शोभस्, शोभसे, शोभिष्ठम् एते क्रमशः ऋक् १।१२०।५; १०।७७।१; ८।३।२१ मन्त्रेषु प्रयुज्यन्ते शुम्भ धातुरपि शोभार्थे, तस्यापि **शुम्भमानः, शुंभानः,** पदे क्रमश ऋक् ६।३६।४; ८।४४।१२ इत्यत्र प्रयुज्येते। इति दिङ्मात्रमुक्तम्।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुः शुभाङ्गो ह्यभवत् सदाऽसौ विष्णुर्यथापूर्वमकल्पयत्तम्।
जीवः शुभाङ्गोऽङ्गति देहसक्तः, स मे शुभाङ्गोऽस्तु सदार्चनीयः॥३६॥

लोकसारङ्गः—७८३

लोकः—लोक्यते=दृक्पथमानीयत इति लोकः, कर्मणि घञ्। लोकते=विविधैर्भावैः प्रकाशत इति वा लोकः, पचाद्यच्। सारः—"सृ गतौ" इति

प्रकार भगवान् का जगत् में व्याप्त हुआ शुभाङ्गत्व रूप गुण, सब को प्रबल रूप से शुभाङ्ग नाम से भगवान् की स्तुति के लिये प्रेरित करता है। इसमें **"क्षेत्रादपश्यं सनुतश्चरन्तम्"** (ऋक् ५।२।४) तथा ऋक् १।१२०।५, ऋक् १०।७७।१, ऋक् ८।३।२१ में क्रम से आये हुये **शोभे, शोभस्, शोभसे** तथा **शोभिष्ठम्** ये वेदवचन प्रमाण हैं। शुम्भ धातु भी शोभार्थक है। उससे बने पदों का भी **"शुम्भमानः शुंभानः"** इत्यादि रूप से (ऋक् ६।३६।४ तथा ८।४४।१२) ऋचाओं में पाठ है। यह केवल दिग्दर्शन है।

इस भाव को भाष्यकार इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु इस समस्त संसार को सदा पूर्व के समान बनाता हुआ शुभाङ्ग नाम से कहा जाता है, तथा देह से युक्त शरीरी जीवात्मा भी शुभाङ्ग नाम से कहा जाता है, क्योंकि यह देहयुक्त होकर ही गति करता है। ऐसा शुभाङ्ग नामा भगवान् विष्णु, मेरा सदा अर्चनीय है, या रहे।

लोकसारङ्गः—७८३

जो दृष्टिगोचर होता है, उसका नाम लोक है। कर्म में घञ् प्रत्यय लोक् धातु से हुआ है। अथवा विविध भावों से जो प्रकाशित होता है, उसका नाम लोक है। यहां पंचादि अच् प्रत्यय हुआ है। सार शब्द, गत्यर्थक सृ धातु से स्थिरत्व विशिष्ट कर्ता अर्थ में घञ् प्रत्यय

भौवादिको धातुस्ततः "सृ स्थिरे" (पा० ३।३।१७) सूत्रेण स्थिरत्वविशिष्टे कर्तरि घञ् प्रत्ययः। एवञ्च स्थिरो भवतीति सारः। लोके सारः—लोकसारः सप्तमीति योगविभागात्समासः। लोकसार इति सुबन्तोपपदाद गमधातोः पा० ३।२।३८ सूत्रस्थ "गमेः सुप्युपसंख्यानम्" इति वार्तिकेन खच् प्रत्ययः "खच्च डिद् वा वक्तव्यः" इति वार्तिकेन वैभाषिको डिद्वद्भावः, तथा च डित्त्वाट्टेर्लोपः। "खित्यनव्ययस्य" (पा० ६।३।६६) सूत्रेण मुमागमो लोकसारङ्ग इति। एवञ्च लोके सारो भगवति प्रेम, तद् गच्छति=प्राप्नोति तत् प्रति आकृष्टो वा भवतीति लोकसारङ्गो विष्णुः।

यद्वा लोकश्चासौ सारङ्गो लोकसारङ्गः। लोकते=प्रकाशते सारः गच्छति =प्राप्नोति—इति चार्थः। लोकसारङ्गः सूर्योऽपि, लोके सारभूतं रसं गृह्णन् गच्छतीति कृत्वा। जीवात्मापि लोकसारङ्गः, यतो हि स लोके=शरीरे स्थित्वा सारभूतं स्वेप्सितं भोगं मोक्षं वा गृह्णातीत्यतः स लोकसारङ्ग उक्तो भवति। इत्यादिविविधा योजनोहनीया।

भवति चात्रास्माकम्—

स लोकसारङ्गपदावबोध्यो विष्णुः सनात् सारवदाप्तुमर्हः।
सारं विगृह्णन् क्रमते च सूर्यः स लोकते विश्वमनन्तशक्तिः ॥३७॥

करने से बनता है। जो कालान्तर तक स्थिर रहता हुआ चलता है, उसका नाम सार है। लोक में जो सार है, वह लोकसार है, सप्तमी के योग विभाग से समास हुआ है। लोकसार इस सुबन्त पद के उपपद रहते हुये गम् धातु से ३।२।३८ पाणिनीय सूत्रस्थ वार्तिक से खच् प्रत्यय, डिद्वद्भाव विकल्प से, डित् निमित्तक टि का लोप, तथा मुम् का आगम होने से 'लोकसारङ्ग' यह शब्द सिद्ध होता है। पूर्वोक्त प्रकार से लोक में भगवत् प्रेम ही सार है। उसको जो प्राप्त करता है, अथवा प्रेम से जो आकृष्ट होता है उसका नाम लोकसारङ्ग है। यह भगवान् विष्णु का नाम हैं।

अथवा जो 'लोक है और सारङ्ग है', इस कर्मधारय समास से प्रकाशमान तथा सार को प्राप्त करने वाला लोकसारङ्ग है। सूर्य का नाम भी लोकसारङ्ग है, क्योंकि वह लोक में सार भूत रस का ग्रहण करता हुआ चलता है। जीवात्मा का नाम भी लोकसारङ्ग है, क्योंकि वह भी शरीर में स्थिर होकर अपने सारभूत अभीष्ट भोगों को ग्रहण करता है, अथवा मोक्ष को प्राप्त करता है। इत्यादि प्रकार से और भी योजनायें कर लेनी चाहियें।

भाष्यकार इस भाव को इस प्रकार अपने पद्य से व्यक्त करता है—

सदा से सारभूत वस्तु को प्राप्त करने वाला भगवान् विष्णु लोकसारङ्ग नाम का वाक्यार्थ है, तथा अनन्तशक्ति स्वयं प्रकाशमान् सूर्य भी लोकसारङ्ग नाम से कहा जाता है, क्योंकि वह भी लोक में सारभूत रस द्रव्य को ग्रहण करता हुआ चलता है।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् ।" अथर्व २।३२।२ ।।

तथा—

"शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ।" अथर्व २।३२।२ ।।

इति सारङ्गशब्दे निर्दशनमात्रमुक्तम् ।

सुतन्तुः—७८४

सु—इति शोभार्थक उपसर्गः । तन्तुरिति "तनु विस्तारे" इति तानादिकाद् धातोः "सितनिगमिमसिसच्यविधाञ्क्रुशिभ्यस्तुन्" (उ० १।६९) इत्युणादिसूत्रेण कर्मणि तुन् प्रत्ययः, "तितुत्रे" (पा० ७।२।९) इत्यादि सूत्रेणेण्निषेधः । अनुस्वारपरसवर्णौ, सुपूर्वो बहुव्रीहिः । तन्यत इति तन्तुः शोभनस्तन्तुर्यस्य स सुतन्तुर्विष्णुः । अर्थात् शोभनं तन्यते विश्वं येन स सुतन्तुरित्यर्थः । स एष सुतानरूपो भगवतो गुणो विश्वे सर्वत्र व्याप्तो दृश्यते । तथाहि—लोके सर्वं जातं, जायमानं, जनिष्यमाणञ्च सर्गारम्भाद् यावत् सर्गान्तमेकरूपेण तन्वन्नायाति; तथा भविष्यत्यपि समये । तमेवानुकुर्वन् जीवोऽपि रमणीयं यथा स्यात्तथा तितनिषति कर्मजालम् । मन्त्रलिङ्गञ्च—

"यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः ।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते ।"

ऋक् १०।१३०।१ ।।

इस नामार्थ की पुष्टि "विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम्" (अथर्व २।३२।२) तथा "शृणाम्यस्य पृष्टीरपि०" (अथर्व २।३२।३) इत्यादि वेद मन्त्र से होती है । यह सारङ्ग शब्द में दिग्दर्शन मात्र है ।

सुतन्तुः—७८४

सु यह शोभार्थक उपसर्ग है । तन्तु शब्द, विस्तारार्थक तनु धातु से कर्म में उणादि तुन् प्रत्यय, इट् का निषेध, तथा अनुस्वार परसवर्ण करने से बनता है । सुपूर्वक बहुव्रीहि समास करने से शोभन है तन्तु=तनन अर्थात् विस्तारकर्म जिसका, उसका नाम सुतन्तु है । यह भगवान् विष्णु का नाम है, क्योंकि वह इस विश्व का बहुत अच्छे प्रकार से विस्तार करता है । भगवान् विष्णु का यह सुन्दर रूप से तनन रूप गुण समस्त विश्व में व्याप्त दीखता है । जैसा कि लोक में सब ही उत्पन्न, उत्पद्यमान, तथा उत्पत्स्यमान पदार्थ को समान रूप से सर्ग के आरम्भ से, सर्ग के अन्त तक विस्तार करता है, विस्तार कर रहा है, तथा विस्तार करेगा । भगवान् का ही अनुकरण करता हुआ जीव भी कर्मसमूह को सुन्दर रूप से विस्तीर्ण करना चाहता है ।

इस भाव तथा नाम की पुष्टि "यो यज्ञो विश्वत स्तन्तुभिस्ततः" (ऋक् १०।

तथा—

"समिद्धो अग्न आवह देवां अद्य यतस्रुचे।
तन्तुं तनुष्व पूर्व्यं सुतसोमाय दाशुषे।" ऋक् १।१४२।१ ।।

इति निदर्शनम्।

भवन्ति चात्रास्माकम्—

विष्णुः सुतन्तुः स तनोति रम्यं विश्वं सुयज्ञं विततं महान्तम्।
दिनोदयास्तैः प्रतिवस्तु रम्यं सर्वत्र तन्तुं कुरुते विचित्रम् ।।३८।।

सिरा मनुष्येषु च तन्तुवत्ता लतासु तन्तुस्तु ततो विभाति।
ग्रहेषु राशिर्मणिसूत्रवत् स्यात् सुतन्तुरूपाः प्रवहन्ति नद्यः ।।३९।।

एवं हि यो वेत्ति सुतन्तुमर्थ्यं विष्णुं शयानं सकलेऽत्र तन्त्रे।
स एव तं पश्यति सर्वदृष्टिर्न चक्षषा पश्यति तं सुचक्षुः ।।४०।।

तन्तुवर्धनः—७८५

तन्तुरुक्तः सुतन्तुनामनि। वर्धन इति "वृधु वृद्धौ" इति भौवादिको धातुः, ततो णिच् गुणो रपरः, वर्धि—इति णिजन्ताल्ल्युः, योरनादेशः वर्धयतीति वर्धनः,

---

१३०।१) तथा "समिद्धो अग्नावह" (ऋक् १।१४२१) । इत्यादि ऋङ्मन्त्रों से होती है। यह निदर्शन मात्र है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम सुतन्तु है, क्योंकि वह इस विश्व रूप महान् यज्ञ का विस्तार करता हुआ दिन, उदय तथा अस्त रूप उपाधियों से प्रत्येक वस्तु का सुन्दर तथा विचित्र विस्तार करता है।

मनुष्यों अर्थात् प्राणियों में सिरायें (नाडियां) तन्तु के समान विस्तीर्ण हैं, लतायें स्वयं तन्तुरूप हैं, ग्रहों में मणिमूत्र के समान राशि ओतप्रोत अर्थात् विस्तीर्ण है, पृथिवी पर तन्तुरूप=विस्तारवती नदियां बह रही हैं।

इस प्रकार, इस सकल प्रपञ्च में व्याप्त, सव के प्रार्थ्य, सतन्तु रूप विष्णु को जो जानता है, वह ही सर्वत्र समान दृष्टि, भगवान् विष्णु को सर्वत्र देखता है। कोई सुदृष्टि पुरुष भी उसको चर्मचक्षु से नहीं देख सकता।

तन्तुवर्धनः - ७८५

तन्तु शब्द का व्याख्यान सुतन्तु नाम में हो गया है।

वर्धन शब्द, वृद्धयर्थक वृधु धातु से णिच् तथा रेफपरक गुण करके वर्धि इस णिजन्त धातु से ल्यु प्रत्यय, यु को अन आदेश, तथा णि का लोप करने से सिद्ध होता है। तन्तु को

तन्तोर्वर्धनस्तन्तुं वा वर्धयति स ततन्तुवर्धनो विष्णुः, सूर्यः, आत्मा वा। एवञ्च तन्तुं विश्वयज्ञं वितत्य यो वर्धयति स तन्तुवर्धनो विष्णुः। अथवा विश्वमिदं नियतकालं=यावन्निश्चितायुःकालं वर्धयति=गमयतीत्यर्थः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"स्वर्ण, वस्तोरुषसामरोचि यज्ञं तन्वाना उशिजो न मन्म।
अग्निर्जन्मानि देव आ वि विद्वान् द्रवद्दूतो देवयावा वनिष्ठः।"

ऋक् ७।१०।२॥

अग्निः सूर्यो यस्माज्जन्मानि वेद तस्मात् स तन्तुवर्धनः। तथा चार्थ-प्रधानन्निदर्शनम्—

"यो वर्धन ओषधीनां यो अपां यो विश्वस्य जगतो देव ईशे।
स त्रिधातु शरणं शर्म यंसत् त्रिवर्तु ज्योतिः स्वभिष्टयस्मे।"

ऋक् ७।१०१।२॥

लोकेऽपि पश्यामो मनुष्यः सर्वोऽपि वा प्राणिवर्गः स्वतन्तुरूपं सन्तानं विवर्धयिषुर्भूयः प्रयतते। स वेद च मनुष्यः स्वतः प्राक्तनानि पितृपितामहादीनां जन्मानि, स्वतोऽर्वाक्तनानां जन्मिनाञ्च जन्मानि। तथा ऽप्यल्पविषयो मनुष्यः, सर्वं भगवांस्तु सर्गादितः सर्गान्तं सर्वेषां प्रलयोदयौ पश्यति। अत्र एव सोऽग्नि सर्वेषां प्रलयोदयौ तत्त्वतो जानाति।

जो बढ़ाता है, उसका नाम तन्तुवर्धन है। यह विष्णु, सूर्य तथा आत्मा का नाम है। जो इस विश्व यज्ञ का विस्तार करके इसे बढ़ाता है, वह तन्तुवर्धन भगवान् विष्णु है। अथवा इस विश्व को जो नियतकाल तक वर्द्धित करता है, अर्थात् चलाता है, उसका नाम विश्व-वर्धन है। इसमें **"स्वर्ण वस्तोरुषसामरोचि०"** (ऋक् ७।१०।२) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है। अग्नि या सूर्य, सब के सार्वकालिक जन्मों को जानने से तन्तुवर्धन हैं। अर्थ की प्रधानता में **"यो वर्धन ओषधीनां यो अपां यो विश्वस्य"** (ऋक् ७।१०१।२) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है। हम लोक में भी देखते हैं, मनुष्य या समस्त प्राणिवर्ग अपने तन्तुरूप सन्तान को बढ़ाने के लिये बहुत प्रयत्न करता है, और मनुष्य अपने पूर्वज पिता पितामहादिकों के जन्मों को जानता है, तथा अपने से पीछे होने वालों के जन्मों को जानता है, फिर भी मनुष्य का ज्ञान अल्पविषयक है। तथा भगवान् सर्ग के आरम्भ से सर्ग के अन्त तक सब के जन्म और मृत्युओं को देखता है। इसीलिये वह सूर्य अथवा अग्निनामा विष्णुः सब के मृत्यु तथा जन्मों को तत्त्व से जानता है।

भवतश्चात्रास्माकम्

विश्वं ततं तेन यतः स एव तद्वर्धनः सर्वमिदञ्च वेत्ति ।
कुतः प्ररूढं क्वनु चान्तमस्य स जन्मिनां वेद च [1]भूतभव्ये ।।४१।।

एवं हि यो वेत्ति सनातनं तं [2]सूर्यस्य कर्तारमपीह विष्णुम ।
स एव सूत्रस्य च वेद सूत्रं [3]यस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।।४२।।

१—भूतभव्ये=भूतं, भविष्यच्च ।

२—सूर्यस्य=सरणशीलस्य सपरिच्छदस्य सर्वस्य ब्रह्माण्डस्येति भावः ।

३—"यस्मिन् क्षियन्ति प्रदिशः षडुर्वीः ।" अथर्व १३।३।१ ।।
"तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।" यजुः ३१।१९ ।।

इन्द्रकर्मा—७८६

इन्द्रशब्द इन्देरनि प्रत्यये व्युत्पादितः (उ० २।२८), कर्म—करोतेः **"सर्वधातुभ्यो मनिन्"** (उ० ४।१४५) इत्युणादिसूत्रेण मनिन् प्रत्ययो रपरो गुणः। अनिडयं धातुः समासे च नान्तलक्षणो दीर्घः । इन्द्राणि=परमैश्वर्यशालीनि कर्माणि यस्य स—इन्द्रकर्मा विष्णुः। अव्याहतक्रियो वेत्यनर्थान्तरम् ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम तन्तुवर्धन इसलिये है कि वह इस सकल विश्व को विस्तृत करके इसे बढ़ाता है, तथा इसका कहां से आरम्भ और कहां पर अन्त होगा, और सब प्राणियों के भूत तथा भविष्यत् को जानता हैं ।

इस प्रकार जो मनुष्य सूर्य के भी कर्ता सनातन रूप भगवान् विष्णु को जानता हैं, वह ही, जिसमें सब भुवन स्थित हैं, ऐसे सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व को जानता है । भूतभव्ये नाम भूत और भविष्यत् का है । सूर्य नाम इस सरणशील ब्रह्माण्ड का है । इसमें **"यस्मिन् क्षियन्ति"** (अथर्व १३।३।१) तथा **"तस्मिन् ह तस्थु०"** (यजुः ३१।१६) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं ।

इन्द्रकर्मा—७८६

इन्द्र शब्द, परमैश्वर्यार्थक इदि धातु से रन् प्रत्यय करके सिद्ध किया गया है । कर्म शब्द की सिद्धि कृ धातु से उणादि मनिन् प्रत्यय, तथा रपर गुण करने से होती है, यह अनिट् धातु है । इन्द्र और कर्म शब्द का परस्पर बहुव्रीहि समास करने पर नान्तलक्षण दीर्घ होकर इन्द्रकर्मा शब्द बन जाता है । जिसके सब कर्म, परम ऐश्वर्य से युक्त हैं, उसका नाम इन्द्रकर्मा है । इसका समानार्थक शब्द 'अव्याहतक्रिय' होता है ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि व्रतानि देवा न मिनन्ति विश्वे।
दाधार यः पृथिवीं द्यामुतेमां जजान सूर्यमुषसं सुदंसः।"

ऋक् ३।३२।८॥

एवमिन्द्रकर्माख्यानं बहुत्र वेदे। लोकेऽपि पश्यामो यथेन्द्रकर्मा भगवान् पृथिवीं द्याञ्च धारयति, जनयति सूर्यमुषसञ्च, तथैवायं मनुष्योऽपि विविधकर्मा स्वाभीष्टसिद्ध्यै विविधानि साधनानि साधयति धारयति च। यथा—यन्त्रशालां विद्युतं प्रकाशाय दीपकानि विविधानि गृहवितानानि च विधत्ते।

भवति चात्रास्माकम्—

स इन्द्रकर्मा भगवान् वरेण्यो दाधार भूमिं स उ वा दिवञ्च।
अजीजनच्चापि स सूर्यमग्र्यं स चोषसं, तञ्च नमन्ति सर्वे ॥४३॥

महाकर्मा—७८७

महान्ति कर्माणि यस्य स महाकर्मा। कर्मशब्दः करोतेः प्राक् व्युत्पादितः। यथा चैतस्य महाकर्मत्वप्रतिपादकं मन्त्रलिङ्गम्—

इस नामार्थ को पुष्ट करने वाला **"इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि"** (ऋक् ३।३२।८) इत्यादि वेदमन्त्र है। वेद में बहुत स्थानों में इन्द्रकर्मों का आख्यान है।

लोक में भी हम देखते हैं, जैसे भगवान् इन्द्रकर्मा पृथिवी और द्युलोक को धारण करता है, तथा सूर्य और उषा को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार मनुष्य भी विविध कर्मों को करता हुआ, विविध प्रकार के साधनों को सिद्धकर धारण करता है। जैसे कारु (कारीगर) यन्त्रशाला, बिजली तथा प्रकाश के लिये दीपक और गृह-मण्डप आदिकों का निर्माण करता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

सबसे श्रेष्ठ, सबके प्रार्थ्य, भगवान् विष्णु का नाम इन्द्रकर्मा इसलिये है कि उसने पृथिवी तथा द्युलोक को धारण करके प्राथमिक तत्त्व सूर्य और उषा को उत्पन्न किया है। इसलिये ही भगवान् इन्द्रकर्मा को सब नमन (नमस्कार) करते हैं।

महाकर्मा—७८७

जिसके सब कर्म महत्त्वशाली हैं, उसका नाम महाकर्मा है। कर्म शब्द की सिद्धि पहले कृ धातु से की गई है।

"त्वं विश्वस्य धनदा असि श्रुतो य ईं भवन्त्याजयः ।
तवायं विश्वः पुरुहूत पार्थिवोऽवस्युर्नाम भिक्षते ।" ऋक् ७।३२।१७ ।।

तथा—

"यः कर्मभिर्महद्भिः सुश्रुतोऽभूत् ।" ऋक् ३।३६।१ ।।

इन्द्रोऽस्य मन्त्रस्य देवता ।

"ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ।"
ऋक् ७।३२।२२ ।।

इति निदर्शनमात्रमुक्तम् । इन्द्रस्य महिमा बहुत्र गीतो वेदे ।

लोकेऽपि च पश्यामः—यथा मनुष्यो हि सततं यन्त्रादिसाहायोन महाकर्माऽहं स्यामिति बहु प्रयतते ।

भवति चात्रास्माकम्—

महाकर्मा स एवास्ति विष्णुरुक्तः [1]सनातनः ।
मनुष्योऽपि विदित्वा तं तादृशो भवति ध्रुवम् ।।४४।।

१—सनातन इति यदुक्तं तत्र मन्त्रलिङ्गम्—
"पुरुवसुर्हि मघवन्त्सनादसि ।" ऋक् ७।३२।२४ ।।

भगवान् के महत्त्वयुक्त कर्म का प्रतिपादक "त्वं विश्वस्य धनदा असि श्रुतो०" (ऋक् ७।३२।१७) इत्यादि मन्त्र है । तथा "यः कर्मभिर्महद्भिः सुश्रुतोऽभूत्" (ऋक् ३।३६।१) "ईशानमस्य जगतः" (ऋक् ७।३२।२२) इत्यादि मन्त्र भी भगवान् के कर्मों के महत्त्व के प्रतिपादक हैं ।

यह उदाहरण मात्र हमने दिखलाया है । वेद में बहुत स्थानों में इन्द्र की महिमा का वर्णन है ।

हम लोक में भी देखते हैं—यन्त्र आदि की सहायता से मनुष्य प्रतिक्षण महाकर्मा बनने का यत्न करता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

[1]सनातन रूप भगवान् विष्णु ही महाकर्मा नाम से कहा जाता है, मनुष्य भी महाकर्मा बन जाता है ।

१—भगवान् सनातन है, इसकी पुष्टि "पुरुवसुर्हि मघवन्त्सनादसि" (ऋक् ७।३२।२४) इत्यादि मन्त्र से होती है ।

कृताकर्मा—७८८

कृत—कर्म-शब्दौ पृथक् पृथग्व्युत्पादितौ। तयोः सति समासे सुवागमे च नान्तलक्षणो दीर्घः—कृतकर्मा।

कृतकर्मनाम्नश्चायमभिप्रायः—कृतमेव जगल्लक्षणं कर्म पुनः पुनः करोति, **"यथापूर्वमकल्पयद्"** (ऋक् १०।१९०।३) इति वेदवचनात् स कृतकर्मा। यद्वा—अन्यैः कर्तुमनर्हं बहुभिरपि यत् कर्म, तत् करोतीति कृतकर्मा। सूर्योऽपि स्वोदयास्तलक्षणं कर्म पुनः पुनरनुदिनं प्रतिकल्पञ्च करोतीति कृतकर्मा। तथैवैष कृतकर्मत्वरूपो भगवतो गुणः सर्वत्र जगति व्याप्त इति, सर्वं जगत् कृतकर्मतां धत्ते। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"कृतं न श्वघ्नी विचिनोति देवने संवर्गं मन्मघवा सूर्यं यत्।
न तत् ते अन्यो अनुवीर्यं शकन्न पुराणो मघवन् नोत नूतनः।"
ऋक् १०।४३।३॥

भवति चात्रास्माकम्—

कृतं हि यत्तेन करोति तत्पुनः स एव नान्यः क्षमते च तद्वत्।
[1]सूर्यं कृतं दर्शयतीह भूयो न नूतनस्तेन विसृज्यते सः॥४५॥

कृतकर्मा—७८८

कृत और कर्म शब्द पृथक्-पृथक् सिद्ध किये जा चुके हैं। इन दोनों का समास करने पर नान्तलक्षण दीर्घ होकर कृतकर्मा शब्द बन जाता है। कृतकर्मा शब्द का अभिप्राय यह है कि जो अपने किये हुये कर्म को ही बार-बार करता है, उसका नाम कृतकर्मा है। जैसा कि **"यथापूर्वमकल्पयत्"** (ऋक् १०।१९०।३) इत्यादि वेदवचन से सिद्ध है।

अथवा जो कर्म किसी दूसरे से नहीं किया सकता, उसे वह करता है, इसलिये कृतकर्मा है। सूर्य भी अपने उदय अस्तरूप कर्म को बार-बार प्रतिदिन तथा प्रतिकल्प करता हुआ कृतकर्मा नाम से कहा जाता है। इस प्रकार से भगवान् का कृतकर्मत्वरूप गुण समस्त जगत् में व्याप्त है। इसलिये यह सकल जगत् ही कृतकर्म है। इसमें **"कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने"** (ऋक् १०।४३।३) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है।

इस भाव को भाष्यकार इस प्रकार व्यक्त करता है—

जिस प्रकार का जो कुछ भगवान् ने पहले किया है, उस ही प्रकार का और उसी को ही पुनः पुनः किया है, अर्थात् करता आ रहा है। इस प्रकार कोई दूसरा नहीं कर सकता। भगवान् ने सूर्य आदि समस्त जगत् का निर्माण पूर्व के समान ही किया है, कुछ नूतन नहीं बनाया है। इसलिये भगवान् कृतकर्मा है।

१—सूर्य इत्युपलक्षणमात्रम् । सर्वं तेन प्राग्भवमेव पुनः पुनः सृज्यते, न तु नूतनं क्रियते । "यथापूर्वमकल्पयद्" (ऋक् १०।१९०।३) इति मन्त्रलिङ्गात् ।

लोकेऽपि च दृश्यते कृतकर्मा हि मनुजस्तान्येव कर्माणि पुनः पुनर्विधत्ते ।

कृतागमः—७८९

कृतशब्दः करोतेर्निष्ठायाम्, आगमशब्दश्च—आङ्पूर्वाद् गमेः **"ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च"** (पा० ३।३।५८) सूत्रेण करणे 'अप्' प्रत्यये सिध्यतः । आगम्यतेऽनेनेत्यागमो वेदः । कृत आगमो येन स कृतागमः । मन्त्रलिङ्गञ्च—उपरितनमन्त्रतो **'यस्मिन् नेतरि'** इत्यनुवर्तमाने—

"परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभवत् ।" ऋक् २।५।३ ॥

तथा—

"तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।" यजुः ३१।७ ॥

भवति चात्रास्माकम्—

कृतागमो विष्णुरनन्तबोधो ज्ञानं जनेभ्यः प्रददत्र नित्यम् ।
कृतं पुरा यत् कुरुते तथा तद् यथागमं स्वं कुरुते [1] खरांशु ॥४६॥

१—खरांशुः—सूर्यः ।

सूर्य शब्द उपलक्षण है, अर्थात् भगवान् ने **"यथापूर्वमकल्पयत्"** (ऋक् १०।१९०।३) इस वेदवचन के अनुसार सब कुछ पहले होने वाला ही फिर से बनाया है, कोई नूतन निर्माण नहीं किया । लोक में भी मनुष्य अपने किये हुये कर्मों को ही बार-बार करता है, ऐसा देखने में आता है ।

कृतागमः—७८९

कृत शब्द कृ धातु से क्त प्रत्यय करने से सिद्ध होता है ।

आगम शब्द आङ्पूर्वक गम धातु से करण में अप् प्रत्यय करने से बनता है । जिसके द्वारा जाना जाये या प्राप्त किया जाये उसका नाम आगम है । किया है आगम जिसने उसका नाम कृतागम है । इसमें ऊपर के मन्त्र से **"यस्मिन् नेतरि"** इन पदों की अनुवृत्ति करने से **"परि विश्वानि काव्या"** (ऋक् २।५।३) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है । तथा **"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः"** (यजुः ३१।७) इत्यादि यजुर्वेद का मन्त्र भी इसमें प्रमाण है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

अनन्तबोध शक्तिसम्पन्न भगवान् विष्णु का नाम कृतागम है, मनुष्यों को नित्यज्ञान की प्राप्ति उस ही से होती है, तथा वह पुरा कृत को ही पुनः पुनः बनाता है । जैसे भगवान् सूर्य अपने आगम अर्थात् आवर्त को पूर्व के समान ही करता है ।

आगम इत्यावर्तवचनोऽपि, तथा च—

"सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते" (यजु: २।२६) इति वेदवचनम् ।

लोके च पश्यामः—मनुष्यः कृतान्येव पुनरावर्तयति । एवं च भगवतो ह्येष कृतागमत्वरूपो गुणो विश्वे व्याप्तः ।



उद्भवः सुन्दरः सुन्दो रत्ननाभः सुलोचनः ।
अर्को वाजसनः शृङ्गी जयन्तः सर्वविज्जयी ॥९९॥

७९० उद्भवः, ७९१ सुन्दरः, ७९२ सुन्दः, ७९३ रत्ननाभः, ७९४ सुलोचनः । ७९५ अर्कः, ७९६ वाजसनः, ७९७ शृङ्गी, ७९८ जयन्तः, ७९९ सर्वविज्जयी ।

उद्भवः—७९०

उदुपसर्ग उच्चैरर्थे । "भू सत्तायाम्" इति धातोः "ऋदोरप्" (पा० ३।३।५७) इति सूत्रे दकारस्य मुखसुखार्थत्वात्, अप् प्रत्ययः । उत्=उच्चैर्भवनं यस्य स उद्भव इति बहुव्रीहिः । यद्वा उत्=ऊर्ध्वं गतो भवतीत्युद्भवः, पचाद्यच् प्रत्ययः कर्तरि । दृश्यते हि सूर्य ऊर्ध्वं गच्छन्, कथ्यते चात एवोद्भव इति । उक्तञ्च वेदे "यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते" (ऋक् ५।४४।६)। एष एवोद्भवशब्दार्थो वेदे पदान्तरैरुच्यते । यथा—

"उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम् ।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणञ्च नाशय ।" ऋक् १।५०।११ ॥

आगम नाम आवर्त का है । जैसा कि "सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते" (यजु: २।२६) यह वेदवचन है । लोक में भी मनुष्य अपने किये हुये को पुनः पुनः आवृत्त करता है, क्योंकि भगवान् का कृतागमत्व रूप गुण सब में सर्वत्र व्याप्त है ।

उद्भवः—७९०

उत् यह उच्चार्थक उपसर्ग है । सत्तार्थक भू धातु से भाव में अप् प्रत्यय करने से, तथा उत् उपसर्ग के योग से उद्भव शब्द सिद्ध होता है । जिसकी सत्ता सबसे ऊंची, अर्थात् ऊपर है उसका नाम उद्भव है । अथवा जो ऊपर को जाता है, उसका नाम उद्भव है । यहां कर्ता में अच् प्रत्यय हुआ है । सूर्य ऊपर को जाता हुआ दीखता है, इसीलिये उसका नाम उद्भव है । जैसा कि वेद में कहा है । "उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्"

"उद्यन्तं त्वा मित्रमहो दिवे दिवे ज्योग्जीवाः प्रति पश्येम ।"
ऋक् १०।३७।७ ॥

"उदन्येन ज्योतिषा यासि सूर्यं ।" ऋक् १०।३७।३ ॥

इति दिङ्मात्रं निदर्शितम् । उद्भवन्तं सूर्यं सर्व एव पश्यन्ति, स चोद्भवन् स्थावरमुद्भिनत्ति, जङ्गमञ्चोद्भावयति, अर्थात् कार्यायोद्युक्तं कुरुते । एतस्य सर्वस्य व्यवस्थापकः सर्वञ्च व्यश्नुवानो भगवान् विष्णुरेवोद्भव उक्तो भवति । लोके चापि पश्यामः—मनुष्यो हि कर्मकरणाय हस्तावुद्यमयति, यतो हि हस्तावन्तरिक्षस्थानीयौ ।

भवति चात्रास्माकम्—

स उद्भवो विष्णुरनन्तकर्मा विश्वं सदोत्थाय करोति नूनम् ।
मर्त्योऽपि कर्माण्यनुसञ्चिकीर्षुः करौ स्वकावुद्यमनाय युङ्क्ते ॥४७॥

अग्निः=सूर्यः, सूर्यो वाग्निः, तस्य **"उत्तिष्ठसि"** क्रियायाः कर्तृत्वेन निर्देशो वेदे । अग्निरूपश्च जीवोऽत एव सदोत्थाय स्वोन्नत्यै यतते ।

मन्त्रलिङ्गञ्चात्र—

"उत्तिष्ठसि स्वाहुतो घृतानि प्रति मोदसे ।
यत्त्वा स्रुचः समस्थिरन् ।" ऋक् १०।११८।२ ॥

(ऋक् १।५०।११) इत्यादि उद्भव समानार्थक पदों से तथा **"उद्यन्तं त्वा मित्रमहो दिवेदिवे"** (ऋक् १०।३७।७) इत्यादि मन्त्र में भी उद्यन्त आदि शब्दों से उद्भव शब्द के ही अर्थ का निरूपण है, क्योंकि जैसा देखा जाता है, वैसा ही कहा जाता है जैसा कि वेद में कहा है—**"यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते"** (ऋक् ५।४४।६) । यह हमने दिग्दर्शनमात्र कराया है । ऊपर को जाते हुये सूर्य को सब ही देखते हैं और वह ऊपर को जाता हुआ सूर्य स्थावर वस्तुओं का भेदन अर्थात् पार्थक्य तथा जङ्गम वर्ग का उद्भावन, उसको कार्य करने में समर्थ करता है । भगवान् विष्णु, इसलिये उद्भव है कि वह सब में व्याप्त होकर सबकी व्यवस्था करता है । लोक में भी हम देखते हैं, मनुष्य कर्म करने के लिये अपने हाथों को ऊपर उठाता है, क्योंकि हाथ अन्तरिक्षस्थानीय हैं ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

अनन्तकर्मा भगवान् विष्णु का नाम उद्भव है, क्योंकि वह सदा उत्थानशील होता हुआ इस विश्व को बनाता है । मनुष्य का नाम भी उद्भव है, क्योंकि वह भी कार्य करने की इच्छा से हाथों को ऊपर उठाता है ।

अग्नि ही सूर्य, अथवा सूर्य ही अग्नि है, उसको वेद में **"उत्तिष्ठसि"** क्रिया का कर्ता कहा है । यह जीव अग्निरूप है, इसीलिये वह सदा उठकर अपनी उन्नति के लिये यत्न करता है । इस अर्थ की पुष्टि **"उत्तिष्ठसि स्वाहुतो घृतानि"** (ऋक् १०।११८।२)

सूर्यस्योद्भवत्वादेव, अर्थादुच्चैर्भवत्वादेव, सूर्ययोनिरग्निरुत्तिष्ठति। यो हि यस्य विकारः स स्वां प्रकृतिं प्रतियाति।

सुन्दरः—७६१

सु उपसर्गः। दर-शब्दो "दॄ विदारणे" धातोः क्र्यादिकाद् "**ऋदोरप्**" (पा० ३।३।५७) इति सूत्रेण अप् प्रत्यये सिध्यति। सूपसर्गेण योगे मकारो वर्णागमः पृषोदरादित्वात्, तस्य चानुस्वारपरसवर्णौ सुन्दर इति। पृषोदरादि॰ कार्यञ्च—

"वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।" इति॥

निरुक्तम्=निर्वचनं, निश्चितकथनं वेत्यनर्थान्तरम्। यद्वा "**अज्विधिः सर्वधातुभ्यः**" (महाभाष्य ३।१।१३४) इति वैयाकरणनियमानुसारं कर्तर्यच् प्रत्ययस्तेन सु=सुष्टु "निर्दोषं" विदारणं यः कुरुते स सुदरः सन्नेव वर्णागमेन सुन्दर इत्युक्तो भवति। लोके चापि पश्यामः—सर्वस्य जङ्गमवर्गस्य गुदशिश्न-मुखादिकं विदीर्णमस्ति, पक्षिणां पक्षौ विदीर्णौ स्तः। तथा—नासिका, कर्णौ, चक्षुषी च विदीर्णे, वृक्षस्य शाखा, तथा पर्वता अपि विदीर्णा इव प्रतिभान्ति।

इत्यादि मन्त्र से होती है। सूर्य के उद्भव अर्थात् ऊंचा होने से ही, सूर्य का विकार भूत अग्नि ऊपर को जाता है। क्योंकि विकार अपनी प्रकृति की ओर जाता है।

सुन्दरः—७६१

सु उपसर्ग है। दर शब्द विदारणार्थक दॄ धातु से भाव आदि में अप् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। सु उपसर्ग के साथ योग होने पर, पृषोदरादिलक्षणानुसार मकारवर्ण का आगम तथा उसको अनुस्वार और परसवर्ण करने से सुन्दर शब्द सिद्ध होता है। वर्ण का आगम, वर्ण का विपर्यय, वर्ण का विकार तथा वर्ण का लोप पृषोदरादिलक्षण का विषय है, तथा इन सहित धातु का जो अर्थ के अतिशय से योग, यह पांच प्रकार का निरुक्त है। निरुक्त निर्वचन या निश्चितरूप से कथन का नाम है। अथवा "**अज्विधिः सर्वधातुभ्यः**" (महाभाष्य ३।१।१३४) इस वैयाकरणों के नियमानुसार कर्ता में अच् प्रत्यय करने से दर शब्द तथा सु उपसर्ग का योग और मकार रूप वर्णागम से सुन्दर शब्द बन जाता है। जो निर्दोष (अच्छा) विदारण करता है, वह सुदर ही सुन्दर नाम से कहा जाता है। लोक में भी हम देखते हैं—सकल जङ्गम वर्ग के गुदा, शिश्न, मुख, नासिका, कान, नेत्र, आदि दरयुक्त अर्थात् विदीर्ण हैं। पक्षियों की पक्षें (पाखें) विदीर्ण हैं, तथा वृक्षों की शाखा और पर्वत भी विदीर्ण से प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के विदारण का कर्ता सर्वव्यापक

य एवं विधस्य विदारणस्य कर्ता स सर्वं व्यश्नुवानो विष्णुरेव सुन्दर इत्युक्तो भवति। वेदे सुखशब्दस्य बहुत्रोपलब्धिः, सुखं सुखातं भवति। सुखं, खनु धातोरवदारणार्थकान्निष्पद्यते, दृ धातोरप्येष एवार्थस्तस्मात् सुखं=सुविदारितमिति रथस्य विशेषणं प्रयुक्तं वेदे, तथा च "सुखेषु रुद्रा मरुतो रथेषु" (ऋक् ५।६०।२)। जीवात्मनोरथं शरीरम्, तच्चापि सुखातं सत् सुखजीवनाय कल्पते, तस्य शरीररथस्य यः सुविदारकः स सुन्दरो विष्णुरिति बोध्यम्। लोके चापि पश्यामः—यो हि शिल्पी समर्यादं दारयति स पूज्यः सेवनीयश्च भवति, कुतः? यतो हि सुन्दररूपो भगवानेव तस्मिन् शिल्पिनि स्थितः, सुन्दरत्वरूपेण गुणेन पूजितो भवति।

भवति चात्रास्माकम्--

स सुन्दरो विष्णुरनन्तरूपो योनीः समग्रा विविधं दृणाति।
सुखात एवास्ति रथः सुखाय योनिः प्रतीकास्ति रथं चिकीर्षोः ॥४८॥

सुन्दः-७९२

सु उपसर्गः, "उन्दी क्लेदने" धातुस्तस्मात् पचाद्यच् प्रत्ययः। सु= सम्यग् उनत्ति=क्लेदयतीति सून्दः। यो हि वर्षणकर्मणा सम्यगुनत्ति, स सून्दः

भगवान् विष्णु का नाम सुन्दर है। वेद में सुख शब्द का बहुत स्थानों में प्रयोग है, अच्छे प्रकार से विदीर्ण (खुदे हुये) का नाम सुख है। सुख शब्द अवदारणार्थक खनु धातु से सिद्ध होता है। दृ धातु का भी यह ही अर्थ है, इसलिये सुख नाम सुविदारित का है, वेद में इसका रथ के विशेषण के रूप में प्रयोग किया है। जैसे "सुखेषु रुद्रा मरुतो रथेषु" (ऋक् ५।६०।२) इत्यादि मन्त्र में। जीवात्मा का शरीर ही रथ है, वह भी सुन्दर अर्थात् शोभन दर युक्त होने से, सुखपूर्वक जीवन का कारण होता है। उस शरीररूप रथ का जो सुविदारक है, उस भगवान् विष्णु को सुन्दर नाम से कहा जाता है। लोक में भी हम देखते हैं, जो शिल्पी (कारीगर) आदि सुन्दर और मर्यादायुक्त दारण (तक्षण) आदि करता है, वह पूज्य होता है, क्योंकि उसमें भगवान् विष्णु ही सुन्दररूप से स्थित होकर पूजनीय होता है।

इस भाव को भाष्यकार इस प्रकार व्यक्त करता है—

अनन्तरूप भगवान् विष्णु का नाम सुन्दर है, क्योंकि वह समग्र योन्युद्भव शरीरों का विविध प्रकार से विदारण करता है। सुन्दर प्रकार से विदीर्ण किया हुआ ही रथ, या यह शरीररूप रथ सुख प्रद होता है। रथकार योनि के सादृश्य से विविध प्रकार के सावकाश रथों का निर्माण करता है।

सुन्दः—७९२

सु उपसर्ग है, उन्दी इस क्लेदनार्थक धातु से पचादि अच् प्रत्यय करने से, उन्द शब्द बनता है, सु उपसर्ग का योग करने से, जो अच्छे प्रकार से क्लेद (गीला) करता है

सन् सुन्द इत्युक्तो भवति, पृषोदरादित्वादुकारलोपः सुक्लेदक इत्यर्थः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे ।
अग्नि र्हि नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः ।"

ऋक् १०।५।७ ॥

ऋतस्य=जलस्य । ऋतस्य **"एकः समुद्रो धरुणो रयीणाम्"** इत्यादि सूक्तारम्भे (ऋक् १०।५।१) निघन्टौ च जलनामसु पठितत्वात् । सूर्यो हिं वर्षणकर्मणि वृत्रहाभिहितो भवति । वृत्रो मेघ इत्युच्यते । इत्यादि रूपेण सङ्गन्तव्यम् । सुन्द इति बहुविज्ञानघृतगर्भः सूर्य उच्यते, दक्षशब्दस्य विष्णोर्नामसु संग्रहः । तुषारपातेनोत्पद्यमानः क्लेदो बहु शोभते, पुष्णाति च चिरकालमोषधीः । **"ओषधयः फलपाकान्ताः"** (मनुः १।४३) । लोकेऽपि च पश्यामो, मनुष्यो जलेन क्वचिद् बहुकृत्वः सिञ्चति, क्वचिच्चाल्पशः । एष यो नियमः स तस्यैव व्यापकस्य विष्णोः । शरीरेऽपि दृश्यते—प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूपेणाग्निना धृतेन जलेन शरीरं यथावश्यकं तर्प्यते । तथा—स्वेदेन त्वचम्, मूत्रेण वस्तिम्, रक्तेन हृदयम् । पित्तमेव शरीरेऽग्निरित्यायुर्वेदविदां समयः । इदं मनुष्यशरीरमधिकृत्योक्तम्, एवमन्यत्रापि योजना कर्तव्या ।

सुन्द ही पृषोदरादि से धातु के उकार का लोप होने पर सुन्द होता है, जिसका अर्थ अच्छे प्रकार गीला करने वाला, ऐसा होता है । इस भावार्थ की पुष्टि **"असच्च सच्च परमे व्योमन्"** (ऋक् १०।५।७) इत्यादि मन्त्र से होती है । मन्त्र में पठित ऋत शब्द जल का वाचक है, क्योंकि **"एकः समुद्रो०"** इत्यादि सूक्त के आरम्भ (ऋक् १०।५।१) में तथा निघण्टु में इसका जल के नामों में पाठ है । वर्षाकरण रूप कर्म में सूर्य का नाम वृत्रहा होता है । वृत्र नाम मेघ का है । इत्यादिरूप से सङ्गति कर लेनी चाहिये । बहुत प्रकार के विज्ञान से पूर्ण यह सुन्द नाम सूर्य का है । दक्ष भी विष्णु के नामों में पठित होने से सूर्य या विष्णु का नाम है । तुषार (ओस) के गिरने से उत्पन्न हुआ क्लेद (गीलापन) बहुत देर तक शोभित होता हुआ ओषधियों को पुष्ट करता है । ओषधी नाम उनका है, जो फल के पक जाने पर समाप्त हो जायें । लोक में भी हम देखते हैं, मनुष्य अपनी बोई हुई खेती, या पौदे आदि को कहीं पर अधिक वार सींचता है, तथा कहीं पर थोड़ी वार । यह सब सर्वव्यापक भगवान् विष्णु के ही नियमानुसार होता है । शरीर में भी देखा जाता है, प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूप अग्नि, अपने धारण किये हुये जल से आवश्यकतानुसार शरीर को तृप्त करता है, अर्थात् शरीर का तर्पण करता हुआ इसे स्वस्थ रखता है । जैसे स्वेद (पसीने) से त्वचा, मूत्र से वस्ति तथा रक्त से हृदय का तर्पण करता है । आयुर्वेदविदों के सिद्धान्तानुसार शरीर में पित्त नाम का धातु ही अग्नि है । यह मनुष्य सम्बन्धी शरीर के विषय में कहा है । इसी प्रकार की योजना अन्य शरीरों में भी कर लेनी चाहिये ।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्हि सुन्दः स उनत्ति भूमिं सूर्यो हि मूलं पयसः प्रपाते ।
मर्त्योऽपि लोके निजमर्थ्यमाप्तुं तमेव गायन् करणान्युनत्ति ।।४६।।

लभ्यमन्तरा तदुपजीवकं सर्वं करणमेव भवतीति बोध्यम् ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"ईशे यो वृष्टेः···अपां नेता ।" ऋक् ६।७४।३ ।।
"ऋतस्य नाभिः ।" ऋक् ६।७४।४ ।।

रत्ननाभः—७६३

"रमु क्रीडायाम्" इति भौवादिको धातुरन्तर्भावितण्यर्थः, तस्माद् "रमेस्त च" इत्युणादि (३।१४) सूत्रेण न-प्रत्ययस्तकारश्चान्तादेशः, अनिट्त्वान्नेट्, रत्नम् । नाभिशब्दो "णह बन्धने" इति भौवादिकाद्धातोः णस्य नत्वे "नहो भश्च" (उ० ४।१२६) इत्युणादि सूत्रेण इञ् प्रत्ययो, हस्य भकार, उपधा वृद्धिश्चेति सिध्यति । नह्यति=बध्नातीति नाभिश्चक्रमध्यं प्राण्यवयवो वा । रत्नं नाभौ यस्येति बहुव्रीहौ "अच् प्रत्यन्ववपूर्वा०" (पा० ५।४।७५) इति सूत्रे,

---

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का साम सुन्द इसलिये है कि वह इस सकल भूमि को अच्छे प्रकार से क्लिन्न (गीली) करता है, अर्थात् सींचता है । सूर्य भी वर्षा करने में मूल कारण होने से सुन्द नाम से कहा जाता है तथा मनुष्य भी अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि के लिये भगवान् सुन्द नाम का ध्यान करता हुआ साधनों का सिञ्चन करता है, इसलिये वह सुन्द नाम का वाच्य है ।

अपने अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति से पहले सब ही उपकरण साधन होता है ।

इसमें "ईशे यो वृष्टेः" (ऋक् ६।६४।३) "अपां नेता ऋतस्य नाभिः" (ऋक् ६।७४।४) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं ।

रत्ननाभः—७६३

अन्तर्भावितण्यर्थ वाली क्रीडार्थक रमु धातु से उणादि न प्रत्यय, तकार अन्तादेश, तथा इट् का अभाव होने से रत्न शब्द सिद्ध होता है । नाभि शब्द, बन्धनार्थक भ्वादिगणीय णह धातु से उणादि इञ् प्रत्यय, हकार को भकार, णकार को नकार तथा वृद्धि करने से सिद्ध होता है । जो बान्धता है, उसका नाम नाभि है । यह चक्र के मध्यभाग अथवा प्राणी के अवयव का नाम है । रत्न है नाभि में जिसके, उसका नाम रत्ननाभ है । बहुव्रीहि समास करने पर पा० ५।५।५७ सूत्र में अच् प्रत्यन्वव० का योग विभाग करने से समासान्त अच्

अच् इति योगविभागात् अच् प्रत्ययः समासान्तः, "यस्येति च" (पा० ६।४।१४८) इति सूत्रेणेकारलोपः, प्रातिपदिकसंज्ञायां स्वादिकार्ये च रत्ननाभ इति भवति। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"एकः समुद्रो धरुणो रयीणाम्...उत्सस्य मध्ये निहितं पदं वेः।"

ऋक् १०।५।१ ॥

तथा—

"विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य कवेश्चित् तन्तुं मनसा वियन्तः।"

ऋक् १०।५।३ ॥

इति निदर्शनमात्रमुक्तम्। सर्वकमत्रत्यं सूक्तं द्रष्टव्यम्। लोकेऽपि पश्यामः—चन्द्रदैवतकायाः स्त्रियो नाभावेव रमणीयानां जातकरूपाणां रत्नानां धारणं भवति। धरुणशब्देनापि नाभिरुच्यते। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"तं त्वा नरो दम आ नित्यमिद्धमग्ने सचन्त क्षितिषु ध्रुवासु।
अधि द्युम्नं नि दधुर्भूर्यस्मिन् भवा विश्वायुर्धरुणो रयीणाम्।"

ऋक् १।७३।४ ॥

"श्रीणामुदारो धरुणो रयीणाम्।" ऋक् १०।४५।५ ॥
"ऋतस्य नाभिरमृतं वि जायते।" ऋक् ९।७४।४ ॥
"चतस्रो नाभो निहिता अवो दिवः।" ऋक् ९।७४।६ ॥

रत्नं हि रमयति। तथा च—

"रास्व रत्नानि दाशुषे।" ऋक् ३।६२।४ ॥
"...कविरग्निः...दधद्रत्नानि दाशुषे।" ऋक् ४।१५।३ ॥
"...देवो... दधद्रत्नानि दाशुषे।" ऋक् ६।३।६ ॥

प्रत्यय, तथा पा० ६।४।१४८ सूत्र से इकार का लोप करने से रत्ननाभ शब्द बनता है। इस नामार्थ में "एकः समुद्रो०" (ऋक् १०।१।१) तथा "विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य" (ऋक् १०।५।३) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है। हमने उदाहरण मात्र दिखलाया है, यह सम्पूर्ण सूक्त ही देखना चाहिये। हम लोक में देखते हैं, चन्द्रदैवतक स्त्री के नाभि में ही जातकरूप रत्नों का धारण होता है। नाभि का नाम धरुण[1] भी है। इसमें ये "तं त्वा नरो दम०" (ऋक् १।७३।४) "श्रीणामुदारो धरुणो रयीणाम्" (ऋक् १०।४५।५) "ऋतस्य नाभिरमृतम्०" (ऋक् ९।७४।४) "चतस्रो नाभो०" (ऋक् ९।७४।६) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं। रत्न नाम रमण क्रिया के प्रयोजक का है, अर्थात् रमण करवाने वाला रत्न होता है, इसीलिये इसको प्राप्त करने के लिये विशेष रूप से प्रार्थना "रास्व रत्नानि दाशुषे" (ऋक् ३।६२।४) ...कविरग्निः...दधद्रत्नानि दाशुषे" (ऋक्

---

१. इसी का अपभ्रंश लोक में 'धरन' वा धरण शब्द प्रयुक्त होता।

इत्यादि निदर्शनम् । या चेयं विश्वस्य रमयित्री व्यवस्था सा कुत इति चेत् ? स सर्वव्यापको भगवान् विष्णुरेव सर्वत्र स्वीयं रामणीयकं दधानः सर्वमिदं रत्ननाभं कुरुत इति । सर्वञ्च यथास्वबुद्धि किञ्चिद्रत्नं मत्वा तत् सेवते ।

भवतश्चात्रास्माकम्—

स रत्ननाभो भगवान् वरेण्यो लोके समुद्रे विदधाति रत्नम् ।
स रत्नयोनिः [1]स्त्रियमेकमात्रं रत्नप्रसूत्यै कुरुते सुनाभिम् ॥५१॥
एवं हि यो वेत्ति च रत्ननाभं लोके ततं रत्ननहञ्च विष्णुम् ।
स रत्नचक्षुः सकलं हि रत्नं पश्यन् श्रिया नैव विमुच्यतेऽतः ॥५२॥

१—सर्वयोनिसामान्ये स्त्रीग्रहणम् ।

सुलोचनः—७६४

सु उपसर्गः, "लोचृ दर्शने" धातुर्भौवादिकस्ततः करणेऽधिकरणे वा ल्युट्, योश्चानादेशः, लोच्यतेऽनेनास्मिन् वा लोचनः, सुष्ठु लोचने यस्य स सु-

---

४।१५।३) तथा "**देवो दधद्रात्नानि०**" (ऋक् ६।३।८) इत्यादि मन्त्रों में देखने में आती है । इस विश्व का रमण करवाने वाली व्यवस्था का आविर्भाव कहां से होता है ? यदि ऐसा प्रश्न किया जाये तो इसका यह ही समाधान है कि भगवान् विष्णु ही सर्वत्र अपने रामणीयक गुण का आधान करता हुआ इस सकल विश्व को रत्ननाभ बनाता है, तथा प्रत्येक ही किसी वस्तु को अपनी बुद्धि के अनुसार रत्न मान कर उसका सेवन करता है ।

भाष्यकार इस भाव को अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

सब के प्रार्थनीय या सबसे श्रेष्ठ भगवान् विष्णु का नाम रत्ननाभ है, क्योंकि वह समुद्र में रत्नों का प्रादुर्भाव करता है, तथा वह स्वयं रत्नयोनि (मूल कारण) रत्नों की अर्थात् अपत्यरूप रत्नों की उत्पत्ति के लिये स्त्री को सुन्दर गुणों तथा सुन्दर नाभि से युक्त करता है ।

इस प्रकार लोक में व्यापकरूप से स्थित, रत्ननाभ या रत्ननह नामक विष्णु को जो तत्त्व रूप से जानता है, वह रत्नचक्षु अर्थात् रत्नत्व का द्रष्टा, सबको रत्नरूप से देखता हुआ कभी भी श्री=सम्पत्ति से हीन नहीं होता ।

सुलोचनः—७६४

सु उपसर्ग है, लोचृ यह भौवादिक दर्शनार्थक धातु है, इससे करण या अधिकरण में में ल्युट् प्रत्यय, यु को अन आदेश करने से लोचन शब्द सिद्ध होता है । सुन्दर हैं लोचन जिसके यह बहुव्रीहि समासगम्य अर्थ है । अथवा जिसके उदित होने पर प्राणिवर्ग अच्छे प्रकार से देखता है, यह अधिकरण ल्युडन्तगम्य अर्थ हुआ, इस प्रकार यह सूर्य का नाम होता

लोचनो, बहुव्रीहिः। सम्यग् लोचन्ते वा प्राणिनो यस्मिन्नुदिते सतीति सुलोचनः सूर्यः। उक्तञ्च ज्येष्ठब्रह्मवर्णने सूर्यचन्द्रमसोश्चक्षुष्ट्वं तस्य। तथा च मन्त्रः—

"यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।"

अथर्व १०।७।३७॥

तथा च सूर्यपक्षे—

"अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतम्मे चक्षुरमृतं म आसन्।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम।"

ऋक् ३।२६।७॥

इति निदर्शनमात्रमुक्तम्। चक्षुःशब्दस्य यद् विविधविभक्तिवचनेषु प्रयोगस्तच्चाक्षुषज्ञानस्यातिशयद्योतनाय, नैतद्विषयकं विशेषव्याख्यानमस्माक-मिहाभिमतम्। लोकेऽपि च पश्यामः—पित्तदोषेण दृष्टिर्दुष्यति, आदित्य-हृदयस्तोत्रपाठेन च चाक्षुषदोषो निवर्तत इति दृश्यते।

भवति चात्रास्माकम्—

सुलोचनो विष्णुरिदं दधानः करोति सूर्यञ्च सुलोचनं सः।
जगत् प्रपश्यन्नुत दर्शयंश्च सनातनो याति सदाप्रमत्तः॥५३॥

१—सनातनः=सूर्यः, इह संग्रहे पठितत्वात्।

है। पूर्वोक्त प्रकार से विष्णु का नाम होता है, अथर्ववेद में ज्येष्ठ ब्रह्म के वर्णन में सूर्य तथा चन्द्रमा को भगवान् का चक्षु कहा गया है, जैसा कि **"यस्य सूर्यश्चक्षुश्च"** (अथर्व १०।७।३३) इत्यादि मन्त्र में वर्णन है। सूर्य पक्ष में भी **"अग्निरस्मि जन्मना जात-वेदाः"** (ऋक् ३।२६।७) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है। यह केवल उदाहरण मात्र कहा है। चक्षु शब्द का जो मन्त्रों में विभक्ति वचन, आदि के भेद से विविध प्रयोग देखने में आता है, वह चाक्षुषज्ञान के प्राधान्य को प्रकट करने के लिये है। यहां इस विषय का विशेष व्याख्यान हमारा अभिमत नहीं है।

लोक में भी हम देखते हैं, पित्त के दोष से दृष्टि दूषित हो जाती है, तथा आदित्य-हृदय स्तोत्र के पाठ से दृष्टि के दोष की निवृत्ति हो जाती है, ऐसा देखने में आता है।

भाष्यकार इस भाव को अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

सुलोचन नाम भगवान् विष्णु का है, क्योंकि वह इस समस्त विश्व को धारण करता हुआ, सूर्य को सुलोचन करता है, और वह सुलोचन नामक सनातन सूर्य, इस जगत् को देखता हुआ तथा इसे दिखलाता हुआ सदा गतिविभ्रम रहित होकर चलता है।

वेदमधिकृत्यापि=

मथ्नाति यो ज्ञानपयोधिमग्र्यं वेदं, स वेद्यं लभते च वेदात् ।
वेदो यतो ज्ञानमयात् प्रसूतस्तस्मात् सदास्थं स दधाति वाच्यम् ।।५४।।

अर्कः—७६५

"अर्क स्तवने" इति चौरादिको धातुस्तस्माण्णिजन्तादकर्तरि च कारके अधिकारेः "एरच्" (पा० ३।३।५६) इति सूत्रेण कर्मणि 'अच्' प्रत्ययः णेर्लोपः । अर्च्यते=स्तूयत इत्यर्कः ।

यद्वा—"ऋच स्तुतौ" इति तौदादिकाद्धातो "**अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्**" (पा० ३।३।१९) सूत्रेण कर्मणि घञ् प्रत्ययः, ऋच्यते=स्तूयत इत्यर्कः । घिति "**चजोः कु घिण्ण्यतोः**" (पा० ७।३।५२) सूत्रेण चकारस्य ककारो गुणो रपरः । यद्वा "अर्च पूजायाम्" इति भौवादिको धातुस्ततः कर्मणि घञि कुत्वे च सत्यर्कः, अर्च्यते=पूज्यत इत्यर्कः । "**अचो रहाभ्यां द्वे**" इति द्वित्वपक्षे च अर्क्क इति । एतन्नामवाच्यश्च परमेश्वरः सूर्यो वा । मन्त्रलिङ्गञ्च—

"गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।" ऋक् १।१०।१ ।।

लोकेऽपि च पश्यामः—यदा कश्चित्स्वप्रयोजनं सिसाधयिषुस्तत्प्रयोजन-

---

वेद को विषय बनाकर कहे गये भाष्यकार के पद्य का अर्थ यह है—

जो मनुष्य सबसे श्रेष्ठ ज्ञान के सागर वेद का मथन अर्थात् विलोडन करता है, वह वेद से ज्ञेय अर्थात् अभीष्ट अर्थ को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि ज्ञानस्वरूप परमात्मा से वेद उत्पन्न हुआ है, इसलिये वह अपने कारण से आये हुये सनातन ज्ञानरूप वाच्यार्थ को धारण करता है ।

अर्कः—७६५

अर्क शब्द, स्तवनार्थक अर्क इस चौरादिक धातु से कर्म अर्थ में अच् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है । जो स्तुति का विषय, अर्थात् जिसकी स्तुति की जाती है, उसका नाम अर्क है ।

अथवा स्तुत्यर्थक ऋच् इस तौदादिक धातु में कर्म में घञ् प्रत्यय, तथा घिन्निमित्तक चकार को ककार करने से अर्क शब्द सिद्ध होता है । अथवा पूजार्थक अर्च धातु से कर्म अर्थ में घञ् तथा चकार को ककार करने से अर्क शब्द बनता है । ककार को वैकल्पिक द्वित्व करने से अर्क्क शब्द बन जाता है । यह परमेश्वर या सूर्य का नाम है । इस नाम में **"गायन्ति त्वा गायत्रिणो०"** (ऋक् १।१०।१) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है ।

लोक में भी हम देखते हैं, जब कोई अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये, किसी उस

साधनक्षमं गत्वा विनम्रो हृद्यैः स्तुतिवचनैः स्वकार्यं साधयितुं प्रेरयति, तदा स प्रार्थयित्रा स्तुतः स्तुतिवचनैः प्रेरितो वा च प्रार्थयितारं तदभीष्टेन योजयति । अमुथैव जीवोऽपि तम् ईश्वर--सूर्य—बृहस्पति—देव—अग्नि—इत्यादिविविधनामभिर्विभक्तं स्तौति । तद्यथा—

"अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ।" ऋक् १।१।१ ।।

"उक्थशासश्चरन्ति ।" ऋक् १०।८२।७ ।।

"अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत ।" ऋक् ८।६९।८ ।।

इत्यादि विविधभावदर्शनात् कर्मार्थे घञ्प्रत्ययान्त एवैष शब्दः साधुः प्रतीयते । करणार्थके घञ्प्रत्ययेऽपि चार्कशब्दः संगतो भवति, स्तूयते येन वाद्यादिना तदपि चार्कः । तेन वादित्रादिना करणेन स्तोता स्तवने समर्थो भवति । तद् वादित्रादिकमपि स्तोतृग्रहणेन गृह्यते, यः स्तूयते स एवार्कः अर्च्यः स्तुत्य इत्यादिशब्दैरुक्तो भवति "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" इति (यजुः ७।४२, ऋक १।११५।१) मन्त्रलिङ्गात् । एष दिवस्पुत्रः, सूर्योऽप्यर्कनाम्ना स्तूयते, तं महावीर्यं ओजस्तेजोद्युतिधरं विद्वांसः स्तुवन्ति । तथा च मन्त्रः—

"श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः ।" ऋक् १०।९४।१ ।।

प्रयोजन को सिद्ध करने में समर्थ के पास जाता है, तब वह उसको सुन्दर स्तुति वचनों से प्रसन्न करके अपनी प्रयोजन-सिद्धि के लिये प्रेरित करता है, और वह उसके स्तुति वचनों से सन्तुष्ट हुआ, उसके प्रयोजन अर्थात् प्रार्थयिता के प्रयोजन को सिद्ध करता है । इसी प्रकार जीव, भगवान् की ईश्वर, सूर्य, वृहस्पति, देव तथा अग्नि आदि विभिन्न नामों से स्तुति करता है, जैसे **"अग्निमीडे पुरोहितम्०"** (ऋक् १।१।१) **"उक्थशासश्चरन्ति"** (ऋक् १०।८२।७) **"अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत"** (ऋक् ८।६९।८) आदि वेद वचनों से प्रतिपादित है । मन्त्रों में विविध भावों की प्रतीति होने से यह अर्क शब्द कर्मार्थक घञन्त ही ठीक सिद्ध होता है । करणार्थक घञ् प्रत्यय करने से भी इस अर्क शब्द की सङ्गति हो जाती है, क्योंकि जिस वाद्य आदि साधन से स्तुति की जाती है, उसका नाम भी अर्क है, उस वाद्य आदि साधन के द्वारा ही स्तोता स्तुति करने में समर्थ होता है, इसलिये उस वाद्य आदि का भी स्तोतृरूप से ग्रहण होता है । जो अर्क है, वह ही अर्च्य, पूज्य, स्तुत्य आदि शब्दों से कहा जाता है, जैसाकि **"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"** (ऋक् १।११५।१, यजुः ७।४२) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध है ।

दिव के पुत्र सूर्य की भी अर्क नाम से स्तुति की जाती है । उस महावीर्य ओज, तेज, तथा द्युति को धारण करने वाले भगवान् की या सूर्य की विद्वान् पुरुष स्तुति करते हैं, जैसी कि **"श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिनः"** (ऋक् १०।४९।१) तथा

तथा—

"एतं मे स्तोमं तना न सूर्ये द्युतद्यामानं वावृधन्त नृणाम् ।
संवननं नाश्व्यं तष्टेवानपच्युतम् ।" ऋक् १०।९३।१२ ॥

विविधा देवताः प्रति—

"य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः ।
ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये ॥
भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेंऽहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम् ।
अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये ।"
ऋक् १०।६३।८, ९ ॥

तथा चार्चित एवार्कः । इति निदर्शनम् ।

भवति चात्रास्माकम्—

अर्चन्ति यं सोऽर्क इहास्ति विष्णुः सूर्योऽथवा सोऽग्निरुत प्रचेता ।
सदार्थिनो ह्यर्थ्यमभिस्तुवन्ति प्रभुर्न तस्माद् 'घञ्' [1]अकर्तरीह ॥५५॥

१—घञ्—अकर्तरि । कर्तृभिन्ने कारके भवतीत्यर्थः ।

य ईशिरे—इति मन्त्रलक्षिताः प्रचेतसस्तथान्येऽपि तत्पर्यायनामभिः स्तुता ग्राह्याः—गुणभेदेन शब्दभेदेन वा मूलन्न विहन्यते । तद्यथा—

"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।"
ऋक् १।१६४।४६ ॥

"एतं मे स्तोमं तना न सूर्ये" (ऋक् १०।९३।१२) इत्यदि मन्त्रों में विहित है । इसी प्रकार विविध देवता विषयक स्तुति भी "य ईशिरे भुवनस्य" (ऋक् १०।६३।८-९) इत्यादि मन्त्रों में की गई है । इस पूर्वोक्त प्रकार से जो पूजित है वह ही अर्क है ।

इसी भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

कर्ता से भिन्न कारकाधिकार में विहित घञ् प्रत्यय से बना हुआ अर्क शब्द सब के पूज्य होने से विष्णु का नाम है, तथा सूर्य, अग्नि और प्रचेता को भी अर्क नाम से कहा जाता है . अर्थिजनों के अर्थ्य अर्थात् प्रार्थनीय भगवान् विष्णु से अतिरिक्त, उनके मनोरथों को सिद्ध करने में और दूसरा कोई भी समर्थ नहीं है, इसीलिये अपनी मनोकामना की सिद्धि के लिये सब उसी की स्तुति करते हैं ।

पद्य चतुर्थपादान्त 'घञ् अकर्तरीह' शब्द से "कर्ता भिन्नकारक में घञ्" ऐसा अर्थ अभिप्रेत है । "य ईशिरे" (ऋक् १०।६३।८, ९) इत्यादि मन्त्र में निर्दिष्ट प्रचेता शब्द से प्रचेता और उनके पर्यायवाचक नामों से कथित सब ही देवता स्तुत होते हैं, क्योंकि गुण या शब्द के भेद से मूल का विघात नहीं होता, जैसे "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"

"अग्निरिन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा वायुः पूषा सरस्वती सजोषसः ।
आदित्या विष्णुर्मरुतः स्वर्बृहत् सोमो रुद्रो अदितिर्ब्रह्मणस्पतिः ॥१॥

इन्द्राग्नी वृत्रहत्येषु सत्पती मिथो हिन्वाना तन्वा समोकसा ।
अन्तरिक्षं मह्या पप्रुरोजसा सोमो घृतश्रीर्महिमानमीरयन् ॥२॥
तेषां हि मह्ना महतामनर्वणां स्तोमाँ इयर्म्यृतज्ञा ऋतावृधाम् ॥३॥
ऋक् १०।६५ ॥

एकतस्तिः स्तोमान्—इयर्मि—ऋतज्ञा इति दिङ्मात्रं दर्शितम् । तेऽग्निप्रभृतयः प्रचेतसो देवाः स्तुवन्ति स्वयञ्च स्तुता भवन्ति ।

वाजसनः—७९६ (वाजसनिः—वैदिक-पाठः)

"वज गतौ" इति भौवादिको धातुस्ततो **"हेतुमति च"** (पा० ३।१।२६) इति णिच् । "वज मार्गसंस्कारगत्योः" इति च चौरादिको धातुस्ततश्च स्वार्थिको णिच्, ताभ्यामुभाभ्यामकर्तरि कारके **"एरच्"** (पा० ३।३।५६) णेर्लोपः ।

सनः—षण संभक्तौ इति भौवादिकः "षणु दाने" इति च तानादिकः ताभ्याम् **"अज्विधिः सर्वधातुभ्यः"** (महा० ३।१।१३४) इत्यनुशासनादच् । सनति, सनोति वा सनः, षस्य सः । **"निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाय"** इति णस्य नः । **सनिपक्षे** च षणु दाने धातोः **"सर्वधातुभ्य इन्"** (उ० ४।११८)

से आगे **"अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः"** (ऋक् १।१६४।४६) इत्यादिं मन्त्रों में निर्दिष्ट अग्नि आदि प्रचेता नाम के देवता जिसकी स्तुति करते हैं, तथा स्वयं स्तुत होते हैं । (ऋक् १०।६५।१-३) ऋचा के **"स्तोमां इयर्म्यृतज्ञा"** पद में **स्तोमान्—इयर्मि—ऋतज्ञा** ऐसा पदच्छेद है ।

वाजसनः—७९६ (वाजसनिः—वैदिक-पाठ)

गत्यर्थक भ्वादिगण पठित वज धातु से हेतुमण्णिच्, अथवा वज इस चुरादिगणीय संस्कार तथा गत्यर्थक धातु से चुरादि-णिच् करके, उन णिजन्तों से कर्तृभिन्न कारकधिकारिक अच् प्रत्यय, तथा णि का लोप करने से वाज शब्द सिद्ध होता है ।

सन शब्द, संभक्त्यर्थक भ्वादिगणीय षण्, अथवा दानार्थक तनादिगणीय षणु धातु से **"अज्विधिः सर्वधातुभ्यः"** (महा० ३।३।१३४) इस वैयाकरणानुशासनानुसार अच् प्रत्यय, धातु के सकार तथा निमित्त भूत षकार के हटने से णकार को नकार होने से बनता है । वैदिक 'वाजसनि' नाम पक्ष में, षणृ धातु से **"सर्वधातुभ्य इन्"** (उ० ४।११८) इस उणादिसूत्र से इन् प्रत्यय होता है ।

इत्यौणादिक इन् प्रत्ययः। सनति=ददाति, सनोति=संभजति वा सनः। वाजस्य सनः वाजसन इति विष्णुः। वाजञ्चान्नं जीवनीयमुपकरणं, तद्ददाति इति वाजसनः। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"वाजसनिर्वरिवोविद्वयोधाः।" ऋक् ६।११०।११ ॥

तथा—

"वाजसनिं पूर्भिदम्।" ऋक् ३।५१।२ ॥

"वाजसनिं रयिमस्मे सुवीरं प्रशस्तं धेहि यशसं बृहन्तम्।"

ऋक् १०।६१।१५ ॥

सर्गादितः सर्वविधानां वाजानां दाता सर्वव्यापको विष्णुः। सूर्योऽपि वाजसनिरुच्यते स हि यथाकालं वर्षित्वा वाजं सनति। जीवनार्होपकरणानां दाता मनुष्योऽपि वाजसन उच्यते। एवंविधोहा योजनाश्च योजनीयाः सुधीभिः। तद्यथा—वृषभोऽपि वाजसनो वाजसनिर्वोच्यते, यतो हि स हलाकर्षणेनान्नमुत्पाद्य जीवेभ्यो ददाति। एवं सर्वत्रैव विष्णो वाजसनित्वरूपो धर्मो विश्वे व्याप्त आस्ते।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्हि वाजं सनतीति बोध्यं सूर्यो वृषो वाजसनिश्च मर्त्यः।
एवं हि यो वेत्ति स वेत्ति विश्वं दाता भवन् वाजसनित्वमेति ॥५५॥

जो वाज नाम अन्न का संविभाजक या दाता है, उसका नाम वाजसन वा वाजसनि है। वाज शब्द से सब ही प्रकार के जीवनीय उपकरण का ग्रहण है, और उसके दाता का नाम वाजसन है। इस नाम में **"वाजसनिर्वरिवोविद्वयोधाः"** (ऋक् ६।११०।१५) तथा **"वाजसनिं पूर्भिदम्"** (ऋक् ३।५१।२) **"वाजसनिं रयिमस्मे"** (ऋक् १०।६१।१५) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं।

सृष्टि के आदि से लेकर सृष्टि के अन्त तक सब प्रकार के वाज "जीवनोपयोगी साधनों" का देने वाला सर्वव्यापक भगवान् विष्णु ही है। उचित समय पर वर्षा करके अन्न को देने राला सूर्य भी वाजसनि नाम से कहा जाता है। जीवनोपयोगी साधनों को देने वाला मनुष्य भी वाजसन नाम का वाच्यार्थ है। इस प्रकार की योजनायें या कल्पनायें विद्वानों को स्वयं कर लेनी चाहियें। जैसे वृषभ (बैल) का नाम भी वाजसन है, क्योंकि वह हल के आकर्षण से अन्न उत्पन्न करके देता है। इस प्रकार भगवान् का यह वाजसनित्व रूप धर्म सर्वत्र व्याप्त है।

इसी भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

वाज नाम अन्न अर्थात् सब प्रकार के जीवनोपयोगी साधनों का दाता होने से, भगवान् विष्णु का नाम वाजसन है, सूर्य, वृष, तथा मनुष्य का नाम भी वाजसन या वाजसनि है। इस रूप से जो भगवान् वाजसनि को जानता है, वह विश्व को भी जानता है, तथा स्वयं दानशील बनकर वाजसनित्व को प्राप्त कर लेता है।

शृङ्गी—७६७

"शॄ हिंसायाम्" इति क्र्यादिको धातुस्ततः "शॄणातेर्ह्रस्वश्च" (पा० १।१२६) इत्युणादिसूत्रेण गन् प्रत्ययो, धातोर्ह्रस्वो नुडागमश्च। "नेड् वशि-कृति:" (पा० ७।२।२८) इतीण्निषेधः। गुणाभावोऽनुस्वारपरसवर्णौ। ततः शृङ्गमस्यास्तीति मत्वर्थीय इनिः "यस्येति च" (पा० ६।४।१४८) इत्यनेनाकार-लोपः, इन्नन्तलक्षणो दीर्घः। शृङ्गमिति दीप्तेर्नामेति पूर्वमुक्तम् (संख्या ७६३) तथा च शृङ्गीति शब्देन सूर्यो, "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (मुण्ड० उप० २।२।१०) इत्यादिवचनाद्विष्णुश्चोच्यते। तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः।
सेदु राजा क्षयति चर्षणीनामरान् न नेमिः परिता बभूव।
ऋक् १।३२।१५॥

"वि शृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः।" ऋक् १।३३।१२॥

"शृङ्गाणीवेच्छृङ्गिणां सन्ददृशे।" ऋक् ३।८।१०॥

"यस्ते शृङ्गवृषो नपात्।" ऋक् ८।१७।१३॥

"... शृङ्गाणि ज्वलतो नामधेयानि।" निघण्टुः १।१७॥

ज्वलनधर्मा सूर्यः शृङ्गीत्युच्यते। ज्वलनधर्मणो विष्णोः प्रतिवस्तु दृश्य-मानेनज्वलनरूपेण धर्मेण विष्णोः सर्वव्यापकता व्यज्यते। नैकशृङ्गनाम (सं० ७६३)

शृङ्गी—७६७

शृङ्ग शब्द, हिंसार्थक क्र्यादिक शॄ धातु से उणादि गन् प्रत्यय, धातु को ह्रस्व, नुट का आगम, इट् का निषेध, गुण का अभाव तथा नकार को अनुस्वार परसवर्ण करने से सिद्ध होता है, तथा शृङ्ग शब्द से मतुप् के अर्थ में इनि प्रत्यय करने से शृङ्गी शब्द बन जाता है। शृङ्ग नाम दीप्ति का है, यह पहले (संख्या ७६३) में कहा जा चुका है, वह शृङ्ग अर्थात् दीप्ति जिसमें है, उसका नाम शृङ्गी है। यह सूर्य का तथा **"यस्य भासा सर्व-मिदं विभाति"** (मुण्ड० उप० २।२।१०) इत्यादि वचनानुसार सूर्य आदि के प्रकाशक विष्णु का नाम होता है जैसा कि **'इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा'** (ऋक् १।३२।१५) **"वि शृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः"** (ऋक् १।३३।१२) **"शृङ्गाणीवेच्छृङ्गिणाम्"** (ऋक् ३।८।१०) **"यस्ते शृङ्ग वृषो नपात्"** (ऋक् ८।१७।१३) इत्यादि मन्त्रों से प्रमाणित हैं। **"शृङ्गाणि ज्वलतो नामधेयानि"** यह निघण्टु (१।१७) है। ज्वलनधर्मक होने से सूर्य का नाम शृङ्गी है, तथा ज्वलनधर्मक भगवान् विष्णु के प्रत्येक वस्तु में दीखते हुये ज्वलनधर्म से भगवान् की सर्वव्यापकता प्रकट होती है। इस विषय का नैकशृङ्ग नाम

व्याख्याप्रसङ्गे बहुत्रिचारितचरम् । तथा च सर्पाणामग्निरूपं विषं दन्तैर्बहिरायाति, वृश्चिकस्य पुच्छे भवति विषम् । कण्टकिनो वृक्षा ओषधयश्चापि विषरूपेणाग्निधर्मेण व्याप्ता भवन्ति, तदेव तेषां शृङ्गित्वम् । तच्च शृङ्गं क्वचिल्लोमरूपेण क्वचिद्दन्तनखादिरूपेण चाविर्भवति । तदेव च शृङ्गं विविधप्राणिनां यौवनोष्मणा बहिरायातं तेषा शृङ्गित्वं प्रकटयति । इयं विचित्रचित्रा रचना भगवतो ज्ञानमहत्त्वशालित्वं प्रकटयति प्रतिपदम् । **"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"** (ऋक् ६।४७।१८) इति च वैदिकः सिद्धान्तः । तथा च **"तद्विष्णोः परमं पदँ सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम्"** इति (यजुः ६।५) ।

भवति चात्रास्माकम्—

शृङ्गं हि नूनं ज्वलतोऽस्ति नाम ते वा मयूखा रविरस्ति तद्वान् ।
अग्निर्विभक्त्या विविधात्मयोगैर्जगत् स्वभावेन भिनत्ति तस्मात् ॥५६

जयन्तः—७९८

"जि जये" भौवादिको धातुस्ततः "तॄभूवहिवसिभासिसाधिगण्डिमण्डिजि-

के व्याख्यान में विशदरूप से विचार किया गया है, जैसे कि सर्पों में भी ज्वलनधर्म हैं, और उनका वह विष रूप से बाहर आता है दांतों के द्वारा । विच्छु के पूंछ में विष होता है । कण्टकी वृक्ष तथा औषधियों में भी विष होता है, और वह ही उनका शृङ्गीपन है । वह शृङ्ग किसी में रोम रूप से तथा किसी में दन्त नख आदि रूप से प्रकट होता है । वह शृङ्ग बहुत से प्राणियों में यौवनोष्मा अर्थात् जवानी की गर्मी के रूप में प्रकट होकर उनके शृङ्गित्व को प्रकट करता हैं । यह विचित्र विविध प्रकार की सर्गरचना प्रतिपद (पद-पद पर) भगवान् के ज्ञान की महिमा को प्रकट कर रही है । **"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"** (ऋक् ६।४७।१८) इत्यादि वैदिक सिद्धान्त भी इसी अर्थ को पुष्ट करता है । इसी प्रकार **"तद्विष्णोः परमं पदम्"** (यजुः ६।५) इत्यादि मन्त्र भी इसी भाव का पोषक है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

शृङ्ग नाम ज्वलन अर्थात् दीप्ति या किरणों का है, इसलिये दीप्ति या किरणों वाला होने से सूर्य का नाम शृङ्गी होता है । अग्नि भी नाना वस्तुओं में नाना रूप से विभक्त हुआ, उनको स्वभाव से भिन्न-भिन्न करता हुआ, ज्वलनधर्मक होने से शृङ्गी नाम से कहा हैं, तथा अग्नि से अभिन्न सूर्य और सूर्य से अभिन्न विष्णु के होने से विष्णु का नाम शृङ्गी होता है ।

जयन्तः—७९८

जयार्थक भ्वादिगणपठित जि धातु से उणादि झच् प्रत्यय, तथा झकार को अन्त

नन्दिभ्यश्च" (उ० ३।१२८) इत्युणादिसूत्रेण झच् प्रत्ययस्तस्य चानुवृत्त्या षित्त्वमतिदिश्यते, तेन स्त्रियां "षिद् गौरादिभ्यश्च" इति (पा० ४।१।४१) सूत्रेण ङीष् प्रत्ययो भवति ।

झस्य "झोऽन्तः" (पा० ७।१।३) इति सूत्रेणान्तादेशस्तेन स्वादिप्रथमैक वचने जयन्तः सिध्यति । विजेतुर्नाम जयन्त इति । यो हि सर्वदा जयति, न कदाचित् पराजयं लभत इति जयन्त—शब्दस्यार्थो भवति ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"जयन्तं त्वामनुमदे सोम ।" ऋक् १।९१।२१ ।।

स च सोमः—

"त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ।"

ऋक् १।९१।२२ ।।

इति ऋचा । सकार्यो वर्ण्यते । सूर्यपक्षेऽपि मन्त्रलिङ्गम्—

"सोमो गौरी अधि श्रितः ।" ऋक् ९।१२।३ ।।

अत्र गौरीति सूर्यस्य नाम । सूर्य इत्यपि विष्णोर्नामातो विष्णुर्जयन्तः । विष्णुरेवैवंविधान् जयशीलत्वादिरूपान् गुणान् सूर्ये न्यधात्, सर्वत्र व्याप्तत्वाद्विष्णोः । यत्र हि भगवान् तत्र स्वल्पेष्वपि साधनेषु सत्सु जयः सुलभः । भगवानेव जयन्तो जयशीलेषु निजं बलं निदधाति, यथा सेनायां व्याप्तं राजबलं सेनां जापयति, तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ।"

ऋक् १०।१०३।८ ।।

आदेश करने से, और प्रथमा विभक्ति के एक वचन सु के लाने से, जयन्त शब्द सिद्ध होता है । झच् को षित्व का अतिदेश होता है, इसलिये स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होता है । जीतने वाले का नाम जयन्त है । जो सदा ही जयशील है, अर्थात् कभी भी पराजय को प्राप्त नहीं होता, उसका नाम जयन्त शब्द का अर्थ है । इस नाम में "जयन्तं त्वामनु मदे सोम" (ऋक् १।९१।२१) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है और उस सोम का "त्वामिमा ओषधीः सोम" (ऋक् १।९१।२२) इत्यादि मन्त्र में कार्य सहित वर्णन है । जयन्त नाम के सूर्य पक्ष में भी यह "सोमो गौरी अधिश्रितः" (ऋक् ९।१२।३) आदि मन्त्र अर्थ प्राधान्य से प्रमाण है । गौरी नाम सूर्य का है, तथा सूर्य नाम विष्णु का है, इसलिये विष्णु का नाम जयन्त है । सूर्य में सर्वव्यापक भगवान् विष्णु ही अपने जयशीलता आदि गुणों का निधान करता है । जहां भगवान् जयन्त विद्यमान है वहां साधनों की न्यूनता होने पर भी जय सुलभ होती है । भगवान् जयन्त ही युद्ध जीतने वालों में अपने बल का स्थापन करता है । जैसे राजा अपना बल सेना में स्थापित करता हुआ सेना को जिताता है । जैसा कि "देवसेनानामभिभञ्जतीनाम्" (ऋक् १०।१०३।८) इत्यादि मन्त्र में प्रतिपादित है ।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्जयन्तो वशयत्यशेषं सूर्योऽपि [1]तस्माद् वशयत्यजस्रम् ।
विश्वं तथा विश्वगतञ्च सर्वं सूर्यो हि राजा जगतश्चरिष्णोः ॥५७॥

१—विष्णुप्रत्ताप्तशक्तेः ।

मन्त्रः—"**इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनाम्** ।" ऋक् ७।२७।३ ॥

तथा च पुनरमाकम्—

एवं हि यो वेत्ति जयन्तमग्र्यं विष्णुं स सर्वं जयतीति बोध्यम् ।
यस्यास्ति सव्ये भगवान् जयन्तः किं शत्रवस्तस्य नरस्य कुर्युः ॥५८॥

सर्वविज्जयी—७६६

सर्वशब्दो वन्नन्तो निपातित उणादौ (१।१५३) व्युत्पादितश्च सर्व इति (सं० २५) स्वतन्त्रनामव्याख्याने । वित्—वेत्तीति "**क्विब्विधिः सर्वधातुभ्यः**" (महा० ३।१।१३४) इति सामान्यनियमेन क्विप् कर्तरि । जयी—जयति तच्छील-स्तत्साधुस्तद्धर्मा वेति "**जिदृक्षिविश्रीण्वमाव्यथाभ्यमपरिभूप्रसूभ्यश्च**" (पा० ३।२।१५७) इति सूत्रेण तच्छीलादिविशिष्टे कर्तरीनिः, गुणो, नान्तलक्षणो-

---

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम जयन्त है, क्योंकि वह इस समस्त स्थावर जङ्गम वर्ग को अपने वश में रखता है, तथा सूर्य भी भगवान् विष्णु से शक्ति प्राप्त करके, इस सब विश्व तथा विश्वान्तर्गत चराचर वर्ग को निरन्तर अपने वश में रखने से जयन्त है। जैसा कि '**इन्द्रो राजा०**" (ऋक् ७।२७।३) इत्यादि मन्त्र है।

यह फिर भाष्यकारीय पद्य है—

जो इस प्रकार भगवान् जयन्त को जानता है, वह सब को अपने वश में कर लेता है, अर्थात् सब पर विजय प्राप्त कर लेता है। जयन्त नामा भगवान् विष्णु, जिसके अनुकूल या जिसका नियन्ता है, उसका बहुत से शत्रु भी कुछ नहीं कर सकते, यह निश्चित है।

सर्वविज्जयी—७६६

सर्व शब्द की सिद्धि सृ धातु से उणादि व प्रत्यय करके की गई है, तथा स्वतन्त्र सर्व (संख्या २५) नाम के व्याख्यान में इसका विशद विवेचन किया गया है।

वित् शब्द, ज्ञानार्थक विद् धातु से '**क्विब्विधिः सर्वधातुभ्यः**" (महा० ३।१।१३४) इस सामान्य नियमानुसार कर्ता में क्विप् प्रत्यय तथा उसका सर्वापहार

दीर्घः । सर्वं वेत्तीति सर्ववित्, सर्वविच्चासौ जयी सर्वविज्जयीत्येकं नाम सविशेषणम् । मन्त्रलिङ्गञ्च भावप्रधानम्—

"शश्वदिन्द्रः पोप्रुथद्भिर्जिगाय नानद्भिः शाश्वसद्भिर्धनानि ।
स नो हिरण्यरथं दसनावान्त्स नः सनिता सनये स नोऽदात् ।"
ऋक् १।३०।१६ ॥

लोकेऽपि च स एव विजयते यो बहुवेदी, यद्वा परपक्षरहस्यं बहु वेत्ति । भगवांश्च सर्वं वेत्तीति सर्वविज्जयीत्युक्तो भवति । यदुक्तं वेदे **"तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा"** (यजुः ३१।१९) तत्राधारेणाधेयं जितं भवति धृतं वेति सैव सर्वविज्जयिता प्रकाश्यते ।

भवति चात्रास्माकम्—

स सर्ववित्पूर्वपदो जयीशो विश्वं सनात् [1]सत्यमना यथावत् ।
व्यवस्थया न्यस्य तदन्तमित्वा स्वाङ्कस्थवद्वेत्ति जिगीषुरेतत् ॥५०॥

१—सत्यमनाः=अबाधितज्ञानः ।

करने से बनता है। सर्ववित् शब्द का, सब को जानने वाला अर्थ होता है। जयी शब्द, जयर्थाक जि धातु से ताच्छील्यादि विशिष्ट कर्ता में इनि प्रत्यय, गुण तथा सु विभक्ति में इन्नन्तलक्षण दीर्घ करने से बनता है। कर्मधारय समास करने से सर्वविज्जयी यह एक नाम बन जाता है, जिसका अर्थ सर्वज्ञ और जयशील ऐसा होता है। इसमें **"शश्वदिन्द्रः पोप्रुथद्भिर्जिगाय"** (ऋक् १।३०।१६) इत्यादि भावप्रधान मन्त्र प्रमाण है।

लोक में भी जो अधिक जानकार होता है वह ही जय प्राप्त करता है, ऐसा देखने में आता है, तथा दूसरों के रहस्य को जानता है। भगवान् सब कुछ जानता है, इसलिये सर्वविज्जयी नाम से कहा जाता है, जैसा कि **'तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा"** (यजुः ३१।१९) इत्यादि मन्त्र से प्रतिपादित है। आधार के द्वारा आधेय जीता हुआ या धारण किया हुआ होता है।

भाष्यकार इस भाव को अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का सर्वविज्जयी नाम इसलिये है कि वह जयशील होने तथा अबाधित त्रैकालिकज्ञान होने से, इस विश्व को व्यवस्थित करके इसके अन्त तक इसको अपनी गोद में स्थित के समान अच्छे प्रकार से जानता है।

सुवर्णबिन्दुरक्षोभ्यः सर्ववागीश्वरेश्वरः ।
महाह्लदो महागर्तो महाभूतो महानिधिः ॥६६॥

८०० सुवर्णबिन्दुः, ८०१ अक्षोभ्यः, ८०२ सर्ववागीश्वरेश्वरः ।
८०३ महाह्लदः, ८०४ महागर्तः, ८०५ महाभूतः, ८०६ महानिधिः ॥

सुवर्णबिन्दुः—८००

सु=शोभनं वर्णं=वरणीयं दृश्यं रूपं यस्य स सुवर्णः, सुवर्णा बिन्दवोऽवयवा यस्य स सुवर्णबिन्दुः ।

वर्णम्—वृणोतेः "**कॄवॄजॄ**" (उ० ३।१०) इत्याद्युणादिसूत्रेण 'नः' प्रत्ययः तस्य च नित्त्वातिदेशः स्वरार्थम् । गुणो रपरो "**रषाभ्यां नो णः समानपदे**" (पा० ८।४।१) सूत्रेण णत्वं "**नेड् वशि कृति**" (पा० ७।२।८) इतीण्निषेधः सुवर्ण इति ।

बिन्दुरिति—"विद् ज्ञाने" आदादिको धातुस्ततो "**बिन्दुरिच्छुः**" (पा० ३।२।१६०) सूत्रेणात्र नुम् निपातितस्तथा बवयोरभेदेन केचिद् बिन्दुरिति समर्थयन्ति । यद्वा—"बिदि अवयवे" भौवादिको धातुस्ततः "**शॄस्वृस्निहि**" (उ० १।१०) इत्याद्युणादिसूत्रेण बाहुलकाद् उः प्रत्ययः । अवयवशब्देन चात्रावयवक्रियोच्यते । एवञ्च बिन्दति=अवयवान् करोतीति बिन्दुरीति सिद्धम् । एवं

सुवर्णबिन्दुः—८००

सुन्दर वर्ण=रूप वाले का नाम सुवर्ण है, तथा सुरूप हैं, बिन्दु=अवयव जिसके उसका नाम सुवर्णबिन्दु है ।

वर्ण शब्द, वरणार्थक वृञ् धातु से उणादि न प्रत्यय, रपर गुण, णत्व तथा इट् का निषेध करने से बनता है । न प्रत्यय को नित्त्व का अतिदेश स्वर के लिये किया है । सुन्दर वर्ण का नाम सुवर्ण है । बिन्दु शब्द, ज्ञानार्थक अदादिगण पठित विद् धातु से पा० ३।२।१६६ सूत्र से उ प्रत्यय और नुम् के निपातन से सिद्ध होता है । तथा कुछ वैयाकरण विद् धातु से ही ब और व के अभेद से बिन्दु शब्द का समर्थन करते हैं । अथवा अवयवार्थक भ्वादिगणीय बिदि धातु से बाहुलक से उणादि उ प्रत्यय करने से बिन्दु बन जाता है, पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध बिन्दु या बिन्दु शब्द का वेदनशील अर्थ होता है, तथा बिदि और उणादि उ प्रत्यय से सिद्ध बिन्दु का विभाग करने वाला, यह अर्थ होता है, अर्थात् अवयव (टुकड़े) करने वाले का नाम बिन्दु है । इसी प्रकार चिन्तन करने वाले का नाम चिन्तु तथा ग्रन्थन करने वाले का नाम ग्रन्थु है । ग्रन्थु शब्द का ही अपभ्रंश गण्ठु शब्द है । इस प्रकार प्रयोगानुसार सर्वत्र समझना चाहिये । इस प्रकार स्वयं अवयवीरूप भगवान् विष्णु विचित्र रूप अवयवता को प्राप्त करके अर्थात् अवयव रूप में आकर अपने बिन्दुरूप अवयवों

चिन्ततीति चिन्तुः, ग्रन्थत इति ग्रन्थुः, लोके चास्यैवापभ्रंशो गन्ठुरिति। एवं सर्वत्रोह्यं यथाप्रयोगम्। एवञ्च स्वयमनयवी भगवान् विष्णुर्विचित्रवर्ण-सुरूपावयवतामापद्य बिन्दुरूपावयवैर्विराजमानः सुवर्णबिन्दुरित्यभिधीयते, तथा चायमाकाशे भान् सूर्यो बिन्दुरिव वर्तुलः सुवर्णबिन्दुरिव बिन्दुरिति सुवर्णबिन्दु-रभिधीयते। एतेन नाम्ना ब्रह्मणोऽनन्तत्वं व्याख्यातं भवति, "ओ खं ब्रह्म" (यजुः ४०।१७) इति याजुषान्मन्त्रलिङ्गात्। यथायं सूर्यस्तथायं समस्तः प्रपञ्चः परस्परमवयवावयविभावमापन्नोऽपि तस्य परब्रह्मणो बिन्दुरूपः, पत्र-फलपुष्पशाखादीनि वृक्षस्येव। तत्र वस्तुबहुत्वेऽपि वस्तुतत्त्वमवयविरूपमेकमेव केवलमिन्द्रो मायाभिः पुरुरूपत्वं=विविधभावरूपजगद्रूपतामापद्यते, तेन प्राकृता अज्ञा जनाः मुह्यन्ति, न तु तत्त्वविदः। एवमेवार्षग्रन्थेषु सिद्धान्तितमिति।

मन्त्रलिङ्गञ्चात्र—

"यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः।" यजुः ३२।६ ॥

विमानः विना पक्षिणा मीयत इति, पक्षिवल्लघुः प्रतीयमान इत्यर्थः। अत एव हंस इति सूर्यस्य नाम वेदे।

"यत् समुद्रो अभ्यक्रन्दत् पर्जन्यो विद्युता सह।
ततो हिरण्ययो बिन्दुस्ततो दर्भो अजायत।" अथर्व १९।३०।५ ॥
"उर्ध्वो बिन्दुरुदचरत्।" अथर्व १०।१०।१९ ॥
"हिरण्ययो बिन्दुः।" अथर्व ६।१।२१ ॥

से विराजमान होता हुआ सुवर्णबिन्दु नाम से कहा जाता है और इसी प्रकार से आकाश में चमकता हुआ सूर्य, बिन्दु के समान गोल होने से सुवर्ण-बिन्दुओं के समान बिन्दुरूप होने से सुवर्णबिन्दु नाम से कहा जाता है। इस नाम से ब्रह्म की अनन्तता का व्याख्यान है। जिस प्रकार सूर्य बिन्दुरूप है, उसी प्रकार यह समस्त प्रपञ्च परस्पर में अवयवावयवीरूप से वर्तमान होकर भी उस परब्रह्म का बिन्दुरूप है, जिस प्रकार कि, पत्र पुष्प फल शाखा आदि वृक्ष के बिन्दुरूप होते हैं। अवयवरूप वस्तुओं के बहुत होने पर भी वस्तुतत्त्वरूप अवयवी एक ही है, केवल इन्द्र माया=विचित्र क्रियाओं के द्वारा विविध-भावरूपता को प्राप्त हो जाता है, जिससे प्राकृत=साधारण (मूर्ख) जनों को मोह हो जाता है, विद्वानों को नहीं। ऋषि-प्रणीत ग्रन्थों में ऐसा ही सिद्धान्त विद्वानों का है। यह भाव **"यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः"** (यजुः ३२।६) इत्यादि ऋचा से प्रमाणित होता है। विमान नाम जिसकी पक्षि से समानता की जाये, अर्थात् पक्षी के समान लघु (छोटा) प्रतीत होता है। इसीलिये वेद में सूर्य को हंस नाम से कहा है। जैसा कि **"यत्समुद्रो अभ्यक्रन्दत्"** (अथर्व १९।३०।५) **"ऊर्ध्वो बिन्दुरुदचरत्"** (अथर्व १०।१०।१९) **"हिरण्ययो बिन्दुः"** (अथर्व ६।१।२१) इत्यादि अथर्व में प्रतिपादित है, इनसे भगवान् का

"न हि ते क्षत्रं न सहो न मन्युं वयश्च नामी पतयन्त आयुः ।
नेमा अपो अनिमिषं चरन्तीर्न ये वातस्य प्रमिनन्त्यभ्वम् ।"

ऋक् १।२४।६ ।।

वय इति दिवि दृश्यमानं सर्वं ग्रहोपग्रहसंवलितं नाक्षत्रं जगत् । यथा वयांसि पतन्ति, तथैवेमे ग्रहोपग्रहाः ।

"विश्वस्मा इत् स्वर्दृशे साधारणं रजस्तुरम् ।
गोपामृतस्य विर्भरत् ।" ऋक् ६।४८।४ ।। विः=सूर्यः ।

तथा च—

"अस्य वामस्य···वेः ।" ऋक् १।१६४।७ ।।
"एको अश्वो वहति सप्तनामा ।" ऋक् १।१६४।२ ।।
"दिव्यं सुपर्णं वायसं बृहन्तमपां गर्भं दर्शतमोषधीनाम् ।
अभीपतो वृष्टिभिस्तर्पयन्तं सरस्वन्तमवसे जोहवीमि ।"

ऋक् १।१६४।५२ ।।

भवति चात्रास्माकम्—

सुवर्णबिन्दुः कथितो ह सूर्यः खेऽनन्तपारे कणवद्विभान्तः ।
तथैव दृश्यास्त्वितरे ग्रहाश्च खं ब्रह्म विष्णुः स बृहन्महत् सः ।।६०।।

बिन्दुघटित नाम प्रमाणित होता है । तथा **"न हि ते क्षत्रं न सहो न मन्युं वयश्च"** (ऋक् १।२४।६) इत्यादि मन्त्र में वय शब्द से अन्तरिक्ष में दीखता हुआ ग्रहोपग्रहसहित नक्षत्र गण उपलक्षित है । जैसे वय नाम पक्षी उड़ते हैं उसी प्रकार ये ग्रह नक्षत्र आदि उड़ते हैं । **"विश्वस्मा इत् स्वर्दृशे"** (ऋक् ६।४८।४) इत्यादि मन्त्र में वि नाम से सूर्य का ग्रहण है, जैसा कि **"अस्य वामस्य···वेः"** (ऋक् १।१६४।७) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध है । **'एकोऽश्वो वहति सप्तनामा"** (ऋक् १।३६४।२) और **"दिव्यं सुपर्णं वायसम्"** (ऋक् १।१६४।५२) इत्यादि मन्त्र से भी यह अभिप्राय निकलता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

सुवर्णबिन्दु नाम, सूर्य तथा अन्तरहित अर्थात् अनन्त अन्तरिक्ष में बिन्दु के समान प्रकाशमान ग्रहों का है, ख नाम ब्रह्म का है, तथा वह ही विष्णु बृहत् महत् नामों से भी कहा गया है ।

सिद्धाख्यमेतच्छतकं समाप्तं मनोरमं विष्णुसहस्रनाम्ना ।
अनूदितं राष्ट्रगिरा च भूयाद् भव्याय दिव्यं भुवि भावुकानाम् ।।

अक्षोभ्यः—८०१

"क्षुभ सञ्चलने" धातुः क्र्यादिकस्तत **"ऋहलोर्ण्यत्"** (पा० ३।१।१२४) सूत्रेण ण्यत् प्रत्ययः शक्यार्थे, गुणः। न क्षोभ्यः अक्षोभ्यो नञ्-समासो नञो नलोपश्च। न क्षोभयितुं=स्वव्यवस्थातः सञ्चलयितुं शक्यः अक्षोभ्य इत्यर्थः। तथा हि न कदाचिदपि तत्कृता विश्वव्यवस्था विकारमाप्नोति विकारमापादयितुं वा शक्यते कैश्चित् सूर्यादिभिरपि। यतो हि तेऽपि तद्-व्यवस्थाबद्धा एव सर्वे भ्राम्यन्ति, अतो न कदाचिदपि विचलन्ति व्यवस्थातः।

लोकेऽपि च पश्यामः—न विकारैर्विकृतः=क्षुब्धो भवति धीरपुरुषः। तथैवेदं विकारभूतं सर्वं जगन्न तं क्षोभयितुं शक्तम्, स च सर्वस्य जगतः क्षोभणे समर्थः। तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"क्षोभणश्चर्षणीनाम्।" ऋक् १०।१०३।१॥

सूर्योऽप्यक्षोभ्यो भगवद्गुणव्याप्तिमत्वात्।

भवति चात्रास्माकम्—

विकाररूपं हि जगत् समस्तं विष्णुं सदाऽक्षोभ्यमियर्ति सर्गात्।
क्षोभ्यः कथं सोऽत्र भवेद् विकारैस्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥६१॥

अक्षोभ्यः—८०१

सञ्चलनार्थक क्र्यादिगणपठित क्षुभ धातु से शक्यार्थ में ण्यत् प्रत्यय; तथा गुण करने से क्षोभ्य पद सिद्ध होता है। क्षोभ्य शब्द का नञ् के साथ समास करने से अक्षोभ्य यह समस्त पद बन जाता है, जिसका किसी प्रकार से क्षोभ (कम्पन) न किया जा सके, उसका नाम अक्षोभ्य होता है, अर्थात् जिसकी व्यवस्था को विकृत न किया जा सके, वह अक्षोभ्य है। यह भगवान् का नाम है, क्योंकि उसकी बनाई हुई व्यवस्था को सूर्य आदि भी विकृत नहीं कर सकते, अर्थात् वे सूर्य आदि भी सब उसी की व्यवस्था में बन्धे हुये भ्रमण कर रहे हैं। अतः उनमें ऐसी शक्ति नहीं कि वे उस व्यवस्था से विचलित हो जायें। लोक में भी हम देखते हैं, धीर पुरुष कभी भी विकारों से क्षुब्ध अर्थात् विकृत नहीं होता, उसी प्रकार भगवान् भी इस विकाररूप जगत् से विकृत नहीं होता, किन्तु वह इस सम्पूर्ण जगत् को क्षुब्ध अर्थात् कम्पित करने में समर्थ है, जैसा कि **"क्षोभणश्चर्षणी-नाम्"** (ऋक् १०।१०३।१) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध होता है। अक्षोभ्यरूप भगवान् के गुण से व्याप्त होने से सूर्य भी अक्षोभ्य है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

यह समस्त विकाररूप जगत् सर्ग से प्रलय तक अक्षोभ्यरूप भगवान् विष्णु को ही प्राप्त होता है, अर्थात् उसी से व्याप्त रहता है, किन्तु इस विकाररूप जगत् से भगवान् विष्णु विकृत नहीं होता, क्योंकि सब ही भुवन उसमें स्थित हैं, और वह सदा अविकृत एकरूप से स्थित हैं।

सर्ववागीश्वरेश्वरः—८०२

सर्व-शब्दो वाक्—शब्दः, ईश्वर—शब्दश्च पृथक् पृथक् कृतव्युत्पादनाः। सर्वा च सा वाक् सर्ववाक्, सर्ववाच ईश्वरः सर्ववागीश्वरः, सर्ववागीश्वराणामपीश्वरः सर्ववागीश्वरेश्वरः।

वाचोऽधिदेवता अग्निः, सर्वाधिकबलवती च वाक् स्तनयित्नोः। तस्या अपि जनकः स एव वाचस्पतिर्यथाव्यवस्थम्, अतः स सर्ववागीश्वरेश्वर इत्युक्तो भवति विष्णुः।

लोके चापि पश्यामः—सर्वेषां प्राणिनां परस्परं वाग् भिन्ना भिन्ना। स चैष वाचो भेदोऽग्निबलाबलकृतः कण्ठबिलकृतश्च। यतो हिं सर्वेषां कण्ठबिलस्य निर्माणं भिन्नं भिन्नम्। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"यत् पर्जन्य कनिक्रदत् स्तनयन् हंसि दुष्कृतः।
प्रतीदं विश्वं मोदते यत्किञ्च पृथिव्यामधि॥" ऋक् ५।८३।९॥
"दिवो न सानु स्तनयन्नचिक्रदत्।" ऋक् १।५८।२॥
"वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनाम्।" ऋक् १।५०।१॥
"वाचस्पतिर्वाचन्नः स्वदतु।" यजुः ११।७॥
"वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे।" अथर्व १।१।१॥

इति निदर्शनमात्रं नः प्रयोजनम्।

सर्ववागीश्वरेश्वरः—८०२

सर्व, वाक् तथा ईश्वर शब्दों की सिद्धि पृथक्-पृथक् की गई है। सकल वाणी के ईश्वर का सर्ववागीश्वर तथा सकलवागीश्वरों का भी जो ईश्वर है, उसका नाम सर्ववागीश्वरेश्वर है। सर्ववागीश्वरेश्वर नाम भगवान् विष्णु का है, क्योंकि वह सब वाणियों का व्यवस्थापक होने से वाचस्पति तथा वाणी के अधिष्ठातृदेवता अग्नि और सबसे अधिक बलवती विद्युत् की वाक् का भी जनक है, अर्थात् सब प्रकार की वाणी उसी से उत्पन्न तथा उसी से व्यवस्थित होती है। लोक में भी हम देखते हैं, सब प्राणियों की वाणी भिन्न-भिन्न हैं, उनकी यह भिन्नता अग्नि के बलाबल तथा कण्ठविवर के न्यूनाधिक पर आधारित है, क्योंकि सब प्राणियों के कण्ठबिल का निर्माण भिन्न-भिन्न प्रकार का है। इस भावार्थ की पुष्टि **"यत् पर्जन्य कनिक्रदत्"** (ऋक् ५।८३।९) **"दिवो न सानु"** (ऋक् १।५८।२) **"वैश्वानर नाभिरसि"** (ऋक् १।५९।१) **"वाचस्पतिर्वाचन्नः"** (यजुः ११।७) तथा **"वाचस्पतिर्बला तेषां०"** (अथर्व १।१।१) इत्यादि मन्त्रों से होती है। उदाहरण मात्र दिखलाना हमारा प्रयोजन है।

भवतश्चात्रास्माकम्—

स सर्ववाक्पूर्वपदेश्वरेश्वरो विभाति विष्णुर्विततः पुराणः ।
अग्निर्हि वाचामधिदेवता मता सोऽग्निर्व्यनक्त्यात्मबलैः पृथक् ताः ॥६२॥

एवं हि यो वेत्ति स वेत्ति वाचां गुप्तं रहस्यं [1]करणस्य भेदात् ।
अग्नेः [2]समास्थापनभेदभेदाद् [3]बलाबलं चापि [4]भिनत्ति वाचम् ॥६३॥

१—करणस्य=कण्ठस्य भेदात् । २—अग्न्याशयनिर्माणभेदात् ।

३—बलाबलं=शरीरबलाबलम् । ४—विविधै रोगैरपि वाग्विहन्यते ।

महाह्लदः—८०३

महानिति प्राग्बहुशो व्युत्पादितः ।

ह्लदशब्दो "ह्लाद अव्यक्ते शब्दे" इति भौवादिकाद् धातोः पचाद्यच्, पृषोदरादित्वाद्ध्रस्वः । ह्लादत इति ह्लदो महांश्चासौ ह्लदो महाह्लदः । महान्तमव्यक्तं शब्दं यः करोति स महाह्लद इत्युच्यते । मन्त्रलिङ्गञ्च—

"ह्लदा इव कुक्षयः सोमधानाः ।" ऋक् ३।३६।८ ॥

"अन्तरिक्षमुतोदरम् ।" अथर्व १०।७।३२ ॥

यस्यान्तरिक्षमुदरं स ज्येष्ठ इति ज्येष्ठनाम्नो (संख्या ६७) व्याख्याने द्रष्टव्यम् ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम सर्ववागीश्वरेश्वर है, वह ही पुराण पुरुष, सर्ववाग्ज्योति-रूप से सर्वत्र व्यापक होकर शोभयमान हो रहा है । वाणी का अधिष्ठातृदेवता अग्नि है, वह अग्नि ही अपने बल से वाणियों को भिन्न-भिन्न करता है ।

वाणी का भेद, कण्ठविवर के भेद से, अग्न्याशय के निर्माण के भेद से, शरीर बल के भेद से तथा रोगों के कारण से होता है । इस प्रकार से जो मनुष्य वाणी के भेद को जान लेता है, वह वाणी के गुप्त रहस्य को जान लेता है ।

महाह्लदः—८०४

महान् शब्द की सिद्धि पहले की गई है ।

ह्लद शब्द, ह्लाद इस अव्यक्त शब्दार्थक धातु से पचादि अच् तथा पृषोदरादि नियम से धातु को ह्रस्व करने से सिद्ध होता है । जो अव्यक्त शब्द करता है, उसका नाम ह्लद तथा जो अत्यन्त महान् गम्भीर अव्यक्त ध्वनि करता है उसका नाम महाह्लद है, जैसा कि **"ह्लदा इव कुक्षयः"** (ऋक् ३।३६।८) **"अन्तरिक्षमुतोदरम्"** (अथर्व १०।७।३२) । **"यस्यान्तरिक्षमुदरम्"** यह ज्येष्ठ (सं० ६७) नाम के व्याख्यान में देखना चाहिये ।

"ह्रदं न हि त्वा न्यृषन्त्यूर्मयो० ।" ऋक् १।५२।७ ॥
"गम्भीरां उदधींरिव क्रतुं पुष्यसि गा इव ।
प्र सुगोपः यवसं धेनवो यथा ह्रदं कुल्या इवाशत ।" ऋक् ३।४५।३ ॥

ऊर्मयो हि परस्परं प्रतिहत्याव्यक्तं शब्दं कुर्वन्ति, तस्मात्समुद्रः ह्लादः सन् ह्रद इत्युक्तो भवति, । स च यस्मिन् स्थितः सोऽपि महाह्रदः तात्स्थ्योपाधिना । इति निदर्शनमात्रम् ।

महाह्रदो विष्णुरमोघकर्मा करोति सर्वं सुविचार्य विश्वम् ।
शुष्येद्धरेयं यदि नोदधिः स्यात् कुक्षिर्न चेत् स्याद्वपुरत्र[1] शुष्येत् ॥६४॥

१—अत्रेति जङ्गमवर्गे ।

तथा च भावान्तरमभिप्रेत्यास्माकम्—

महाह्रदो विष्णुरमोघकर्मा करोति विश्वं बहुसाधनाप्तम् ।
महाह्रदं [1]स कुरुते समुद्रं शुष्येन्न भूः सूर्यखरांशुपातैः ॥६५॥
यथान्तरिक्षे निदधाति सोऽभ्रं तथा शरीरे कुरुते च कुक्षिम् ।
स्वकोदरं स कुरुतेऽन्तरिक्षं शब्दोऽप्यतोऽव्यक्त इतोऽस्ति सृप्तः ॥६६॥

१—सः—विष्णुः । 'सवः' (संख्या ७२७) नाम्नि विच्छिद्य व्याख्यातम् ।

"ह्रदं न हि त्वा" (ऋक् १।५२।७) **"गम्भीरां उदधींरिव क्रतुम्"** इत्यादि मन्त्रों से सिद्ध होता है । समुद्र की तरङ्गें आपस में प्रतिहत होकर (टकराकर) अव्यक्त शब्द करती हैं, इसलिये समुद्र भी ह्लाद होता हुआ ह्रद नाम से कहा जाता है, और वह समुद्र जिसमें हैं, वह भगवान् भी तात्स्थ्य धर्म से ह्रद नाम से कहा जाता है । यह केवल उदाहरण रूप से दिग्दर्शन है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है —

अमोघकर्मा भगवान् विष्णु का नाम महाह्रद है । वह अच्छे प्रकार से विचार कर विश्व को बनाता है । यदि वह समुद्र की रचना न करता तो यह सम्पूर्ण पृथिवी शुष्क हो जाती, अर्थात् शुष्क होकर यह कण रूप से विकीर्ण हो जाती, तथा शरीर में कुक्षि न होती तो यह शरीर शुष्क हो जाता । श्लोक में 'अत्र' शब्द से जङ्गम वर्ग का ग्रहण है ।

इसी भाव को भाष्यकार अन्य प्रकार से वर्णन करता है—

सफलकर्मा भगवान् विष्णु, इस सकल विश्व को अनन्त साधनों से व्याप्त या युक्त बनाता है । वह महाह्रद नामक समुद्र को इसलिये बनाता है कि सूर्य के तीक्ष्ण किरणों से पृथिवी का शोषण न होने पाये । जैसे वह अन्तरिक्ष में अभ्र=मेघों का निर्माण करता है, उसी प्रकार शरीर में कुक्षि का निर्माण करता है, अन्तरिक्ष ही भगवान् का उदर है, इसी लिये उसमें अव्यक्त शब्द की व्याप्ति, अर्थात् उसमें अव्यक्त शब्द रहता है । श्लोकस्थ 'स' पद भगवान् विष्णु का नाम है, 'सव' (संख्या ७२७) नाम में इसका पृथक् करके व्याख्यान किया है ।

महागर्तः—८०४

महच्छब्दो व्युत्पादितः।

गर्तः—"गॄ निगरणे" धातुस्तौदादिकस्ततो हसिमृग्रिण्वाऽमिदमिलूपृधूर्वि-भ्यस्तन्" (उ० ३।८६) इत्युणादिसूत्रेण तन् प्रत्ययो, रपरो गुणः। "तितुत्र" (पा० ७।२।९) इत्यादिसूत्रेणेण्निषेधः। "अचो रहाभ्यां द्वे" (पा० ८।४।४६) सूत्रेण वैकल्पिको द्विर्भावः "सर्वत्र शाकल्यस्य" (पा० ८।४।५१) इति शाकल्याचार्यमते द्विर्भावाभावस्तेन गर्त्तः, गर्त इति च रूपद्वयं सिध्यति। महांश्चासौ गर्तः—महागर्तः। महागर्तो=महानिलयनस्थानं, यत्र सर्वं निलीयते=निगीर्णमिव भवति। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टावयःस्थूणमुदिता सूर्यस्य।
आ रोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिञ्च।"

ऋक् ५।६२।८॥

"वृष्टिद्यावा रीत्यापेषस्पती दानुमत्याः। बृहन्तं गर्त्तमाशाते।"

ऋक् ५।६८।५॥

तथा चात्र ऋक् ५।६८।१ तः 'मित्रावरुणौ' अनुवर्तेते। गर्त्तोऽवटः=गड्ढा इति लोकप्रसिद्धिः। अथापि च महागर्तो=महाकाशः। पश्यामश्च लोकेऽपि मुखत आरभ्य गुदान्तं यावद् यो महास्रोतः, स गर्त इव ज्ञेयो यतो सर्वमत्र निगीर्णमिव भवति। तथा च दुष्पूरोऽयमुदरगर्त आकाशरूपः। रयोऽप्यत एव

महागर्तः—८०४

महत् शब्द की सिद्धि पहले की जा चुकी है।

गर्त शब्द, गॄ इस निगरणार्थक धातु से उणादि तन् प्रत्यय, रपरक गुण, तथा "तितुत्र" (पा० ७।२।९) इत्यादि सूत्र से इट् का निषेध होने सिद्ध होता है। पा० ८।४।४६ सूत्र से वैकल्पिक द्वित्व तथा पा० ८।४।५१ सूत्रानुसार द्वित्व का निषेध होने से गर्त्त और गर्त, ये दो रूप बन जाते हैं। बहुत बड़े गर्त का नाम महागर्त है, अर्थात् सबके लीन होने का स्थान, जिसमें सब निगीर्ण हो जाते हैं। जैसे कि "हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टावयः०" (ऋक् ५।६२।८) तथा "वृष्टिद्यावा रीत्यापेषस्पती०" (ऋक् ५।६८।५) इत्यादि मन्त्रों से सिद्ध होता है। इन मन्त्रों में मित्रावरुण देवों का ऊपर से अनुवर्तन होता है। गर्त नाम का पर्याय शब्द अवट है। जिसकी लोक में गढा नाम से प्रसिद्धि है। महाकाश का नाम भी महागर्त है। हम लोक में भी देखते हैं—मुख से लेकर गुदा पर्यन्त जो महास्रोत है, वह ही गर्त है, क्योंकि सब कुछ इसी में निगीर्ण (निलीन) होता है, फिर भी आकाशरूप यह उदरगर्त पूर्ण नहीं होता अर्थात् इसकी कभी पूर्ति नहीं

गर्तो यतो हि तस्मिन् स्थितो रथी निगीर्ण इव प्रतीयते । "गर्तम्" ऋक् ७।६४।४ ॥

तथा "आरोहतं वरुण मित्र गर्तं ततश्चक्षाथामदितिं दितिञ्च।" यजुः १०।१६ ॥ "गर्ते" ऋक् ५।६२।५ तथा ६।२०।९ ।

भवति चात्रास्माकम्—

महागर्तो महाकाशो यत्रस्थो वीक्षते जगत् ।
सूर्यो यत्र च लीनो वा दृश्यते चक्षुषा तथा ॥६७॥

यद्वा—

महागर्तं सनादाहुर्विष्णुं विश्वविभाविनम् ।
यस्मिन्नस्तोदयौ याति भ्रमन् [1]सूर्योऽपि नित्यशः ॥६८॥

१—सूर्य इत्युपलक्षणम्, सर्वे ग्रहा ज्ञेयाः ।

लोके च दृश्यते, जन्तुर्गर्भाशयरूपाद् गर्तादुदेति, गर्त्ते च पुनर्निलीयते । गर्त्ते=भूगर्ते, काष्ठनिर्मिते गर्त्ते वा चितायामित्यर्थः । गर्तरूपे जलप्रवाहे वा । समुद्रोऽपि महागर्त उक्तो भवति, यतो हि सर्वा नद्यस्तस्मिन् निलीयन्ते । वेदवचनञ्च—"समुद्रस्येव महिमा गभीरः ।" ऋक् ७।३३।८ ॥

एवं सर्वत्र योजना विधेया ।

होती । रथ का नाम भी गर्त इसीलिये है कि उसमें स्थित सारथी निगीर्ण सा होता है । गर्त नाम में "गर्तम्" (ऋक् ७।६४।४) "आरोहतं वरुण मित्र गर्तम्०" (यजुः १०।१६) "गर्ते" ऋक् ५।६२।५ तथा ६।२०।९ आदि मन्त्र प्रमाण हैं ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

महाकाश का नाम महागर्त है, जिसमें स्थित सूर्य, इस सम्पूर्ण जगत् को देखता है, तथा जिसमें लीन हुआ सूर्य जगत् के द्वारा साक्षात् चक्षुओं से देखा जाता है ।

विश्व को बनाने वाले सनातन पुरुष विष्णु का नाम महागर्त है, क्योंकि प्रतिक्षण घूमता हुआ हुआ सूर्य, उसी में निलीन हुये के समान उदय तथा अस्तभाव को प्राप्त होता है । यहां सूर्य सब ग्रहों का उपलक्षण है ।

लोक में भी देखा जाता है, प्रत्येक प्राणी गर्भाशयरूप गर्त से उत्पन्न होता है, तथा भूगर्त या काष्ठ आदि से निर्मित चितारूप गर्त में लीन हो जाता है, अथवा किसी जलप्रवाहादिरूप गर्त में लीन होता है । समुद्र का नाम भी महागर्त है, क्योंकि सब नदियां समुद्र में ही निलीन होती हैं । इसी अभिप्राय की पुष्टि **"समुद्रस्येव महिमा गभीरः"** (ऋक् ७।३२।३८) इस वेदवचन से होती है ।

महाभूतः—८०५

भवतेरकर्मकात् कर्तरि क्तः "श्युकः किति:" (पा० ७।२।११) इति नेट्। क्त्वाद् गुणाभावः। भवतीति भूतः। महांश्चासौ भूतो महाभूतः। महतो महीयान् सत्स्वरूपश्चेत्यर्थः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"बण्महाँ असि सूर्य बडादित्यमहाँ असि।" यजुः ३३।३९॥

"घृतप्रतीक उर्विया व्यद्यौदग्निर्विश्वानि विद्वान्।
आ नो गहि सख्येभिः शिवेभिर्महान् महीभिरूतिभिः सरण्यन्।
अस्मे रयिं बहुलं सन्तरुत्रं सुवाचं भागं यशसं कृधी नः।"

ऋक् ३।१।१८, १९॥

इति दिग्दर्शनम्। यतो हि स विष्णुर्महाभूतः तस्मात् स पञ्चमहाभूतैर्विश्वं जनयन् सर्वत्र च स्वमहाभूतत्वं व्यापयन्निव सूर्यादीन् महतो ग्रहानपि जनयति।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्महाभूत इहास्ति गीतः स पञ्चभूतैः कुरुते महद्भिः।
जगन्महत्तच्च चराचरं यत् स्वयं महाभूतगुणेन लीनः॥६९॥

महाभूतः—८०५

भूत शब्द, भू इस सत्तार्थक अकर्मक घातु से कर्ता अर्थ में क्त प्रत्यय उगन्त होने से इट् का निषेध, तथा गुण का निषेध होने से सिद्ध होता हैं। जो महा=सब का आश्रय रूप, भूत=सत्स्वरूप है, उसका नाम महाभूत है, अर्थात् सर्वातिशायी सत्तावान् का महाभूत नाम है। इस अर्थ की पुष्टि **"बण्महां असि सूर्य"** (यजुः ३३।३९) **"घृतप्रतीक उर्विया"** तथा **"अस्मे रयिं बहुलम्०"** (ऋक् ३।१।१८–१९) इत्यादि मन्त्रों से होती है। यह दिग्दर्शन मात्र है। क्योंकि वह भगवान् विष्णु महाभूत होने से, पञ्चमहाभूतों के द्वारा विश्व की रचना करके, वहां अपने महाभूतत्वरूप गुण का व्यापन करता हुआ, सूर्य आदि महान् ग्रहों को भी उत्पन्न करता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम महाभूत है, क्योंकि वह पञ्च महाभूतों से इस महत् विश्व का निर्माण करके स्वयं इसमें अपने महाभूतरूप गुण से व्याप्त है।

महानिधिः—८०६

निरुपसर्गः, "डुधाञ् धारणपोषणयोः" इति धातुर्जौहोत्यादिकस्ततः **"उपसर्गे घोः किः"** (पा० ३।३।९२) सूत्रेण किः प्रत्ययः, आल्लोपश्च, निधीयतेऽस्मिन्निति निधिः। महान्तः सूर्यादयोऽपि ग्रहा यत्र पक्षिण इव निहिता इति महतां निधित्वात् स महानिधिरित्युक्तो भवति। स च विष्णुः स्वेन महानिधित्वरूपेण गुणेन सर्वं व्याप्नोति। लोकेऽपि च पश्यामः—प्रत्येकं किञ्चिन्निहितं भवति। यथा **"अग्निमीडे पुरोहितम्"** (ऋक् १।१।१) इत्यत्र मन्त्रे **"रत्नधातमम्"** इत्यग्नेर्विशेषणम्। **"समुद्रं धरुणं रयीणाम्"** (ऋक् १०।४७।२)

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"निधीनां त्वा निधिपतिँ हवामहे।" यजुः २३।१९॥

इति निदर्शनमात्रम्।

भवति चात्रास्माकम्—

महानिधिर्विष्णुरिहास्ति गीतस् तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।
यस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा महान् स लोके महतां निधित्वात् ॥७०॥



महानिधिः—८०६

नि उपसर्ग है, इससे युक्त धारण पोषणार्थक धा इस जुहोत्यादिगणीय धातु से कि प्रत्यय तथा आकार का लोप करने से निधि शब्द सिद्ध होता है। जिसमें कुछ रक्खा जाये, उसका नाम निधि है। जिसमें वड़े-वड़े सूर्य आदि ग्रह भी पक्षियों के समान रक्खे हुये हैं, अर्थात् महाकार सूर्य आदि ग्रहों का आधार होने से भगवान् का नाम महानिधि है। वह भगवान् विष्णु अपने महानिधित्वरूप गुण से सर्वत्र व्याप्त है। लोक में भी हम देखते हैं, प्रत्येक वस्तु किसी न किसी वस्तु का निधान अर्थात् आधार होता ही है, जैसा कि **"अग्निमीडे पुरोहितम्"** (ऋक् १।१।१) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध है, इस मन्त्र में **"रत्नधातमम्"** पद अग्नि का विशेषण है, अर्थात् वह रत्नों का धारण करने वाला आधार रूप है तथा इसी अर्थ को **"समुद्रं धरुणं रयीणाम्"** (ऋक् १०।४७।२) मन्त्र पुष्ट करता है। इस नाम का समर्थक **"निधीनां त्वा निधिपतिँ हवामहे"** (यजुः २३।१९) इत्यादि मन्त्र है।

इस भाव को भाष्यकार इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम महानिधि इसलिये है कि उसमें वड़े-वड़े सूर्य आदि ग्रहों सहित यह समस्त चतुर्दश भुवनात्मक विश्व स्थित है तथा जिसमें ये सब भुवन स्थित हैं, वह ही वड़े-वड़े का आधार होने से महानिधि है।

कुमुदः कुन्दरः कुन्दः पर्जन्यः पावनोऽनिलः ।
अमृताशोऽमृतवपुः सर्वज्ञः सर्वतोमुखः ॥ १०० ॥

८०७ कुमुदः, ८०८ कुन्दरः, ८०९ कुन्दः, ८१० पर्जन्यः, ८११ पावनः, ८१२ अनिलः । ८१३ अमृताशः, ८१४ अमृतवपुः, ८१५ सर्वज्ञः, ८१६ सर्वतोमुखः ॥

कुमुदः—८०७

"कै शब्दे" भौवादिको धातुस्ततः "कुभ्रश्च" (उ० १।२२) इत्युणादिसूत्रे चकारग्रहणाद् वाहुलकाद् वाऽन्यतोऽपि धातोः कुः प्रत्ययः। तस्मिश्च "आदेच उपदेशेऽशिति" (पा० ६।१।४५) सूत्रेणात्वं, कोः कित्त्वात्तस्य लोपः कुरिति, कायतीति ।

मुदः—"मुद हर्षे" इति धातोरिगुपधलक्षणोः (द्र० पा० ३।१।१३५) मूलविभुजादि लक्षणो (द्र० पा० ३।३।५) वा कः प्रत्ययः, मोदत इति मुदः। कौ=शब्दाश्रये खे मोदत इति कुमुदः सूर्यः। यद्वा—अन्तर्भावितण्यर्थग्रहणेन कौ—शब्दवत्याकाशे मोदयतीति कुमुदो विष्णुः । कमलस्यापि नाम कुमुद इति, यतो हि तत् सूर्योदये विकसति, सूर्येऽस्तमिते च सङ्कुचति ।

कानिचिच्च पुष्पाणि केवलं रात्रिविकाशीनि, चन्द्रोदयास्ताभ्यां तेषां विकाशसङ्कोचौ, तान्यपि पृथिवीमोदीनि कुमुदान्युच्यन्ते । तथाविधानि पुष्पाणि पर्वतेषु भ्रमद्भिरस्माभिर्दृष्टानि । मन्त्रलिङ्गञ्च—

कुमुदः—८०७

कु शब्द, शब्दार्थक भ्वादिगणपठित कै धातु से "कुभ्रश्च" इस उणादि (१।२२) सूत्र में चकार ग्रहण करने अथवा बाहुलक से कु प्रत्यय और ऐ के स्थान में हुये आत्व का कित् निमित्तक लोप करने से सिद्ध होता है, जो शब्द करता है अर्थात् शब्द का आश्रय है, उसका नाम कु है ।

मुद शब्द, मुद इस हर्षार्थक धातु से, इगुपधलक्षण अथवा मूलविभुजादि लक्षण क प्रत्यय करने से सिद्ध होता है, जो मुदित=हृष्ट होता है, उसका नाम मुद है । कुनाम शब्दाश्रय रूप आकाश में जो मुदित होता है, उसका नाम कुमुद है, यह सूर्य का नाम है। अथवा मुद धातु को अन्तर्णीतण्यर्थ मानने से कौ अर्थात् शब्दवान् आकाश में जो मुदित करता है, उसका नाम कुमुद है । कमल का नाम भी कुमुद है, क्योंकि वह सूर्योदय में विकसित होता है अर्थात् खिल जाता है, और सूर्य के अस्त होने पर सङ्कुचित हो जाता है । कुछ पुष्प केवल रात्रि में ही विकसित होते हैं, उनका विकास या सङ्कोच, चन्द्रमा के उदय तथा अस्त से होता है । ऐसे पुष्पों को हमने पर्वतीय स्थानों में भ्रमण करते हुये स्वयं देखा है, वे पृथिवी में मुदित होते हैं, इसलिये कुमुद नाम से कहे जाते हैं । इस नामार्थ की पुष्टि

"याभिः सोमो मोदते हर्षते च कल्याणीभिर्युवतीभिर्न मर्यः ।
ता अध्वर्यो अपो अच्छा परेहि यदासिञ्चा ओषधीभिः पुनीतात् ।
ऋक् १०।३०।५ ।।

सोममधिकृत्य सोमनामव्याख्याने (संख्या ५०५) विशदं व्याख्यातं, सोमः सूर्यः सोमश्चन्द्रोऽपि । लोकेऽपि पश्यामः—मनुष्यो गायन् यन्त्रेण वा शब्दं कुर्वन् भृशं मोदते, तथा वामाभिः साकं नृत्यन् गायंश्च मोदते । मनुष्यवच्च देवताभिधानम् । एष हि कुमुदत्वरूपो भगवतो गुणः सर्वत्र लोके व्याप्तः । कुमुदो विष्णुः सूर्यः सोमश्च ।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्हि लोके कुमुदः प्रसिद्धः सोमोऽथवा सूर्य उतापि मर्त्यः ।
शब्दायमानो मुदमेति यस्मात् तस्मात्तडिच्छब्दमुपैति चाभ्रे ।।७१।।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् । तथा
तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।" यजुः ४०।४ ।।

तस्मिन्निति ब्रह्मणि, खसंज्ञक आकाशे वा । विष्टारियज्ञवर्णने च—

"याभिः सोमो मोदते हर्षते च०" (ऋक् १०।३०।५) इत्यादि मन्त्र से होती है । सोम के विषय में **सोम** (संख्या ५०५) नाम के व्याख्यान में विशेष वर्णन किया गया है सोम नाम सूर्य और चन्द्र दोनों का है ।

लोक में भी हम देखते हैं, मनुष्य गान या किसी यन्त्र आदि से शब्द करता हुआ अत्यन्त प्रसन्न होता है, इसी प्रकार वामा=स्त्री आदि के साथ में नृत्य तथा गान करता हुआ भी प्रसन्न होता है । मनुष्यों के समान ही देवताओं का व्यवहार है । यह भगवान् का कुमुदत्वरूप गुण लोक में सर्वत्र व्याप्त है । कुमुद नाम इस प्रकार से विष्णु सूर्य तथा चन्द्रमा का होता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

कुमुद नाम भगवान् विष्णु, सूर्य तथा चन्द्रमा का है । मनुष्य भी शब्द करता हुआ मुदित होता है. इसलिये मनुष्य का नाम भी कुमुद है, शब्द के आनन्द का कारण होने से ही सूर्य मेघ का अभिघात करके उसमें विद्युत् के शब्द को उत्पन्न करता हुआ मुदित होता है । इस अर्थ की पुष्टि **"तद्धावतोऽन्यानत्येति०"** (यजुः ४०।४) इत्यादि यजुर्वेद के मन्त्र

"एष यज्ञानां विवतो वहिष्ठो विष्टारिणं पक्त्वा दिवमाविवेश।
आण्डीकं कुमुदं संतनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली।
गतास्त्वाधाराः……।" अथर्व ४।३४।५ ॥

कुमुदवद् वर्णनमत्र।

कुन्दरः—८०८

कुन्दः—"कमु कान्तौ" इति भौवादिकाद्धातोः—"**अब्दादयश्च**" (उ० ४।९८) इत्युणादिसूत्रेण दः प्रत्ययो धातोरूपधाया उत्वञ्च निपात्यते, काम्यत इति कुन्दः कमनीयः। तदुपपदाद् "रा दाने" धातोः—"**आतोऽनुपसर्गे कः**" (पा० ३।२।३) सूत्रेण कः प्रत्ययस्तस्मिंश्च परत आल्लोपः। कुन्दं=कमनीयं वाञ्छितं ददातीति कुन्दरः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्।"
ऋक् १०।१२१।१०; अथर्व ७।८०।३; यजुः १०।२०; २३।६५ ॥

तथा—

"अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं करोमि तं ब्राह्मणं तमृषिं तं सुमेधाम्।"
ऋक् १०।१२५।५ ॥

से होती है। इस मन्त्र से "**तस्मिन्**" इस सप्तम्यन्त पद से ब्रह्म या ख संज्ञक आकाश का ग्रहण है। विष्टारियज्ञ के वर्णन में भी "**एष यज्ञानां विवतो वहिष्ठो०**" (अथर्व ४।३४।५) इत्यादि मन्त्र में कुमुम के समान वर्णन है।

कुन्दरः—८०८

कुन्द शब्द कान्ति=इच्छार्थक कमु धातु से "अब्दादयश्च" इस उणादि (४।९८) सूत्र प्रत्यय और धातु की उपधा को उत्व करने से सिद्ध होता है, जिसकी कामना की जाये अर्थात् जिसको प्राप्त करने की इच्छा की जाये उसका नाम कुन्द है। यह कमनीय=सुन्दर का नाम है। कुन्द शब्द के उपपद रहनेपर दानार्थक रा धातु से क प्रत्यय और उसके परे रहने से आकार का लोप करने से कुन्दर शब्द सिद्ध होता है। जो कुन्द (वाञ्छित) को देवे उसका नाम कुन्दर है। इसमें "**प्रजापते नत्वदेतान्यन्यो०**" (ऋक् १०।१२१।१०; अथर्व ७।८०।३; यजु० १०।२०; २३।६५) "**अहमेव स्वयमिद-**

"अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ।"
१०।१२५।२ ।। इत्यादि ।

भवति चात्रास्माकम्—

स कुन्दरो विष्णुरहं ब्रुवाणो दधाति कुन्दं पुरुरूपरत्नम् ।
स सर्वकस्मै च ददाति तत्तद् यद्यच्च यस्यास्त्यभिवाञ्छनीयम् ।।७३।।

लोकेऽपि पश्यामः—बहुवस्तुधरो वैपणिको ग्राहकस्य वाञ्छितं वस्तु ददाति, तथैव कुन्दरो विष्णुर्व्याप्नोति स्वधर्मेण लोकमिति । यद्वा—कुं= पृथिवी दारयतीति कुन्दरः । कुरिति भूवाचकः शब्दः पृषोदरादिलक्षणो नकारो मकारो वा वर्णोपजनस्तस्य चानुस्वारपरसवर्णौ । यद्वा कुमिति मान्तं पापार्थकमव्ययं कुं=पापं दृणाति स्वसेविनामिति कुन्दरः । तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"अग्ने नय सुपथा......युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः ।" यजुः ४०।१६ ।।

भवति चात्रास्माकम्—

स कुन्दरो नाम विदार्य भूमिं स आत्मशक्त्या कुरुते समुद्रम् ।
स एव बुद्धिं जरितुर्विशोध्य सुमेधसं तं कुरुते ह विष्णुः ।।७२।।

वदामि" (ऋक् १०।१२५।५) तथा "अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहम्०" (ऋक् १०।१२५।२) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

भगवान् विष्णु का नाम कुन्दर है, क्योंकि वह "अहं" शब्द का उच्चारण करता हुआ, बहुत प्रकार के रत्नों को धारण करता है, तथा जिसको जिस वस्तु-रत्न की इच्छा होती है, वह उसे देता है । हम लोक में भी देखते हैं, यद्यपि दुकानदार के पास बहुत सी वस्तुएं होती हैं, तथापि ग्राहक को वह उसे ही देता है जो ग्राहक की वाञ्छित होती है । इसी कुन्दरत्वरूप गुण से भगवान् लोक में सर्वत्र व्याप्त है । अथवा कु नाम पृथिवी का जो विदारण करे उसका नाम कुन्दर है । कु यह भूवाचक शब्द है, इसको पृषोदरादिलक्षण नकार या मकार का वर्णोपजन होकर उसको अनुसार और परसवर्ण हो जाते हैं । अथवा कुम् यह पापार्थक अव्यय है, कुम्=पाप का जो विदारण करे, अपनी सेवा करने वालों का, उसका नाम कुन्दर है । इस अर्थ की पुष्टि "अग्ने नय सुपथा......" (यजुः ४०।१६) इत्यादि मन्त्र से होती है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य से इस प्रकार प्रकट करता है—

भगवान् विष्णु का नाम कुन्दर इसलिये है कि वह पृथिवी का विदारण करके समुद्र को बनाता है, तथा अपने भक्त की बुद्धि को पापों के विदारण द्वारा शुद्ध करके उसको सुमेधा बना देता है ।

कुन्दः—८०६

कुमिति पापार्थकमव्ययं पूर्वमुक्तं, तद् द्यति=खण्डयतीति कुन्दः। यद्वा कुम्=पापं दायति=शोधयतीति कुन्दः। दो अवखण्डने, दैप् शोधन एताभ्यां—आत्वे, क प्रत्यये, आल्लोपे च सिद्धः कुन्दशब्दः।

यद्वा कुं=पृथिवीं दायति=शोधयति कुन्दः। इह पृषोदरादित्वाद् मकारवर्णागमस्तस्य चानुस्वारपरसवर्णौ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"प्र ते धारा अत्यण्वानि मेष्यः पुनानस्य संयतो यन्ति रंहयः।"

ऋक् ९।८६।४७॥

यद्वा—

"स्वायुधः पवते देव इन्दुरशस्तिहा वृजनं रक्षमाणः।" ऋक् ९।८७।२॥
"महावीरं तुविबाधमृजीषम्।" ऋक् १।३२।६॥

ऋजीषं=शुद्धं—अग्नि—सूर्यं वा। कुं=पृथिवीं वर्षणेन शोधयति कुन्दः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः।"

ऋक् १।३२।२॥

इति दिग्दर्शनम्।

कुन्दः—८०६

कुम् यह पापार्थक अव्यय है यह पहले बताया गया है, इसका जो दान=छेदन करता है, उसका नाम कुन्द है। अथवा कुम्=पाप का जो शोधन करे उसका नाम कुन्द है। अथवा कु नाम पृथिवी का जो कुन्द के समान शोधन करता है, उसका नाम कुन्द है। यहां पृषोदरादिलक्षण मकार वर्णोपजन, तथा उसका अनुस्वार-परसवर्ण हो जाते हैं। इसमें "प्र ते धारा अत्यण्वानि मेष्यः" (ऋक् ८।८६।४७) "स्वायुधः पवते देव०" (ऋक् ९।८७।२) तथा "महावीरं तुविबाधमृजीषम्" (ऋक् १।३२।६) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं, मन्त्र में ऋजीष, इस शुद्धार्थक पद से अग्नि अथवा सूर्य का ग्रहण है, क्योंकि वह पृथिवी को वर्षा से शुद्ध करता है, इसलिये उसका नाम कुन्द है। जैसा कि "अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणम्" (ऋक् १।३२।२) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध है। यह दिग्दर्शनमात्र किया है।

भवति चात्रास्माकम्—

कुन्दो ह विष्णुः सविता ऋजीषः स कोर्विशुद्धयै कुरुते च वृष्टिम् ।
स्तोतुश्च हृत्स्थं हरते स पापं तमेव कुन्दं प्रणमन्ति [1]कुन्दम् ॥७३॥

१—रमणीयम् । रमणीयस्य दातारं वा ।

कुं=पृथिवीं द्यति=खण्डयति कुन्दः । इह मन्त्रलिङ्गम्—

"वना व्यस्थादग्निर्हं दाति रोमा पृथिव्याः ।" ऋक् १।६५।८ ॥

पर्जन्यः—८१०

पर्जन्य शब्दः पृषु सेचने धातोः "पर्जन्यः" (उणादि ३।१०३) इत्युणादि-सूत्रेण निपात्यते "अन्यः" प्रत्ययः, षकारस्य जकारश्च निपातनाद् भवति । पर्षति=सिञ्चतीति पञ्चपाद्युणादिवृत्तौ स्वामिदयानन्दः ।

यद्वा—परिपूर्वस्य वृषु सेचने धातोरिदं रूपं तथा च अन्यप्रत्ययो, धातोः षकारस्य जकारादेशः परेरिकारस्य धातोर्वृभागस्य लोपश्च निपात्यते वर्षति=सिञ्चतीति पर्जन्यः । परिपूर्वस्य गर्ज शब्दे धातोर्वा अन्यप्रत्ययो गकाररेफो-पसर्गान्त्यलोपश्च निपात्यते, परिगर्जतीति पर्जन्यः इति दशपाद्युणादिवृत्तौ ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम कुन्द इसलिये है कि वह अपने सेवकों के पापों का शोधन करता है, तथा सूर्य का कुन्द नाम इसलिये है कि वह वृष्टि के द्वारा पृथिवी का शोधन करता है । स्तोताओं के अन्तःकरणस्थ पाप का शोधक होने से विद्वान् पुरुष भगवान् की कुन्द नाम से स्तुति तथा उसे प्रणाम करते हैं । एक कुन्द नाम रमणीय का है । दूसरा कुन्द नाम पृथिवी के दारण करने वाले का है, इसमें यह मन्त्र प्रमाण है, **"वना व्यस्थादग्निर्हं दाति रोमाणि पृथिव्याः"** (ऋक् १।६५।८) इत्यादि ।

पर्जन्यः—८१०

पर्जन्य शब्द की सिद्धि, पञ्चपाद्युणादि वृत्ति में स्वामी दयानन्द ने "पर्जन्यः" (उ० ३।१०३) इस सूत्र से अन्य प्रत्यय और षकार को जकार का निपातन करके सेचनार्थक पृषु धातु से की है । जो सींचता है, उसका नाम पर्जन्य है । अथवा पर्जन्य शब्द, परि-पूर्वक सेचनार्थक वृषु धातु से अन्य प्रत्यय, धातु के षकार को जकार आदेश, तथा परि उपसर्ग के इकार और धातु के 'वृ' लोप का निपातन करने से बनता है । जो वर्षता है अर्थात् सिञ्चन करता है, उसका नाम पर्जन्य है । अथवा परिपूर्वक शब्दार्थक गर्ज धातु से अन्य प्रत्यय, तथा गकार रेफ और उपसर्ग के अन्त्य इकार के लोप के निपातन से पर्जन्य शब्द बनता है, यह सिद्धि प्रकिया दशपाद्युणादि वृत्ति की है । जो गर्जता है, उसका नाम पर्जन्य है ।

यद्वा—अर्जतेः पुडागमोऽन्यः प्रत्ययश्च निपात्यते इति श्वेतवनवासी। यद्वा—पृणातेरन्यप्रत्ययस्य जुडागम इति नारायणः, पृणातीति पर्जन्यः। यद्वा—तृपेरन्यप्रत्ययान्तस्याद्यन्तविपर्ययेणेदं रूपं तकारलोपेन च इति निरुक्तसमुच्चयकारः। अस्माभिरयं पर्जन्यशब्दनिर्वचनप्रपञ्चो विदुषां प्रीतये संगृहीतः। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"दिवा चित् तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन।
यत् पृथिवीं व्युन्दन्ति।" ऋक् १।३८।९॥
"मिमीहि श्लोकमास्ये पर्जन्य इव ततनः।
गाय गायत्रमुक्थ्यम्।" ऋक् १।३८।१४॥
"शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः।" ऋक् ४।५७।८॥
"वाचं सु मित्रावरुणाविरावतीं पर्जन्यश्चित्रां वदति त्विषीमतीम्।
अभ्रा वसत मरुतः सु मायया द्यां वर्षयतमरुणामरेपसम्।"
ऋक् ५।६३।६॥
"पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः।" ऋक् ५।८३।२॥
"यस्य व्रते पृथिवी नन्नमीति यस्य व्रते शफवज्जर्भुरीति।
यस्य व्रत ओषधीर्विश्वरूपाः स नः पर्जन्य महि शर्म यच्छ।"
ऋक् ५।८३।५॥

पर्जन्यमूलं सूर्यमधिकृत्यस्तुतिः—

"यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुस्तिस्रो द्यावस्त्रेधा सस्रुरापः।
त्रयः कोशास उप सेनासो मध्यश्चोतन्त्यभितो विरप्शम्।"
ऋक ७।१०१।४॥

अथवा अर्ज इस अर्जनार्थक धातु से अन्य प्रत्यय, धातु को पुट् का आगम करने से पर्जन्य शब्द सिद्ध होता है, यह श्वेतवनवासी का मत है। अथवा पालन तथा पूरणार्थक पॄ इस क्र्यादिगणीय धातु से अन्य प्रत्यय, और प्रत्यय को जुट् के आगम का निपातन करने से पर्जन्य शब्द होता है, जो पालन या पूर्ण करता है, उसका नाम पर्जन्य है यह पं० नारायण का मत है। अथवा प्रीणनार्थक तृप धातु से अन्य प्रत्यय, आद्यन्त वर्णविपर्यय तथा तकार को जकार आदेश करने से पर्जन्य शब्द सिद्ध होता है, यह निरुक्तसमुच्चयकार का मत है, जो प्रीणन अर्थात् तृप्त करता है, उसका नाम पर्जन्य है। हमने प्रक्रिया तथा धातु भेद से पर्जन्य का बहुधा निर्वचन विद्वानों की प्रसन्नता के लिये किया है। यह नाम **"दिवा चित् तमः कृण्वन्ति"** (ऋक् १।३८।९) **"मिमीहि श्लोकमास्ये"** (ऋक् १।३८।१४) **वाचं सु मित्रावरुणाविरावतीम्०"** (ऋक् ५।६३।६) **"पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः"** (ऋक् ५।८३।२) **"यस्य व्रते पृथिवी नंनमीति"** (ऋक् ५।८३।५) इत्यादि मन्त्रों से प्रमाणित है।

पर्जन्य शब्द से सूर्य की भी स्तुति की जाती है, जैसा कि **"यस्मिन् विश्वानि०"**

"इदं वचः पर्जन्याय स्वराजे हृदो अस्त्वन्तरं तज्जुजोषत् ।"
ऋक् ७।१०१।५ ।।

इति निदर्शनम् । यश्चैतस्य पर्जन्यस्य व्यवस्थाता स पर्जन्यः । अथवोपपर्युक्तधात्वर्थानुगमाद् विष्णुरेव पर्जन्यः, पर्जन्यव्याप्तिमन्तश्चान्ये । यच्चोक्तं= **"इदं वचः पर्जन्याय स्वराजे"** इत्यत्र स्वराज्-शब्देन सूर्यः लक्ष्यते स्वेन=आत्मना राजत इति स्वराट् विष्णुर्वा स्वराट् । लोकेऽपि यथेन्द्रः सूर्यो वा भूमिं सिञ्चति तथाऽयं सशरीरो नृजीवो मेढ्रयुतेन रेतसा स्त्रीभूतां भूमिं सिञ्चति, यतो जायते सन्ततिः । स्थावरेऽपीयं प्रक्रिया यथा हलस्य भूमे विलेखनम् । येयं समाना प्रक्रिया स्थावरे जङ्गमे च । एवं पर्जन्याख्यस्य विष्णोः सर्वत्र व्यापकता दृश्यते, तस्मात् पर्जन्यो विष्णु, विष्णुर्वा पर्जन्यः । पर्जन्यशब्दार्थबहुलतां व्यञ्जयितुं यथाबुद्धि धातुभेदमुपादाय लोपादेशागमांश्च विधाय पर्जन्यशब्दो व्युत्पादितः।

भवति चात्रास्माकम्—

पर्जन्यरूपो भगवान् ह विष्णुः पर्जन्यरूपो भगवान् ह सूर्यः ।
पर्जन्यरूपो दकवाहको वा पर्जन्यनाम्ना स्तुतिमेति सर्वम् ।।७४।।

(ऋक् ६।१०१।४) तथा "इदं वचः पर्जन्याय०" (ऋक् ७।१०१।५) इत्यादि मन्त्रों से सिद्ध है । यह उदाहरणमात्र है । जो इस विवृत पर्जन्य का व्यवस्थापक है, उसका नाम भी पर्जन्य है, अथवा उपर्युक्त धात्वर्थों का भगवान् विष्णु में समन्वय होने से, भगवान् विष्णु का नाम ही पर्जन्य है, और सब सूर्य आदि में भगवान् पर्जन्य नामक विष्णु व्याप्त है । ऊपर मन्त्र में कहे हुये स्वराट् शब्द से, जो अपने आप से प्रकाशमान है, इस अर्थ के बल से सूर्य या विष्णु का ग्रहण है । लोक में भी वृष्टि से भूमि का सिञ्चन करनेवाले इन्द्र या सूर्य का अनुकरण करता हुआ मनुष्य, अपने मेढ़ (गुप्तेन्द्रिय) से निर्गत वीर्यरूप जल से स्त्रीरूप भूमि का सिञ्चन करके सन्तान को उत्पन्न करता है । स्थावरवर्ग में भी, यह ही परम्परा देखने में आती है जैसे हल के द्वारा पृथिवी का कर्षण सिञ्चन समान है । इस प्रकार से स्थावर और जङ्गम वर्ग में विद्यमान इस समान परिपाटी से भगवान् की सार्वत्रिक व्याप्ति की प्रतीति होती है । इसलिये विष्णु ही पर्जन्य है, तथा पर्जन्य ही विष्णु है । पर्जन्य शब्द की विविधार्थवत्ता को बोधित करने के लिये विविध धातुओं से विविध लोप आगम आदेश आदि करके पर्जन्य शब्द का व्युत्पादन किया है ।

इस भाव को भाष्यकार संक्षेप से अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु, सूर्य, मेघ, तथा और सब स्थावर जङ्गम रूप वर्ग भी, सिञ्चन क्रिया का कर्ता होने से इस पर्जन्य नाम से कहा जाता है । तथा यहां पद्योक्त सर्व शब्द

मित्रावरुणौ—अग्नि—वायु—स्तनयित्नु—आपः—इत्यादीनामन्तर्भावाय सर्वमिति पदमुपात्तम् ।

पावनः—८११

"पूञ् पवने" क्र्यादिको धातुर्गतिकर्मेहायम् । वस्तुपवनकर्मणि हस्त-चालनदर्शनात् । तेन **"चलनशब्दार्थादकर्मकाद्युच्"** इति (पा० ३।१।१४८) सूत्रेण युच् प्रत्ययः, ल्युः, ल्युड् वा, यद्वा **"बहुलमन्यत्रापि"** (उ० २।७८) इत्युणादिविधानेन युच्, सर्वत्र, योरनादेशः, गुणः । पुनातीति पवनः, यः पवनः स एव पावनः । अत्यन्तस्वार्थिकोऽण् पा० ५।४।३८ । **"यस्येति च"** (पा० ५।४।१४८) इत्यकारलोपः । मन्त्रलिङ्गञ्च—

"पुनाति धीरो भुवनानि मायया ।" ऋक् १।१६०।३ ।।

लोके चापि पश्यामः—वायुः पुनाति शोषणेन प्रवहेण वा, अग्निः पुनाति दहनेन—आपः पुनन्ति प्रवहणेन, पृथिवी पुनाति चषणेन । चषणं=भक्षणम् । 'चष भक्षणे' इति भौवादिको धातुः । एवं भगवतः पावनस्य पावनत्वरूपो गुणः सर्वत्र व्याप्तो दृश्यते । तस्मात् पावनो विष्णुरित्युक्तो भवति । मन्त्रोक्तो 'धीर' शब्दः सूर्यवाचकः ।

से मित्रावरुण, अग्नि, वायु, स्तनयित्नु, आप=जल आदिकों का भी ग्रहण होता है, अर्थात् इन सब का नाम भी पर्जन्य है ।

पावनः—८११

पवित्र करने अर्थ में विद्यमान पूञ् इस क्र्यादिक धातु से युच्, ल्यु अथवा ल्युट् प्रत्यय करने से पवन शब्द सिद्ध होता है । यहां पूञ् धातु का गति अर्थ लिया है, क्योंकि पवित्र करने में हस्त आदि की गति देखने में आती है, इसलिये युच् प्रत्यय हो जाता है । अथवा **"बहुलमन्यत्रापि"** (उ० २।७८) इस उणादि नियम से युच् प्रत्यय हो जाता है । यु को अन् आदेश तथा गुण होने से पवन बनता है । पवन ही स्वार्थ में अण् प्रत्यय होने से पावन शब्द बनजाता है । जो पवित्र अर्थात् शोधन करता है, उसका नाम पावन है । इसी अर्थ को **"पुनाति धीरो भुवनानि मायया"** (ऋक् १।१६०।३) इत्यादि मन्त्र पुष्ट करता है ।

लोक में भी हम देखते हैं, वायु प्रत्येक वस्तु को उसका शोषण करके पवित्र करता है, अग्नि प्रत्येक वस्तु का दाह करके उसे पवित्र करता है, जल अपने प्रवाह से, तथा पृथिवी प्रत्येक वस्तु के चषण अर्थात् भक्षण से पवित्र करती है । भ्वादिगणीय चष धातु का भक्षण अर्थ है । इस प्रकार भगवान् पावन नामक विष्णु का पावनत्वरूप गुण सर्वत्र व्याप्त देखने में आता है, इसलिये भगवान् विष्णु का नाम पावन है । मन्त्र में स्थित 'धीर' पद सूर्य का वाचकः है ।

भवति चात्रास्माकम्—

स पावनो विष्णुरमर्त्यकर्मा पुनाति विश्वं विविधप्रभेदैः ।
स एव सूर्ये स हि वास्ति वायौ जले स्थले वा पविता स एव ॥७८॥

अनिलः—८१२

"इल स्वप्नक्षेपणयोः" इति तौदादिको धातुः, "इल प्रेरणे" इति च चौरादिकः । "क्षिप क्षेपणे" धातोर्निष्पन्नः क्षेपणशब्दोऽपि प्रेरणार्थकः । बहुलमेतन्निदर्शनमिति चुरादिगणसूत्रनिर्देशाद्—अनित्यण्यन्ताश्चुरादय इति स्वीकृतम् । उभयत्रापि—इगुपधलक्षणः (पा० ३।१।१३५) कः, इलः प्रेरकः । नास्तीलः प्रेरको यस्य सोऽनिलः । नञ्पूर्वपदो बहुव्रीहिः । अनिलो वायुरप्येतस्मादेव स हि स्वयं स्वस्यैलक इत्यतः । यो हि सर्वस्यैलः=प्रेरको न च तस्य कश्चित् प्रेरयितेत्यतः स विष्णुरनिलः ।

लोकेऽपि च पश्यामः—सूर्यादयो ग्रहाः स्वयमुदयन्ते, स्वस्थः प्राणी च स्वयमुत्तिष्ठति । अग्निः स्वयमुत्तिष्ठति । जीवात्मा चापि मृत्युकाले शरीरात् स्वयमुत्तिष्ठति । एवं विष्णोरनिलत्वरूपो गुणः सर्वत्र जगति व्याप्तः । तस्मादनिलो विष्णुः ।

इस भाव को भाष्यकार इस प्रकार व्यक्त करता है—

अलौकिक कर्मा भगवान् विष्णु का नाम पावन है, क्योंकि वह विभिन्न प्रकारों से विश्व को पवित्र करता है, वह पविता भगवान् विष्णु ही, सूर्य वायु तथा जल-स्थल आदि में सर्वत्र विद्यमान है ।

अनिलः—८१२

स्वप्न तथा क्षेपप=प्रेरणार्थक इल धातु तुदादिगणदठित है, प्रेरणार्थक इल धातु चुरादिगण पठित है । क्षिप् इस क्षेपणार्थक धातु से बने क्षेपण शब्द का भी प्रेरण अर्थ है । चौरादिक धातुओं से णिच् प्रत्यय होता है, तथा वह अनित्य है, अर्थात् पक्ष में नहीं भी होता, यह सङ्केत **"बहुलमेतन्निदर्शनम्"** इस चुरादि गण के सूत्र से मिलता है । दोनों ही धातुओं से इगुपधलक्षण क प्रत्यय करने से इल शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है प्रेरणादेनेवाला । इल शब्द का नञ्पूर्वपद बहुव्रीहि समास करने से 'नहीं है कोई अन्य प्रेरक जिसका' ऐसा अर्थ होता है, तथा वह अनिल होता है । अनिल नाम वायु का भी इसीलिये है क्योंकि वह अपना प्रेरक आप ही है । जो सब का प्रेरक तथा जिसका प्रेरक कोई नहीं है, ऐसे विष्णु का नाम अनिल है । लोक में भी हम देखते हैं, सूर्य आदि ग्रह स्वयं उदित होते हैं, स्वस्थ प्राणी स्वयं उठता है, आग की ज्वाला स्वयं ऊपर को उठती है, जीवात्मा भी मरण समय में शरीर से स्वयं उठ जाता है । इस प्रकार भगवान् विष्णु का अनिलत्व रूप गुण सर्वत्र जगत् में व्याप्त है, इसलिये भगवान् का नाम अनिल है ।

भवति चात्रास्माकम्—

इलो न यस्यास्त्यनिलः स्वयं स[1] स वास्ति सर्वेलकविश्वविष्टः ।
स्वयं समग्रं कुरुतेऽनिलं वो[2] दिनाधिपो वैलयते समग्रम् ।।७८।।

१—सः=विष्णुः ।   २—वः=विष्णुः ।

'सवः' (संख्या ७२७) नामप्रसङ्गे 'सः 'वः' इत्येवं विच्छिद्य व्याख्यातम् ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्य सखा ।"
ऋक् १।२२।१९; अथर्व ७।२६।६; यजुः ६।४; १३।३३ ।।

"विष्णोर्नु कं वीर्याणि ।" ऋक् १।१५४।१ ।।

"विष्णुं स्तोमासः पुरुदस्मम् ।" ऋक् ३।५४।१४ ।।

इति निदर्शनम् ।

अमृताशः—८१३

मृत शब्दो "मृङ् प्राणत्यागे" धातोः **"तनिमृङ्भ्यां किच्च"** (उ० ३।८८) इत्युणादिसूत्रेण किद्वद्भावभाविते तनि प्रत्यये सिध्यति ।

मृत इति मृत्युवाचकः शब्दः । न विद्यते मृत्युर्यस्मादित्यमृतं तदश्नात्याशयति वा "अमृताशः" । आशशब्दश्च—"अश भोजने" धातोर्णिचि, तदन्तात् पचाद्यचि च सिध्यति । अमृतस्याशोऽमृताशः । अमृतं=जलं, घृतञ्चापि,

---

भाष्यकार इस भाव कों अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम अनिल इसलिये है कि उसका कोई दूसरा प्रेरक नहीं है, तथा वह सब को प्रेरित करता हुआ इस समग्र विश्व में व्यापकरूप से स्थित है । यद्वा सब को प्रेरणा देने वाले सूर्य का नाम अनिल है । भगवान् सब को अपने गुण से युक्त करके अनिलरूप ही बनाता है ।

इस में **"विष्णोः कर्माणि०"** (ऋक् १।२२।१९।। अथर्व ७।२६।६।। यजुः ६।४; १३।३३) **"विष्णोर्नु कं वीर्याणि०"** (ऋक् १।१५८।१) तथा **"विष्णुंस्तोमासः पुरुदस्मम्"** (ऋक् ३।५४।१४) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं ।

अमृताशः—८१३

मृत शब्द, प्राणत्यागार्थक मृ धातु से औणादिक कित्, तन् प्रत्यय करने से बनता है । मृत नाम मृत्यु का है । जिस से मृत्यु नहीं होती उसका नाम अमृत है, उस को जो खाता है या खिलाता है, उसका नाम अमृताश है । आश शब्द भोजनार्थक अश धातु से हेतुमत् णिच् प्रत्यय और णिजन्त से पचादि अच् तथा णि का लोप करने से बनता है । अमृत खानेवाले का नाम अमृताश है । यह सूर्य अग्नि का नाम है, क्यों कि वह

तदश्नातीति कृत्वा अमृताशः सूर्योऽग्निश्च। यद्वा प्रवाहतो नित्यस्थायीदं चतुर्विधभेदविभक्तं यथातदर्हजीवनसाधनान्याशयति=भोजयतीति अमृताशो विष्णुः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि।

वरुणानी माता यमः पिता ररुर्नामासि।" अथर्व ४।४६।१॥

आशो हि गृहीतो भवत्यतो भवत्यमृतगर्भेण समानः। तथा च—

"स्तोता वो अमृतः स्यात्।" ऋक् १।३८।४॥

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।" यजुः ४०।१४॥

इति निदर्शनमात्रम्।

भवति चात्रास्माकम्—

स वामृताशो भगवान् वरेण्यः सूर्योऽमृताशो जलमापिपासुः।

अग्निर्घृताशः पवनो[1] घृताशः तथामृताशीह जगच्च सर्वम्॥७६॥

१—घृतं जलं। तच्च पवनोऽश्नाति।

अमृतवपुः—८१४

अमृतशब्दो व्युत्पादितोऽमृताश (संख्या ८१३) नामव्याख्याने। वपुः शब्दश्चापि **"अनिर्देश्यवपु"** (संख्या ६५६) नामव्याख्याने व्याख्यातः।

अमृतरूप जल वा घृत को खाता है। अथवा प्रवाह से नित्य इस जगत् को, जो कि चतुर्विध भेद से विभक्त है, इसके जीवनोपयोगी साधनों का भक्षण करवाता है, अर्थात् प्रदान करता है, उसका नाम अमृताश है। यह भगवान् विष्णु का नाम है।

इस अर्थ की पुष्टि **"यो न जीवोऽसि न मृतो०"** (अथर्व ६।४।१)। आश=भक्षण किया हुआ पदार्थ गृहीत होता है, अतः अमृतगर्भ के समान अर्थ वाला है। **"स्तोता वो अमृतः स्यात्"** (ऋक् १।३८।४) तथा **"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा"** (यजुः ४०।१४) इत्यादि मन्त्रों से होती है। यह उदाहरण मात्र दिखलाया है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

सर्वश्रेष्ठ भगवान् विष्णु का नाम अमृताश है, जल का अशन अर्थात् ग्रहण करने वाले सूर्य का नाम अमृताश है, तथा घृतरूप अमृत को ग्रहण करने वाले अग्नि और पवन भी जलों का ग्रहण करने वाला होने से अमृताश हैं। इस प्रकार जल आदि के अशनत्व रूप हेतु से सकल जगत् ही अमृताश है।

अमृतवपुः—८१४

अमृत शब्द का व्युत्पादन **'अमृताश'** (सं० ८१३) नाम के व्याख्यान में किया गया है, तथा वपु शब्द का व्युत्पादन भी **"अनिर्देश्यवपु"** (संख्या ८१३) नाम के व्याख्यान में

उप्यते यस्मिन् वपुः । अमृतं वपुर्यस्य सोऽमृतवपुर्विष्णुः । वपनं बीजसन्तानश्छेदनञ्च । यद्वा—उप्यते, छिद्यते च येन तद्वपुः—बीजसन्तानसाधनं, छेदनसाधनञ्च शरीरमित्यर्थः । यद्वा न म्रियते, वपति, च्छिनत्ति चेत्यमृतवपुः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"सनादसि ।" ऋक् १।१०२।८ ॥

यथा भगवान् प्रवाहनित्यमिदं विश्वं वपतिसन्तनोति तथा सर्वमन्तकाले च्छिनत्यपि । भगवद्वितितनिषाया अनुकारी जीवोऽपि स्वेच्छयात्मानं वितितंसुः स्वसमानजातीययोनौ बीजं वपति । तथा चाथर्ववेदवचनं—

"यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति ।" अथर्व १४।२।३८ ॥

स्वसमानजातीययोनौ बीजरूपमात्मानं वपन्तीत्यर्थः । नहि विजातीययोनावुप्तं बीजं विस्तारमाप्नोति । यथा—अश्वतरः "खच्चर" नहि सन्तानाय कल्पते । एवञ्चामृतः=अविनाशी भगवान् विस्तारधर्माऽमृतवपुरित्युच्यते । नक्षत्राणि च, नक्षीयन्त इति नाम व्युत्पत्त्यैवामृतवपूंषि उक्तानि भवन्ति । लोकोऽयं ब्रह्मणः "कामस्तदग्रे समवर्तताधि०" (ऋक् १०।१२९।४) कामपाल इति नाम (संख्या ६५२) व्याख्याने विशदंव्याख्यातमेतत् । लोकेऽपि च पश्यामः

कर दिया है । जिस में वपन किया (बोया) जाता है, उसका नाम वपु है । अमृत है वपु जिसका, उसका नाम अमृतवपु है, यह भगवान् विष्णु का नाम है । वपन नाम, बीजों का क्षेत्र में विकीर्ण करना, या काटने का है । अथवा बीजों के विकीर्ण तथा छेदन करने के साधन रूप शरीर का नाम वपु है । अथवा जो स्वयं न मरता हुआ बीजों का सन्तनन तथा छेदन करता है उसका नाम अमृतवपु है । इस अर्थ की पुष्टि **"सनादसि"** (ऋक् १।१०२।८) यह वेदवाक्य करता है । भगवान् अमृतवपु नामा विष्णु, इस प्रवाह नित्य जगत् का विस्तार (फैलाव) करके अन्त में इसे काट देता है । भगवान् की विस्तारेच्छा का अनुकरण करता हुआ जीवात्मा भी, अपनी इच्छा से अपने आपका विस्तार चाहता हुआ अपनी सजातीय योनि में बीज का वपन करता है, जैसा कि **"यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति"** (अथर्व १४।२।३८) इत्यादि अथर्ववेद का वचन है । अर्थात् अपनी सजातीय योनि में अपने आप को बोते हैं, क्योंकि विजातीय योनि में वपन किया हुआ बीज विस्तृत नहीं होता । जैसे—अश्वतर अर्थात् खच्चर से सन्तान नहि होती । इस प्रकार अविनाशी भगवान् विष्णु अमृतवपु नाम से कहा जाता हैं । नक्षत्र भी अक्षयशील होने से ही अमृतवपु शब्द के वाच्य हैं । यह लोक ब्रह्म का कामरूप है, जैसा कि **"कामस्तदग्रे समवर्तताधि"** (ऋक् १०।१२९।४) इस वेद वचन से प्रतिपादित है । इस विषय का विशेष विवरण **"कामपाल"** (संख्या ६५२) नाम के व्याख्यान में किया है । लोक में भी हम देखते है—सूर्यादि ग्रह सर्ग के आरम्भ

सूर्यादयो ग्रहाः सर्गारम्भादद्य यावत् तममृतवपुषं विष्णुं व्याचक्षाणाः स्वयममृतवपुष आयान्ति । मन्त्रलिङ्गञ्च—

"नाक्षस्तप्यते भूरिभारः ।" ऋक् १।१६४।१३ ॥

"सनादसि च ।" ऋक् १।१०२।८ ॥

इति सूर्य पक्षे मन्त्रलिङ्गम् । तथा च—

"य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसः ।" ऋक् १०।६३।८॥

इति मन्त्रो विशदं व्याख्यातः । ते च सर्वे भुवनस्येशा अमृतवपुष एव । इति योजनाक्रमो दिङ्मात्रं प्रदर्शितः ।

भवति चात्रास्माकम्—

लोकेऽस्ति वन्द्योऽमृतवर्ष्मविष्णुर्वन्द्याश्च सर्वेऽमृतवर्ष्मवित्ताः ।
सनातनः सूर्य इह प्रसिद्धः वपुश्च विष्णोरिदमस्ति विश्वम् ॥८८॥

मन्त्रलिङ्गानि च—

"यस्य भूमिः प्रमा अन्तरिक्षमथोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।" अथर्व १०।७।३२ ॥

इत्यादीनि ज्येष्ठ (संख्या ६७) नामव्याख्याप्रसङ्गे द्रष्टव्यानि ।

से अवतक अमृत वपुरूप से आते हुये, उस ही अमृतवपु भगवान् विष्णु का आख्यान (कथन) कर रहे हैं । अमृतवपु नामार्थ की पुष्टि **"नाक्षस्तप्यते भूरिभारः"** (ऋक् १।१६४।१३) इस वेद वचन से होती है, तथा इस नाम के सूर्यरूप वाच्यार्थ में **"सनादसि च"** (ऋक् १।१०२।८) यह वेदवचन प्रमाण है ।

"य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसः" (ऋक् १०,६३।८) इस मन्त्र का पहले स्पष्ट व्याख्यान किया गया है, इस मन्त्र में वर्णित भुवन के ईशों का अमृतवपु नाम से ग्रहण है, अर्थात् ये सव अमृतवपु हैं । यह हमने योजना के क्रम का उदाहरण मात्र दिखलाया है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

लोक में सव का वन्दनीय भगवान् विष्णु, तथा और भी जो भुवनों के शासन करने में समर्थ शासक शक्तियां है वे सव अमृतवपु नाम के वाच्यार्थ हैं, सनातनरूप से प्रसिद्ध सूर्य, तथा यह सकल विश्व भगवान् विष्णु का शरीर रूप होने से अमृतवपु है ।

इस में प्रमाणभूत—**"यस्य भूमिः प्रमा अन्तरिक्षमथोदरम्"** (अथर्व १०।७।३२) इत्यादि मन्त्र ज्येष्ठ (संख्या ६७) नाम की व्याख्या में देखने चाहियें ।

सर्वज्ञः—८१५

सर्वशब्दो वन् प्रत्ययान्तः "**सर्वनिघृष्व**" (उ० १।१५३) इत्याद्युणादि सूत्रे निपातितः। **सर्व** इति (संख्या २५) स्वतन्त्रनामव्याख्याप्रसङ्गे द्रष्टव्यम्। सर्वरूपकर्मोपपदाद "ज्ञा अवबोधने" धातोः क्र्यादिकाद् "**आतोऽनुपसर्गे कः**" इति (पा० ३।२।३) सूत्रेण कः प्रत्ययस्तस्मिश्च परतो धातोराकार लोपः। सर्वं जानातीति सर्वज्ञः। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"**विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।**" ऋक् ५।८२।५; यजुः ३०।३॥

विद्वान्—इत्यस्य जानाति, जानासीति वार्थः।

"**मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान्।**" ऋक् ३।१।१७॥

"**अग्निर्विश्वानि काव्यानि विद्वान्।**" ऋक् ३।१।१८॥

तथा—

"**एता विश्वा विदुषे तुभ्यं वेधो नीथान्यग्ने निण्या वचांसि।**
निवचना कवये काव्यान्यशंसिषं मतिभिर्विप्र उक्थैः।"

ऋक् ४।३।१६॥

इति दिङ्निदर्शनम्।

लोकेऽपि च पश्यामः—सर्वं ज्ञानेन्द्रियैर्विज्ञाय मनसि च निचित्य वर्तमानो मनुष्यः सर्वज्ञ इत्युक्तो भवति। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"**येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।**
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

सर्वज्ञः—८१५

सर्व शब्द उणादि वन् प्रत्ययान्त है, इसका व्युत्पादन प्रकार **सर्व** (संख्या २५) इस स्वतन्त्र नाम में देखना चाहिये।

इस सर्वरूप कर्म के उपपद रहते हुये, अवबोधनार्थक ज्ञा इस क्र्यादिक धातु से कर्ता अर्थ में कृत् क प्रत्यय तथा आकार का लोप होने से सर्वज्ञ शब्द सिद्ध होता है। जो सब कुछ जानता है उसका नाम सर्वज्ञ है। इस सर्वज्ञता को प्रमाणित करनेवाले "**विश्वानि देव०**" (ऋक् ५।८२।५), (यजुः ३०।३), "**अग्निर्विश्वानि**" (ऋक् ३।१।१८) तथा "**एता विश्वा विदुषे**" (ऋक् ४।३।१६) इत्यादि मन्त्र हैं।

विद्वान् शब्द का वह जानता है, या तू जानता है, ऐसा पुरुष भेद से अर्थ होता है। यह उदाहरण मात्रका निर्देश किया गया है। लोक में भी हम देखते हैं—ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञेयरूप ज्ञान का अपने अन्तःकरणमनों में सङ्ग्रह करके स्थित मनुष्य सर्वज्ञ नाम से

यस्मिन्नृचः साम यजूँषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तँ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।"

यजुः ३४।४,५ ॥

भूतभवद्भविष्यादीनां ज्ञानञ्च ग्रहगणितेन भवति, ग्रहाणाममृतत्वात्—सदागतिशीलत्वाच्च सर्वदा सद्भावः । गतिश्च गणितसाध्या । दशवार्षिकाणि—शतवार्षिकाणि वा पञ्चाङ्गानि लोकोपकाराय गणितकोविदैर्निर्मीयन्ते । इति दिग्दर्शनम् ।

शाकुनमपि ज्ञानं भविष्यदावेदकम् ।

तथा च ऋङ्मन्त्रः—

"आवदंस्त्वं शकुने भद्रमावद ।" ऋक् २।४३।३ ॥ इति ।

शकुनिनिमित्तकं ज्ञानं, शकुनि सम्बन्धि वा ज्ञानं तत् प्रकाशकञ्च शास्त्रं शाकुनं शास्त्रमुच्यते । गुरुनाम (संख्या २०९) प्रसंगे विशदं व्याख्यातं तत्र द्रष्टव्यम् ।

यद्वा सर्वलक्षणलक्षण्यनामव्याख्याने द्रष्टव्यम् ।

कहा जाता है । यह ही भावार्थ "येनेदं भूतं भविष्यत्०", "यस्मिन्नृचःसाम०" (यजुः ३४।४, ५) इत्यादि मन्त्रों में प्रतिपादित है ।

त्रिकालविषयक ज्ञान ग्रहगणित से होता है, क्यों कि अमर तथा सर्वदा गतिशील होने से ग्रह, सदा अपनी सत्ता रखते हैं, अर्थात् वे सदा रहते हैं । गति की सिद्धि गणित से ही होती है । इसीलिये लोकोपकार के उद्देश्य से ज्योतिषियों ने दश या शत वर्ष आगे तक के पञ्चाङ्गों का निर्माण किया है । यह केवल मार्गदर्शन मात्र है ।

शाकुन ज्ञान से भी भावी विषय का बोध होता है, जैसा कि ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के अन्त में "आवदंस्त्वं शकुने भद्रमावद" (ऋक् २।४३।३) इत्यादि में प्रतिपादित है । शकुन=पक्षी निमित्तक या पक्षिसम्बन्धि ज्ञान का नाम शाकुनज्ञान है, तथा उसका बोध करवाने वाले शास्त्र का नाम शाकुन शास्त्र है । यह विषय, गुरु (संख्या २०९) नाम के व्याख्यान में स्पष्ट व्याख्यात है, इसलिये वहां ही देखना चाहिये । अथवा "सर्वलक्षणलक्षण्य" नाम के व्याख्यान में देखना चाहिये ।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्हि सर्वज्ञ इहास्ति गीतो विश्वस्य सर्वाणि[1] वनानि यानि।
तस्मिन् ह तिष्ठन्ति चलाचलानि सर्वज्ञभावाय च कल्पते ना ॥८०॥

१—वनानि=विभागाः, दिनं—निशा—मासो—वर्षमित्यादयः। तेषां सर्वेषां ग्रहैरेव विभागः। तस्माज्ज्योतींषि वनानि। नक्षत्राणि वनानि, तानि राशिं विभजन्ति। ज्ञानानि वनानि, इदमिदं वेति तानि विभजन्ति। एवं सर्वत्रोह्यम्।

सर्वतोमुखः—८१६

सर्वत इति, सर्वशब्दाद्, **"आद्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्"** इति (पा० ५।५।४४) सूत्रस्थवार्तिकेन सार्वविभक्तिकस्तसिः प्रत्ययः।

मुखम्—"खनु विदारणे" धातोः **"डस् खनेर्मुट् चोदात्तः"** (उ० ५।२०) इत्युणादि सूत्रेण डस् प्रत्ययो मुट् चागमो धातोः। अननुनासिकत्वादुकारो नेत्, ट् इत्, टिलोपः। खन्यत इति मुखं, कर्म। सर्वतो मुखं यस्य स सर्वतोमुखः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"उत विश्वतो मुखः।"

ऋक् १०।८१।३ ॥ अथर्व १३।२।२६ ॥ यजुः १७।१९ ॥

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार स्पष्ट करता है—

भगवान् विष्णु का नाम सर्वज्ञ है, क्योंकि विश्व के यावन्मात्र चलाचल वन (विभाग) उस ही में स्थित हैं, तथा इन सब को जानकर मनुष्य सर्वज्ञ बन जाता है।

वन नाम विभाग का है, जैसे दिन निशा मास वर्ष इत्यादि। यह सब विभाग ग्रहों के आधीन है, इसलिये ज्योति, नक्षत्र आदि का नाम वन है, क्योंकि उन से राशियां विभक्त होती हैं। ज्ञानों का नाम भी वन है, क्योंकि उन से यह है, यह है, इत्यादि रूप से वस्तुओं का विभाग होता है। इसी प्रकार से और भी समझ लेना चाहिये।

सर्वतोमुखः—८१६

सर्वतः शब्द, सर्व शब्द से पा. ५।५।४४ सूत्रस्थ वार्तिक से तसि प्रत्यय करने से सिद्ध होता है।

मुख शब्द, विदारणार्थक खनु धातु से उणादि डस् प्रत्यय, धातु को मुट् का आगम, तथा टि का लोप करने से सिद्ध होता है। जो विदीर्ण किया जाता है उसका नाम मुख है। सब ओर जिसका मुख है, उसका नाम सर्वतोमुख है। जैसा कि **"उत विश्वतो मुखः"** (ऋक् १०।८१।३; अथर्व १३।२।२६; यजुः १७।१९) इत्यादि मन्त्रों से सिद्ध

दृश्यते च तस्य विष्णोर्विश्वतः खातं शरीरम् । सुखातं मुखञ्च तत्र दृश्यते शरीरे, यथावश्यम्भावं भिन्नं-भिन्नं—सुखातं तत्र भवति । मनुष्योऽपि सर्वतः खातं रथमिच्छति, रथं=रमणीयम् ।

भवतश्चात्रास्माकम्—

सर्वतो हि मुखं तस्य व्याप्तं द्यौरिह दृश्यते ।
तत्र यान्ति खगाः सर्वे मुखे जिह्वा चला यथा ॥८१॥
गृहीतञ्च जगत्तेन, मुखे दन्तग्रहा यथा ।
न चलन्ति यथा स्थानाच्चलन्ति च यथेहितम् ॥८२॥

चलाचलस्वभावा दन्ता ग्रहा इव, मुखञ्च—आकाशमिव । द्यवि सूर्यः । मुखे वागग्निदैवतका । लोकोऽप्येवं सङ्गच्छते, व्याप्तिमत्त्वञ्च विष्णोर्ज्ञापयति । "तं वो जम्भे दध्मः" । (अथर्व ३।२७।१-६) इत्यादि मन्त्रोक्तञ्च सङ्गच्छते ।



सुलभः सुव्रतः सिद्धः शत्रुजिच्छत्रुतापनः ।
न्यग्रोधोदु¹म्बरोऽश्वत्थश्चाणूरान्ध्रनिषूदनः ॥१०१॥

है । यह भगवान् विष्णु का विश्वरूप शरीर, सब ओर से विदीर्ण देखने में आता है, तथा इस शरीर में, अर्थात् विश्व रूप शरीर में अन्तरिक्ष=आकाश रूप मुख, सुखात (अच्छे प्रकार से विदीर्ण) दीखता है । मनुष्य भी सब ओर से सुखात अर्थात् सुविदीर्ण शरीर रूप रमणीय रथ को चाहता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम सर्वतोमुख हैं, क्योंकि इसका यह दिव्रूप मुख सर्वत्र व्याप्त दीखता है, इसी में जिह्वा के समान चलायमान खग=पक्षी भ्रमण करते हैं, तथा इस में ग्रहगण दान्तों के समान चल और अचलरूप से स्थित है, क्योंकि वह भगवदिच्छानुसार ही अपने स्थान में स्थित रहता है अथवा चलता है । इस प्रकार से सकल जगत् को उसने अपने अधिकार में कर रक्खा है ।

ग्रह, दान्तों के समान चल तथा अचलरूप हैं । मुख आकाश के समान सावकाश है । आकाश में सूर्य है, मुख में अग्निदैवत्य वाणी है । इस उपर्युक्त प्रकार से लोक में समन्वय होता है, तथा भगवान् की व्याप्ति का बोध होता है, और "तं वो जम्भे दध्मः" (अथर्व ३।२७।१-६) इत्यादि मन्त्रार्थ की सङ्गति होती है ।

१—'न्यग्रोधः उदुम्बरः'=न्यग्रोधोदुम्बरः सन्धिरार्षः ।

८१७ सुलभः, ८१८ सुव्रतः, ८१९ सिद्धः, ८२० शत्रुजित्, ८२१ शत्रुतापनः । ८२२ न्यग्रोधः, ८२३ उदुम्बरः, ८२४ अश्वत्थः, ८२५ चाणूरान्ध्रनिषूदनः ।

सुलभः—८१७

सु—उपसर्गः सुखार्थे सौकर्यार्थे वा । सुखेन, सौकर्येण वा लभ्यः सुलभः । अत्र "लभेश्च" (पा० ७।१।६४) इति नुमः प्राप्तिः "न सुदुर्भ्यां केवलाभ्याम्" (पा० ७।१।६८) इत्यनेन सूत्रेण निवार्यते ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"यस्य द्यावापृथिवी पौंस्यं महद् यस्य व्रते वरुणो यस्य सूर्यः ।
यस्येन्द्रस्य सिन्धवः सश्चति व्रतं मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ।"

ऋक् १।१०१।३ ॥

तथा—

"यो विश्वस्य जगतः प्राणतस्पतिर्यो ब्रह्मणे प्रथमो गा अविन्दत् ।
इन्द्रो यो दस्यूंरधराँ अवातिरन् मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ।"

ऋक् १।१०१।५ ॥

इत्येतादृगुक्त इन्द्रः सुलभो भवति तदन्वेषकस्य, यथा कश्चिदप्रत्यक्षस्तत्पादचिह्नानुवर्तिनः सुलभः इति । एवं भगवान् विष्णुरपि स्वानुवर्तिनः सत्त्वनिष्ठस्य सुलभः=सुप्राप इति सुलभनाम्ना सङ्कीर्त्यते । सुलभशब्दो वेदेषु नोपलभ्यते । तथा च—

सुलभः—८१७

सु यह सुखार्थक या सौकर्यार्थक उपसर्ग है । सुख से या सौकर्य से जिसकी प्राप्ति सम्भव है, उसका नाम सुलभ है । यहां सुलभ शब्द में 'लभेश्च" (पा० ७।१।६४) सूत्र से प्राप्त नुम् का "न सुदुर्भ्यां केवलाभ्याम्" (पा० ७।१।६८) सूत्र से निषेध हो जाता है । इस सुलभ शब्द के भावार्थ की पुष्टि "यस्य द्यावापृथिवी पौंस्यम्" (ऋक् १।१०१।३) तथा "यो विश्वस्य जगतः प्राणतस्पति०" (ऋक् १।१०१।५) इत्यादि मन्त्र से होती है । एवंविध उपर्युक्तरूप इन्द्र, अपने अन्वेषक (खोजने वाले) के लिये सुलभ होता है, जैसे कि कोई छिपा हुआ मनुष्य, उसके पदचिह्नानुवर्ती अर्थात् खोजी के लिये सुलभ होता है । इसी प्रकार अपने पदन्यासानुवर्ती अन्वेषक के लिये सुप्राप (सुलभ) होने से भगवान् को सुलभ नाम से कहा जाता है । वेद में सुलभ शब्द का प्रयोग

"न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्चन शवसो अन्तमापुः ।
स प्ररिक्वा त्वक्षसा क्ष्मो दिवश्च मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ।"

ऋक् १।१००।१५ ॥

"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद्विदुस्त इमे समासते ।"

ऋक् १।१६४।३९ ॥

"अग्निमीडे पुरोहितं......रत्नधातमम् ।" ऋक् १।१।१ ॥

अग्निम्=ईश्वरं भौतिकं वाग्निम् । पुरोहितं=पुरः स्थितः पुरः पोषयितारं धारयितारं वा—इत्यादि । सुलभो विष्णुरग्निर्वा ।

तथा—

"अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ।"

ऋक् १।१८९।१ ॥

अत्राग्निरीश्वरः, स हि हृदयस्थो मनुष्यं सद्बुद्धिदानेन सुपथा नयति अथवा भौतिकोऽग्निः सूर्यो वाऽत्राग्निशब्देनोच्यते, तथा हि स उपास्यमानः स्वदीप्त्या—उपासकस्य दुरितं निरस्य सुपथि गन्तुमर्हंतं करोति । इति दिङ्मात्रदर्शनं नः प्रयोजनम्, महार्थस्य वेदस्यान्तः प्रवेशस्तु सर्वथा सुविज्ञस्यापि न सुकरः ।

नहीं मिलता, किन्तु तत्समानार्थक पद "न यस्य देवा देवता०" (ऋक् १।१००।१५), "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्:" (ऋक् १।१६४।३९) तथा "अग्निमीडे पुरोहितम्०" (ऋक् १।१।१) इत्यादि मन्त्रों में मिलते हैं। अग्नि नाम भौतिक अग्नि या ईश्वर दोनों का है, पुरोहित नाम आगे स्थित, अथवा पुरों (शरीरों) के पोषण या धारण करने वाले का है। अग्नि या विष्णु का नाम सुलभ है।

"अग्ने नय सुपथा राये०" (ऋक् १।१८९।१) इत्यादि मन्त्र में पठित अग्नि शब्द से ईश्वर का ग्रहण है, क्योंकि वह मनुष्य के हृदय में स्थित हुआ, मनुष्य को सद् बुद्धि से युक्त करके उसको सन्मार्ग से चलाता है। अथवा भौतिकाग्नि और सूर्य भी यहां अग्नि शब्द से लिये जाते हैं, क्योंकि वह भौतिकाग्नि अथवा सूर्य अपनी उपासना करने वाले के पापों का नाश करके उस को सुपथ में चलने योग्य बना देता है। उदाहरण मात्र दिखलाना हमारा प्रयोजन है, वैसे तो वेद की महार्थता को समझना विद्वानों के लिये भी कठिन है।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्हि लोके सुलभः पुराणः सूर्यादयो वा सुलभाः सनाथे।
पुरोहितोऽग्निः सुलभश्च लोके प्रार्थ्योऽस्ति मन्ये सुलभः स एकः ॥८३॥

तथा च—मन्त्रलिङ्गम् प्रार्थनीयत्वे—

"देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु।"
यजुः ९।१; ११।७; ३०।१ ॥

तथा कोऽयं सविता देवः, इत्यत्र मन्त्रलिङ्गम्—

"देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान।
इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम्।"
ऋक् ३।५५।१९ ॥

सुव्रतः—८१८

सु उपसर्गः "व्रतिः" सौत्रो धातुस्ततः पचाद्यच् प्रत्ययः। सुव्रतति नियमयतीति सुव्रतः। यद्वा "भयादीनामुपसंख्यानम्" (वा० ३।३।५६) इति वार्तिकेनाच् प्रत्ययो भावे, तथा व्रतनं=व्रतं नियमः, शोभनं व्रतं=जगद्व्यवस्थापनरूपो नियमो यस्य स सुव्रतः। मन्त्रलिङ्गञ्च—

भाष्यकार इस भाव को अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम सुलभ है, क्योंकि वह अपने पदानुवर्ती के लिये सुप्राप होता है, तथा सनातन सूर्य आदि भी सुलभ हैं। सब के पुरा स्थित, अग्नि शब्द का वाच्यार्थ परमेश्वर ही सबका प्रार्थनीय तथा सुलभ है।

सबका प्रार्थनीय होने में "देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय०" (यजुः ९।१ ॥ ११।७ ॥ ३०।१) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है। तथा सविता देव कौन है, इस प्रश्न का समाधान "देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः" (ऋक् ३।५५।१९) इत्यादि मन्त्र से होता है, अर्थात् इस मन्त्र से सविता देव के स्वरूप का ज्ञान होता है।

सुव्रतः—८१८

सु उपसर्ग है। व्रत यह नियमनार्थक सौत्र धातु है, इससे पचादि अच् प्रत्यय करने से तथा सु उपसर्ग का योग करने से सुव्रत शब्द सिद्ध होता है। जो शोभन नियमन करता है उसका नाम सुव्रत है। अथवा "भयादीनामुपसंख्यानम्" इस वार्तिक (३।३।५६) से व्रत धातु से भाव में अच् प्रत्यय करने से व्रत शब्द बन जाता है। शोभन है व्रत, जगद्व्यवस्थापनरूप नियम जिसका उसका नाम है सुव्रत। इस नामार्थ

"यस्य व्रते पृथिवी नन्नमीति यस्य व्रते शफवज्जर्भुरीति ।
यस्य व्रते ओषधीर्विश्वरूपाः स नः पर्जन्य महि शर्म यच्छ ।"
ऋक् ५।८३।५ ॥

पर्जन्यशब्दो विष्णुसहस्रनामसंग्रहे पूर्वं (संख्या ८१०) व्याख्यातः ।

भवति चात्रास्माकम्—

स सुव्रतो विष्णुरमोघशक्तिर्नियच्छतीदं सकलं व्रतेन ।
यद्भीषया चापि सदागतिर्वा सूर्यो वशीवोदयमेत्यजस्रम् ॥८४॥

सूर्यमहिमा च—

"त्वं भुवः प्रतिमानं पृथिव्या ऋष्ववीरस्य बृहतः पतिर्भूः ।
विश्वमाप्रा अन्तरिक्षं महित्वा सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान् ।"
ऋक् १।५२।१३ ॥

भीषा च तस्य ब्रह्मणः—

"त्वद्भियेन्द्र पार्थिवानि विश्वाच्युता चिच्च्यावयन्ते रजांसि ।
द्यावाक्षामा पर्वतासो वनानि विश्वं दृढं भयते अज्मन्ना ते ।"
ऋक् ६।३१।२ ॥

वेदे भी धातोः प्रयोगः विविधनामविभक्त्यन्त आयाति ।

सिद्धः—८१९

षिधु संराद्धौ दैवादिको धातुस्ततः षकारस्य सत्वे कर्तरि क्तः अनिट् ।

में "यस्य व्रते पृथिवी नन्नमीति०" (ऋक् ५।८३।५) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है । मन्त्र में आगत पर्जन्य शब्द का व्याख्यान पहले (सं० ८१०) किया गया है ।

भाष्यकार इस भाव को अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

अमोघ अर्थात् अप्रतिहतशक्ति भगवान् विष्णु का नाम सुव्रत इसलिये है कि वह अपने विहित नियम से सकल विश्व का नियन्त्रण करता है । उस ही के भय से नियन्त्रित वायु सदा गमनशील तथा सूर्य समय पर उदय तथा अस्त को प्राप्त होता है ।

सूर्य की महिमा का प्रतिपादक "त्वं भुवः प्रतिमानं पृथिव्याः" (ऋक् १।५२।१३) इत्यादि मन्त्र है । भगवान् की भीषा का प्रतिपादन—"त्वद् भियेन्द्र पार्थिवानि" (ऋक् ६।३१।२) इत्यादि मन्त्र में है । भी धातु का प्रयोग वेद में नाम और विभक्ति भेद से बहुधा आता है ।

सिद्धः—८१९

संसिद्धि (निष्पत्ति) अर्थ में वर्तमान, षिधु इस दिवादिगण पठित धातु से कर्ता में क्त प्रत्यय, और षकार को सकार, करने से, क्त के तकार को धकार और पूर्व धकार

घत्वजश्त्वे सिद्ध इति । सिद्धार्थं (संख्या २५२) नामव्याख्याने विशदमुक्तम् । श्रमक्लमतन्द्राभिर्वर्जितो यत्नानपेक्षसिद्धिश्च सिद्धः । यद्वा सर्वतो भाविनी शाश्वती सिद्धिरस्यास्तीति सिद्धः, मत्वर्थीयोऽच् । सिद्धो विष्णुः सूर्यो वा ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"न मा तमन्न श्रमन्नोत तन्द्रन्न वोचाम मा सुनोतेति सोमम् ।
यो मे पृणाद् यो ददत् यो निबोधाद् यो मा सुन्वन्तमुपगोभिरायत् ।"
ऋक् २।३०।७ ॥

भगवत्कृतं च विश्व सिद्धमिति सिद्धत्वरूपेण गुणेन भगवान् सर्वत्र व्याप्तः ।

भवति चात्रास्माकम्--

सिद्धः स विष्णुः कुरुते च सिद्धं विश्वं सुपूर्णं नियमानुबद्धम् ।
यथोप्तबीजा पृथिवी तदैव बीजोपजीव्यानि [1]समाप्तुमीर्ते ॥८५॥

१—समाप्तुमीर्ते=सम्यग्—एकीभावेन वा—आप्तुं प्रयतते ।

को जश्त्व करने से, सिद्ध शब्द सिद्ध होता है । सिद्ध शब्द के विषय में 'सिद्धार्थं' (संख्या २५२) नाम के व्याख्यान में बहुत कुछ कहा गया है । जो श्रम (थकावट) क्लम (ग्लानि) तथा तन्द्रा (आलस्य) से रहित है, तथा जिसको अपनी कार्य सिद्धि में कोई यत्न नहीं करना पड़ता, उसका नाम सिद्ध है । अथवा सब ओर से होनेवाली, अर्थात् सर्वविषयक नित्य सिद्धि जिसकी है उसका नाम सिद्ध है । यहां सिद्ध शब्द से मतुप् के अर्थ में अच् प्रत्यय हुआ है । सिद्ध नाम विष्णु या सूर्य का है । इस नाम के भावार्थ की पुष्टि— "न मा तमन्न श्रमन्नोत तन्द्रन्न०" (ऋक् २।३०।७) इत्यादि मन्त्र से होती है । यह विश्व भी भगवान् सिद्धनामक विष्णु से व्याप्त होने के कारण सिद्ध है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम सिद्ध है, क्योंकि वह अपने नियम से निबद्ध इस विश्व को पूर्णरूप से सिद्ध ही बनाता है, जैसे अपने में उप्त अर्थात् बोये हुये बीज को सिद्ध करने के लिये पृथिवी बीजोपजीव्य अर्थात् बीज को अंकुरादिरूप से सिद्ध करनेवाले जल गर्मी आदि साधनों को प्राप्त करने का यत्न करती है ।

"समाप्तुमीर्ते" का अर्थ अच्छे प्रकार से वा एकीभाव रूप से प्राप्त करने का यत्न करती है, ऐसा होता है ।

शत्रुजित्—८२०

शत्रुः—"शद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु भौवादिको धातुः, ततो हेतुमण्णिच्, णिचि च गतिभिन्नेऽर्थे "शदेरगतौ तः" (पा० ७।३।४२) इति सूत्रेण धातोरन्तादेशस्तकारः उपधावृद्धिः शाति, ततो "रुशातिभ्यां क्रुन्" (उ० ४।१०३) इत्युणादिसूत्रेण क्रुन् प्रत्ययः "नेड्वशि०" (पा० ७।२।८) इतीण्णिषेधः, "णेरनिटि" (पा० ६।४।५१) इति णिलोपः प्रज्ञादिह्रस्वपाठाद्[1] ह्रस्वश्च। शातयतीति शत्रुः। शातयति=शृणात्यवसादयति वा। गत्यर्थे तु णिचि सादयति इत्येव रूपम्। गत्यर्थे क्रुन्नपि न, शातीतितकारान्तग्रहणात्। शत्रुं जयतीति शत्रुजित्, क्विप्, तस्य च सर्वापहारः, ततः, "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" (पा० ६।१।७१) इति तुक्। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"नि रिणाति शत्रून्।" ऋक् १०।१२०।१॥

"वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति।"

ऋक् १०।१२०।२॥

तथा—

"त्वया वयं शाशद्महे रणेषु प्रपश्यन्तो युधे न्यानि भूरि।

चोदयामि त आयुधा वचोभिः सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि।"

ऋक् १०।१२०।५॥

शत्रुजित्—८२०

शत्रु शब्द, विशरण (अवयवविभाग), गति तथा अवसादन अर्थ में वर्तमान शद् धातु से णिच् प्रत्यय करने पर गतिभिन्न अर्थ में धातु के दकार को तकार तथा उपधा को वृद्धि करने से शाति ऐसा रूप बन जाता है, इस शाति धातु से उणादि क्रुन् प्रत्यय, "नेड्वशिकृति" (पा० ७।२।८) सूत्र से इट् का निषेध "णेरनिटि" (पा० ६।४।५१) सूत्र से णि का लोप, तथा प्रज्ञादिगण में ह्रस्वपाठ सामर्थ्य से ह्रस्व होने से सिद्ध होता है। जो शातन (हानि) या हिंसा करे, उसका नाम शत्रु है। गति अर्थ में णिजन्त रूप 'सादयति' ऐसा होता है। गति अर्थ में क्रुन् भी नहीं होता, क्योंकि उणादि सूत्र में शाति इस कृत तकरान्त का निर्देश है। शत्रु को जीतने वाले का नाम शत्रुजित् है, जि इस जयार्थक धातु से क्विप् प्रत्यय, तथा तुक् का आगम होने से जित् शब्द बन जाता है, शत्रु यह कर्म उपपद है। इस में "नि रिणाति शत्रून्" (ऋक् १०।१२०।१), "वावृधानः शवसा भूर्योजाः" (ऋक् १०।१२०।२) तथा "त्वया वयं शाशद्महे" (ऋक् १०।१२०।५) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं। इस प्रकार भगवान् शत्रुजेतृत्व रूप से सर्वत्र

१—प्रज्ञादिपाठाद्ध्रस्वत्वमित्युज्ज्वलदीक्षितादयः। प्रज्ञादिगणे (५।४।३८) नायमुपलभ्यते, आकृतिगणत्वात् सम्भवति।

"आमातरा स्थावयसे जिगत्नू अत इनोषि कर्करा पुरूणि ।"

ऋक् १०।१२०।७ ॥

एवञ्च भगवान् सर्वत्र व्यष्टः शत्रुजिदित्युक्तो भवति ।
एवं लोकं दृष्ट्वा सर्वत्रोह्यम् ।

भवतश्चात्रास्माकम्—

स शत्रुजिद् विष्णुरनेकरूपो निहन्ति वृत्रं स च मेघ उक्तः ।
विघ्नापहारं स ददाति शृङ्गं गोभ्यो नखान् वा स नखिभ्य ईशः ॥८६॥
एवं हि यः शत्रुजितं महान्तं जानाति सर्वत्र गतञ्च विष्णुम् ॥
स एष विघ्नान् परिहृत्य शेते यथानृणी याति च गाढनिद्राम् ॥८७॥

शत्रुतापनः—८२१

शत्रुरुक्तः । तापनः—"तप सन्तापे" भौवादिको धातुस्ततो हेतुमण्णिजन्ताल्ल्युल्युँड् वा, योरनः, णिलोपः । शत्रून् तापयतीति शत्रुतापनः । यद्यपि न तस्य कश्चिच्छत्रुर्भगवतः सर्वशक्तिसमन्वितस्य, तथापि ये सर्वसुहृदः साधून् द्विषन्ति त एव शत्रवस्तांश्च यः स्वप्रदत्तशक्तिभिर्महापुरुषैस्तापयतीति शत्रुतापनः । मन्त्रलिङ्गञ्च—

व्याप्त हुआ शत्रुजित् नाम से कहा जाता है । इस प्रकार की कल्पनायें लोक को देखकर कर लेनी चाहियें ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम शत्रुजित् है, क्योंकि वह अनेक रूप भगवान् वृत्रनामक मेघरूप शत्रु का हनन करता है, तथा विघ्नों के निराकरण के लिये गो आदि पशुओं को शृङ्ग और सिंह आदि को नख देता है ।

इस प्रकार से सर्वगत भगवान् विष्णु को जो मनुष्य, शत्रुजित् रूप से जानता है, वह मनुष्य ऋणरहित मनुष्य के समान निर्विघ्न होकर सुख से सोता है ।

शत्रुतापनः—८२१

शत्रु शब्द की सिद्धि की जाचुकी है ।

तापन शब्द, भ्वादिगण पठित सन्तापार्थक तप धातु से हेतुमण्णिच् तथा णिजन्त से ल्युं या ल्युट् प्रत्यय और यु को अनं आदेश तथा णिलोप करने से सिद्ध होता है । शत्रुओं को जो तपाता है उसका नाम शत्रुतापन है । यह भगवान् विष्णु का नाम है । यद्यपि सर्वशक्तिसमन्वित भगवान् विष्णु का कोई शत्रु नहीं है, फिर भी जो सब के सुहृद्भूत सत्पुरुषों से द्वेष करते हैं, वे ही भगवान् के शत्रु हैं, उन ही को अपनी शक्ति से समन्वित महापुरुषों द्वारा सन्तापित (पीड़ित) करता है, इसलिये वह शत्रुतापन है ।

"द्विषस्तापयन् हृदः शत्रूणां तापयन् मनः ।
दुर्हार्दः सर्वास्त्वं दर्भ घर्म इवाभीन्त्सं तापयन् ।" अथर्व १९।२८।२ ॥

भवति चात्रास्माकम्—

शत्रुतापन उक्तोऽसौ, विष्णुर्दर्भः सना 'शुचि ।
दर्भः सूर्यगुणो यस्माद् घर्मे दर्भो हि हृष्यति ॥८९॥

१—सूर्यः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"शरासः कुशरासो दर्भासः सैर्या उत ।
मौञ्जा अदृष्टा वैरिणाः सर्वे साकं न्यलिप्सत । ऋक् १।१९१।३ ॥"

न्यग्रोधः—८२२

"अञ्चु गतिपूजनयोः" इति भौवादिको धातुर्निपूर्वः । "ऋत्विग्दधृक्स्रक्" (पा० ३।२।५९) इत्यादिसूत्रेण क्विन् प्रत्ययः, "क्विन् प्रत्ययस्य कुः" (पा० ८।२।६२) इति सूत्रेण कुत्वं चकारस्य ककारः । "झलां जशोऽन्ते" (पा० ८।२।३) सूत्रेण जश्त्वम् । नीचैरञ्चतीति न्यक् । रोध इति—"रुधिर् आवरणे" धातोः कर्मणि घञ् । न्यग्भी रुध्यत इति न्यग्रोधः । यद्वा न्यग्रुणद्धीति न्यग्रोधः,

---

इस नामार्थ में "द्विषस्तापयन् हृदः......दुर्हार्दः सर्वास्त्वम्" (अथर्व १९।२८।२) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम शत्रुतापन है, तथा वह ही दर्भ और शुचि है । शुचि नाम सूर्य का है, और दर्भ में बाहुल्य से सूर्य का गुण रहता है, इसी लिये घर्म (धूप) में दर्भ (कुशा) हृष्ट (विकसित) होती है ।

इस में "शरासःकुशरासो दर्भास०" (ऋक् १।१९१।३) यह मन्त्र प्रमाण है ।

न्यग्रोधः—८२२

नि उपसर्ग पूर्वक, गति तथा पूजार्थक अञ्चु से क्विन् प्रत्यय, नकार लोप, कुत्व चकार को ककार, ककार को जश्त्व गकार करने से न्यक् शब्द सिद्ध होता है । नीचे को जो जाता है, उसका नाम न्यक् है । रोध शब्द, आवरणार्थक रुधिर धातु से कर्म में घञ् प्रत्यय करने से बनता है । न्यकों से जिसका अवरोध होवे, उसका नाम न्यग्रोध है । अथवा नीचे को जो जाते हैं उनका नाम न्यक् और उनको जो रोकता है उसका नाम

पचाद्यच् । न्यग्रोधो विष्णुः सूर्यश्च । सर्वं विश्वं यथास्थानं व्यवस्थापयितुं स सर्वस्य नीचैरुच्चैर्वा गमनं रुणद्धि । नीचैरित्युपलक्षणं, तेन स्वस्थानतश्च्यवनं लक्ष्यते । लोके चापि पश्यामः—शरीरे यदङ्गं यत्र स्थापितं तत्तत्रैव तिष्ठेदिति तस्य स्नायुभी रोधो विहितः, बद्धमित्यर्थः । यद्वा न्यग्भिरनुरुध्यते=प्रार्थ्यते ईप्सिताप्तय इति न्यग्रोधः । एवञ्च लोकशरीरयोः समाना स्थितिः । शरीरेण लोकस्य ज्ञानं, लोकेन च शरीरस्य ज्ञानं भवति ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"वि यत् तिरो धरुणमच्युतं रजोऽतिष्ठिपो दिव आतासु बर्हणा ।
स्वमीडे यन्मद इन्द्र हर्ष्याहन् वृत्रं निरपामौब्जो अर्णवम् ॥"

ऋक् १।५६।५ ॥

तुर्वणिरिति सूर्यस्य नाम "यो धृष्णुना शवसा बाधते तमः" इति (ऋक् १।५६।४) मन्त्रे तथा वर्णनात ।

अच्युत इत्यत्र मन्त्रलिङ्गम्—

"इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं विश्वजिद्धनजिदुच्यते बृहत् ।
विश्वभ्राड् भ्राजो महि सूर्यो दृश उरु पप्रथे सह ओजो अच्युतम् ।"

ऋक् १०।१७०।३ ॥

तथा—

"अच्युतम् ।" ऋक् ६।१५।१ ॥

अच्युतशब्दो वेदे विविधविभक्तिवचनान्तः प्रयुक्तः ।

न्यग्रोध है यहां रुध धातु से पचादि अच् प्रत्यय किया है । यह विष्णु या सूर्य का नाम है, क्योंकि वह विश्व की व्यवस्था करने के लिये, विश्व को या विश्वान्तर्गत पदार्थ को नीचे ऊंचे जाने से रोकता है । न्यक् शब्द, लक्षणा से स्थान से च्युत होने को बोधित करता है । लोक में भी हम देखते हैं—शरीर में जो अङ्ग जहां है वह वहां ही रहे, इसलिये वह स्नायुवों से अवरुद्ध (निषिद्ध) कर रक्खा है । अथवा न्यक्=अधरीभूत (अकिञ्चन) जिस से अपनी इष्ट प्राप्ति के लिये अनुरोध 'प्रार्थना' करते हैं, उसका नाम न्यग्रोध है । इस प्रकार से लोक और शरीर की स्थिति समान है, लोक से शरीर का तथा शरीर से लोक का ज्ञान होता है । इसमें यह "वि यत् तिरो धरुणमच्युतम्०" (ऋक् १।५६।५) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है । 'तुर्वणि' नाम "यो धृष्णुना शवसा०" (ऋक् १।५६।४) इत्यादि मन्त्र में सूर्यपरक वर्णन होने से सूर्य का है । अच्युत नाम में "इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिः" (ऋक् १०।१७०।३) मन्त्र प्रमाण है । अच्युत शब्द वेद में विविध विभक्ति वचन भेद से आता है ।

भवति चात्रास्माकम्—

न्यग्रोधनामा भगवान् ह विष्णुर्यथा स्थितं विश्वमिदं बिभर्ति ।
सूर्यो धृतस्तेन रुणद्धि विश्वं न्यग्रोधवृक्षोऽपि रुणद्धि शाखाम् ॥८९॥

यद्वा—

न्यग्रोहतीति 'रुह' धातोः पचाद्यच् "न्यग्रोधस्य च केवलस्य" (पा० ७।३।५) इत्यत्र निपातनात्, पृषोदरादिलक्षणो वा हस्य धकारः । न्यग्रोधाख्यस्य वृक्षस्य जटानां नीचैः प्रसारमवलोक्यैवमुच्यते ।

शरीरं चापि "ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्" (गीता १५।१) इति वचनान्न्यग्रोध इव अधःशाखमुच्यते ।

भवति चात्रास्माकम्—

न्यग्रोधवृक्षो बहुमूल एष चिरं हि तिष्ठन्न्यग्रोहतीति ।
सन्दृश्यतेऽस्मान्न्यग्रोधमेनं रुधेः समानं न्यग्रोधमाहुः ॥९०॥

उदुम्बरः—८२३

उदुपसर्गः, "अबि शब्दे" भौवादिको धातुरिदित्वान्नुम् । अनुस्वारपरसवर्णौ । "ऋच्छेररः" इत्यौणादिक (३।१३१) सूत्रे "बहुलमन्यत्रापीति" वचना-

---

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता हैं—

भगवान् का नाम न्यग्रोध है, क्योंकि वह विश्व को अच्युत अर्थात् व्यवस्थित रखता हुआ इस की रक्षा करता है । विश्व को यथास्थित रूप में रखने वाले सूर्य को उसने धारण कर रक्खा है । अथवा जो नीचे को चलता हे, उसका नाम न्यग्रोध है । यहां न्यक् पूर्वक रुह धातु के हकार को पा० सूत्र ७।३।५ में निपात अथवा पृषोदरादि नियमानुसार धकार हो जाता है । यह व्युत्पादन वटवृक्ष की जटाओं का नीचे की ओर प्रसरण देखकर किया है । गीता के "उर्ध्वमूलमधः शाखम्" (गीता १५।१) इत्यादि वचनों में शरीर को भी न्यग्रोध की तरह 'अधः शाख' कहा है । इस प्रकार शरीर और वट वृक्ष की समानता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

वटवृक्ष का नाम न्यग्रोध इसलिये है कि वह चिरकाल तक रहता हुआ नीचे को प्रसरता (फैलता) रहता है, ऐसा देखने में आता है । इसीलिये इसको रुध धातु से निष्पन्न न्यग्रोध के समान ही न्यग्रोध कहते हैं ।

उदुम्बरः—८२३

उत् यह उपसर्ग है । शब्दार्थक भ्वादिगणपठित अबि धातु के इदित् होने से नुम् और नुम् को अनुस्वार परसवर्ण हो जाते हैं, पुनः अम्ब इससे उणादि अर प्रत्यय बाहुलक

दम्बेरप्यरः प्रत्ययः क्रियते । उत्पूर्वो बहुव्रीहिः । उदम्बर इत्यत्र पृषोदरादित्वादकारस्योकारे—उदुम्बर इति । उद्गतोऽम्बरमित्युदम्बरः सूर्यः । यद्वा—उच्चैः सर्वत उत्तमो वेदरूपः शब्दो यस्य स उदुम्बरः सर्वेश्वरो विष्णुः ।

यद्वा—उत् सर्वत उत्कृष्टत्वेन अम्ब्यते=शब्द्यते=संकीर्त्यते इति उदुम्बरः । **"यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते"** (ऋक् ५।४४।६) इति वैदिकनियमादम्बरं गतो दृष्टः सूर्योऽन्वर्थनामा उदुम्बर इति । अन्तरिक्षस्य दिवो वा पर्यायोऽम्बरशब्दः, शब्दस्य तत्र सद्भावात् । भावार्थं प्रधानं मन्त्रलिङ्गम्—

"उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः ।
यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा ।" अथर्व १।१९।५ ॥

उदुम्बरो वृक्षोऽप्युद्गतोम्बरमुत्कृष्टत्वादुच्चैस्त्वाद् वा । पुष्पोद्गमादृते चायं वृक्षः फलितो भवत्यतोऽन्तःपुष्पोऽयमिति । काश्चन स्त्रियोऽप्यन्तःपुष्पा भवन्ति, विचित्रभोगायतनत्वाच्छरीरस्य । लोकोऽप्ययं विचित्रभोगायतनः । एवञ्चात्र सङ्गतिः—

यथा वानस्पत्यं पुष्पं फलोद्गते बोधकं, तथोषाः सूर्योद्गमस्य ज्ञापिका पुष्पवत् । मन्त्रलिङ्गञ्च—

से होकर अम्बर शब्द सिद्ध होता है, तथा उसका उत् के साथ बहुव्रीहि समास होकर उदुम्बर शब्द बन जाता है । यहां पृषोदरादिलक्षणानुसार अकार को उकार हो जाता है । उदुम्बर नाम, अम्बर=आकाश की ओर ऊर्ध्व जाने करके सूर्य का होता है, अथवा सब से उत्तम है अम्बर (वेदरूप शब्द) जिसका उसका नाम उदुम्बर है, यह भगवान् विष्णु का नाम हुआ । अथवा सबसे उत्कृष्ट रूप से जिसका शब्दन अर्थात् कीर्तन होता है, उसका नाम उदुम्बर है । जैसा देखा जाता है, वैसा ही कहा जाता है—**"यादृग् ददृशे तादृगुच्यते"** (ऋक् ५।४४।६) इस वैदिक नियम के अनुसार अम्बर में गया हुआ सूर्य देखने में आता है, इसलिये यह सूर्य का अन्वर्थ नाम होता है । अम्बर शब्द दिव या अन्तरिक्ष का पर्याय है, क्योंकि शब्द वहां ही रहता है । इसमें यह **"उदसौ सूर्यो आगादुदिदम्"** (अथर्व १।१९।५) इत्यादि भावार्थ-प्रधान मन्त्र प्रमाण है । उदुम्बर नाम, आकाश की ओर गया हुआ होने से, उत्कृष्ट होने से, अथवा अधिक ऊंचा होने से, एक प्रकार के वृक्ष का भी है, तथा इस वृक्ष के फल विना पुष्पों के ही आते हैं, इसलिये यह अन्तःपुष्प होता है । कोई-कोई स्त्रियां भी अन्तःपुष्प होती हैं । शरीर के विलक्षण भोगों का स्थान होने से, यह लोक भी विलक्षण भोगों का स्थान है क्योंकि लोक और शरीर की स्थिति एक समान ही है । पूर्वोक्त की सङ्गति इस प्रकार होती हैं, जैसे वनस्पतियों का पुष्प, फल के आगमन का बोधक होता है, उस ही प्रकार पुष्प के समान यह उषा

"यदुषो यासि भानुना सं सूर्येण रोचते ।" अथर्व २०।१४२।३ ॥

भवति चात्रास्माकम्—

उदुम्बरो विष्णुरुदेति नित्यं लोकस्य दृश्योऽस्ति न संशयोऽतः ।
उषाः प्रसूनस्य समास्ति तस्य लोके च पुष्पाणि फलान्यतः स्युः ॥६१॥

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"महान् वै भद्रो विल्वो महान् भद्र उदुम्बरः ।
महां अभिक्त बाधते महतः साधु खोदनम् ।" अथर्व २०।१३६।१५ ॥

वृक्षोऽप्युदुम्बर एतस्मादेव यज्ञिय उक्तो भवति । विष्णुसहस्रनाम्नः श्लोके च विसर्गलुप्तेऽपि सन्धिरार्षः 'न्यग्रोधोदुम्बर' इत्यत्र ।

अश्वत्थः—८२४

'अशू व्याप्तौ' इति सौवादिकाद्धातोः "अशूप्रुषिप्लुषिलटिकटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्" (द्र० उ० १।१५१) इत्युणादिसूत्रेण क्वनि प्रत्यये अश्वशब्दः सिध्यति । विशेष्यनिघ्नश्चायमश्वशब्दो व्यापनार्थकः । अश्वनामक-

---

देवी सूर्य के आगमन की बोधिका होती है। इस अर्थ का बोधक "यदुषो यासि भानुना" (अथर्व २०।१४२।३) इत्यादि अथर्ववेद मन्त्र है।

भाष्यकार इस भाव को अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

उदुम्बर नाम विष्णु या तदभिन्न सूर्य का है, क्योंकि वह नित्य अम्बर की ओर जाता हुआ लोक से देखा जाता है, इसलिये यह निःसन्देह सूर्य का। अन्वर्थ नाम है। उषा उसके पुष्प के समान है, क्योंकि पुष्प से ही फल का प्रादुर्भाव होता है।

इस नाम में "महान् वै भद्रो बिल्वो महान् भद्र उदुम्बर" (अथर्व २०।१३६।१५) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है। इसी से उदुम्बर वृक्ष यज्ञिय माना गया है।

विष्णुसहस्रनाम के श्लोक में पठित "न्यग्रोधोदुम्बर" पद में विसर्ग का लोप होने पर भी सन्धि आर्ष है।

अश्वत्थः—८२४

व्याप्त्यर्थक अशू धातु से उणादि क्वन् प्रत्यय करने से अश्व शब्द सिद्ध होता है, यह अश्व शब्द व्यापनरूप अर्थ में क्रियाप्रधान होने से विशेष्यनिघ्न अर्थात् इससे विशेष्य के अनुसार ही लिङ्ग वचन विभक्ति आयेंगे। पशु-विशेष का वाचक अश्व शब्द पुल्लिङ्ग है, तथा अश्व शब्द का अजादिगण में पाठ होने से स्त्रीत्व की विवक्षा में अश्वा शब्द बनता है। जो इस समस्त विश्व का व्यापन करते हैं उनका नाम अश्व है। यह पञ्चमहाभूतों का

पशुवाचकस्तुरङ्गमपर्यायोऽश्वशब्दः पुंल्लिङ्गः, तथाश्वशब्दस्याजादिषु पाठात् स्त्रीत्वविवक्षायामश्वेति। अश्नुवते=व्याप्नुवन्ति विश्वमित्यश्वानि=पञ्चभूतानि, तेषु व्यापकत्वेन स्थितोऽश्वत्थः। सप्तम्यन्ताश्वशब्दोपपदाद् गतिनिवृत्त्यर्थकात् 'ष्ठा' धातोः "सुपि स्थः" (पा० ।३।२।४) इति सूत्रेण के प्रत्यये धातोश्च किन्निमित्तक आकारलोपे पृषोदरादित्वात् सकारस्य तकाररूपवर्णविपर्यये चाश्वत्थशब्दः सिध्यति। अर्थप्रधानं मन्त्रलिङ्गञ्च—

"समस्य हरिं हरयो मृजन्त्यश्वहयैरनिशितं नमोभिः।
आतिष्ठति रथमिन्द्रस्य सखा विद्वाँ एना सुमतिं यात्यच्छ।"

ऋक् ९।९६।२॥

"आ सोमो वस्त्रा रभसानि दत्ते।" ऋक् ९।९६।१॥

सोम इति पूर्वतोऽनुवर्तते, कीदृशः स सोम इति तत्स्वरूपं मन्त्र एवं एवमुपलभ्यते। तथा हि—

"सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः।"

ऋक् ९।९६।५॥

"उचथ्ये वपुषि यः स्वराडुत वायो घृतस्नाः।
अश्वेषितं रजेषितं शुनेषितं प्राज्म तदिदं नु तत्।" ऋक् ८।४६।२८॥

अश्वत्थनाम्नि मन्त्रलिङ्गम्—

"यमश्वत्थमुपतिष्ठन्त जायवः।" ऋक् १।१३५।८॥

"अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाज इत्किलासथ यत् सनवथ पूरुषम्।" ऋक् १०।९७।५॥

नाम हुआ, तथा इनमें जो व्यापकरूप से रहता है उसका नाम अश्वत्थ है। सप्तम्यन्त अश्व शब्द के उपपद रहते हुये, गति के निवृत्तिरूप अर्थ में विद्यमान् ष्ठा धातु से क प्रत्यय, और कित् निमित्तक आकार का लोप, तथा पृषोदरादिनियम से सकार को तकाररूप वर्णविपर्यय करने से अश्वत्थ शब्द सिद्ध होता है। इस नामार्थ की प्रामाणिकता **"समस्य हरिं हरयो०"** (ऋक् ९।९६।२) **"आ सोमो वस्त्रा०"** (ऋक् ९।९६।१) इत्यादि मन्त्रों से होती है। यहां ऊपर से सोम शब्द की अनुवृत्ति आती है, वह सोम कैसा है. इसका स्वरूप, **"सोमः पवते जनिता मतीनाम्"** (ऋक् ९।९६।५) तथा **उचथ्ये वपुषि यः स्वराडुत०"** (ऋक् ८।४६।२८) इत्यादि मन्त्रों में वर्णित है। अश्वत्थ नाम की प्रामाणिकता **"यमश्वत्थमुपतिष्ठन्त० जायवः"** (ऋक् १।१३५।८) तथा **"अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे०"** (ऋक् १०।९७।५) इत्यादि मन्त्रों से सिद्ध होती है।

अश्वत्थशब्दस्य वृक्षवाच्यत्वे मन्त्रलिङ्गम्—

"भद्रात् प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात् खदिराद्धवात् ।
भद्रान्न्यग्रोधात् पर्णात् सा न एह्यरुन्धति ।" अथर्व ५।५।५ ॥

तथा—

"प्रैणान् वृक्षस्य शाखयाऽश्वत्थस्य नुदामहे ।" अथर्व ३।६।८ ॥

अश्वशब्दस्याश्नुतेऽध्वानमिति पशुविशेषवाच्यत्वे मन्त्रलिङ्गम्—

"वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः । तं हविष्मन्त ईडते ।"
ऋक् ३।२७।१४ ॥

इति निदर्शनम् ।

यद्वा—अश्नुत इत्यट्, तमशं वाति=गच्छति प्राप्नोति वेत्यश्वः । अशरूपे कर्मण्युपपदे गत्यर्थकाद् वाधातोः "आतोऽनुपसर्गे कः" (पा० ३।२।३) इति सूत्रेण के प्रत्यये तथा आलोपे चाश्वः शब्दः सिध्यति । स चाश्वो लोकस्तस्मिन् तं व्याप्य तिष्ठतीत्यश्वत्थः । अयं हि लोकोऽन्ते विष्णुमेव गच्छति, तस्मिन् समाविशतीत्यर्थः ।

यद्वा—अट्=व्यापको विष्णुस्तं वसते=आच्छादयन्ति, सर्वस्याधारभूतत्वादित्यश्वांसि=भूतानि, तेषु तिष्ठतीत्यश्वत्थः, पृषोदरादिलक्षणो वर्णविपर्ययः ।

अश्वत्थ शब्द वृक्ष का भी वाचक है, इसकी पुष्टि **भद्रात् प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात्०"** (अथर्व ५।५।५) इत्यादि मन्त्र से होती है । जो मार्ग का व्यापन करे उसका नाम अश्व है इस अश्व शब्द के पशु विशेष के वाचकत्व की पुष्टि **"वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः"** (ऋक् ३।२७।१४) इत्यादि मन्त्र से होती है । यह इन उदाहरणों से दिग्दर्शन मात्र किया गया है ।

अथवा, जो इस सकल विश्व को अपनी सत्ता से व्याप्त करता है उसका नाम अट् है, उसको जो प्राप्त करे, उसका नाम अश्व है, यहां क्विवन्त अश् शब्द के उपपद रहते गत्यर्थक वा धातु से क प्रत्यय, और आकार का लोप होने से अश्व शब्द बना है, जो कि लोक का नाम है । उस लोक में लोक को व्याप्त करके जो स्थित है, उसका नाम अश्वत्थ है, क्योंकि यह लोक अन्त में विष्णु में ही समाविष्ट हो जाता है ।

अथवा अट् नाम भगवान् विष्णु का है, क्योंकि वह व्यापक होने से सबका आधार या आच्छादन है, अर्थात् उससे आच्छान्न होने से सब भूत प्राणी अश्वस् हैं, अर्थात् अश्व हैं, उनमें जो रहता है उसका नाम अश्वत्थ है, यहां भी पृषोदरादिलक्षण से सकार को तकार रूप वर्ण-विपर्यय होता है ।

यद्वा—श्वसित्यव्ययमनागताहःकालाभिधाय्यपीह केवलं सामान्यतः कालं लक्षयति एवञ्च। श्वः=काले तिष्ठतीति श्वत्थः सर्वभूतसमुदायः, पृषोदरादिलक्षणो वर्णविपर्ययः सकारस्य तकारः। न श्वत्थोऽश्वत्थः, कालबहिर्भूतो भगवान् विष्णुः। अतएव स सनातनाभिधानः। तथा च कठोपनिषदि—"ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" (क० उप० २।३।१)।

प्रकृतिरपि सर्वस्य स्वविकारजातस्य व्यापिकातोऽश्वरूपेषु विकारेषु, अर्थात् प्रावाहिकनित्येषु तिष्ठतीति कृत्वाश्वत्थशब्दाभिधेया भवति। प्रकृतेरश्वत्थशब्द वाच्यत्वे मन्त्रलिङ्गम्—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।"

ऋक् १।१६४।२० ॥

'इनो विश्वस्य भुवनस्य ...। स नो धीरः पाकमत्राविवेश।"

ऋक् १।१६४।२१ ॥

तथा—

"यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधिविश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्ने तन्नो नशद्यः पितरं न वेद।"

ऋक् १।१६४।२२ ॥

दृश्यते च लोकेऽपि पुरुषः श्वत्थोऽप्यश्वत्थप्रतिनिधिभूतोऽश्वत्थरूपया प्रकृत्या संयुज्य श्वःस्थायिकार्यजातं प्रवाहतोऽश्वत्थरूपं विधत्ते। तथा च प्रत्येकं

अथवा, श्वस् यह आगे आने वाले दिन का वाचक अव्यय पद है, किन्तु यहां यह काल सामान्य को लक्षित करता है, इस प्रकार जो श्वस् अर्थात् काल में स्थित है, उसका श्वत्थ नाम है, और जो श्वत्थ नहीं है, वह अश्वत्थ है, अर्थात् कालचक्र से बहिर्भूत भगवान् विष्णु का नाम है। इसीलिए भगवान् का नाम सनातन भी है, जैसा कि "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः" इत्यादि कठोपनिषत् (२।३।१) के वचने से सिद्ध है।

प्रकृति भी अपने विकारों अर्थात् प्रवाह से नित्य विकारों में विद्यमान होकर अश्वत्थ नाम से कही जाती है, प्रकृति के अश्वत्थ शब्द से उक्त होने की पुष्टि "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया०" (ऋक् १।१६४।२०) "इनो विश्वस्य भुवनस्य" (ऋक् १।१६४।२१) तथा "यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णाः" (ऋक् १।१६४।२२) इत्यादि मन्त्रों से होती है।

हम लोक में भी देखते है, पुरुष कालस्थित होने से यद्यपि श्वत्थ है, तथापि अश्वत्थ का प्रतिनिधि होकर वह, अश्वत्थरूप प्रकृति से संयोग करके श्वत्थरूप होने पर भी

जीवः प्रकृतिरूपया स्त्रिया संयोगमेत्य श्वत्थानेव प्रवाहतोऽश्वत्थान् जातकान् जनयति, अर्थात् ते कालचक्रे बम्भ्रम्यमाणा उत्पादविनाशशालिनो भवन्ति। एवमियं सृष्टिरप्युत्पतिविनाशशीलेति शृणुमः। तथा च—"कालोऽश्वो वहति सप्तरश्मिः" (अथर्व १६।५३।१) इत्यथर्ववचनात्। अश्वरूपः सप्तनामा कालः सर्वं वहतीत्यर्थः। अत एवाश्वस्य **सप्तिरिति** नाम। मूलतः सर्वोऽयं दृश्यवर्गः काले तिष्ठति, कालबहिर्भूतस्तु भगवान् विष्णुरेक एवातोऽयमश्वत्थ इत्युच्यते।

भवतश्चात्रास्माकम्—

अश्वत्थमाहुः कवयो हि विष्णुमश्वत्थमाहुः सुधियो हि सूर्यम्।
अश्वत्थमाहुः सुविरूढमूलं वृक्षं तथा तां प्रकृतिं सुपर्णाम्॥६२॥

अश्वत्थमेनं विविधप्रकारं विद्वान् हि यो वेत्ति विमुक्तशङ्कः।
स एव तं विष्णुमथापि सूर्यं वृक्षं त्वजां पश्यति सर्वयाताम्॥६३॥

चाणूरान्ध्रनिषूदन—८२५

"चण शण श्रण दाने च" इति भ्वादिगणपठितश्चण धातुर्दाने चाद् गतौ च। तस्मात् प्राकृतेऽर्थे **"निवृत्तप्रेषणाद्धातोः प्राकृतेऽर्थे णिजिष्यते"** इति

प्रवाह से नित्य अश्वत्थरूप कार्य समूह को करता है, इसी प्रकार प्रत्येक जीव प्रकृतिरूप स्त्री से संयुक्त होकर श्वत्थ, तथा प्रवाह से नित्य होने से अश्वत्थ बालकों को उत्पन्न करता है, अर्थात् यह सब जातकगण, कालचक्र में वार-वार भ्रमण करता हुआ उत्पत्ति तथा विनाशशील होता है, इसी प्रकार यह भौतिक सृष्टि भी, उत्पत्ति तथा विनाशशील होती है, ऐसा हम सुनते हैं। जैसा कि, **"कालोऽश्वो वहति सप्तरश्मिः"** अथर्व इस (१६।५३।१) वचन से सिद्ध है, अर्थात् अश्वरूप सप्तनामा काल सबका वहन कर रहा है, इसीलिये अश्व का नाम सप्ति भी है। इस सब दृश्य वर्ग का अधिकरण मूल में काल है, और इस काल से जो बाहर है वह ही अश्वत्थ है, यह भगवान् का नाम है,

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

कवि विद्वान् पुरुष, अश्वत्थ शब्द से भगवान् विष्णु, सूर्य, वृक्ष तथा प्रकृति को कहते हैं।

इस विविध प्रकार के अश्वत्थ को जो विद्वान् संशय रहित होकर अच्छे प्रकार से जानता है वह ही विष्णु, सूर्य अथवा सर्वगत प्रकृति को व्यापक रूप से देखता है।

चाणूरान्ध्रनिषूदनः—८२५

चाणूर शब्द, भ्वादिगण पठित दान तथा गत्यर्थक चण धातु से **"निवृत्तप्रेषणाद्धातोः प्राकृतेऽर्थे णिजिष्यते"** इस वैयाकरणों के नियमानुसार प्रेरणा रहित

वैयाकरणसमयानुसारं हेतुमण्णिज् विहितस्तथा चोपधावृद्धौ 'चाणि' धातुस्ततः **"खर्जिपिञ्जादिभ्य ऊरोलचौ"** (उ० ४।६५) इत्युणादिसूत्रेण खर्जिपिञ्जादेराकृतिगणत्वादूरः प्रत्ययो णिचो लोपः 'चाणूरः'।

यद्वा—शुद्धाच्चणेरेवोरश्चणूर इति चणूर एव च चाणूरः स्वार्थिकोऽण्।

यद्वा—चणतेरूरो बाहुलकाद् वृद्धिः चाणूरः। यद्वा चणूरशब्द स्थाने शिष्टैश्चाणूर इति प्रत्युक्तः। अतएव ज्ञापकाद् **"अन्येषामपि दृश्यते"** (पा० ६।३।१३७) इति सूत्रेण नारकः पूरुषः इव दीर्घः। चणन्ति=ददति दानशीला सात्त्विकवृत्तयश्चाणूराः।

यद्वा—"चायृ पूजानिशामनयोः" इति धातोर्बाहुलकादौणादिक ऊरः प्रत्ययः पृषोदरादिलक्षणो वर्णविपर्ययो यकारस्य णकारः शिष्टैः प्रयुक्तत्वात्तदनुसारिसाधनप्रयत्नः। चाय्यन्ते=पूज्यन्ते इति चाणूराः, प्रशस्तहृदयाः साधवः।

अन्ध्र इति—"अन्ध दृष्टयुपघाते" चौरादिको धातुस्ततः **"ऋज्रेन्द्राग्रवज्र"** (उ० २।२८) इत्युणादिसूत्रेण बाहुलकाद् रन् प्रत्ययः अतो लोपो णेर्लोपश्च—अन्धयतीति अन्ध्र इति। यद्वा **"सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्"** (उ० ४।१५९)

शुद्ध धातु के अर्थ में णिच् प्रत्यय करके, चाणि धातु से उणादि ऊर प्रत्यय, और णि का लोप करने से, चाणूर शब्द सिद्ध होता है। अथवा शुद्ध चण धातु से ही उणादि ऊर प्रत्यय करने से चणूर, तथा चणूर शब्द से स्वार्थ में अण् प्रत्यय करने से चाणूर शब्द बन जाता है।

अथवा चण धातु से ऊर प्रत्यय और बाहुलक से वृद्धि करने से चाणूर शब्द बनता है। अथवा चणूर शब्द के स्थान में शिष्टों ने चाणूर शब्द को प्रयुक्त किया है, इसलिये शिष्टोच्चारण सामर्थ्य से **"अन्येषामपि दृश्यते"** (पा० ६।३।१३६) इस सूत्र से दीर्घ हो जाता है। इस प्रकार दानशील सात्त्विक पुरुषों का नाम चाणूर होता है।

अथवा, निशामन तथा पूजार्थक चायृ धातु से बाहुलक से उणादि ऊर प्रत्यय तथा पृषोदरादिलक्षण वर्णविपर्यय यकार को णकार करने से चाणूर शब्द सिद्ध होता है। शिष्टों के द्वारा प्रयुक्त होने से चाणूर शब्द को तदनुसार ही साधने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार से पूजा के योग्य प्रशस्तहृदय सत्पुरुषों का नाम चाणूर होता है।

अन्ध्र शब्द, दृष्टि के उपघातरूप अर्थ में वर्तमान चुरादिगण पठित अन्ध धातु से, बाहुलक से उणादि रन् प्रत्यय, अकारलोप, तथा णिलोप करने से सिद्ध होता है। अथवा अन्ध धातु से उणादि सर्वधातुलक्षण ष्ट्रन् प्रत्यय, षकार की इत्संज्ञा लोप, झष् से परे होने से तकार को धकार। यहां तकार षकार के हट जाने से अपने रूप में आया हुआ है, तथा

इत्युणादिना ष्ट्रन् प्रत्ययः ष् इत्, झषः परत्वात्तस्य धः। तकारश्च षकारापाये स्वरूपसम्पन्नः। अन्धयन्ति=विप्रलभन्त इत्यन्ध्राः वञ्चका इत्यर्थः।

निषूदन इति निपूर्वाण्णिजन्तात् "षूद क्षरणे" धातोर्नन्द्यादित्वाल्ल्युः, योरनादेशो, णेर्लोपः। "सात् पदाद्योः" (पा० ८।३।१११) इति सूत्रेण प्राप्तः षत्वनिषेधः "सुषामादिषु च" (पा० ८।३।९८) इति सूत्रेण सुषामादेराकृतिगणत्वात् प्रतिषिध्यते। निषूदयति क्लेशयति=सर्वप्रकारेण नितरां बाधते—इत्यर्थः। एवञ्च सत्त्वनिष्ठानां दानशीलानां पूज्यानां ये विप्रलम्भकास्तेषां निषूदनः कर्मानुसारिफलदानेन दण्डविधानात् परितापयिता=बाधक इत्यर्थः सम्पन्नः। यथा च लोकेऽपि पश्यामः—ये दुर्मदा बलिनोऽसाधुस्वभावा विप्रलम्भन्ते निर्बलान् साधुस्वभावान्, तेषां धनापहरणकारावासादिना च राजा निषूदनः=बाधको दण्डयिता भवति।

यद्वा—अव्युत्पत्तिपक्षमाश्रित्य—मेघ एव चाणूरान्ध्रः—यतो हि सोऽन्न फलोत्पत्तिहेतुभूतानि नेत्ररूपाणि पुष्पाणि हन्ति। पुष्पाणि हि फलानां नेत्राणि, पुष्पागमदर्शनेन फलागमदर्शनात्, तेषाञ्चान्धयिता मेघोऽतः स चाणूरान्ध्रः। तस्य च यो निषूदनो भेत्ता स चाणूरान्ध्रनिषूदनो विष्णुः, इन्द्रशब्दाभिधेयः

पाक्षिक सवर्ण झर् का लोप होने से अन्ध्र शब्द सिद्ध हो जाता हैं। जो अन्धा करते हैं, अर्थात् वञ्चन करते हैं (ठगते हैं), उनका नाम अन्ध्र है।

निषूदन शब्द, निपूर्वक णिजन्त क्षरणार्थक (विनाशार्थक) षूद धातु से नन्द्यादिलक्षण ल्यु प्रत्यय, यु को अन आदेश, तथा णि का लोप करते से सिद्ध होता है। यहां "सात्पदाद्योः" (पा० ८।३।१११) इस सूत्र से प्राप्त षत्व का निषेध सुषामादिगण के आकृतिगण होने से "सुषामादिषु च" (पा० ८।३।९८) इस सूत्र से प्रतिषिद्ध हो जाता है। जो क्लेश देता है, अर्थात् अत्यन्त पीड़ा देता है, उसका नाम निषूदन है। इस प्रकार जो सत्वनिष्ठ दानशील पूज्य महापुरुषों को ठगते हैं, उनको उनके कर्मानुसार दण्ड विधान करके जो बाधित (पीड़ित) करता है, यह चाणूरान्ध्रनिषूदन शब्द का समस्तार्थ हुआ। जैसा कि हम लोक में देखते हैं—जो दुर्मद बली दुःस्वभाव पुरुष, निर्बल साधुस्वभाव पुरुषों को ठगते हैं, उनको राजा उनके धनापहरण तथा कारावास (कैद) आदि के द्वारा पीड़ा देता है।

अथवा चाणूरान्ध्र शब्द का रूढ अर्थ मेघ लेने से, मेघ का भेदन करने वाला चाणूरान्ध्रनिषूदन हुआ। चाणूरान्ध्र यह मेघ का नाम इसलिये उपयुक्त होता है कि वह अन्न तथा फलों के हेतुभूत, उनके नेत्र रूप पुष्पों का हनन करता है। पुष्प ही फलों के नेत्र हैं, क्योंकि पुष्पों के द्वारा ही फलों का दर्शन होता है। चाणूरान्ध्रनिषूदन नाम, इस प्रकार से विष्णु या इन्द्र शब्द के वाच्य सूर्य का हुआ, वस्तुतस्तु सूर्य ही विष्णु,

सूर्यो वा । सूर्य एव विष्णुः विष्णुरेव च सूर्यः । तथा च वेदवचनम्—"अग्निर्वृत्राणि जंघनत्" (ऋक् ६।१६।३४) अग्निः=सूर्यः, वृत्रशब्दो मेघपर्यायः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"इन्द्रो दीर्घाय चक्षसे आ सूर्यं रोहयद्दिवि । वि गोभिरद्रिमैरयत् ।"

ऋक् १।७।३ ॥

अद्रिशब्दो निघण्टौ १।१० मेघनामसु पठितः । तत्र त्रिंशन्नामानि मेघस्य न च तानीह लक्ष्यन्ते केवलं पथः प्रदर्शनं नोऽभिमतमिति ।

एतदर्थाभिधायी मन्त्रश्च—

"वज्रमेको बिभर्ति हस्त आहितं तेन वृत्राणि जिघ्नते ।"

ऋक् ८।२९।४ ॥

बभ्रुरित्यनुवर्तते—"**बभ्रुरेकः**" (ऋक् ८।२९।१) इति । तथा—

'आशर्म पर्वतानां वृणीमहे नदीनाम् । आ विष्णोः साचाभुवः ।"

ऋक् ८।३१।१० ॥

एवं—

"ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ।"

ऋक् २।१२।११ ॥

"ऐतु पूषा रयिर्भगः स्वस्ति सर्वधातमः । ऊरुरध्वा स्वस्तये ।"

ऋक् ८।३१।११ ॥

अत्रैक एव ऊरुरध्वा=सूर्यो बहुधा स्तुतो भवति । इत्यूहाक्रमः ।

और विष्णु ही सूर्य है, जैसा कि "**अग्निर्वृत्राणि जंघनत्**" (ऋक् ६।१६।३४) यह वेद वचन है। यहां अग्नि सूर्य का नाम तथा वृत्र मेघ का नाम है। इसमें "**इन्द्रो दीर्घाय चक्षसे**" (ऋक् १।७।३) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं। निघण्टु में अद्रि शब्द का मेघ के नामों में पाठ है। निघण्टु में मेघ के तीस (३०) नाम लिखे हैं, लेकिन उन सब को यहां न दिखाकर केवल दिग्दर्शन कराना हमारा अभिमत है। इसी अर्थ को कहने वाला यह "**वज्रमेको बिभर्ति हस्त आहितम्**" (ऋक् ८।२९।४) इत्यादि मन्त्र है। यहां ऊपर से बभ्रु शब्द की अनुवृत्ति आती है, जिसके साथ विशेषणभूत एक शब्द का योग होकर '**एकबभ्रु**' ऐसा पदों का समन्वय होता है। "**आशर्म पर्वतानाम्०**" (ऋक् ८।३१।१०) इत्यादि से लेकर "**एतु पूषा रयिर्भगः०**" (ऋक् ८।३१।११) इत्यादि तक की ऋचायें इसी अर्थ को पुष्ट करती हैं। यहां एक ही ऊरुरध्वा नाम सूर्य की विभिन्न प्रकार से स्तुति की गई है। यह कल्पनाओं के क्रम का दिग्दर्शन है।

भवति चात्रास्माकम्—

चाणूरान्ध्रनिषूदनः स भगवानिन्द्रोऽथवा स स्मृतः,
तं सूर्यं तमु वाग्निमुग्रयशसं तं वा सनाद् भास्करम् ।
तं हंसं तमु वा सुपर्णमुरगं तं वा रथेष्ठं गुरुम्,
गायन्ति कवयो विशुद्धमनसो वेदेऽस्ति येषां गतिः ।।६४।।



सहस्रार्चिः सप्तजिह्वः सप्तैधाः सप्तवाहनः ।
अमूर्तिरनघोऽचिन्त्यो भयकृद् भयनाशनः ।।१०२।।

८२६ सहस्रार्चिः, ८२७ सप्तजिह्वः, ८२८ सप्तैधाः, ८२९ सप्तवाहनः । ८३० अमूर्तिः, ८३१ अनघः, ८३२ अचिन्त्यः ८३३ भयकृत् ८३४ भयनाशनः ।।

सहस्रार्चिः—८२६

सहस्रशब्दोऽनन्तपर्यायः प्राग्व्युत्पादितः ।

अर्चि शब्दश्च—"अर्च पूजायाम्" इति भौवादिकाद्धातोः **"अर्चिशुचिहुसृपिच्छादिच्छर्दिस्य इसिः"** (२।१०८) इत्युणादि सूत्रेण इसिः प्रत्ययः । अर्चिर्ज्वाला, हेतिर्वा । अनन्ता दीप्तयो, हेतयो वा यस्य स सहस्रार्चिः । यथायमपरिमितज्वालो विश्वं व्यश्नुवानो भगवान् भास्करः प्रकाशमानो दृश्यते सहस्रार्चिः, तथैवायं सर्वेषां नभश्चराणां, जलचराणां, भूचराणां, नभोभूचराणां, जलभूचराणाञ्च जीवानामात्मभूतो जीवयिता । तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

विशुद्धान्तःकरण वेदविद विद्वान्, चाणूरान्ध्रनिषूदन भगवान् विष्णु तथा सदा प्रकाशमान सूर्य का उग्रयशा, अग्नि, हंस, सुपर्ण, रथेष्ठ तथा गुरु आदि नामों से गान करते हैं ।

सहस्रार्चिः—८२६

'सहस्र' शब्द अनन्त का वाचक है, यह पहले कहा गया है । 'अर्चि' शब्द, पूजार्थक 'अर्च' धातु से उणादि 'इसि' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है । 'अर्चि' नाम ज्वाला या हेति का है, अनन्त है अर्चि=ज्वाला या हेति (शस्त्र विशेष) जिसके उसका नाम है 'सहस्रार्चि' । जिस प्रकार, यह सूर्य अनन्त ज्वालाओं से प्रकाशमान होकर विश्व को व्याप्त कर रहा है, उसी प्रकार यह, सब आकाशचर, जलचर, स्थलचर, आकाश और स्थलचर, तथा जल

"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।" ऋक् १।११५।१ ॥

अत एव सर्वासु योनिषु जीवानामन्तर्भेदकृता, प्रकटभेदकृता वाकृति-र्बलञ्च सूर्याचिर्वैविध्याद् भिन्न-भिन्नं दृश्यते । दृश्यन्ते च स्थावरेष्वपि सहस्रार्चिसूर्यकृता नाना भेदाः। यथा च भगवतः सूर्यस्यार्चिषो न संख्यातुं शक्यन्ते, तथैव सूर्यादीनामपि प्रकाशकस्य जगतो व्यवस्थापयितुर्भगवतो विष्णो रूपं न मृल्लोष्ठवद् वाचाभिधातुं चक्षुर्भ्यां वा दर्शयितुं शक्यते, अतः स सहस्रार्चिर्विष्णुः । मन्त्रलिङ्गञ्च—

"सहस्रकेतुं वनिनं शतद्वसुं ।" ऋक् १।११९।१ ॥

"प्र गायत्रेण गायत पवमानं विचर्षणिम् । इन्दुं सहस्रचक्षसम् ।"
ऋक् ९।६०।१ ॥

"तं त्वा सहस्रचक्षसमथो सहस्रमर्णसम् ।" ऋक् ९।६०।२ ॥

"दीर्घतन्तुर्बृहदुक्षायमग्निः सहस्रस्तरीः शतनीथ ऋभ्वा ।
द्युमान् द्युमत्सु नृभिर्मृज्यमानः सुमित्रेषु दीदयो देवयत्सु ।"
ऋक् १०।६९।७ ॥

"स वज्रभृद् दस्युहा भीमं उग्रः सहस्रचेताः शतनीथ ऋभ्वा ।"
ऋक् १।१००।१२ ॥

"सहस्रणीतिर्यतिः ।" ऋक् ९।७१।७ ॥

"बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते ।"
ऋक् ७।८८।५ ॥

"सोमः पुनानो अर्षति सहस्रधारो अत्यविः ।" ऋक् ९।१३।१ ॥

"सहस्रयाजसः ।" ऋक् ९।१३।३ ॥

"सहस्रपर्णः ।" ऋक् ८।७७।७ ॥

"सहस्रपात् ।" ऋक् १०।९०।१ ॥

और स्थलचर, जीवों का आत्मरूप होकर इनको जीवन दे रहा है। जैसा कि—"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" (ऋक् १।११५।१) इत्यादि मन्त्र से प्रतिपादित है। इसी-लिये सब योनियों में, जीवों का आन्तर और वाह्य आकृति बल आदि, सूर्य की ज्वालाओं के भेदकृत प्रभाव से भिन्न-भिन्न दीखता है। स्थावर वर्ग में भी सहस्राचि सूर्य के प्रभाव से विविध भेद देखने में आते हैं। जिस प्रकार सूर्य की ज्वालाओं की गणना करना असम्भव है, उसी प्रकार सूर्य आदिकों के प्रकाशक, सब जगत् के व्यवस्थापक, भगवान् विष्णु के रूपों का वाणी से कथन या चक्षुओं का विषय करना मिट्टी के ढेले के समान असम्भव है, इसलिये भगवान् विष्णु का नाम सहस्राचि है। इसमें "सहस्रकेतुं वनिनं शतद्वसुम्"

"सहस्रपोषम् ।" ऋक् २।३२।५ ॥
"सहस्रपोषिणम् ।" ऋक् ८।१०३।४ ॥
"सहस्रबाह्वे ।" ऋक् ८।४५।२६ ॥
"सहस्रभृष्टिः ।" ऋक् १।१८०।१२ ॥
"सहस्रमीडे ।" ऋक् १।११२।१० ॥
"सहस्रभरः ।" ऋक् २।६।१ ॥
"सहस्रयामा ।" ऋक् ६।१०६।५ ॥
"सहस्रवीरम् ।" ऋक् १।१८८।४ ॥
"सहस्रशीर्षा ।" ऋक् १०।६०।१ ॥
"सहस्रशृङ्गः ।" ऋक् ५।१।८ ॥
"सहस्रस्थूणम् ।" ऋक् ५।६२।६ ॥

सहस्रपदमधिकृत्योक्तमेतत् स्थूलं निदर्शनजातम् ।

मन्ये सहस्रार्चिरिहास्ति विष्णुः सूर्योऽथवाग्निः स उ सर्वविष्टः ।
रूपैः स्वकैः स्वं पुरतो विधत्ते विपश्चितोऽयं न तु मूढबुद्धेः ॥६५॥

तथा च—

अतोऽस्ति गीतः स सहस्रमूर्तिः स विश्वरूपोऽस्ति च नैकरूपः ।
सहस्रशृङ्गः स सहस्रयामा सहस्रपात् सोऽस्ति सहस्रशीर्षा ॥६६॥

(१।११६।१) इस ऋचा से लेकर अधोलिखित "सहस्रस्थूणम्" (५।६२।६) ऋचा तक की ऋचायें प्रमाण हैं। यह सब सहस्र शब्द को अधिकृत करके उद्धृत किया गया है, तथा स्थूल उदाहरण गण है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों में इस प्रकार व्यक्त करता है—

सहस्रार्चि नाम सर्वव्यापक भगवान् विष्णु, सूर्य अथवा अग्नि का है, भगवान् समग्र रूपों सहित अपने आपको विद्वान् के सामने प्रकट कर देता है, किन्तु मूर्ख को इस विषय का ज्ञान नहीं होता।

इसीलिये विद्वानों ने भगवान् का सहस्रमूर्ति, विश्वरूप, नैकरूप, सहस्रपात्, सहस्रशृङ्ग, सहस्रयाम तथा सहस्रशीर्ष आदि नामों से सङ्कीर्तन किया है।

इस प्रकार से जो सहस्रार्चि को जानता है वह ही वस्तुतः तत्त्व को जानता है। तथा उस ही परमपिता सर्वव्यापक वरणीय विष्णु को विधानानुसार यजन करते हुये देवता भी नमस्कार करते हैं।

तथा च—

एवं हि यो वेत्ति सहस्रदीप्ति स एव जानाति विभुं वरेण्यम् ।
तमेव देवाः शिरसा नमन्तो यजन्ति मन्त्रैर्हविषा यथेष्टम् ॥९७॥

अथापि—

विष्णुः सहस्रार्चिरनन्तरश्मिः शिल्पी च तद्रश्मिमिह प्रगृह्य ।
विभिन्नयन्त्रेषु नियुज्य विश्वे गन्धानिहाप्नोति ततो विभिन्नान् ॥९८॥

सप्तजिह्वः—८२७

"षप् समवाये" भौवादिको धातुस्ततः "सप्यशूभ्यां तुट् च" (१।१५७) इत्युणादिसूत्रेण 'कनिन्' प्रत्ययस्तुटश्चागमः । सपन्तीति सप्त, संख्यावाचकः शब्दः । नान्तत्वात् सप्तशब्दस्य "ष्णान्ता षट्" (पा० १।१।२३) सूत्रेण षट् संज्ञा, ततश्च "ऋन्नेभ्यो ङीप्" (पा० ४।१।५) इति सूत्रेण प्राप्तो ङीप् "न षट्स्वस्रादिभ्यः" (पा० ४।१।१०) सूत्रेण प्रतिषिध्यते सप्तेति । जिह्वेति— 'लिह आस्वादने' धातुरादादिकस्ततः "शेवायह्वजिह्वाग्रीवाप्वामीवाः" (१।१५४) इत्युणादिसूत्रेण वन्प्रत्ययः लस्य जश्च, गुणाभावः निपातनात् । अनिट् चायं धातुः । स्त्रियां टाप् जिह्वेति । सप्त जिह्वा यस्येति बहुव्रीहिः समास उपसर्जनह्रस्वः, नलोपः । सप्तजिह्वाश्चोक्ता मुण्डकोपनिषदि । तथा च—

भगवान् विष्णु ही सहस्ररश्मि या सहस्रार्चि नाम का वाच्यार्थ है। वैज्ञानिक पुरुष यन्त्र द्वारा उसकी रश्मियों को प्रकट करके विभिन्न प्रकार के गन्धों का आविष्कार करता है।

सूर्य की किरणों द्वारा गन्ध प्रकट करने की प्रक्रिया पहले (भाग ३ पृष्ठ १४६, १४७) कही गई है।

सप्तजिह्वः—८२७

समवाय नाम सम्बन्ध या समीचीन बोध का है, एतदर्थक 'षप्' इस भ्वादिगण पठित धातु से उणादि 'कनिन्' प्रत्यय और 'तुट्' का आगम करने से 'सप्त' यह संख्या-वाचक शब्द सिद्ध होता है। सप्तन् शब्द के नान्त होने से (पा० १।१।२३ सूत्र से) षट् संज्ञा हो जाती है, इसलिये (पा० ४।१।५ सूत्र से) नान्तलक्षण प्राप्त ङीप् का (पा० ४।१।१०। सूत्र से) निषेध हो जाता है।

'जिह्वा' शब्द, आस्वादनार्थक 'लिह' इस अदादिगणीय अनिट् धातु से उणादि 'वन्' प्रत्यय, निपातन से लकार को जकार तथा गुण का अभाव, और स्त्रीत्व के वाच्य होने पर टाप् करने से सिद्ध होता है।

सप्त हैं जिह्वायें जिसकी, ऐसा बहुव्रीहि समास करने पर उपसर्जनह्रस्व और नकार का लोप करने से 'सप्तजिह्व' यह समस्त पद बनता है। मुण्डकोपनिषद् में सप्त

"काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्तजिह्वाः ।"
मु० उ० १।२।४ ॥

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"दिवश्चिदग्ने महिना पृथिव्या वच्यन्तां ते वह्नयः सप्तजिह्वाः ।"
ऋक् ३।६।२ ॥

यथा चायं सप्तजिह्वो भगवान् तथा विश्वमपि, सप्तेत्यनेकोपलक्षणमनेकप्रकारजिह्वं विधत्त इत्यर्थः । जङ्गमवर्गे च प्रत्यक्षमिदं दृश्यते । एवं भगवान् विष्णुः सप्तजिह्वेतिनाम्ना स्तुतिमाप्नोति ।

भवति चात्रास्माकम्—

स सप्तजिह्वोऽग्निरसौ च सूर्यः स एव विष्णुः स उ सप्तरश्मिः ।
सोऽग्निर्हि देवान् वहते हवींषि तन्नामनुन्नानि यजद्भिरग्नौ ॥६६॥

लोकेऽपि च पश्यामो मुखं स्वात्तं भक्ष्यं प्राणवायुप्रेरितया जिह्वया जाठराग्नये ददाति । भवति लोकेन समो वेदो वेदेन च समो लोकः ।

जिह्वाओं का परिगणन इस प्रकार किया है । जैसे—काली १ कराली २ मनोजवा ३ सुलोहिता ४ सुधूम्रवर्णा ५ स्फुलिङ्गिनी ६ विश्वरुची ७ । तथा यह सप्तजिह्व नाम **"दिवश्चिदग्ने महिना०"** (ऋक् ३।६।२) इत्यादि मन्त्र से प्रमाणित होता है ।

भगवान् सप्तजिह्व, अपने नामानुसार इस विश्व को भी सप्तजिह्व बनाता है । सप्त शब्द अनेकत्व का उपलक्षण है, इसलिये विश्व को सप्तजिह्व अर्थात् अनेक प्रकार की जिह्वाओं से युक्त बनाता है, जैसा कि जङ्गमवर्ग में प्रत्यक्ष देखने में आता है । इस प्रकार से भगवान् का सप्तजिह्व यह नाम सङ्गतार्थ होता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम सप्तजिह्व है, और वह ही अग्नि सूर्य, तथा सप्तरश्मि है, और वह ही अग्निरूप से, देवों के तत्-तत् नामों से यजमानों द्वारा प्रदत्त हवि को देवों को पहुंचाता है ।

लोक में भी हम देखते हैं, मुख भक्ष्य को ग्रहण करके प्राण वायु से प्रेरित जिह्वा के द्वारा जाठर अग्नि को पहुंचाता है । लोक और वेद की स्थिति एक समान ही है ।

सप्तैधाः—८२८

सप्तेति शब्दः प्राग्व्युत्पादितः सप्तजिह्वनामव्याख्याने ।

एधः—'एध वृद्धौ" इति धातोर्भौवादिकात "सर्वधातुभ्योऽसुन्" (४।१८९) इत्युणादिसूत्रेणासुन् प्रत्ययः । समासे च सप्त—एधांसि यस्येत्यत्र विभक्तिलोपे, प्रातिपदिकत्वे, सौ "अत्वसन्तस्य चाधातोः" (पा० ६।४।१४) सूत्रेण दीर्घः - "वृद्धिरेचि" (पा० ६।१।८५) इति सूत्रेण वृद्धिः, सप्त—एधांसि =इन्धनानि, दीपनानि यस्य स इति । मन्त्रलिङ्गञ्च—

"सप्त ते अग्ने समिधाः सप्त जिह्वाः ।" यजुः १७।७९ ॥

"यः सप्तरश्मिर्वृषभः तुविष्मानवासृजत् सर्तवे सप्तसिन्धून् ।
यो रौहिणमस्फुरद् वज्रबाहुर्द्यामा रोहन्तं स जनास इन्द्रः ।"

ऋक् २।१२।१२ ॥

"प्र सप्तवध्रिराशसा धारामग्नेरशायत ।" ऋक् ८।७३।९ ॥

"यस्मा अर्कं सप्तशीर्षाणमानृचुस्त्रिधातुमुत्तमे पदे ।
स त्विमा विश्वा भुवनानि चिक्रददादिज्जनिष्ट पौंस्यम् ।"

ऋक् ८।५१।४ ॥

तथा—

"पाति यह्वश्चरणं सूर्यस्य—पाति नाभा सप्तशीर्षाणमग्निः ।"

ऋक् ३।५।५ ॥

इति निदर्शनम् ।

सप्तैधः—८२८

'सप्त' शब्द का व्युत्पादन पहले कर दियां गया है । 'एधः' शब्द, वृद्ध्यर्थक भ्वादिगणीय 'एध' धातु से उणादि सर्वधातुलक्षण 'असुन्' प्रत्यय करने से बनता है । सप्त हैं एध जिसके, इस बहुव्रीहि समास में, प्रातिपादिक संज्ञा विभक्तिलोप, और सु विभक्ति परे दीर्घ तथा (पा० ६।१।८५) सूत्र से वृद्धिहोकर 'सप्तैधाः' शब्द बन जाता । सप्त हैं एध=दीपन करने वाले जिसके, उसका नाम है 'सप्तैधाः' । यह अर्थ इस—**"सप्त ते अग्ने समिधः"** (यजुः १७।७९), **"यः सप्तरश्मिर्वृषभः"** (ऋक् २।१२।१२) **"प्रसप्तवध्रिराशसा"** (ऋक् ८।७३।९) **"यस्मा अर्कं सप्तशीर्षाणमानृचुः"** (ऋक् ८।५१।४) तथा **"पाति यह्वश्चरणं सूर्यस्य"** (ऋक् ३।५।५) इत्यादि मन्त्र गण से प्रमाणित होता है । यह उदाहरणमात्र है ।

दीप्तिमत्सु सप्तग्रहेषु चैक एवाग्निरेधते—नामरूपगुणान् पृथक् पृथग्-बिभर्ति। तथा चैतदप्यूह्यम्—

"सप्ताश्वः।" ऋक् ४।४५।६।

"सप्तस्वसा।" ऋक् ६।६१।१०॥

"सप्तहोता।" ऋक् ३।२९।१४॥

"सप्तास्यः।" ऋक् ४।५०।४॥

साद्यन्तञ्च मन्त्रम्—

"सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्त ऋषयः सप्त धाम प्रियाणि। सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरापृणस्व घृतेन स्वाहा।"

यजुः १७।७९॥

भवति चात्रास्माकम्—

सप्तैधाश्च च एवाग्निः सूर्यो विष्णुर्यमोऽर्यमा।
सप्ताश्वः सप्तहोता वा सप्तास्यः स हि वा स्मृतः॥१००॥

सप्तवाहनः—८२९

सप्तशब्दो व्युत्पादितचरः सप्तजिह्वनामव्याख्याने।
वाहनमिति—'वह प्रापणे' इति णिजन्ताद्धातोः करणे ल्युट्, णिलोपः।

पृथक्-पृथक् नाम रूप गुणों को धारण करता हुआ एक ही अग्नि; दीप्ति वाले सप्त सूर्य आदि ग्रहों में भासमान हो रहा है। इसी प्रकार से भिन्न-भिन्न ऋचाओं में पठित—**सप्ताश्वः** (ऋक् ५।४५।६), **"सप्तस्वसा"** (ऋक् ६।६१।१०), **"सप्तहोता"** (ऋक् ३।२९।१४), **"सप्तास्यः"** (ऋक् ४।५०।४) और **"सप्त ते अग्ने समिधः"** (यजुः १७।७९) इत्यादि ऋचाओं में पठित सप्तानुगत शब्दों से इस नाम की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

सप्तैधा नाम भगवान् विष्णु का है, तथा वह विष्णु ही अग्नि, सूर्य, यम, अर्यमा, सप्ताश्व, सप्तहोता तथा सप्तास्य नाम से स्मरण किया जाता है।

सप्तवाहनः—८२९

'सप्त' शब्द की व्युत्पत्ति दिखादी गई है। 'वाहन' शब्द, प्रापणार्थक णिजन्त 'वह' धातु से करण में ल्युट् प्रत्यय, यु को अन आदेश करने से सिद्ध होता है। अथवा प्रेरणा

योरनादेशः। सप्त वाहनानि यस्य स सप्तवाहन इति। यद्वा प्राकृतेऽर्थे णिच्, तदन्ताच्च नन्द्यादेराकृगणत्वात् ल्युः, योरनादेशः, णिलोप, एवञ्च सप्तभिर्वाह्यते, सप्त वा वाह्यन्तेऽनेन, सप्तवहतीति वेति व्युत्पत्तिः सम्पद्यते। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनानि तस्थुः।"

ऋक् १।१६४।२॥

तथा—

"सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।" ऋक् १।१६४।३॥

इति निदर्शनम्।

लोके च पश्यामः—एकचक्रमिदं शरीरं तत्र सप्ताश्वा इव सप्तधातव इदं वहन्ति गमनसमर्थं विदधति, रसरूप एक एव धातुः सप्तधा विभक्तः सप्तधातुरूपतामापद्यते त एव धातव इह शरीरे सप्ताश्वाः। त्रिनाभिः=त्रिबन्धनः, अर्थात् वातपित्तकफरूपाणि त्रीणि बन्धनान्यस्य। यद्वा त्रिपर्ववदेतद्। यथा—आमणिबन्धमेकं पर्व मणिबन्धादाकफोणि द्वितीयं पर्व, आकफोणेराप्रगण्डास्थिमूलं तृतीयं पर्व, यद् बाहुमूलमुच्यते। एवं यथानामव्याख्याप्रसङ्गे बहुत्रोक्ता त्रिपर्वता।

रहित शुद्ध धात्वर्थ में णिच् प्रत्यय; और तदन्त से नन्द्यादिलक्षण ल्यु प्रत्यय, यु को अन आदेश तथा णि का लोप करने से 'वाहन' शब्द सिद्ध होता है। इस प्रकार से सप्त (सातों) के द्वारा जिसका वहन किया जाता है, अथवा सप्त जिसको वहन करते हैं, उसका नाम 'सप्तवाहन' है। जैसा कि—"सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रम्०" (ऋक् १।१६४।२) तथा "सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः" (ऋक् १।१६४।३) इत्यादि मन्त्रों से प्रतिपादित है। यह उदाहरणमात्र है।

लोक में भी देखते हैं, इस एकचक्र शरीर को सप्त अश्वों के समान सप्त धातुयें वहन करती हैं, अर्थात् इसको गमन करने में समर्थ करती हैं। ये ही सप्त धातुएं इस शरीर में सप्त अश्व हैं। तथा यह शरीर त्रिनाभि है, अर्थात् वात पित्त कफरूप, इसके तीन बन्धन हैं। अथवा यह शरीर तीन पर्व (ग्रन्थि) वाला है, जैसे, अंगुलियों के अग्रभाग से लेकर मणिबन्ध तक एक पर्व है, मणिबन्ध से कफोणि (कोहनी) तक द्वितीय पर्व है, तथा कफोणि से प्रगण्डास्थि (भुजा के मूल) तक तृतीय पर्व है। इसी प्रकार प्रसङ्गानुसार बहुत नामों के व्याख्यान में त्रिपर्वता का वर्णन किया है।

दोषाः, धातवोऽजरमनर्वं=प्रत्यक्षतोऽदृश्यमानाश्वं चक्रं=चङ्क्रमणं, भ्रमणशीलं शरीरं वहन्ति। अस्मिंश्च शरीरे, विश्वानि भुवनप्रतीकानि सन्ति स्थितानि, स्थास्यन्ति चेति योजना। यथा—नेत्रे, सूर्यचन्द्रभुवनप्रतीके। श्रोत्रे—अन्तरिक्षलोकप्रतीके। मलमूत्रद्वारे, पृथिवीलोकप्रतीके। सप्तधातूनां सप्तग्रहा अधिदेवताः। मूत्रोत्सर्गः पुरीषोत्सर्गश्च पृथिवीमधिकृत्यैव। सप्तधातूनामुपधातवश्च सप्त। रोमाणि च नक्षत्राणीव। इयञ्च स्थूला योजनोक्ता, सूक्ष्मज्ञानायाऽऽयुर्वेद एवाधिगन्तव्यः।

यश्चैवं सप्तवाहनाख्यं विष्णोः पदं=स्वरूपं वेत्ति, स सूर्यमग्निं, शरीराभिमानिनमात्मानमिन्द्रियाणि मनो वाऽवगन्तुं प्रभवति, व्यापकताञ्च तेषाम्। यच्चोक्तं, रथमेकचक्रमिति तत् समूहालम्बनेन, यथा देवदत्तोऽयं तिष्ठति—इत्यत्र सर्वावयव सम्पन्नस्य पिण्डस्य देवदत्तेतिनाम, विभागेनोच्यमाने तु हस्तोऽयं देवदत्तस्येति सम्बन्धस्य ग्रहो, न तु हस्तशब्देन देवदत्तस्य ग्रहणमिति इत्यायुर्वेदशास्त्रीयं ज्ञानमिह मयोपस्थापितमत एवायुर्वेदानूचानत्वं प्रशंसन्ति कुशलाः। क्व वयम्, क्व सप्तवाहनः, क्व शरीरं, क्वायुर्वेदानूचानत्वमिति चेत् पृच्छेत् कश्चित्—तत्र समाधानमिदम्—ज्ञानप्रदानहेतुकोऽयमार्षः क्रमः।

दोष और धातुएं इस अजर और अनर्व, अर्थात् जिसमें अश्वों का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता, तथा चक्र=चङ्क्रमण (भ्रमणशील) शरीर को वहन करते हैं, और इस शरीर में समस्त भुवनों के प्रतीक पहले थे, अब हैं, और आगे रहेंगे। यह योजना इस प्रकार जाननी चाहिये, जैसे—सूर्य और चन्द्र भुवनों के प्रतीक नेत्र हैं, अन्तरिक्ष के प्रतीक श्रोत्र हैं, पृथिवी लोक के प्रतीक मलमूत्र द्वार हैं। मल और मूत्र का उत्सर्ग भी पृथिवी के ही अधिकार में है। सप्त धातुओं के अधिदेवता सप्त ग्रह हैं। सप्त धातुओं के सप्त उपधातु हैं। रोम नक्षत्र-स्थानीय हैं। यह स्थूल योजना है। सूक्ष्म ज्ञान आयुर्वेद के अध्ययन से ही होगा।

जो इस प्रकार से उपर्युक्त भगवान् सप्तवाहनाख्य विष्णु के स्वरूप को जानता है, वह ही सूर्य, अग्नि, शरीराभिमानी जीवात्मा, इन्द्रिय और मन के वास्तविक स्वरूप को जानने में समर्थ होता है। पूर्वोक्त एकचक्र रथ का अभिप्राय समूहालम्बन से है, जैसे कोई कहे कि यह देवदत्त है, तो यहां सर्वावयवों से युक्त देवदत्त के पिण्ड से अभिप्राय है, यदि विभाग से कहा जाये कि, यह देवदत्त का हाथ है, यह देवदत्त का शिर है, तो वहां देवदत्त और उसके शिर आदि के सम्बन्ध का ग्रहण है, न कि हस्त शिर आदि से देवदत्त का ग्रहण। यहां मैंने आयुर्वेदीय ज्ञान को दर्शित किया है, इसीलिए विद्वान् आयुर्वेदानूचानत्व की प्रशंसा करते हैं। कहां हम, कहां सप्तवाहन, कहां शरीर, कहां आयुर्वेदानूचानत्व, इन सब का क्या सम्बन्ध! यदि ऐसा कोई पूछे तो इसका यह ही समाधान है कि, यह सब वास्तविक बोध कराने के लिये आर्ष (वैदिक) पद्धति है।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्हि लोकेऽस्ति स सप्तवाहनः, तष्टास्त्यसौ सर्ववपूंषि तक्षति।
यो वेद गात्रं स हि वेद तद् बृहत्, सप्ताश्वरश्मिः सवितास्ति दर्शतः[1] ॥१०१॥

१—पश्यतीति 'दर्शतः' "भृमृदृशियजि०।" (३।११०) इत्युणादिसूत्रेण 'दृश्' धातोरतच् प्रत्ययः कर्तरि। "देवो याति भुवनानि पश्यन्।" ऋक् १।३५।२॥ इति च मन्त्रलिङ्गम्।

अमूर्तिः—८३०

विश्वमूर्तिरित्यत्र मूर्तिशब्दो व्याख्यातः। नञ्पूर्वो बहुव्रीहिः। नास्ति मूर्तिर्यस्य सोऽमूर्तिः। मूर्तिराकारो मोहो वा, स न विद्यते यस्य सोऽमूर्तिः, अर्थादाकाररहितो मोहरहितश्च। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"अग्निं होतारं प्रवृणे मियेधे गृत्सं कविं विश्वविदममूरम्।
स नो यक्षद् देवताता यजीयान् राये वाजाय वनते मघानि।"
ऋक् ३।१९।१॥

अमूरं=अमूर्तमिति। इति निदर्शनम्।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'सप्तवाहन' है, तथा वह ही सब शरीरों का तक्षण करता है, इसलिये 'तष्टा' भी है। जो इस शरीर को समग्र रूप से जानता है, वह ही सबके द्रष्टा सप्ताश्व, सप्तरश्मि तथा सविता आदि नामों के वाच्य बृहत् रूप ब्रह्म को जानता है।

'दर्शतः' नाम द्रष्टा का है। 'दृश्' धातु से **भृमृदृशियजिपर्वि०** (३।११०) इत्यादि उणादि सूत्र से कर्त्ता में 'अतच्' प्रत्यय होकर 'दर्शतः' शब्द बना है। जैसा कि—**"देवो याति भुवनानि पश्यन्"** (ऋक् १।३५।२) इस मन्त्र से सिद्ध है।

अमूर्तिः—८३०

मूर्ति शब्द का व्युत्पादन विश्वमूर्ति शब्द के व्याख्यान में किया गया है। नहीं है मूर्ति जिसकी उसका नाम अमूर्ति है, नञ्पूर्वपद बहुव्रीहि समास है। मूर्ति आकार या मोह का नाम है, वह आकार या मोह जिसके नहीं है उसका नाम अमूर्ति है, अर्थात् आकृति और मोह से जो रहित है। जैसा कि—**"अग्निं होतारं प्रवृणे मियेधे०"** (ऋक् ३।१९।१) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध है। मन्त्र में पठित अमूर शब्द का अमूर्त अर्थ है।

लोके यदि प्रत्येकं व्यष्टिपदार्थमाश्रित्य विविच्येत ततोऽपि तत्स्वरूपावगतिर्दुर्लभा। तथा हि—

किं स सूर्यः? नेति, यतो हि सर्वेऽन्येऽपि ग्रहास्तस्यैव स्वरूपम्। किं स मनुष्यः? नेति, यतो ह्यन्या अपि योनयस्तस्यैव स्वरूपम्। किं स पर्वतः? नेति, यतो हि न केवलं पर्वतोऽपितु सर्वाभूस्तद्रूपम्। किं स समुद्रः? नेति, यतो हि सर्वोऽपि नदनद्यादिरूपो जलवर्गस्तद्रूपम्। एवं स स्वयममूरः=अमूर्तः परमात्मा सर्वाविष्टस्तत्तद्रूपावबोधं प्राप्नोति। यथाऽयं जीवात्मा तत्त्वत एकोऽपि शरीरभेदाद् तत्तत् शरीरानुरूपं भिन्नं भिन्नं स्वस्वरूपं व्यनक्ति। एवमसौ विश्वविदग्निर्विष्णुः सूर्यो वा विश्वमूर्तिरमूर्तिरित्युक्तो भवति।

भवतश्चात्रास्माकम्—

अमूर्तिरग्निः स हि विश्वविद्वा स एव होता स उ रत्नधामा।
स एव सर्वत्र विभिन्नरूपः स्वयं ह्यमूर्तिः कुरुते च मूर्तम् ॥१०२॥

तथा—

आत्मा ह्यमूर्तिर्वहते च मूर्तं गात्रं यथा नाम तथाभ्युपैति।
विष्णुर्ह्यमूर्तिः सकलं च विश्वं वहन् तथा नामभिरुच्यते सः ॥१०३॥

यदि प्रत्येक लौकिक पदार्थ को अधिकृत करके विचार किया जाये तो भी भगवत् स्वरूप का ज्ञान दुर्लभ है। जैसे कि यदि पूछा जाये कि क्या वह सूर्य है? नही, क्योंकि और सब ग्रह भी उसी के स्वरूप हैं। क्या वह मनुष्य है? नही, क्योंकि और सब योनियां भी उसी का स्वरूप हैं। क्या वह पर्वत है? नहीं, क्योंकि केवल पर्वत ही नहीं, अपितु सकल पृथिवी उसी का रूप है। क्या वह समुद्र है? नहीं, क्योंकि सब नद नदी आदि जल वर्ग उसीका रूप हैं। इस प्रकार 'स्वयं' अमूर अर्थात् अमूर्त परमात्मा सब पदार्थों में व्याप्त होकर उन ही के रूप में ज्ञान का विषय होता है, जिस प्रकार तत्त्व से जीवात्मा एक होता हुआ भी शरीरों के भेद से अपने भिन्न-भिन्न रूपों को प्रकट करता है। इसी प्रकार वह सर्वज्ञ विष्णु, अग्नि अथवा सूर्य विश्वमूर्ति ही 'अमूर्ति' नाम से कहा जाता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

अमूर्ति नाम भगवान् विष्णु का है, और वह विष्णु ही अग्नि, विश्ववित्, होता तथा रत्नधाम नामों से कहा जाता है। वह ही सर्वत्र विभिन्न वस्तु-रूपता को प्राप्त होकर स्वयं अमूर्ति होता हुआ भी इस विश्व को मूर्त बनाता है।

जैसे जीवात्मा स्वयं अमूर्ति=मूर्ति रहित होता हुआ भी, तत्-तत् शरीर रूप होकर इस मूर्त शरीर को धारण करता है, उस ही प्रकार भगवान् विष्णु स्वयं मूर्ति-रहित होने से अमूर्ति भी सकल विश्व को धारण करता हुआ तत्-तत् वस्तु नाम से कहा जाता है।

अनघः—८३१

नञ् पूर्वस्य हन्तेरघः। 'हन् हिंसागत्योः' इत्यादादिकाद्धातोः **"अन्येष्वपि दृश्यते"** (पा० ३।२।१०१) इति डः प्रत्ययो डित्वाट्टिलोपो—**'न्यङ्क्वादीनाञ्च'** (पा० ७।३।५३) इति कुत्वं। न हन्ति पुण्यकर्माणमित्यनघः। न अघः—नञ्-तत्पुरुष-समासो, नञो नलोपो, नुडागमोऽनघः। अघशब्दः पापवचनः तद्विरोधी चानघः, अघं विरुणद्धि। यद्वा—अघो नास्ति यस्मिन् सोऽनघः। यद्वा—"अघि गत्याक्षेपे" इति धातो पचाद्यच्, इदिल्लक्षणस्य नुमश्च पृषोदरादित्वाल्लोपः। गत्याक्षेपः==गतेर्निन्दा। अघः=कुत्सितगमनस्तद्रहितोऽनघः प्रशस्तगतिरित्यर्थः। एवञ्च प्रशस्तसर्वगमनः पापरहितो विशुद्ध इत्यर्थः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"आरे अस्मदमतिमारे अंह आरे विश्वां दुर्मतिं यन्निपासि।
दोषा शिवः सहसः सूनो अग्ने यं देव आचित् सचसे स्वस्ति॥"

ऋक् ४।११।६॥

इति निदर्शनम्। प्रपञ्चस्तु वेदे द्रष्टव्यः। लोके च पश्यामः—अग्निस्वरूप आत्मा वस्तुतोऽनघ एव। परन्तु रजस्तमोगुणानुसम्पृक्तो दुर्मतेरधिष्ठानं भवति।

अनघः—८३१

'हिंसा तथा गत्यर्थक हन्' धातु अदादिगण पठित है। नञ् पूर्वक इससे **"अन्येष्वपि दृश्यते"** (पा० ३।२।१०१) इस सूत्र से ड प्रत्यय, डित् होने से टि का लोप, तथा **"न्यङ्क्वादीनाञ्च"**(पा० ७।३।५३) सूत्र से कुत्व करने से अघ शब्द सिद्ध होता है। तथा अघ शब्द का नञ् तत्पुरुष समास करने से, जो पुण्यकर्मवाले का हनन (विनाश) नहीं करता, उसका नाम 'अनघ' है। अघ नाम पाप का है, और उसके विरोधी का नाम अनघ है। अथवा—नञ् पूर्वपद बहुव्रीहि समास करने से, जिस में अघ अर्थात् पाप नहीं है, उसका नाम 'अनघ' है। अथवा—गत्याक्षेप=गति की निन्दा-रूप अर्थ में विद्यमान, 'अघि' इस इदित् धातु से पचादि अच् प्रत्यय, और इदित् लक्षण नुम् का पृषोदरादि से लोप करने से अघ शब्द सिद्ध होता है। अघ नाम कुत्सितगमन का है, तथा कुत्सितगमन से रहित अर्थात् प्रशस्त गमन वाले का नाम 'अनघ' है, अर्थात् पापरहित विशुद्ध का नाम 'अनघ' है।

इस अर्थ की पुष्टि **"आरे अस्मदमतिमारे अंह आरे०"** (ऋक् ४।११।६) इत्यादि मन्त्र से होती है। हमने यह उदाहरण मात्र दिखलाया है, इसका विस्तार वेद में देखना चाहिये। लोक में भी देखा जाता है कि अग्निरूप जीवात्मा यद्यपि वस्तुतः अनघ है, तथापि रजोगुण और तमोगुण से सम्पृक्त (सम्बद्ध) होकर, दुर्मति का अधिष्ठान

सत्त्वञ्च दोषरहितमतः "सत्त्वं हि सत्यं नहि तत्र दोषः" इत्युच्यते। अत एवानघः स सविता धियो विशुद्धयै प्रार्थ्यते।

मन्त्रलिङ्गञ्चात्र—

"तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥" ऋक् ३।६२।१०॥

अनघो=भर्गः शुद्ध इत्यर्थः। भवति चात्रास्माकम्—

अघो हि दोषः स न तत्र भर्गे, ध्यायन्त्यतस्तं सवितारमुग्रम्।
व्यपाययेन्नो दुरितानि देवो, यतोऽनघः 'सः' स हि विष्णुरस्मात्॥१०४॥

'स' इति विष्णोर्नाम, सव इत्यत्र तथा निर्वचनात्।

अचिन्त्यः—८३२

'चिति संज्ञाने' इति चौरादिकाद्धातोः शक्यार्थे 'ण्यत्', चिन्तयितुमियत्तया पर्यवसितुं शक्यश्चिन्त्यः। न चिन्त्योऽचिन्त्यः। इयत्तयावगन्तुमशक्यः। यद्वा—मनसोऽप्यगोचर इत्यर्थः सम्पद्यते। मन्त्रलिङ्गञ्च—

बन जाता है। सत्त्वगुण दोष से रहित होता है, इसी लिए "**सत्त्वं हि सत्यं नहि तत्र दोषः**" ऐसा कहा जाता है। इसीलिये बुद्धि को शुद्ध करने के लिए अनघरूप सविता देव की "**तत्सवितुर्वरेण्यम्०**" (ऋक् ३।६२।१०) इत्यादि मन्त्र से प्रार्थना की जाती है। भर्ग नाम शुद्ध अर्थात् अनघ का है।

भाष्यकार इस भाव को अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

अघ नाम दोष का है, वह उस शुद्धस्वरूप सविता देव में नहीं है, इसीलिए उग्रतेजा सविता देव का विद्वान् पुरुष अपने पापों का निराकरण करने के लिए ध्यान करते हैं। भगवान् विष्णु भी अघरहित शुद्धस्वरूप होने से अनघ है। 'स' नाम भगवान् विष्णु का है, इस का निर्वचन 'सव' नाम में किया गया है।

अचिन्त्यः—८३२

'संज्ञानार्थक चिति' धातु से शक्यार्थ में 'ण्यत्' प्रत्यय करने से 'चिन्त्य' शब्द सिद्ध होता है। जो इयत्तारूप से अर्थात् परिछिन्नरूप से निश्चित किया जा सके, उसका नाम चिन्त्य होता है। अर्थात् चिन्तन आकृतियुक्त परिमित वस्तु का होता है, जो आकृति तथा परिमाण से रहित है, उसका चिन्तन नहीं हो सकता, इसलिए उसका नाम 'अचिन्त्य' है। अथवा—जो मन का विषय भी नहीं है, उसका नाम अचिन्त्य है। जैसा कि "**यद्वा घा**

"यद्वा घा सत्यमुत यन्न विद्म धियो हिन्वानो धिय इन्न अव्याः।"

ऋक् १०।१३९।५॥

सविता विद्वाननुवर्तते पूर्वतः। लोकेऽपि च पश्यामो, मानवोऽनित्यबुद्धिर्वैष्णवं कर्म संज्ञातुं नालं भवति। कियद्गुणः सूर्य इति च न केनाप्यवगन्तुं शक्यते। एवमेवात्माप्यचिन्त्यशक्तिः शरीररूपकारणभेदात्, मूलञ्चैतस्य सोऽचिन्त्यो विष्णुरेव सर्वत्र समाविष्टः।

भवति चात्रास्माकम्—

अचिन्त्यमेवं मुनयस्तमाहु र्विष्णुं सुपर्णं कविमग्निमर्कम्।
दाधार यो द्यां पृथिवीं दृढाञ्च, कश्चिन्तयन् तस्य लभेत पारम्॥१०५॥

भयकृत्—८३३

'ञिभी भये' जौहोत्यादिको धातुस्ततः "एरच्" (पा० ३।३।५६) सूत्रेण भावेऽच् प्रत्ययः। भीति=भयं=त्रासः, तत्करोति, कृन्तति वेति भयकृत्, करोतेः कृन्तते र्वा क्विप्। भगवत्कृतविश्वव्यवस्थाभञ्जकानां भयकृत्=भयंकरः, तथा

सत्यमुत यन्न विद्म०" (ऋक् १०।१३९।५) इत्यादि मन्त्र में प्रतिपादित है। इस मन्त्र में पूर्वमन्त्र से सविता देव की अनुवृत्ति आती है।

लोक में भी हम देखते हैं, क्षणिक-बुद्धि मनुष्य भगवान् के कर्मों को नहीं जानता, अर्थात् जानने में समर्थ नहीं है। सूर्य में कितने गुण हैं, इसका किसी को ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार शरीररूप कारण भेद से जीवात्मा भी अचिन्त्य है, इन सब की अचिन्त्यता का मूल सर्वत्र व्याप्त भगवान् विष्णु ही है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम अचिन्त्य है, क्योंकि उसे कोई भी अपने चिन्तन का विषय नहीं बना सकता। जिसने द्युलोक और दृढ़ पृथिवी को धारण कर रक्खा है, मुनिजन उसी भगवान् विष्णु का अग्नि, सुपर्ण, कवि तथा अर्क नाम से स्तवन करते हैं।

भयकृत्—८३३

जुहोत्यादिगणपठित 'भयार्थक भी' धातु से भाव में 'अच्' प्रत्यय करने से भय शब्द सिद्ध होता है। भय नाम भीति अर्थात् डरने का है। भय को करनेवाले या काटने वाले का नाम भयकृत् है। भयपूर्वक कृञ् इस करणार्थक, अथवा कृती इस छेदनार्थक धातु से क्विप् प्रत्यय, और उसका सर्वापहार करने से 'भयकृत्' शब्द सिद्ध होता है। भगवान् अपनी जगत् की प्रवर्तिका व्यवस्था को भङ्ग करने वालों के लिए भयकृत् अर्थात् भय

तत्कृतव्यवस्थानुसारिणां भयकृत्=भयच्छेदक इत्यर्थः। मन्त्रलिङ्गञ्च--

"द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते, शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः॥

ऋक् २।१२।१३॥

लोकेऽपि सर्वत्र स्थावरे जङ्गमे च भयकृत्त्वं व्याप्तं दृश्यते। प्रत्येकं परस्परं भयकृद् भवति, कश्चित् कस्यचिद् भयं ददाति, कश्चिच्च कस्यचिद् भयं छिनत्ति। तथा च वैद्युतेन स्तनथुना क्षुपा निम्लोचन्ति, तत्र स्थावरेषु भयमस्फुटमपि लक्षणैर्लक्षितं भवति। भयेन तेजोऽपह्रियते, तेजोऽपहारे च वायुः प्रकुप्यति, प्रकुपिते च वायौ ज्ञानं बलं धैर्यं तथा स्मृत्यादिसर्वं भ्राम्यति।

भयं कृन्ततीति भयकृदित्यत्र मन्त्रलिङ्गम्—

"मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा।" अथर्व ५।३०।८॥
"सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः।
न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः॥" अथर्व ८।२।२४॥

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्हि लोके भयकृत्[1] पुराणो, विष्णुर्हि लोके भयकृत्[2] पुराणः।
भयं बलिष्ठात् स हरेच्च तेजस्, तेजःक्षये कुप्यति वायुरूर्ध्वम्॥१०६॥

१. भयं करोति। २. भयं कृन्तति।

करनेवाला है, तथा व्यवस्थानुसार चलनेवालों के लिए भयकृत् अर्थात् भय को काटनेवाला है। जैसा कि "द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते०" (ऋक् २।१२।१३) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध है।

लोक में भी सर्वत्र स्थावर जङ्गम वर्ग में, भय करना या भय का काटना व्याप्त रूप से देखने में आता है। प्रत्येक ही आपस में भयकृत् होता है, अर्थात् कोई किसी को भय देता है, तथा कोई किसी के भय का छेदन करता है। विद्युत् के शब्द से क्षुप (छोटे पौदे) मूर्च्छित हो जाते हैं (मुरझा जाते हैं), इस से स्थावर वस्तुओं में प्रत्यक्ष न दीखते हुये, अन्तर्गत भय की सिद्धि होती है। भय से तेजस् का क्षय हो जाता है, तेजस् के क्षय से वायु का प्रकोप होता है, वायु के प्रकोप से ज्ञान बल धैर्य स्मृति आदि सब भ्रान्त हो जाते हैं।

भयकृत् शब्द के भयछेदनरूप अर्थ की पुष्टि "मा बिभेर्न मरिष्यसि०" (अ० ५।३०।८) इत्यादि, तथा "सोऽरिष्ट न मरिष्यसि०" (अ० ८।२।२४) इत्यादि मन्त्र से होती है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

पुरातन पुरुष भगवान् विष्णु अपने व्यवस्था-भञ्जकों के लिये भय देनेवाला, तथा व्यवस्थानुसारियों के लिये भय का छेदन करने वाला होने से भयकृत् है। बलवान् से भय होता है, जिस भय से तेजस् का क्षय तथा तेजस् के क्षय से वायु का प्रबल प्रकोप हो जाता है।

भयनाशनः—८३४

भयशब्दो व्याख्यातः । नाशनः—'णश् अदर्शने' धातुर्दैवादिकस्ततो णिजन्तान्नन्द्यादिर्ल्युः । णिलोपो योरनादेशः । भयस्य नाशनो भयनाशनः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि ।" ऋक् ८।६१।१३।।

"त्वं नः पश्चादधरादुत्तरात् पुर इन्द्र नि पाहि विश्वतः ।
आरे अस्मत् कृणुहि दैव्यं भयमारे हेतीरदेवीः ।।"
ऋक् ८।६१।१६।।

कृणुहि=नाशय इत्यर्थः ।

भवति चात्रास्माकम्—

भयं हि सर्वस्य हृदि स्थितं यत्, तन्नाशयत्येव स विष्णुरेकः ।
स विश्वतः पाति बलं प्रयच्छन्, जीवं सुदुःस्थञ्च विरूपसंस्थः[1] ।।१०७।।

१. विविधरूपेषु तत्तद्रूपेणाविर्भूत इत्यर्थः ।

भयनाशन;—८३४

'भय' शब्द का व्याख्यान किया जा चुका है ।

'नाशन' शब्द अदर्शनार्थक 'दैवादिक णश् धातु' से णिच् प्रत्यय और णिजन्त से नन्द्यादि ल्यु प्रत्यय, यु को अन आदेश तथा णि का लोप करने से बनता है। भय का जो नाशन अर्थात् नाश करने वाला है, उसका नाम है 'भयनाशन' । इस नामार्थ की पुष्टि **"यत इन्द्र भयामहे०"** (ऋक् ८।६१।१३) इत्यादि मन्त्र करता है, तथा **"त्वं नः पश्चादधरादुत्तरात्०"** (ऋक् ८।६१।१६) इस मन्त्र से भी यह ही अर्थ पुष्ट होता है । इस मन्त्र में 'कृणुहि' पद का नाश कर, इस रूप से प्रार्थना अर्थ है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

सब प्राणियों के हृदय में स्थित भय का नाश करने से भगवान् विष्णु का नाम 'भयनाशन' है । वह भगवान विविध रूपों में प्रकट होकर अत्यन्त दुःखयुक्त जीव की भी अपना बल देकर चारों ओर से रक्षा करता है ।

विरूपसंस्थः=विविध रूपों में प्रकट हुआ ।

अणुः–८३५; बृहत्–८३६

अनयोः समं व्याख्यानम् ।

'अण शब्दे' इति भौवादिको धातुस्ततः "अणश्च" (१।८) इति सूत्रेणौणादिक उः प्रत्ययोऽणुरिति । गतिशब्दोभयकर्मेहायं धातुः । तथा च—अणितः सर्वत्र गतोऽणति शब्दायते विविधरूपेणेत्यणुः । अणु र्हि सूक्ष्मतः सूक्ष्मे स्थूलतश्च स्थूलेऽणितो=गतो (व्याप्तो) भवति शब्दायते च विविधम् । अणुशब्दश्चात्र सूक्ष्मपर्यायोऽपि । तथा च—अणूनां=सूक्ष्मतमानामनवयवानां पञ्चभूतहेतुभूतशब्दादितन्मात्रणामुत्पत्तिहेतुभूतस्तत्र सर्वत्र व्याप्तश्चाणुत्वाद् भगवान् विष्णुरणुशब्देनोक्तो, यतो हि नहि स्थूलः किञ्चिद् व्याप्नोत्यपितु स्थूलोऽणुना व्याप्तो भवति । शब्दभूमिराकाशोऽप्यणुत्वात्सर्वत्र व्याप्तस्तथा शब्दोऽपि वातवीचिभिरुह्यमानो व्याप्नोति समग्रमाकाशम् । विद्युत्सखा च शब्दः स्तनथुनामा व्याप्नोति सर्वमियत्तया परिछिन्नं महाघोषवद् इति ।

मन्त्रलिङ्गञ्चाणुनाम्नि—

"आपानासो विवस्वतो जनन्त उषसो भगम् । सूरा अण्वं वितन्वते ।"

ऋक् ९।१०।५॥

स्तनयित्नुमधिकृत्य मन्त्रलिङ्गम्—

अणुः—८३५ : बृहत्—८३६

इन नामों का व्याख्यान एक साथ किया जाता है ।' शब्दार्थक अण' धातु भ्वादिगण पठित है, तथा धातुओं के नानार्थक होने से यहां अण धातु शब्दार्थक तथा गत्यर्थक माना गया है । इस अण धातु से औणादिक 'उ' प्रत्यम करने से 'अणु' शब्द सिद्ध होता है । इस प्रकार जो सर्वगत हुआ विविध रूप से शब्द करता है, उसका नाम अणु है । यह अणु शब्द का अर्थ हुआ, क्योंकि अणु सूक्ष्म से सूक्ष्म में और स्थूल से स्थूल में व्याप्त होता है, तथा विविध प्रकार से शब्द करता है । यहां सूक्ष्म के पर्याय अणु शब्द को भी लिया जा सकता है, क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म जिनके अवयव (खण्ड) नहीं हो सकते, ऐसे पञ्च महाभूतों के कारणरूप शब्द आदि पञ्चतन्मात्राओं का हेतु, तथा सूक्ष्म होने से सर्वत्र व्याप्त भगवान् विष्णु, अत्यन्त सूक्ष्म होने से ही अणु है । स्थूल किसी को व्याप्त नहीं कर सकता, किन्तु स्थूल स्वयं अणु से व्याप्त होता है । शब्द का उत्पत्तिस्थानभूत आकाश भी अणुरूप होने से सर्वत्र व्याप्त है, तथा शब्द भी वायु के द्वारा उह्यमान अर्थात् धारण किया हुआ समग्र आकाश को व्याप्त करता है । विद्युत् (बिजली) का सहचर स्तनथु नामक शब्द भी, महाघोष के समान अपने विषयान्तर्गत परिमित प्रदेश को व्याप्त करता है ।

अणु नाम में "आपानासो विवस्वतो०" (ऋक् ९।१०।५) इत्यादि ऋक्मन्त्र

"आ स्वमद्म युवमानो अजरस्तृष्व विष्वन्नतसेषु तिष्ठति ।
अत्यो न पृष्ठं प्रुषितस्य रोचते दिवो न सानु स्तनयन्नचक्रदत् ॥"
ऋक् १।५८।२॥

प्रकाशोऽपि सूक्ष्मत्वात्सर्वं व्याप्नोति । मन्त्रलिङ्गञ्च—

"यो विश्वतः सुप्रतीकः सदृङ्ङसि दूरे चित् सन् तडिदिवाति रोचसे ।
रात्र्याश्चिदन्धो अति देव पश्यस्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥"
ऋक् १।९४।७॥

आकाशवत् सर्वं व्यश्नुवानोऽणुनामा भगवान् विष्णुरेवमुक्तः स एव स्वसूक्ष्मया शक्त्या सूक्ष्मानपि कीटादीन् जीवान् जीवयति । सूक्ष्मा अपि जीवा आत्मानं पूर्णं सबलञ्च मन्यन्ते भगवतोऽणोर्व्याप्त्या । यतो हि—"खं ब्रह्म ब्रह्म च खम् ।" तथा "बृहद् ब्रह्म ब्रह्म वा बृहद्" इति प्रसङ्गतो व्याख्यातं भवति ।

तत्र मन्त्रलिङ्गञ्च । यथा—

"त्वामग्ने अतिथिं पूर्व्यं विशः शोचिष्कं शं गृहपतिं निषेदिरे ।
बृहत्केतुं पुरुरूपं धनस्पृतं सुशर्माणं स्ववशं जरद्विषम् ॥"
ऋक् ५।८।२॥

तथा—

"दीर्घतन्तुर्बृहदुक्षायमग्निः ।" ऋक् १०।६९।७॥
"प्र प्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वि यत् सूर्यो न रोचते बृहद्भाः ।"
ऋक् ७।८।४॥

प्रमाण है । स्तनयित्नु विषयक मन्त्रप्रमाण—"आ स्वमद्म युवमानो०" (ऋक् १।५८।२) इत्यादि है । प्रकाश भी सूक्ष्म होने से सब को व्याप्त करता है । इसकी पुष्टि "यो विश्वतः०" (ऋ० १।९४।७) इत्यादि मन्त्र से होती है । आकाश के समान सर्वव्यापक भगवान् विष्णु का नाम अणु है । वह ही अपनी सूक्ष्म शक्ति से सूक्ष्म से सूक्ष्म कीट आदि जीवों को भी जीवन देता है । तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव भी, भगवान् अणु की व्याप्ति से अपने आप को पूर्ण और सबल मानते हैं, क्योंकि खम्=आकाशरूप ही ब्रह्म है, और ब्रह्मरूप ही आकाश है ।

इसी प्रसंग से बृहद्रूप ब्रह्म का भी व्याख्यान हो जाता है, क्योंकि जैसे भगवान अणु से अणु है, वैसे ही वह बृहत् से बृहत् है । इस 'बृहत्' नाम की पुष्टि "त्वामग्ने अतिथिम्"० (ऋक् ५।८।२) इत्यादि मन्त्र से होती है । तथा "दीर्घतन्तुर्बृहदुक्षायमग्निः" (ऋक् १०।६९।७), प्र प्रायमग्निर्भरतस्य०" (ऋक् ७।८।४), "बृहद्रेणुः"

"बृहद्रेणुः।" ऋक् ६।१८।२॥ "बृहन्मते।" ऋक् ६।३६।१॥ इति निदर्शनम्।

भवति चात्रास्माकमणुमधिकृत्य—

अणुर्हि विष्णुः स हि सर्वयातः, शब्दोऽपि खस्थोऽस्ति च सर्वयातः।
तडिच्च नूनं स्तनथुं विधत्ते, सूर्येरिताणुं विततं व्यनक्ति ॥१०८॥

बृददधिकृत्य—

बृहत् स विष्णुः स हि सर्वविष्टो, बृहत् स्वधर्मेण विधत्त एतत्।
यो वेद सूत्रस्य च सूत्रभूतं, विष्णुं बृहद् वेत्ति जगत् स विज्ञः ॥१०९॥

बृहच्छब्दश्चोणादौ "वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च' (२।८४) इति सूत्रेण शतृवद्भावभावितातिप्रत्ययान्तो निपात्यते, बृंहतेश्च नलोपः।

बृहद्भावे मन्त्रलिङ्गम्—

"स भूमिं सर्वत स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।" यजु० ३१।१॥

तथा च—

(ऋक् ६।१८।२), "बृहन्मते" (ऋक् ६।३६।१) इत्यादि मन्त्रों से भी इस नाम की पुष्टि होती है। यह उदाहरण मात्र है।

भाष्यकार 'अणु' नाम विषयक भाव को अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक भगवान् विष्णु का जिस प्रकार अणु नाम है, उस ही प्रकार सर्वगत होने से आकाशाश्रय शब्द का भी अणु नाम है। तथा स्तनथु (कड़करूप) शब्द को करती हुई विद्युत् (बिजली) भी सूर्यहेतुक सर्वत्र व्याप्त अणु को प्रकाशित (प्रकट) करती है।

भाष्यकार का पद्य द्वारा 'बृहत्' नाम-विषयक भाव-प्रकाशन इस प्रकार है—

सर्वगत भगवान् विष्णु 'बृहत्' है, तथा वह अपने बृहत्त्वरूप गुण से इस सकल विश्व को बृहत् ही बनाता है। जो विद्वान् पुरुष सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व विष्णु को जानता है, वह ही विष्णु के बृहत् रूप जगत् को जानता हैं।

"बृहत्" शब्द, उणादि "वर्तमाने पृषद्बृहत्०" (२।८४) इत्यादि सूत्र से शतृवत्भावयुक्त अति प्रत्ययान्त निपातित किया गया है, तथा बृंह धातु के नकार का लोप भी निपातन से हुआ है। इस 'बृहत्' शब्द के भावार्थ की पुष्टि "स भूमिं सर्वत

"अग्ने बृहतो अध्वरे।" ऋक् ३।१६।६॥
"जातवेदो बृहतः सुप्रणीते।" ऋक् ३।१५।४॥

कृशः—८३७

'कृश तनूकरणे' दैवादिको धातुः, ततः "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" (पा० ३।१।१३५) इति सूत्रेण कर्तरि 'क' प्रत्ययः, कित्त्वाद् गुणाभावः। कृश्यति=तनूकरोतीति कृशः। विकर्शं विकर्शं=वितक्षं वितक्षं नानाविधं विधत्तेऽतः स कृश इत्युक्तो भवति।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"सत्यं तदिन्द्रावरुणा कृशस्य वां मध्व ऊर्मिं दुहते सप्तवाणीः।"
ऋक् ८।५९।३॥

तथा—

"या सिस्रतू रजसः पारे अध्वनः।" ऋक् ८।५९।२॥

रजसः अध्वन इति चानुवर्तते। 'तक्षू त्वक्षू तनूकरणे' इतिधात्वोरेवार्थमयं धातुरभिधत्ते। तथा चात्र मन्त्रलिङ्गम्—

"त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।" ऋक् १०।१८४।१॥

"यं त्वा द्यावापृथिवी यं त्वापस्त्वष्टा यं त्वा सुजनिमा जजान।
पन्थामनु प्रविद्वान् पितृयाणं द्युमदग्ने समिधानो वि भाहि॥"
ऋक् १०।२।७॥

स्पृत्वा०" (यजु० ३१।१), "अग्ने बृहतो अध्वरे" (ऋक् ३।१६।६) तथा "जातवेदो बृहतः०" (ऋक् ३।१५।४) इत्यादि मन्त्रों से होती है।

कृशः—८३७

तनु (पतला) करण रूप अर्थ में विद्यमान दैवादिक 'कृश' धातु से कर्ता अर्थ में 'क' प्रत्यय तथा किन्निमित्तक गुण का अभाव होने से 'कृश' शब्द सिद्ध होता है। जो विकर्शण (तक्षण) करके दीर्घ अल्पीभाव रूप से जगत् को नाना प्रकार का बनाता है, उसका नाम 'कृश' है। यह नाम "सत्यं तदिन्द्रावरुणा कृशस्य०" (ऋक् ८।५९।३), "या सिस्रतू रजसः पारे अध्वनः" (ऋक् ८।५९।२) इत्यादि मन्त्रों से प्रमाणित होता है।

रजस् और अध्वन् शब्दों का नीचे (आगे) के मन्त्रों में अनुवर्तन होता है। जिस अर्थ के वाचक तक्षू और त्वक्षू धातु हैं उस ही अर्थ को यह कृश धातु कहता है। इस भाव की सिद्धि "त्वष्टा रूपाणि पिंशतु" (ऋक् १०।१८४।१) मन्त्र से होती है। तथा इसी भाव की पुष्टि "यं त्वा द्यावापृथिवी यं त्वापस्त्वष्टा०" (ऋक् १०।२।७),

"त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीदं विश्वं भुवनं समेति ।"

ऋक् १०।१७।१।।

"इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः करति जीवसे वः ।"

ऋक् १०।१८।६।।

अयञ्च भगवतः कृशिमगुणः सर्वत्र व्यष्टो दृश्यते । तथा च प्रत्येकं प्राणी शरीरेण भगवतः कृशिमानं गुणं भिन्नभिन्नमाददानो दृश्यते । वृक्षाः क्षुपो लताश्च भगवतः कृशस्य विभिन्नान् कृशिमभेदान् विवृण्वते । इति निदर्शनमात्रं, विस्तरस्त्वपारो धात्वर्थसन्तानपरम्परया ।

भवति चात्रास्माकम्—

कृशो हि विष्णुः स तनूकरोति, तथा यथा तस्य सुखाय स्यात्तत् ।
चतुष्प्रकारां स वितत्य सृष्टिं, तदन्तराविष्ट इहास्ति तष्टा ।।११०।।

तष्टा-त्वष्टा-कृश इति । लघुवचनोऽपि कृशशब्दः, **"कृशिमा लघिमा चायम्"** इत्यादिवचनात् । तत्र **"मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च"** (पा० ३।२।१८८) इति सूत्रे चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् कर्तरि क्तः । **"अनुपसर्गात्फुल्लक्षीव-कृशोल्लाघाः"** (पा० ८।२।५५) इति सूत्रेण तकारलोप इडागमाभावश्च निपात्यते ।

"त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीदम्०" (ऋक् १०।१७।१), तथा **"इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा०"** (ऋक् १०।१८।६) इत्यादि मन्त्रों से होती है ।

यह भगवान् का कृशिमरूप गुण सर्वत्र व्याप्त दीखता है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी भगवान् के इस कृशिम गुण को भिन्न भिन्न रूप से लिये हुए दीखता है । वृक्ष पौदे लतायें आदि भगवान् कृश के नानाविध कृशिम भेदों को प्रकट करते हैं । यह केवल दिग्दर्शन मात्र है । धात्वर्थों के पारम्पर्य से इसके विस्तार का अन्त नहीं है ।

भाष्यकार इस भाव को अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'कृश' है क्योंकि वह प्राणियों के सुख के उद्देश्य से बहुत प्रकार का तक्षण कर्म करता है, तथा चतुर्विध सृष्टि की रचना करके वह तष्टारूप, व्यापक रूप से इसी चतुर्विध सृष्टि में स्थित है ।

तष्टा, त्वष्टा, कृश ये पर्याय शब्द हैं । कृश शब्द लघु अर्थक भी है, जैसा कि **"कृशिमा लघिमा चायम्"** इत्यादि वचन से सिद्ध है । एतदर्थक 'कृश' शब्द की सिद्धि **"मतिबुद्धि०"** (पा० ३।२।१८८) इत्यादि सूत्रस्थ अनुक्त समुच्चयार्थक चकार से कर्ता में क्त प्रत्यय, तथा **"अनुपसर्गात् फुल्लक्षीव०"** (पा० ८।२।५५) इत्यादि सूत्र से तकार व्यञ्जन के लोप और इट् के अभाव का निपातन करने से सिद्ध होता है ।

स्थूलः—८३८

'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' भौवादिको धातुः, षकारस्य सकारः, टोस्तुः, ततः **"खर्जिपिञ्जादिभ्य ऊरोलचौ"** (४।९०) इत्युणादिसूत्रेण पिञ्जादेराकृतिगणत्वाद् बाहुलकाद् वा किद् ऊलच् प्रत्ययः, तिष्ठतेराकारलोपः। नानाविधविश्वरूपमभिव्याप्य तिष्ठतीति स्थूलः।

यद्वा—'स्थूल परिबृंहणे' कथादिश्चौरादिकस्ततो णिच्, अकारलोपः, पचाद्यच् णिलोपः। परिबृंहणं=वर्धनम्। एवञ्च स्थूलयति=परिवर्धयतीति स्थूलः। यद्वा--तिष्ठतेरूरः कित् स्थूर इति।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्शत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥"
यजु० ४०।४॥

"स्थूलमुपातसत्।" यजु० २३।२८॥

स्थूरस्थूल शब्दौ समानार्थौ, स्थूर एव वा स्थूलः। मन्त्रलिङ्गम्—

स्थूलः—८३८

गतिनिवृत्तिरूप अर्थ में विद्यमान भ्वादिगणपठित 'ष्ठा' धातु है, इसके आदिभूत षकार को सकार तथा निमित्त के अपगम से ठकार को थकार होने पर स्था धातु से **"खर्जिपिञ्जादिभ्यः०"** (४।९०) इत्याद्युणादि सूत्र से पिञ्जादि के आकृतिगण होने से, अथवा बाहुलक से कित् ऊलच् प्रत्यय, और आकार का लोप करने से 'स्थूल' शब्द सिद्ध होता है। नानाविध विश्वरूप को व्याप्त करके जो रहता है, उसका नाम 'स्थूल' है।

अथवा परिवृंहण (वर्धन) अर्थ में विद्यमान, कथादि चुरादिगण पठित 'स्थूल' धातु से णिच् प्रत्यय, अतो लोप, तथा 'स्थूलि' इस से पचादि अच् प्रत्यय और णि का लोप करने से 'स्थूल' शब्द सिद्ध होता है। जो बढ़ाता है उसका नाम 'स्थूल' है। अथवा—'ष्ठा' धातु से कित् उणादि 'ऊर' प्रत्यय करने से स्थूर और 'र' को 'ल' होकर स्थूल शब्द बनता है।

इस नाम तथा नामार्थ में **"अनेजदेकं मनसो जवीयो०"** (यजु ४०।४) तथा **"स्थूलमुपातसत्"** (यजु २३।४८) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं।

स्थूल और स्थूर शब्द समानार्थक हैं, अथवा स्थूर ही स्थूल है। जैसा कि

"नृवन्त इन्द्र नृतमाभिरूती वंसीमहि वामं श्रोमतेभिः ।
ईक्षे हि वस्व उभयस्य राजन् धा रत्नं महि स्थूरं बृहन्तम् ।।"
ऋक् ६।१९।१०।।

तथा—

"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिꣳ सर्वत स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ।।" यजु० ३१।१।।

लोकेऽपि पश्यामः—शारीरं स्थितिधर्मं बिभ्राणः स्थूलः शारीर आत्मा यावच्छरीरे तिष्ठति तावत् स्थूलं दृढं शरीरं तिष्ठति, गतिसमर्थञ्च भवति। तस्मिंश्चापयाते स्थूले स्थूरे वात्मनि, स्थूलं स्थूरं वैतच्छरीरं नश्यति ।

अत उपपद्यते मन्त्रोक्तम्—

"तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।" यजु० ३१।१९ ।।

एतेन च स्थूलत्वरूपेण गुणेन भगवान् सर्वत्र व्याप्तः ।

भवति चात्रास्माकम्—

स्थूलो हि विष्णुः स दधाति सर्वं, स्थूलञ्च सर्वं स्थितिमेति तस्मिन् ।
यथास्ति खं सर्वंगतञ्च तस्मिन्, सूर्यादयः स्पर्शमियन्त्यजस्रम् ।।१११।।

"नृवन्त इन्द्र नृतमाभिरूती०" (ऋक् ६।१९।१०) तथा "सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः०" (यजु० ३१।१) इत्यादि मन्त्रों से प्रतिपादित है।

हम लोक में भी देखते हैं कि शारीर अर्थात् स्थूल स्थिति धर्म को धारण करता हुआ शरीरी=जीवात्मा जब तक शरीर में रहता है, तब तक यह शरीर भी स्थूल तथा दृढ़ रहता है, और गति करने में समर्थ होता है। उस स्थूल या स्थूर आत्मा के निकल जाने पर, स्थूल या स्थूर यह शरीर भी नष्ट हो जाता है। इसीलिये "तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा" (यजु० ३१।१९) इत्यादि मन्त्रोक्त अर्थ सङ्गत होता है। इस स्थूलत्वरूप गुण से भगवान् विष्णु सर्वत्र व्याप्त हैं।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम स्थूल है, क्योंकि वह सब को अपने में धारण कर रहा है। यह सब कुछ दृश्य वर्ग भी स्थूल है, क्योंकि यह सब कुछ उस स्थूल में स्थित है, जैसे सर्वव्यापक आकाश में सूर्य चन्द्र आदि सब ज्योति निरन्तर रूप से स्थित हैं।

गुणभृत्—८३९

'सङ्केत ग्राम कुण गुण चामन्त्रणे' कथाद्यन्तर्गताश्चौरादिका धातवः, तेषु 'गुण' धातोरदन्ताण्णिच्, अतो लोपस्तस्य स्थानिवद्भावाच्च न गुणः। गुणि इत्यस्य "सनाद्यन्ता धातवः" (पा० ३।१।३२) इति सूत्रेण धातुसंज्ञा, कर्मणि घञ्, घञर्थे कविधिर्वा णिलोपश्च। गुण्यते=आमन्त्र्यत इति' गुणः'। बिभर्तीति 'भृद्', गुणानां भृदिति गुणभृत्। विभर्तेः कर्तरि क्विप्, तस्य सर्वापहारस् तुगागमश्च। गुणा दयादाक्षिण्यादयः सत्वरजस्तम आदयश्च, तेषां भृत्=धारक इत्यर्थः। प्रकृतेरध्यक्षत्वात् प्राकृतानां गुणानामपि स एव धारकः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥" अथर्व १०।८।४३॥

पुण्डरीकाक्षनामव्याख्याप्रसङ्गे व्याख्यातोऽयं मन्त्रः। तथा चायं सृष्टेः पालनाय प्रत्यूषे वा प्रकाशस्वरूपं सत्त्वं, जगत्सर्जने व्यवहारकाले वा प्रवृत्तिरूपं रजो, रात्र्यागमे प्रलयकाले वा तन्द्रारूपं तमोगुणं विभर्ति। अत उक्तं

गुणभृत्—८३९

'संकेत ग्राम कुण तथा गुण' ये आमन्त्रणार्थक धातुएं चुरादिगण के अन्तर्गत कथादिगण में पठित अदन्त हैं। इन में 'गुण' धातु से णिच् तथा णिजन्त से कर्म में घञ् प्रत्यय, अथवा घञ् के अर्थ में क प्रत्यय करने से तथा णि का लोप करने से 'गुण' शब्द सिद्ध होता है। जिसको आमन्त्रित किया जाय, अर्थात् जिसे प्राप्त करने की इच्छा की जाय, उसका नाम गुण है। 'भृत्' शब्द, 'धारण पोषणार्थक' जुहोत्यादिगणीय 'भृञ्' धातु से कर्ता अर्थ में क्विप्, उसका सर्वापहार तथा तुक् का आगम करने से सिद्ध होता है। जो धारण या पोषण करता है उसका नाम 'भृत्' है। गुणों को धारण करनेवाले का नाम 'गुणभृत्' है। गुण शब्द से दया दाक्षिण्य आदि तथा प्राकृत सत्त्व रज तम का ग्रहण है। दया दाक्षिण्यादि गुणसम्पन्न भगवान् प्रकृति का अध्यक्ष होने के कारण प्राकृत सत्त्व आदि गुणों का भी धारक है, जैसा कि "पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिः०" (अथर्व १०।८।४३) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध है। पुण्डरीकाक्ष नाम के व्याख्यान में इस मन्त्र की व्याख्या की गई है।

इस प्रकार से भगवान् सृष्टि की रक्षा के लिए अथवा प्रातः काल में प्रकाशरूप सत्त्वगुण, जगत् के निर्माण अथवा व्यवहार काल में प्रवृत्तिरूप रजोगुण, तथा रात्रि या प्रलय काल में तन्द्रा (आलस्य) रूप तमोगुण को धारण करता है। इसीलिये यजुर्वेदोक्त

"आ त्वेषं वर्तते तमः" यजु० ३४।३२ इति। दृश्यते च गुणत्रयानुवृत्त्या सर्वत्र जगति त्रिपर्वता। यथा—

१—४—७—१०
२—५—८—११
३—६—९—१२

इति त्रिगुणात्मका राशयः, द्वादश यान् सूर्यः सपरिच्छेदो बिभर्ति=धारयति। तथा चाङ्गुलिभ्य आरभ्य मणिबन्धान्तमेकं पर्व, मणिबन्धात् कफोणिपर्यन्तं द्वितीयं पर्व, कफोणेरारभ्य प्रगण्डान्तं तृतीयं पर्वेति। एवम्विधा योजना सर्वत्र विधेया, विस्तरस्तु प्राक् विहितः। सत्वरजस्तमोभेदादेव उत्तमाधममध्यमा भवन्ति।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥" यजु० १२।१२॥

भगवतो गुणभृतो जातत्वात् सर्वं विश्वं गुणभृदतो भगवान् गुणभृन्नाम्ना स्तूयते। एवं समानो भवति लोको वेदेन।

उक्तञ्चास्माभिः स्वोपज्ञे सत्याग्रहनीतिकाव्ये—

लोकज्ञो न च वेदज्ञो, वेदज्ञो न च लोकवित्।
एकपक्षखगस्येव, वाक्यं तस्यावसीदति॥

"आ त्वेषं वर्तते तमः" (३४।३२) आदि वचन सङ्गतार्थ होता है। सर्वत्र ही जगत् के पदार्थों में इन तीनों गुणों की अनुवृत्ति से त्रिपर्वता देखने में आती है, जैसे—त्रिगुणात्मक १२ राशियां जिन्हें सोपग्रह सूर्य धारण करता है, उनमें १-४-७-१०-इत्यादि रूप से त्रिपर्वता है। इसी प्रकार अङ्गुलियों से मणिबन्ध तक एक पर्व, मणिबन्ध से कफोणि (कोहनी) तक दूसरा पर्व, तथा कफोणि से प्रगण्ड (स्कन्धास्थि) पर्यन्त तीसरा पर्व होता है। इसी प्रकार से सर्वत्र योजना कर लेनी चाहिए। इस विषय का सविस्तार व्याख्यान पहले किया गया है। सत्त्व रज और तम के भेद से ही जगत् में उत्तम मध्यम अधम भाव होते हैं। जैसा कि **"उदुत्तमं वरुण०"** (यजु० १२।१२) इत्यादि मन्त्र से प्रतिपादित है। भगवान् गुणभृत् से उत्पन्न होने के कारण यह सकल विश्व भी गुणभृत् है, इसीलिए भगवान् की गुणभृत् नाम से स्तुति की जाती है।

इस प्रकार से लोक और वेद में समान भाव सिद्ध होता है, जैसा कि हमने अपने स्वग्रथित 'सत्याग्रहनीति' काव्य में कहा है—**"लोकज्ञो न च वेदज्ञो०"** इत्यादि। अर्थात् जो लोक और वेद इन दोनों को परस्पर समन्वित रूप से न जानकर केवल लोक या वेद को जानता है, उसका वाक्य एक पक्ष वाले पक्षी के समान अवसाद (विषाद) को प्राप्त होता है, अर्थात् चरितार्थ नहीं होता।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्हि लोके गुणभृत् पुराणः, गुणैर्विभक्तं विषमस्वभावैः ।
विश्वं मनो वा प्रतिजन्तुनिष्ठं, स्तुवन्ति तं भिन्नगुणानुबद्धाः ॥११२॥

इति पथःप्रदर्शनम् ।

निर्गुणः—८४०

निरुपसर्गः । गुण शब्दो व्युत्पादितः पूर्वम् । गुणेभ्यो निर्गतो 'निर्गुणः' । "निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या" (वा० २।२।१८) इति निर्गमनेऽर्थे तत्पुरुषः । प्राकृतानां सत्त्वरजस्तमःस्वरूपाणां गुणानां भगवति सद्भावो नेति निर्गुणः सः । गुणभृदपि सन् न स्वयं गुणी, गुणस्वरूपा हि प्रकृतिः सा च तदध्यक्षिका, तद्धारणात्स गुणभृदुच्यते, तद्व्यतिरिक्तश्चायं निर्गुण इति । यद्वा—सर्गसमयेऽसौ गुणभृत्, सर्गं समाहृत्यावस्थितश्चासौ निर्गुण इत्युभयथोपपद्यते ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा ।
विद्मा ते नाम परमं गुहा यद् विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थ ॥

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

पुरातन पुरुष भगवान् विष्णु का नाम 'गुणभृत्' है, क्योंकि उसने विषमस्वभाव वाले गुणों से इस समस्त विश्व तथा प्रत्येक प्राणी के मन को विभक्त करके बनाया है । इसी लिये भिन्न भिन्न गुण प्रकृति वाले प्राणी भगवान् की विभिन्न गुणनामों से स्तुति करते हैं ।

यह केवल मार्गमात्र का प्रदर्शन है ।

निर्गुण:—८४०

निर् उपसर्ग है । गुण शब्द का व्युत्पादन पहले किया गया है । गुणों से जो निकल गया है, अर्थात् जो गुणों से रहित है, उसका नाम 'निर्गुण' है । अर्थात् भगवान् में प्राकृत सत्त्व आदि गुणों के न होने से, उसे 'निर्गुण कहा जाता है । यद्यपि वह गुणभृत् है, किन्तु वह स्वयं गुणी नहीं है, अर्थात् वे गुण भगवान् के अपने नहीं हैं, परन्तु वे गुण प्रकृति के हैं, और प्रकृति का अध्यक्ष (अधिष्ठाता) होने से भगवान् को प्राकृत गुणों का धारक कहा जाता है । तथा जब वह प्रकृति से रहित, केवल अपने निर्विशेषत्वरूप में स्थित होता है, तब वह निर्गुण कहा जाता है । अथवा—वह सर्गकाल में गुणभृत् तथा सर्ग का संहार करके अपने रूप में स्थित निर्गुण है । इस प्रकार इस के दोनों ही नाम सङ्गत होते हैं । गुणानुवृत्ति से गुणभृत्ता है, जैसा कि "विद्मा ते०" (यजुः १२।१९) इत्यादि मन्त्र से प्रतिपादित है । गुणानुवृत्ति से व्यतिरिक्त का नाम निर्गुण है, जैसा कि "समुद्रे त्वा०" (यजुः १२।२०)

समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तर्नृचक्षसा ईधे दिवो अग्न ऊधन् ।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसमपामुपस्थे महिषा अवर्धन् ।।"

यजुः १२।१९; २०।।

इह न त्रित्वेन सह गुणानुवृत्तिरतः स निर्गुण इत्युक्तो भवति। यस्माच्चासौ त्रीणि धामानि व्याप्नोति तस्मात् स विष्णुरेव। एवं हि सर्वत्र योजना कर्तव्या भवति। इति सरणिक्रमः प्रदर्शितोऽसम्भवं चाद्यन्तं व्याख्यानमपारत्वाद् भगवन्नामार्थमहिम्नः।

इदञ्च निभालयन्तु विद्वांसः—इमामस्मद्व्याख्यानसरणिमनुसृत्य यः कश्चिद्व्याचष्टे व्याख्यास्यति वा यादृग्, तादृग् तत् व्याख्यानमपि सत्यदेवो "वासिष्ठ" अनुमोदतेऽनुमोदिष्यते वा, यतो ह्यलभ्यपारत्वाद् व्याख्यानस्येति।

भवति चात्रास्माकम्—

स निर्गुणो विष्णुरलिप्त एको, धामानि सर्वाणि च वेद गत्या।
गुणा न तं क्षोभयितुं समर्थाः, स वा गुणातीत इहास्ति सूर्यः।।११३।।

महान्—८४१

'मह पूजायाम्' इति भौवादिको धातुस्ततो **"वर्तमाने पृषत्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च"** (२।८४) इत्युणादिसूत्रेणातिप्रत्ययान्तो निपात्यते। शतृवद्

इत्यादि मंत्र से प्रतिपादित है, और वह तीन धामों का व्यापन करने से विष्णु ही है। इसी प्रकार से सर्वत्र योजना कर लेनी चाहिये। यह हमने व्याख्यान का क्रम मात्र प्रदर्शित किया है, भगवान् के नामार्थ की महिमा के अपार होने से आद्यन्त व्याख्यान असम्भव है।

विद्वान पुरुषों को यह भी अपने ध्यान में रखना चाहिए कि, जो कोई भी विद्वान् इस मेरी व्याख्यानशैली को आश्रय करके जैसी तैसी भी व्याख्या करेगा, उस व्याख्या का मैं (सत्यदेव वासिष्ठ) अनुमोदन करूंगा, क्योंकि भगवन्नामों के महत्त्व युक्त होने से उनकी व्याख्यायें भी अनन्त और भिन्न भिन्न प्रकार की हो सकती हैं।

भाष्यकार इस भाव को अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

प्राकृत सत्त्व आदि गुणों से निर्लिप्त अर्थात् गुणसङ्ग से रहित एक=अद्वितीय भगवान् विष्णु का नाम निर्गुण है। वह सर्वगत होने से सब धामों को जानता है, तथा वह भगवान् विष्णु वा सूर्य गुणातीत नाम से भी इसीलिये कहा जाता है कि गुणगण उसको क्षुब्ध करने में समर्थ नहीं है।

महान्—८४१

'पूजार्थक' भ्वादिगण पठित 'मह' धातु है, इससे शतृवद्भाव युक्त उणादि 'अति' प्रत्यय के निपातन से महत् शब्द सिद्ध होता है। शतृवद् होने से उगिल्लक्षण नुम्, नान्तो-

भावश्च तस्य विधीयते, तेनोगित्त्वान्नुम्, मित्त्वादन्त्यादचः परः। **"सान्तमहतः संयोगस्य"** (पा० ६।४।१०) इति सूत्रेण महतो नोपधाया दीर्घः, संयोगान्तलोपः, तस्यासिद्धत्वान्नलोपो न भवति, सिध्यति च महानिति। मह्यते=पूज्यत इति महान्। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"यो रायोवनि र्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा। तस्मा इन्द्राय गायत॥" ऋक् १।४।१०॥

"महाँ अग्निर्मनसा रातहव्यः।" ऋक् ४।७।७॥

"वण्महाँ असि सूर्यः।" ऋक् ८।१०१।११॥ इति निदर्शनम्।

भगवतः पूज्यता वरिष्ठता च लोके सर्वत्र व्यष्टा दृश्यते।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्महान् पूज्यतमश्च विष्णुः, सूर्यो महान् पूज्यतमश्च सूर्यः।
अग्निर्महान् पूज्यतमश्च सोऽग्निः, मनीषिणस्तञ्च तथा स्तुवन्ति॥११४॥

अधृतः—८४२

'धृञः' कर्मणि 'क्तः', अनिट्, गुणाभावः। नञ्तत्पुरुषे नञो न लोपः, न धृतः=अधृतः इति। यो हि सर्वस्य धाता स केन धृतः स्यादित्यधृत एव स

पधा को दीर्घ, तथा संयोगान्त लोप होने से 'महान्' शब्द सिद्ध होता है। संयोगान्त लोप के असिद्ध होने से नकार का लोप नहीं होता। पूजा के योग्य का नाम 'महान्' है। इस नाम में **"यो रायो वनिर्महान्त्सुपारः०"** (ऋक् १।४।१०), **"महाँ अग्निर्मनसा रातहव्यः"** (ऋक् ४।७।७), **"वण्महाँ असि सूर्यः"** (ऋक् ८।१०१।११) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं। यह दिग्दर्शन मात्र है। भगवान् की श्रेष्ठता तथा पूज्यता सकल लोक में व्याप्त देखने में आती है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु, सूर्य तथा अग्नि पूजनीय श्रेष्ठतम होने से महान् हैं, इनकी महत्ता तथा श्रेष्ठता के उद्देश्य से ही विद्वान् पुरुष इनकी स्तुति करते हैं।

अधृतः—८४२

अनिट् 'धृञ्' धातु से कर्म में 'क्त' प्रत्यय और गुण का अभाव होने से 'धृत' शब्द तथा नञ् तत्पुरुष समास और नञ् के नकार का लोप करने से 'अधृत' शब्द सिद्ध होता

उच्यते। तथा च यथा दिवि रोचमानस्य सूर्यस्य न कश्चिदस्ति प्राकृतः स्तम्भक इति सोऽधृतनाम्नोच्यते, एवं विश्वव्यवस्थापको विष्णुरपि स्वधारणानपेक्षोऽधृत इत्युक्तः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"गृत्सो राजा वरुणश्चक्र एतं दिवि प्रेङ्खं हिरण्ययं शुभे कम्।"
ऋक् ७।८७।५॥

"अवसिन्धुं वरुणो द्यौरिव स्थात्।" ऋक् ७।८७।६॥

यतोऽयमधृतोऽत एव स्वयं जातः स्वाधारः इत्याद्यभिधानैरभिधेयो भवति।

भवति चात्रास्माकम्—

[1]खगोऽसहायो दिवमेत्यशङ्कः, [2]खगोऽसहायो दिवमेत्यशङ्कः।
यस्तक्षकस्तक्षति तं [3]सुपर्णं, स सर्वगो विष्णुरिहाधृतोऽस्ति ॥११५॥

१. खगः—सूर्यः। सूर्य इत्युपलक्षणं ग्रहोपग्रहसमेतस्य नक्षत्रमण्डलस्य।

२. खगः—पक्षी।

३. सुपर्णम्—सूर्यं सपरिच्छदम् पक्षिणं वा तथाविधोपकरणसमेतम्। "स सुपर्णो गरुत्मान्।" (ऋक् १।१६४।४६) इति च मन्त्रलिङ्गम्

है। जो सब का धारण करनेवाला है, उसको कोई दूसरा कैसे धारण करे, अर्थात् उसका धारण करनेवाला दूसरा कोई है ही नहीं, इस लिए उसका नाम अधृत है। जैसे आकाश में देदीप्यमान सूर्य का कोई प्राकृत स्तम्भक (आधार) नहीं है, इसलिए उसका नाम भी 'अधृत' है। इसी प्रकार विश्व का व्यवस्थापक भगवान् विष्णु भी किसी अन्य के द्वारा धृत न होने से अधृत नाम से कहा गया है। जैसा कि—"गृत्सो राजा वरुणश्चक्र एतम्०" (ऋक् ७।८७।५) तथा "अवसिन्धुं वरुणो द्यौरिव स्थात्" (ऋक् ७।८७।६) इत्यादि मन्त्रालोचन से सिद्ध होता है। अधृत होने से ही भगवान् स्वयंजात, स्वाधार आदि नामों से कहा जाता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

आकाश में सूर्य असहाय (अधृत) अर्थात् विना किसी आधार के ही भ्रमण कर रहा है, इसी प्रकार पक्षीगण भी असहाय निःशङ्क घूम रहा है। इन सब सोपग्रह सूर्य तथा पक्षि आदि का जो तक्षक (घटक) अर्थात् बनाने वाला है, वह भगवान् विष्णु सर्वगत अधृत नाम से कहा जाता है।

खग नाम सोपग्रह तथा नक्षत्रमण्डल सहित सूर्य और पक्षी का है। सुपर्ण नाम भी सोपकरण सूर्य या पक्षी का है जैसा कि, "स सुपर्णो गरुत्मान्" (ऋक् १।१६४।४६) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध है।

स्वधृतः—८४३

स्वरतेड्प्रत्यये स्वरिति व्युत्पादितचरः। धृतश्चाप्युक्तो धृञः कर्मणि क्ते। स्वेन=आत्मना धृतः स्वधृत इति। अर्थादन्यसाहाय्यानपेक्षो य आत्मनात्मानं धारयति सः स्वधृतः। तस्य चायमात्मधारणरूपः स्वाभाविकः स्वरूपभूतो धर्मः।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"स्वधर्मन् देववीतये श्रेष्ठं नो धेहि वार्यम्।" ऋक् ३।२१।२॥
"अस्मिन् पदे परमे तस्थिवांसमध्वस्मभिर्विश्वहा दीदिवांसम्।
आपो नप्त्रे घृतमन्नं वहन्तीः स्वयमत्कैः परिदीयन्ति यह्वी॥
ऋक् २।३५।१४॥
"एता विश्वा सवना तूतुमाकृषे स्वयं सूनो सहसो यानि दधिषे।
वराय ते पात्रं धर्मणे तना यज्ञो मन्त्रो ब्रह्मोद्यतं वचः॥" ऋक् १०।५०।६।

इति निदर्शनम्।

लोके चापि पश्यामः, श्येनोऽन्ये वा पक्षिणः स्वयमुड्डयमानाः स्वजिगमिषितं मार्गं मृगयमाणा ख एकत्र तिष्ठन्ति निरुद्धाग्रेगतयः, तदानीं ते स्वधृता भवन्ति। यथा च पक्षिसर्वशरीरगा जीवशक्तिस्तं पक्षिणं धारयति, तथैव तेषां तष्टा सर्वव्यापको विष्णुः सूर्यो वा स्वधृत एवान्यपदाभिधेयस्यास्य विश्वस्याधारभूतः।

स्वधृतः—८४३

शब्दोपतापार्थक 'स्वृ' धातु से उणादि 'ड्' प्रत्यय करने से स्व शब्द की सिद्धि की जा चुकी है। 'धृत' शब्द भी 'धृञ्' धातु से कर्म में 'क्त' प्रत्ययान्त सिद्ध किया गया है। अपने आपसे धृत=धारण किये हुये का नाम 'स्वधृत' है। अर्थात् दूसरे की सहायता के विना ही जो अपने आप से धृत है, उसका नाम स्वधृत है। और उसका यह आत्मधारण-रूप धर्म स्वाभाविक तथा स्वरूपभूत है। जैसा कि—"**स्वधर्मन् देववीतये श्रेष्ठं नो धेहि०**" (ऋक् ३।२१।२), "**अस्मिन् पदे परमे तस्थिवांसमध्वस्मभिर्विश्वहा०**" (ऋक् २।३५।१४), तथा "**एता विश्वा सवना तूतुमाकृषे०**" (ऋक् १०।५०।६) इत्यादि मन्त्रों से प्रतिपादित है। यह उदाहरण मात्र दिखलाया है।

लोक में भी हम देखते हैं, श्येन नामक या दूसरे पक्षी अपने लक्ष्य को खोजते हुये आकाश में उड्डयन क्रिया को बंद करके जब आकाश में एकत्र स्थित निरुद्धगति हो कर वहीं उसी स्थान में उड़ते होते हैं तब वे स्वधृत होते हैं। और जैसे पक्षियों की सर्व-शरीर व्यापिका जीवशक्ति, उन पक्षियों को धारण करती है, उसी प्रकार उन सब का बनाने वाला सर्वव्यापक भगवान् विष्णु या सूर्य ही इस अन्यपद वाच्य विश्व का आधारभूत स्वधृत है।

भवति चात्रास्माकम्—

सूर्यो हि विश्वे स्वधृतस्तथायं, स्वयन्धृतः खे च खगो यथास्ति ।
खगे यथा शक्तिमयोऽस्ति जीवः, सर्वत्र विष्णुः स्वधृतस्तथास्ति ।।११६।।

सूर्य इत्युपलक्षणं ग्रहोपग्रहसमेतस्य नक्षत्रमण्डलस्य ।

स्वास्यः—८४४

स्वरिति, स्वरतेर्ड्प्रत्यये उक्तः ।

आस्या—'आस उपवेशने' इत्यादादिको धातुस्तत "ऋहलोर्ण्यत्" (पा० ३।१।१२४) सूत्रेण वाऽसरूपन्यायेन भावे 'ण्यत्' प्रत्ययः, स्त्रियां टाप् । आसनमास्या, स्वयं स्वस्मिन् वा आस्या यस्य स 'स्वास्यः' । यद्वा—सु इति शोभनार्थक उपसर्गः, शोभना आस्या यस्य स 'स्वास्यः' इति सुपूर्वो बहुव्रीहिः ।

'स्वास्थः' इतिनामपक्षे च सु-आङ् पूर्वात्तिष्ठतेः "आतश्चोपसर्गे" (पा० ३।३।१०६) सूत्रेण स्त्रीविशिष्टभावेऽङ्प्रत्यय आल्लोपः, ततष्टाप् । आस्थानमास्था, शोभना आस्था यस्य सः स्वास्थः । उपसर्जनह्रस्वो बहुव्रीहिसमासः । अर्थश्चोभयोः समानः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

जैसे इस विश्व या आकाश में सूर्य या पक्षी, और पक्षी आदि में या सब ही शरीरों में जीवशक्ति स्वधृत है । इसी प्रकार भगवान् विष्णु सर्वत्र स्वधृत है ।

सूर्य यह ग्रहोपग्रह तथा नक्षत्र-मण्डल का उपलक्षण है ।

स्वास्यः—८४४

'स्वृ' धातु से उणादि 'ड्' प्रत्यय करके 'स्व' शब्द की सिद्धि की गई है ।

'आस्या' शब्द 'उपवेशनार्थक' अदादिगणीय 'आस' धातु से, वाऽसरूपन्यायानुसार भाव में 'ण्यत्' प्रत्यय, तथा स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है । अपने आप या अपने में स्थित रहने वाले का नाम 'स्वास्य' है । अथवा—सुपूर्वक बहुव्रीहि समास करने से शोभन (सुन्दर) है आस्या जिसकी, उसका नाम 'स्वास्यः' है । कुछ विद्वान् स्वास्यः के स्थान में 'स्वास्थः' ऐसा पाठ मानते हैं, उनके मत में 'सु और आङ् पूर्वक स्था' धातु से स्त्रीविशिष्ट भाव में 'अङ्' प्रत्यय, आकार का लोप, तथा स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्यय करने से 'आस्था' शब्द सिद्ध होता है । सर्वगत स्थिति का नाम आस्था है, वह सुन्दर है जिसकी उसका नाम 'स्वास्थः' है । दोनों ही नामों का अर्थ एक समान है । इस नामार्थ की

"अथेन्द्रो द्युम्न्या भवत् ।" ऋक् ८।८६।२॥
"त्वं कविरभवो देववीतम आ सूर्यं रोहयो दिवि ।" ऋक् ९।१०७।७॥
"दिविक्षयं यजतं बर्हिरासदे ।" ऋक् ५।४६।५॥
"विश्वेषां त्मना शोभिष्टमुपेव दिवि धावमानम् ।" ऋक् ८।३।२१॥
इत्यादि निदर्शनमात्रम् ।

लोकेऽपि च पश्यामो यथा वृक्षशाखा दिवि स्थिता भवति, तस्याञ्च पक्षिण उपविशन्ति, इतिं ते पक्षिणः स्वास्या भवन्ति स्वधामस्थायित्वात् । तथाऽयं सर्वव्यापको विष्णुर्यथायोनिसमास्यया सर्वमुपवेशयति, यथा गा गोषु, मूर्खान् मूर्खेषु, विदुषश्च विद्वत्स्विति ।

भवति चात्रास्माकम्—

स्वास्यो विभुर्विश्वविभूतिशाली, दत्ते समस्मै च समां स आस्याम् ।
समानजातीयगणे स विष्ट्वा, स्वास्यः स्वयं स्वास्यमिह प्रणौति ।।११७।।

प्राग्वंशः—८४५

प्रोपसृष्टः 'अञ्चुगतिपूजनयोः' इति भौवादिको धातुस्तत इह गत्यर्थात्

पुष्टि **"अथेन्द्रो द्युम्न्या भवत्"** (ऋक् ८।८६।२), **"त्वं कविरभवो देववीतम०"** (ऋक् ९।१०७।७), **"दिविक्षयं यजतं बर्हिरासदे"** (ऋक् ५।४६।५), **"विश्वेषां त्मना शोभिष्टमुपेव०"** (ऋक् ८।३।२१) इत्यादि मन्त्रों से होती है। यह उदाहरणरूप से हमने मार्गप्रदर्शन किया है।

लोक में भी हम देखते हैं कि आकाश में वितत वृक्ष की शाखाओं में पक्षी बैठते हैं, वे अपने धाम में स्थित होने से स्वास्य होते हैं। इसी प्रकार भगवान् विष्णु अपनी अपनी योनियों में, अथवा अपनी अपनी योनि के अनुसार सब की समास्या (स्थिति) करता है, जैसे गो पशु की गउओं में, मूर्खों की मूर्खों में तथा विद्वानों की विद्वानों में इत्यादि । इस लिये भगवान् का स्वास्य नाम है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

यह सकल विश्व है विभूति जिसकी, ऐसे सर्वव्यापक भगवान् विष्णु का नाम 'स्वास्य' है, क्योंकि वह सब के लिये समान आस्या (स्थिति) देता है। तथा प्रत्येक ही प्राणी अपने समान जातीयगण में स्थित होकर स्वयं स्वास्य हुआ, भगवान् स्वास्य की स्तुति करता है।

प्राग्वंशः—८४५

प्राक् शब्द 'गति तथा पूजार्थक' भ्वादिगणपठित 'प्रपूर्वक अञ्चु' धातु से

"ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चाञ्च" (पा० ३।२।५९) सूत्रेण 'क्विन्' प्रत्ययः। तस्य च सर्वस्यापहारः। "अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति" (पा० ६।४।२४) सूत्रेण न लोपः। "क्विन् प्रत्ययस्य कुः" (पा० ८।२।६२) सूत्रेण कुत्वम्। तेन चस्य कः, तस्य जश्त्वे च गः। प्र-अक् सांहितिको दीर्घः—प्रागिति।

वंश इति—'ष्टन वन शब्दे' 'वन षण संभक्तौ', 'टुवम उद्गिरणे' इति चैते भौवादिका धातवस्तत्र वन शब्दे वन संभक्तौ, टुवम उद्गिरण एभ्यो धातुभ्योऽन्वर्थं "जनिदाच्युसृवृमदिषमिनमिभृञ्भ्य इत्वन्-त्वन्-त्नण्-क्निन्-शक्-स्य-ढ-ड-टो-अटच्" (४।१०४) इत्युणादिसूत्रेण विधीयमानाः प्रत्यया "अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते" (४।१०५) इत्युणादिसूत्रानुशासनान्निर्दिष्टधातुव्यतिरिक्तधातुभ्योपि दृश्यन्त इति 'शक्' प्रत्यय ऊहितः। शकः शकारस्येत्संज्ञा "लशक्वतद्धिते" (पा० १।३।८) इति सूत्रेण प्राप्ता तस्यास्तथेडागमस्याभावश्चोहितः। तथैव "अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति" (पा० ६।४।३७) सूत्रप्राप्तोऽनुनासिकलोपस्तथा "अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति" (पा० ६।४।१५) इति सूत्रप्राप्तो दीर्घश्च शिष्टप्रयोगानुरोधान्न भवति। वनतेर्वमतेर्वा नकारस्य मकारस्य चानुस्वारः।

प्रकर्षेण अञ्चति=गच्छति, वनति=शब्दायते संभजते च—'प्राग्वंशः' इति। यद्वा—प्रकर्षेण सर्वत्र गच्छति सर्वञ्च वमति=उद्गिरतीति। अन्तःस्थं बहिरुद्गमयतीत्यर्थः। तथा च सूर्यः स्वगुणधर्मैर्विश्वं धारयन् चेष्टयन् शब्दयंश्च सर्वं कालगणनया कालमुद्वमति।

"ऋत्विक्०" (पा० ३।२।५९) इत्यादि सूत्र से 'क्विन्' प्रत्यय, क्विन् प्रत्यय का सर्वलोप, नकारलोप, तथा कुत्व और सांहितिक दीर्घ करने से सिद्ध होता है। वंश शब्द शब्दार्थक वन, सम्भक्त्यर्थक वन, तथा उद्गिरणार्थक टुवम' धातु से अर्थानुसार, "जनिदाच्यु०" (४।१०४) इत्यादि उणादि सूत्र से विधीयमान प्रत्यय "अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते" (४।१०५) इस उणादि सूत्रानुशासन से, सूत्र-पठित धातुओं से भिन्न धातुओं से भी होते हैं, इसलिये 'शक्' प्रत्यय किया है। बाहुलक से शकार की इत्संज्ञा तथा इट् का अभाव भी किया गया है। इसी प्रकार शिष्टों के प्रयोग के बल से अनुनासिक लोप और दीर्घ का अभाव होने से सिद्ध होता है।

प्रकर्ष से चलता हुआ जो शब्द या संभाग करता है उसका नाम 'प्राग्वंश' है। अथवा—जो प्रकर्ष से चलता है, और उग्दीर्ण अर्थात् अपने अन्तःस्थित को बाहर प्रकट करता है, उसका नाम प्राग्वंश है। जैसे कि सूर्य, अपने गुणधर्मों से विश्व को धारण सचेष्ट तथा शब्द युक्त करता हुआ, काल की गणना से अपने में स्थित काल को बाहर प्रकट

मन्त्रलिङ्गञ्च—

'न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप।
उदस्तभ्ना नाकमृष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः॥"
ऋक् ७।६६।२॥

"दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः।" ऋक् ७।६६।३॥ इति च

सूर्य एव विष्णुर्विष्णुरेव च सूर्यः। लोकेऽपि च पश्यामो, यतः सूर्यं उदयमानो दृश्यते, तदेव दृश्यं पदं प्राचो दिगिति नाम्नोच्यते। सदा चेमां वर्तुलां पृथिवीं परितो भ्राम्यन् सूर्यो जागतजनदृष्टिपथमायाति। एवं सर्वत्र प्राची-दिग्व्याप्ता सर्वत्रैव च सदा दृश्यते। सर्वत्र स्थितैर्जनैः सूर्य उदयमानोऽस्तं यंश्च दृश्यते। उदयमानं पश्यतः सा दिक् प्राची—अस्तं यन्तञ्च पश्यतस्तस्यैव सा दिक् प्रतीचीति। एवमुत्तरदक्षिणे चापि व्याप्नुत आत्मानं सूर्यगतिभेदात्। "यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते" इत्यृङ्मन्त्रोक्तं नियममनुसरता प्रगमनमेव शब्दं करोति, प्रगमनमेव सङ्कलनहेतुर्भवति, प्रगमनमेव वमति=सौरमण्डलस्थान् मयूखान् बहिरुद्गिरति।

लोकेऽपि च पश्यामः प्रचलद् यानं वाष्पं धूम्रं वा वमति। यदुक्तं प्रगमनमेव शब्दं करोतीति, तत्रापि दृश्यते लोके— गर्भाशयाद्बहिरुद्यन् जातको रोदनरूपं

करता है। इस अर्थ की पुष्टि "न ते विष्णो जायमानो न जातो०" (ऋक् ७।६६।२) इत्यादि मन्त्र से होती है। तथा "दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः" (ऋक् ७।६६।३) इत्यादि मन्त्र भी इसी अर्थ का पोषक है।

सूर्य ही विष्णु और विष्णु ही सूर्य है। लोक में भी हम देखते हैं कि सूर्य जहां से उदय होता हुआ दीखता है, उस दृश्य स्थान का नाम प्राची दिक् होता है। प्रतिदिन ही सूर्य इस गोल पृथिवी के चारों तरफ भ्रमण करता हुआ मनुष्यों के दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार से प्राची दिशा की सार्वत्रिक व्याप्ति सिद्ध होती है। सर्वत्र स्थित मनुष्य उदय तथा अस्त होते हुये सूर्य को देखते हैं। उदित होते हुये सूर्य को देखने वाले के लिए वह दिशा प्राची और अस्त होते हुए सूर्य को देखने वाले उसी व्यक्ति के लिये वह दिशा प्रतीची होती है। इसी प्रकार सूर्य के गतिभेद से उत्तर और दक्षिण दिशा की भी सार्वत्रिक व्याप्ति है। "यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते" इस ऋचा के अनुसार प्रगमन ही शब्द करता है, प्रगमन ही संकलन का हेतु होता है और प्रगमन ही वमन अर्थात् सौरमण्डलस्थ मयूखों (किरणों) को बाहर निकालता है।

लोक में भी हम देखते हैं, चलता हुआ यान=शकट आदि यन्त्र वाष्प (भाप) या धूम्र (धूम) का वमन करता है। जो कहा है कि प्रगमन ही शब्द करता है, यह भी लोक में

शब्दं करोति। एवं लोकं दृष्ट्वा बहुविधा ऊहा ऊहितव्या भवन्ति। इति दिङ्मात्रं निदर्शनम्।

यदुक्तं प्रदिशोऽपि सूर्याश्रयास्तत्र मन्त्रलिङ्गम्—

"सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः॥"

ऋक् १।१६४।३६॥

तथा—

"राजा वृत्रं जङ्घनत् प्रागपागुदगथा यजाते वर आ पृथिव्याः।

ऋक् ३।५३।११॥

"पूर्वामनु प्रदिशं याति चेकितत् संरश्मिभिर्यतते दर्शतो रथो दैव्यो दर्शतो रथः।" ऋक् ६।१११।३॥

भवति चात्रास्माकम्—

प्राग्वंश उक्तः स हि विष्णुरेकः, सूर्यः स वा विष्णुरिलां दधानः।
प्राची हि सा दिग् भुवनेऽस्ति रूढा, सूर्योदयो लग्नमियर्त्ति यत्र॥११८॥

तथा—

कालो हि सूर्यो गणनापि चार्कात्, स्वेष्टञ्च सर्वत्र पृथक् पृथक् स्यात्।
इष्टेन हीनो विफलस्तथा स्यात्, बन्ध्या सुसूषुः क्षयते यथायुः॥११९॥

गर्भाशय से बाहर आते हुये बालक के रोदनरूप शब्द से सिद्ध होता है। इस प्रकार लोक को देखकर विविध प्रकार की ऊहायें कर लेनी चाहिये। यह केवल मार्ग-प्रदर्शनमात्र है।

जो कहा है कि प्रदिशायें भी सूर्य के आश्रय से बनती है, इसमें **"सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो०"** (ऋक् १।१६४।३६), **"राजा वृत्रं जङ्घनत्०"** (ऋक् ३।५३।११), **"पूर्वामनुप्रदिशं याति चेकितत्०"** (ऋक् ६।१११।३) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम प्राग्वंश है, तथा पृथिवी के धारण करनेवाले सूर्य का नाम भी प्राग्वंश है। वह दिशा लोक में प्राची नाम से प्रसिद्ध है, जहां सूर्योदय लग्नसंज्ञा को प्राप्त करता है।

सूर्य ही काल है, तथा सूर्य से ही गणना की उत्पत्ति होती है, जिससे सब स्थानों का अपना-अपना इष्ट पृथक्-पृथक् होता है [सूर्योदयात्-इष्टम्, ऐसा सिद्धान्त है]। इष्ट से रहित गणक का सब कुछ इसी प्रकार विफल होता है, जिस प्रकार बन्ध्या स्त्री सन्तानोत्पत्ति में विफल होती है।

वंशवर्धनः—८४६

वंशशब्दो व्युत्पादितो वनतेर्वमते र्वौणादिके शकि प्रत्यये । वर्धनः इति—'वृधु वृद्धौ' इति भौवादिकाद्धातोर्णिच्, रपरो गुणः । वर्धि इत्यस्य धातु-संज्ञायां नन्द्यादि ल्यु, र्योरनो=वर्धनः । वंशस्य वर्धनो वंशवर्धनः । वंशशब्दो हि लोके पितृपितामहादिप्रबन्धपरम्परायां प्रसिद्धः, वेणुनामके काष्ठे च । वेणु-नामके काष्ठे यथा पर्वाणि भवन्ति, तथा पित्रादिप्रवन्धे पुत्रपौत्रादिरूपं पर्व, काले च पलघटिकादिनमाससंवत्सरादिरूपं पर्व भवति । तस्मादेतावपि वंशनामधेयौ । तं च वंशं यो वर्धयति स वंशवर्धनो भगवान् विष्णुः सूर्यो वा ।

कालो हि वंशः स च सूर्यगतिरूपः, तस्य च वर्धयिता भगवान् भास्करः स्वसातत्यगमनेन । द्वादशराशिषु सङ्क्रमाणस्य सूर्यस्यैकराशिसङ्क्रमो मास-स्तथा द्वादशराशिषु सूर्यस्य सङ्क्रम एको वत्सरः संवत्सरो वा । एवञ्च मासपर्वमयः संवत्सरः संवत्सरपर्वमयञ्च भचक्रं, ततो युगं, ततो मन्वन्तराणि । एवं महार्थस्य मूलभूतं विष्णुं सूर्यं वा व्यञ्जयितुं वंशवर्धन इति विष्णोर्नाम ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

वंशवर्धनः—८४६

'वंश'—शब्द की सिद्धि 'वन या वम' धातु से उणादि 'शक्' प्रत्यय करके की गई है ।

'वर्धन'—शब्द वृद्ध्यर्थक 'वृधु' इस णिजन्त धातु से नन्द्यादि ल्युं, और यु को अन आदेश करने से बनता है । वंश को बढ़ाने वाले का नाम 'वंशवर्धन' है । वंश शब्द लोक में पितामह आदि कुल-परम्परा में प्रसिद्ध है । जिसका दूसरा नाम वेणु है, ऐसे काष्ठ का नाम भी 'वंश' है । वेणु में जैसे पर्व होते हैं, वैसे ही पिता आदि प्रवन्ध परम्परा प्रसिद्ध वंश में भी पुत्र पौत्र प्रपौत्र आदि पर्व होते हैं ।

तथा काल में भी पल, घटिका, दिन, मास, संवत्सर आदि पर्व होते हैं, इसलिए इनका नाम भी 'वंश' है । इस वंश को जो बढ़ाता है उसका नाम 'वंशवर्धन' है, यह विष्णु या सूर्य का नाम है ।

काल भी वंश है, और वह सूर्य की गतिरूप है, उसको अपनी निरन्तर गति से बढ़ाने वाला सूर्य है । बारह राशियों में भ्रमण करते हुए सूर्य का एक राशि के सङ्क्रमण से परिमित काल का नाम मास है, द्वादश राशिसङ्क्रमण परिमित काल का नाम वत्सर या संवत्सर है । इस प्रकार से मास पर्वरूप संवत्सर है, संवत्सर पर्वरूप राशिचक्र है, राशीपर्वरूप युग तथा युगपर्वरूप मन्वन्तर जानना चाहिये । इस महत्त्वशाली अर्थ के मूल भूत सूर्य या विष्णु का बोध कराने के लिये ही भगवान् विष्णु को 'वंशवर्धन' नाम से

"यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथा ऋतवः ऋतुभिर्यन्ति साधु ।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ।।"
ऋक् १०।१८।५।।

"महत्तन्नाम गुह्यं पुरुस्पृग् येन भूतं जनयो येन भव्यम् ।
प्रत्नं जातं ज्योतिर्यदस्य प्रियं प्रियाः समविशन्त पञ्च ।।"
ऋक् १०।५५।२।।

लोके च पश्यामो बीजे वृक्षस्य, क्षुपस्य प्राणिनो वा यावान् विस्तारस्तस्य मनुष्यबुद्ध्ययगोचरस्य प्रत्यक्षं दर्शयिता सूर्य एव कालकारणत्वात् कालरूपः । अतः स वंशवर्धन इति ।

अथ च पुनर्लोके बाल्यावस्थातो वार्धक्यमुपगतो बालो न पुनः प्रत्यावृत्य बालभावमुपगच्छति तस्मिन्नेव शरीरे। कुत एवं ? वंशवर्धनो हि सः नहि वर्धमानं कालं प्रत्यावर्त्य लघयति=ह्रस्वयतीत्यर्थः । उक्तञ्चास्माभिः स्वोपज्ञ-सत्याग्रहनीतिकाव्ये—चतुर्थाध्यायस्य नानावर्षगणीये प्रथमे पादे—

पुरस्ताल्लम्बकेशोऽयं पृष्ठतश्चेन्द्रलुप्तवत् ।
आलम्ब्याग्रं नयेत् पृष्ठे गतः कालो न भूतिदः ।। श्लोक ३१।।

भवति चात्रास्माकम्—
विष्णुर्हि लोके वत वंशवर्धनो, गुप्तं स दृश्यं कुरुते च वर्धनः ।
हिरण्यगर्भः पतिरस्य तस्थुषो व्यनक्ति तत्तद् यदु तस्य गर्भगम् ।।१२०।।
"तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।" यजु० ३१।१९ इति च मन्त्रलिङ्गम्।

कहा गया है। इस अर्थ की पुष्टि "यथाहन्यनुपूर्वं भवन्ति०" (ऋक् १०।१८।५) तथा "महत्तन्नाम गुह्यं पुरुस्पृग्०" (ऋक् १०।५५।२) इत्यादि मन्त्रों से होती है।

लोक में भी हम देखते हैं—बीज में वृक्ष, क्षुप या प्राणियों का जितना आकार होता है, उसको प्रत्यक्ष दिखाने वाला काल का कारण या काल रूप सूर्य ही है, इसलिये यह वंशवर्धन है। तथा बाल्यावस्था से वार्धक्य को प्राप्त होकर कोई भी फिर उसी शरीर में बाल्यावस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। यदि पूछा जाये कि ऐसा क्यों होता है ? तब इसका यह ही समाधान होगा कि भगवान् वंशवर्धन है, इसलिए वह बढ़े हुए काल को फिर छोटा नहीं बनाता, जैसा कि हमने स्वनिर्मित सत्याग्रह नीति काव्य (अ० ४, पा० १ श्लोक ३१) में कहा है—"पुरस्ताल्लम्बकेशोऽयम्०" इत्यादि ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

लोकप्रसिद्ध 'वंशवर्धन' नाम भगवान् विष्णु का है, क्योंकि वह गुप्त वस्तु को बढ़ा कर दृश्य बना देता है, तथा इस चराचर विश्व का पति हिरण्यगर्भ, अपने गर्भ में (अन्तः) स्थित वस्तुओं को बाहर प्रकट कर देता है।

इसकी पुष्टि "तस्मिन् ह तस्थु० (यजु० ३१।१९) इत्यादि मन्त्र से होती है।

भारभृत् कथितो योगी योगीशः सर्वकामदः ।
आश्रमः श्रमणः क्षामः सुपर्णो वायुवाहनः ॥ १०४ ॥

८४७ भारभृत्, ८४८ कथितः, ८४९ योगी, ८५० योगीशः, ८५१ सर्वकामदः, ८५२ आश्रमः, ८५३ श्रमणः, ८५४ क्षामः, ८५५ सुपर्णः, ८५६ वायुवाहनः ॥

भारभृत्—८४७

भारः—भृञः "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" (पा० ३।३।१९) इति सूत्रेण कर्मणि घञ् वृद्धी रपरा । भृत्—भृञः कर्तरि क्विपि तुगागमः । भारस्य भृदिति भारभृत् । भ्रियते=धार्यते पोष्यते वेति भारस्तं बिभर्तीति 'भारभृत्' । एवञ्च सर्वमिदं विश्वं भाररूपं तस्य धर्ता पोषयिता च यः स भारभृत् ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः ॥"
ऋक् १।१६४।१३॥

लोके च पश्यामः—यथा देहाभिमान्यात्मा अदृष्टवशात् प्राप्तं शरीररूपं भारं वहति न चोत्सीदति, एवं जगद्रूपं भारं वहन्नपि भगवान् क्लेशरहितो भारभृदुच्यते ।

भारभृत्—८४७

'भृञ्' इस धारणार्थक धातु से कर्म में 'घञ्' प्रत्यय और रपरक वृद्धि करने से भार' शब्द सिद्ध होता है। 'भृत्' शब्द 'भृञ्' धातु से कर्ता अर्थ में 'क्विप्' प्रत्यय और तुक् का आगम करने से बनता है ।

भार को जो धारण करता है, उसका नाम है 'भारभृत्'। इस प्रकार इस विश्वरूप भार के धारण वा पोषण करने वाले का नाम 'भारभृत्' हुआ । इस नामार्थ की पुष्टि—'**पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने०**' (ऋक् १।१६४।१३) इत्यादि मन्त्र से होती है ।

हम लोक में भी देखते हैं कि जैसे अदृष्टवश से प्राप्त हुये इस शरीररूप भार को यह शरीराभिमानी जीवात्मा धारण करता हुआ भी क्लेश का अनुभव नहीं करता, उसी प्रकार इस जगद्रूप भार को क्लेश रहित धारण करता हुआ भगवान् विष्णु 'भारभृत्' नाम से कहा जाता है ।

भवति चात्रास्माकम्—

स भारभृद् विश्वमसंख्यरूपं बिभर्ति विष्णुः स हि भूरिभारः।
नोत्सादमन्वेति न शीर्यते वा, सनात् सनाभि वहते ह चक्रम् ॥१२१॥

कथितः—८४८

'कथ वाक्यप्रबन्धे' चौरादिको धातुरदन्तस्ततो 'णिच्' तस्मिंश्च परतोऽल्लोपः। अल्लोपस्य स्थानिवद्भावान्न वृद्धिः। तस्माण्ण्यन्तात् कर्मणि क्त इडागमो, "**निष्ठायां सेटि**" (पा० ६।४।५२) सूत्रेण णेर्लोपः='कथितः' इति।

यं वेदवाचोऽचकथन्निति कथितः। तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"**अपूर्वेणेषिता वाचो यं वदन्ति यथायथम्।**
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्॥" अथर्व १०।८।३३॥

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्हि लोके कथितः पुराणस्तस्यान्तमाप्नोति न वाग् वचोभिः।
तस्मात् सनादेव च वर्तमाना, वागस्ति वक्तुं प्रतिजन्तुनिष्ठा॥१२२॥

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है:—

भगवान् विष्णु का नाम भारभृत् है, क्योंकि वह सदा से ही इस असख्य विश्वरूप भार को उत्साद (क्लेश) रहित होकर धारण करता है। इस जगत् रूप चक्र के वहन करने से ही उसका भूरिभार तथा सनाभि नाम से भी अभिधान होता है।

कथितः—८४८

वाक्य की रचना रूप अर्थ में विद्यमान चौरादिक अदन्त 'कथ' धातु से 'णिच्' प्रत्यय, अकारलोप, और कर्म में क्त प्रत्यय, इडागम, तथा णि का लोप करने से 'कथित' शब्द सिद्ध होता है।

जिसको वेदवाणी ने कहा, अर्थात् वेद वाङ्मय ने जिसको अपने वर्णन का विषय बनाया, उसका नाम 'कथित' है, जैसा कि "**अपूर्वेणेषिता वाचो०**" (अथर्व १०।८।३३) इत्यादि मन्त्र से प्रतिपादित है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

सनातन पुरुष भगवान् विष्णु का लोक-प्रसिद्ध 'कथित' नाम है। इसका आद्योपान्त वर्णन करने में वेदवाक् भी असमर्थ है, तथा उस ही को कहने के लिये प्रत्येक जीव में सदा से वाणी विद्यमान है।

इह वेदवाग्वचनान्यधिक्रियन्ते । वेदवाणीमधिकृत्य च पुनरस्माकम्—

विष्णुर्हि लोके कथितः पुराणः, तस्यान्तमाप्नोति न वेदवाणी ।
तस्मात् सनात् सा कथितं तदेव, वाग् यस्यतीहागमवस्तु वक्तुम् ॥१२३॥

लोकेऽपि च पश्याम.—भगवतः कथितस्य सनातनत्वात् तत्कथनसाधनेन जिह्वयापि सदैव भाव्यम् । तस्मात् कथितः कथनसाधनेन सर्वं विश्वं व्याप्नोति । यथा चायं विष्णुः कथितेति नाम बिभर्ति, तथा 'दर्शतः'=पश्यति सर्वं, पश्यन्ति वा सर्वे यमिति दर्शतो दर्शनो वा । 'श्रवणः'—शृणोति सर्वेषां सर्वाणि वचांसि, शृण्वन्ति सर्वे एनमिति वा । 'स्पर्शनः'—स्पृशति सर्वाणि स्वव्याप्त्या स्पृशन्ति सर्व एनमिति वा । 'रूपः'—रूपयति सर्वाणि सर्वे एनं रूपयन्तीति वा । 'घ्राणः'—जिघ्रति सर्वाणि, जिघ्रन्ति सर्वे एनमिति वा, इति बहूनि नामानि धत्ते ।

यश्चैषां ज्ञानेन्द्रियविषयाणां विभक्ता तमिमे विषयाः प्रकटयन्तीति । तस्य च विषयरूपस्य नैतानीन्द्रियाणि पारं यान्ति, यतो हि स इन्द्रियाणां प्रवर्तयिताऽतो नेन्द्रियगोचरः स इति ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

इस पद्य में वचन शब्द से वेदवचन ही ग्राह्य हैं । वेदवाणी के विषय में हमारा यह दूसरा पद्य है—

सनातन पुरुष भगवान विष्णु 'कथित' नाम से लोक में प्रसिद्ध है । उसका अन्त (पार) पाने में वेदवाणी भी असमर्थ है । किन्तु वह वेदवाणी सदा से ही उस आगम-प्रतिपाद्य वस्तु को कहने का प्रयत्न करती है ।

यह हम लोक में भी देखते हैं कि किसी भी कथन योग्य विषय को कथन करने के लिये कथन के साधन जिह्वा की जरूरत होती है । इसलिए 'कथित' नामा भगवान् विष्णु जिह्वा के द्वारा इस समस्त विश्व को व्याप्त कर रहा है । जैसे विष्णु का 'कथित' नाम है, उसी प्रकार 'दर्शत' या 'दर्शन' नाम भी है, क्योंकि वह सब को देखता है, या सब उसे देखते हैं । तथा वह सब के सब वचनों को सुनता है, अथवा सब उनको सुनते हैं, इसलिये वह 'श्रवण' । वह सब को अपनी व्याप्ति के द्वारा स्पृष्ट करता है, अथवा सब उसका स्पर्श करते हैं, इसलिए 'स्पर्शन' । वह सब को आकृति से युक्त करता है, अथवा सब उसको अपने ही आकार से आकारयुक्त करते हैं, इसलिए 'रूप' । वह सबको सूंघता है, अथवा सब उसको सूंघते हैं, इसलिये 'घ्राण' इत्यादि बहुत से नामों को धारण करता है ।

ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का जिसने विभाग किया है, उस ही विषय-विभाजक को ये विषय प्रकट करते हैं । उस विषय-रूप भगवान् को ये इन्द्रियां अपना विषय नहीं बना

"स रेवाँइव विश्पतिर्दैव्यः केतुः शृणोतु नः। उक्थैरग्निर्बृहद्भानुः ॥"
ऋक् १।२७।१२॥

"दर्शं नु विश्वदर्शतं दर्शं रथमधि क्षमि। एता जुषत मे गिरः ॥"
ऋक् १।२५।१८॥

भवति चात्रास्माकम्—

यथास्ति शाश्वन्निजशक्तिसिद्धो, विष्णुस्तथा खानि च शक्तिमन्ति।
सिद्धानि सिद्धं गमयन्त्यजस्रं, जीवं सनातञ्च बुभुत्सुमन्तः ॥१२४॥

योगी—८४६

'युजिर् योगे' क्रैय्यादिको धातुस्ततो "हलश्च" (पा० ३।३।१२१) सूत्रेण करणे 'घञ्', गुणः, "चजोः कु घिण्यतोः" (पा० ७।३।५२) सूत्रेण जस्य गः='योगः'। ततः "अत इनिठनौ" (पा० ५।२।११५) सूत्रेण मत्वर्थीय इनिः, "यस्येति च" (पा० ६।४।१४८) इति सूत्रेण अकारलोपः=योगीति। एवञ्च युज्यते=सम्बध्यते येनापरमपरेण स योग इति तु परमार्थः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"एकस्मिन् योगे भुरणा समाने परि वां सप्त स्रवतो रथो गात्।
नवा यन्ति सुम्वो देवयुक्ता ये वां धूर्षु तरणयो वहन्ति ॥"
ऋक् ७।६७।८॥

सकती, क्योंकि वह इन इन्द्रियों का प्रवर्तक है, इससे इन्द्रियों का विषय नहीं है। इस नामार्थ की पुष्टि "स रेवाँ इव विश्पतिर्दैव्यः०" (ऋक् १।२७।१२); "दर्शं नु विश्वदर्शतम्० (ऋक् १।२५।१८) इत्यादि मन्त्रों से होती है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

जैसे भगवान् विष्णु नित्य निज शक्ति से सिद्ध है, उस ही प्रकार इन्द्रियां भी अपनी शक्ति से सिद्ध होती हुई निरन्तर अन्तःस्थित बुभुत्साविशिष्ट सनातन सिद्ध जीव को बोधित करती हैं।

योगी—८४६

योग—सम्बन्ध' अर्थ में विद्यमान क्रैय्यादिक 'युजिर्' धातु से इर् की इत्सञ्ज्ञा होकर 'घञ्' प्रत्यय करने से 'योग' शब्द सिद्ध होता है। तथा योग शब्द से मतुप् के अर्थ में 'इनि' प्रत्यय करने और अकार का लोप होने से सुबन्त योगी शब्द बन जाता है। 'योग शब्द का वास्तविक अर्थ, जिसके द्वारा एक दूसरा एक दूसरे से सम्बद्ध हो, ऐसा होता है, तथा वह योग अर्थात् सम्बन्धकरण रूप साधन जिसमें है, उसका नाम योगी है। इसमें "एकस्मिन् योगे भुरणा समाने०" (ऋक् ७।६७।८) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है।

लोके च दृढं बन्धनमेव योगः। योगैर्युक्तञ्चेदं शरीरं योगि, सकलञ्च विश्वं परस्परं बद्धं योगि, एष च योगरूपो गुणो भगवतो विष्णोरेव सर्वत्र व्याप्तः। पक्षतिबद्धः पक्षी योगी, सर्वत्रैवं ज्ञेयम्।

भवति चात्रास्माकम्—

योगी स विष्णू रथयोगयुक्तो, योगी स विश्वं न वियोति मार्गात्।
वपुस्तथैवास्ति च योगयुक्तं, सर्वायुरन्वेति च तद्धि जीवः ॥१२५॥

जीवोऽप्यत एव योगी।

योगीशः—८५०

उक्तः प्राग् 'योगि' शब्दः।

ईष्टे इतीशः। इगुपधलक्षणः 'कः'। योगानां योगिनां वेशिता 'योगीशः'। लोके चैतद् दृश्यते, स्थावरे जङ्गमे वा योगस्य विचित्रं माहात्म्यं दृश्यते सर्वत्र। तथाहि—शरीरे सर्वाण्यस्थीनि योगमूलकान्येव शरीरं वहन्ति। तेषामस्थ्नां क ईशितेति चेत्? स सर्वेश्वर एवेति। योगोऽस्यास्तीति योगी—आत्मा। तेषां सर्वत्रावस्थितानां योगिनां जीवात्मनां क ईशिता? स एव विश्वतश्चक्षुः सर्वे-

---

लोक में दृढ़ बन्धन का नाम ही 'योग' है। योगों (बन्धनों) से युक्त इस शरीर का नाम 'योगी' है। तथा यह समस्त विश्व ही परस्पर में बन्धा हुआ होने से 'योगी' है। यह भगवान् विष्णु का ही योगरूप गुण विश्व में सर्वत्र व्याप्त है। पक्षमूल से बद्ध होने से पक्षी भी 'योगी' है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु या रथयोग से सूर्य का नाम 'योगी' है। वह इस विश्व को अपने मार्ग से वियुक्त नहीं होने देता। इसी प्रकार शरीर भी शरीरान्तर्गत अङ्गबन्धनों से बद्ध होने के कारण 'योगी', तथा जीवात्मा भी सकल आयु शरीर से सम्बद्ध होने के कारण 'योगी' है।

योगीशः—८५०

'योगी' शब्द का व्युत्पादन पहले किया जा चुका है। शक्तिशाली का नाम 'ईश' है। ऐश्वर्यार्थक 'ईश' धातु से इगुपधलक्षण 'क' प्रत्यय करने से 'ईश' शब्द सिद्ध होता है। योग या योगियों के शासन करनेवाले का नाम 'योगीश' है। लोक में भी स्थावर या जङ्गम वर्ग में योग का विचित्र माहात्म्य देखने में आता है। जैसे—शरीर में योग के आश्रय से ही सब अस्थियां शरीर का वहन करती हैं। उन अस्थियों को सम्बद्ध करने वाला कौन है? इस प्रश्न का उत्तर यह ही है कि—वह ही सर्वेश्वर भगवान्

श्वर इति। अर्थाच्चैतदापद्यते—यो योगं जानाति स वियोगमपि जानाति. एतेन वियोगीशोऽपि व्याख्यातो भवति ।

लोकेऽपि च पश्यामः—सारथिरश्वान् रथे युनक्ति, स एव च वियुनक्ति गन्तव्यमध्वानमतिक्रम्य। एवं सर्वत्र प्रतिपदं तस्य योगीशस्य व्यापकता दृश्यते, तस्मात् स विष्णुर्योगीशः। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वमवसे हूमहे वयम्"।

यजुः २५।१८॥

भवति चात्रास्माकम्—

सर्वं हि मन्ये यदिहास्ति दृष्टं, योगेन युक्तञ्च विभाति तत्तत् ।
यस्तस्य बन्धुः स हि वात्र नाम्ना, योगीश उक्तः सवितात्र विष्णुः ।१२६।

सर्वकामदः—८५१

सर्व-कामशब्दौ कृतव्युत्पादनौ। 'सर्व' शब्दः—"सर्वघृष्व०" (उ० १।१५३) इत्यादिनोणादिसूत्रेण वन्नन्तो निपातितः। 'काम' शब्दश्च 'कमेः' कर्मणि घञि वृद्धिः=कामः । सर्वान् कामान् ददातीति 'सर्वकामदः' । सर्वकामोपपदाद्ददातेः क आल्लोपश्च। मन्त्रलिङ्गञ्च—

विष्णु इन सब का सम्बन्ध करता है। अर्थापत्ति से यह सिद्ध होता है कि जो योग को जानता है, वह वियोग को भी जानता है। इस से 'वियोगीश' शब्द का भी व्याख्यान हो जाता है ।

हम लोक में भी देखते हैं—जो रथवान् घोड़ों (अश्वों) को रथ में युक्त करता है, वह ही उन घोड़ों को गन्तव्य स्थान में जाकर वियुक्त करता है। इस प्रकार भगवान् 'योगीश' नामक विष्णु की पद-पद पर व्यापकता दीखती है। इसी अर्थ की पुष्टि **"तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिम्०"** (यजुः २५।१८) इत्यादि मन्त्र से होती है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

जो कुछ भी इस विश्व में दीखता है, वह सब योगयुक्त ही प्रतीत होता है। इस को योगयुक्त या सम्बद्ध करने वाला भगवान् विष्णु या सूर्य 'योगीश' नाम का वाच्य है।

सर्वकामदः—८५१

'सर्व' और 'काम' शब्द का व्युत्पादन किया जा चुका है। सब प्रकार के कामों (इच्छाओं) को देनेवाले का नाम 'सर्वकामद' है। सर्वकाम शब्द के उपपद होने पर 'दा' धातु से 'क' प्रत्यय और आकार का लोप होने से 'सर्वकामद' शब्द सिद्ध होता है। इस नामार्थ को सिद्ध करने वाले **"एवा न इन्दो०"** (ऋक् ९।९७।२१); **"यत्कामास्ते**

'एवा न इन्दो अभि देववीतिं परिस्रव नभो अर्णश्चमूषु ।
सोमो अस्मभ्यं काम्यं बृहन्तं रयिं ददातु वीरवन्तमुग्रम् ।।'

ऋक् ९।९७।२१।।

'यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।'

ऋक् १०।१२१।१०।।

'निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे ।' यजुः २३।१९।।

परिपूर्णकाम एव सर्वस्य कामयितुः कामान् दातुं शक्नोत्यतः विष्णुरेव सर्वकामदः परिपूर्णकामः ।

भवति चात्रास्माकम्—

स सर्वकामदो विष्णुर्यथाकामाभिसंस्तुतः ।
स्तोत्रे बुद्धिं प्रदायाशु, तं प्रीणात्यर्थकामिनम् ।।१२७।।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

'स हि त्वं देव शश्वते वसु मर्ताय दाशुषे ।
इन्दो सहस्रिणं रयिं शतात्मानं[1] विवाससि' ।।ऋक् ९।९८।४।।

१. स एव तत्र बहुधा बोभवतीत्यर्थः ।

आश्रमः—८५२

आङुपसर्गः । 'श्रमु तपसि खेदे च' इति दैवादिको धातुस्ततो 'णिच्' वृद्धिश्च । "अमन्ताश्च" (धातु० १।५६०) इति घटादिगणसूत्रेणामन्तत्वात् मित्त्वे "मितां ह्रस्वः" (पा० ६।४।९२) सूत्रेण ह्रस्वः । "एरच्" (पा० ३।३।

जुहुमस्तन्नो अस्तु०" (ऋक् १०।१२१।१०)तथा "निधीनां त्वा निधिपतिम्०" (यजु० २३।१९) इत्यादि मन्त्र हैं । स्वयं परिपूर्ण-काम ही दूसरों की कामनायें पूर्ण करने में समर्थ होता है, इसलिये परिपूर्ण-काम विष्णु ही 'सर्वकामद' है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'सर्वकामद' है, क्योंकि वह अपने कामानुसार स्तुति किया हुआ, अपने स्तोता को सद्बुद्धि प्रदान करके, उसको सब प्रकार के कामों से पूर्ण कर देता है ।

जैसा कि—"स हि त्वं देव शश्वते०"(ऋक् ९।९८।४)इत्यादि मन्त्र से सिद्ध है । अपने स्वरूप से बहुधा-भवन का नाम 'शतात्मा' है ।

आश्रमः—८५२

आङ् उपसर्ग है, 'तप और खेदार्थक श्रमु' इस दैवादिक धातु से 'णिच्' प्रत्यय, उपधावृद्धि, अमन्त होने से मित्, तथा मित् लक्षण ह्रस्व करने पर करण अर्थ में 'अच्'

५६) सूत्रेण करणे 'अच्' प्रत्ययो णेर्लोपः। आश्रम्यन्ते कर्मानुरूपां योनिं प्रापय्य येनेत्याश्रमः। यद्वा—आश्राम्यन्ति=खेदं प्राप्नुवन्ति तपस्यन्तो यस्मा इति आश्रमः, घञ् प्रत्ययः सम्प्रदाने। "नोदात्तोपदेशस्य०" (पा० ७।३।३४) इति वृद्धि-निषेधश्च। मन्त्रलिङ्गञ्च—

'भूम्या अन्तं पर्येके चरन्ति रथस्य धूर्षु युक्तासो अस्थुः।
श्रमस्य दायं विभजन्त्येभ्यो यदा यमो भवति हर्म्ये हितः॥'
ऋक् १०।११४।१०॥

भवन्ति चात्रास्माकम्—

स आश्रमो विष्णुरिहास्ति सिद्धः, श्रमस्य दायं विभजत्यवश्यम्।
ते लब्धदायाः सुखिनः स्वयोनौ, दायं यथाकाममथो चरन्ति ॥१२८॥

लोकेऽपि दायं श्रमजं मनुष्यो, ददाति मर्त्याय स वा पशुभ्यः।
एवं हि नित्यं स गभस्तिमाली, रात्रिं करोत्याश्रमणाय नित्यम् ॥१२९॥

रात्रिः कफस्तत्र तमः स्वभावान्, निद्रास्ति वा श्लेष्मतमोऽनुसृष्टा।
दिनं श्रमायास्ति निशाऽऽश्रमाय, दायो निशा तत्र दिनं श्रमश्च ॥१३०॥

प्रत्यय और णि का लोप करने से 'श्रम' शब्द बनता है। तथा आङ् उपसर्ग जोड़ने से 'आश्रम' बन जाता है। कर्मानुरूप योनि को प्राप्त कराके जिसके द्वारा ये सब जीव सर्वथा श्रान्त अर्थात् खिन्न किये जाते हैं, उसका नाम 'आश्रम' है। अथवा—जिसकी प्राप्ति के लिये तपस्या करते हुये खिन्न होते हैं, उसका नाम 'आश्रम' है। यहां सम्प्रदान अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय करने से आश्रम शब्द बना है, तथा "नोदात्तोपदेशस्य०" (पा० ७।३।३४) इत्यादि सूत्र से वृद्धि का निषेध हुआ है। इस नाम में "भूम्या अन्तं पर्येके०" (ऋक्० १०।११४।१०) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'आश्रम' है। क्योंकि वह किसी के भी द्वारा किये हुये श्रम (तप आदि) का दाय=फल अर्थात् पारिश्रमिक जरूर देता है, और वह परिश्रमी उस दाय (पारिश्रमिक) को प्राप्त करके उसको यथेच्छ भोगता है।

लोक में भी मनुष्य, मनुष्य या पशु आदि को उसके श्रम का फलरूप कुछ देता है। इसी प्रकार भगवान् गभस्तिमाली (सूर्य) भूतों के आश्रम (सुखभोग) के लिये रात्रि का निर्माण करता है।

रात्रि कफ का स्वरूप है, क्योंकि रात्रि में स्वभाव से ही तम तथा तमश्लेष्मा से सम्बद्ध निद्रा का प्रादुर्भाव होता है। यहां दिन श्रम के लिये अर्थात् कार्य करने के लिये तथा रात्रि आश्रम के लिये अर्थात् सुखभोग के लिये है। अथवा दिन श्रम (कर्म) रूप है, और

सूर्यो हि स्वप्रकाशेनौजसा जागरणेन वा सर्वं विश्वं क्रियाभिः श्रमयतीति सूर्य 'आश्रमः' । निद्रा श्लष्मतमो भवतीत्यायुर्वेदविदां समयः ।

श्रमणः—८५३

'श्रमु तपसि खेदे च' इति दैवादिको धातुस्ततः करणेऽधिकरणे वा 'ल्युट्' प्रत्ययः । श्रम्यतेऽनेन यत्र वेति 'श्रमणः' । यद्वा—श्रमीति ण्यन्ताद्धातो र्नन्द्यादिर्ल्युः, योरनो, णेर्लोपः । श्रमयति यत्तेजसेद्धो विश्वमिदमिति 'श्रमणो' विष्णुः सूर्यश्च ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे ।
तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितस्तं माता रेह्लि स उ रेह्लि मातरम् ॥"
ऋक् १०।११४।४॥

"सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।
छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश ॥"
ऋक् १०।११४।५॥

लोकेऽपि च पश्यामो—येन यत्र वा श्रम्यते, यो वा श्रमयति, तावुभौ खेदं तापं वा प्राप्नुतः । तथा च—

"न्यक् तपति सूर्यः ।" ऋक् १०।६०।११॥ इति मन्त्रलिङ्गम् ।

रात्रि उसका दाय (फल) रूप है । सूर्य ही अपने प्रकाश से वा सबके प्रबोधन से श्रम का करवाने वाला है, इसलिये सूर्य 'आश्रम' है ।

श्रमणः—८५३

'श्रमण' शब्द 'तप तथा खेदार्थक श्रमु' धातु से करण या अधिकरण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय करने से बनता है । जिसके द्वारा या जिसमें श्रम (तप या खेद) किया जाये, उसका नाम 'श्रमण' है । अथवा'—श्रमि' इस ण्यन्त धातु से नन्द्यादि 'ल्यु' प्रत्यय, यु को अन आदेश और णि का लोप करने से 'श्रमण' शब्द सिद्ध होता है । जिसके तेज से इद्ध (दीप्त) होकर सूर्य इस विश्व को कार्यकरण द्वारा श्रान्त करता है, उसका नाम 'श्रमण' है । यह विष्णु या सूर्य का नाम है । यह नामार्थ "एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश०" (ऋक् १०।११४।४) तथा "सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकम्०" (ऋक् १०।११४।५) इत्यादि मन्त्रों से प्रमाणित होता है ।

लोक में भी हम देखते हैं—जो श्रम करता है या करवाता है, वे दोनों ही करने वाला और करवाने वाला खेद को प्राप्त करते हैं । जैसा कि "न्यक् तपति सूर्यः" (ऋक् १०।६०।११) इस वेदवाक्य से सिद्ध है ।

भवति चात्रास्माकम्—

स एव विष्णुः श्रमणस्तपस्वी, श्रमेण दाधार दिवं धरां च।
तपः श्रमो वास्त्युभयोः समानः, सन्तापयन् द्यां क्रमते रविश्च ॥१३१॥

क्षामः—८५४

'क्षै जै षै क्षये' भौवादिका इमे धातवः क्षयार्थकाः। क्षामशब्दश्च 'क्षि क्षये' तथा 'क्षि निवासगत्योः' इत्युभाभ्यां धातुभ्यां निष्पन्नो, निवासं गतिं नाशञ्चाभिधत्ते। एवञ्च 'क्षै' धातोः क्षयार्थकात् कर्तरि 'क्त' स्तस्य च "क्षायो मः" (पा० ८।२।५३) इति सूत्रेण मकारादेशः=क्षाम इति। एवञ्चेहान्तर्गर्भितण्यर्थग्रहणात्, क्षायति=निवासयति, गमयति, नाशयति वा सर्वमिति 'क्षामः'।

यद्वा- क्षां=पृथिवीं मिमीते इति 'क्षामः'। क्षारूपकर्मोपपदात् 'माङ् माने शब्दे च' इति धातोः "आतोऽनुपसर्गे कः" (पा० ३।२।३) इति सूत्रेण 'कः' प्रत्ययः, आल्लोपश्च। क्षा इति विश्वोपलक्षणम्। एवञ्च विश्वमिदं य इयत्तया निबध्नाति, गतिदानेन शब्दवच्च करोतीति 'क्षामः'।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'श्रमण' है, क्योंकि वह श्रम वा तप के द्वारा इस द्यौ और पृथिवी को धारण करता है। अथवा तप या श्रम भगवान् विष्णु और सूर्य का समान है, क्योंकि सूर्य भी द्युलोक को सन्तप्त करता हुआ चलता है। इसलिये सूर्य का नाम भी 'श्रमण' है।

क्षामः—८५४

क्षै, जै, षै ये भ्वादिगणपठित क्षयार्थक धातु हैं। 'क्षाम' शब्द, क्षय (नाश) अर्थ वाले 'क्षै' तथा गति और निवास अर्थवाले 'क्षि' इन दोनों धातुओं से सिद्ध होता है। इसलिये गति, निवास और नाश, ये क्षाम शब्द के अर्थ होते हैं। 'क्षयार्थक क्षै' धातु से कर्ता अर्थ में 'क्त' प्रत्यय तथा उसको मकार आदेश और एच्लक्षण आत्व करने से 'क्षाम' शब्द सिद्ध होता है। यहां धातु का अन्तर्गर्भित ण्यर्थ लेने से, जो सब को निवास देता है, सब को गति देता है तथा सब का नाश करता है, यह 'क्षाम' शब्द का अर्थ होता है।

अथवा—'क्षा' यह पृथिवीवाचक शब्द, विश्व का उपलक्षण (ग्राहक) है। इसके उपपद रहते हुए, मानार्थक तथा शब्दार्थक 'मा' धातु से 'क' प्रत्यय और आकार का लोप करने से 'क्षाम' शब्द सिद्ध होता है। जो इस विश्व को इयत्ता (परिमाण) से तथा गतिशील करके शब्द से युक्त करता है, उसका नाम 'क्षाम' है।

यद्वा—'क्षमू सहने' धातोः पचाद्यचि, क्षमते यथाव्यवस्थं विश्वं नियन्तुमिति क्षमः। क्षम एव च 'क्षामः' स्वार्थिकोऽण्। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥"

ऋक् १।१५४।२॥

वक्तुर्विवक्षाधीनानि च कारकाणि। तथा च यथेह 'भवने वसामि' इह वासे भवनप्रयुक्तं सौकर्यं द्योतयितुं 'भवनं मां वासयति' इति प्रयुङ्क्ते। अमुथैव, भुवनानि विष्णौ क्षियन्ति, विष्णु र्वा भुवनानि वासयति स्वस्मिन्निति 'क्षामो' विष्णुरित्युपपद्यते।

भवति चात्रास्माकम्—

क्षामोऽस्ति विष्णुः सकलाप्तविश्वो, विश्वञ्च वा क्षाममिहास्ति सर्वम्।
वक्तुर्विवक्षावश एव सर्वं, स्थाल्यां पचाम्यापचते च[1] सैव॥१३२॥

१—सा एव स्थाली।

सुपर्णः—८५५

'पार तीर कर्मसमाप्तौ' इति चौरादिकौ धातू। तत्र 'पार'धातोः 'णिच्' ण्यन्ताच्च पचाद्यच्, ततो णिलोपः। पारयति=सम्यगाप्नोति भचक्रमिति

अथवा—'सहनार्थक क्षमू' धातु से पचादि 'अच्' प्रत्यय करने से क्षम, तथा क्षम शब्द से स्वार्थिक 'अण्' प्रत्यय करने से 'क्षाम' शब्द बनता है। जो सहन करता है, उसका नमा 'क्षाम' है। इस में प्रमाणरूप "प्र तद् विष्णुः स्तवते०" (ऋक् १।१५४।२) इत्यादि मन्त्र है।

कारक विवक्षा के आधीन होते हैं, अर्थात् वक्ता की इच्छानुसारी होते हैं। जैसे कि कोई, भवन को अधिकरण करके, 'मैं भवन में रहता हूँ' ऐसा कहना चाहता है, और कोई भवन में कर्तृत्व की विवक्षा करके, 'भवन मुझे वसाता है' ऐसा कहना चाहता है। इसी प्रकार मन्त्र में पठित "अधिक्षियन्ति" क्रिया के कर्तृभूत भुवनों की यहां कर्मत्व की विवक्षा से, 'भुवनों को अपने में बसाता है' ऐसा अर्थ होता है। इसलिए भगवान् का 'क्षाम' यह नाम उपपन्न होता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'क्षाम' है, क्योंकि वह इस सकल विश्व में वसता है, अथवा इस सकल विश्व को अपने में वास देता है। कारकों के वक्ता की विवक्षा के आधीन होने से, स्थाली में पकाता है, अथवा स्थाली पकाती है, यह दोनों ही प्रकार से उपपन्न होता है।

सुपर्णः—८५५

'पार और तीर' धातु कर्म की समाप्तिरूप अर्थ में वर्तमान चुरादिगण-पठित हैं। इस 'णिजन्त पार' धातु से पचादि 'अच्' प्रत्यय, और णि का लोप करने से 'पार' शब्द सिद्ध होता है। अच्छे प्रकार से जो भचक्र (राशिचक्र) को पार करे, उसका नाम 'पार' है।

'पारः' । नयतेर्डः, टिलोपश्च । नयतीति 'नः' । भचक्रं सम्यक् समानुवन्नयतीति 'सुपारणः' । 'सुपारण' एव पृषोदरादिलक्षण उपधाह्रस्वे तल्लोपे च 'सुपर्णः' । "पूर्वपदात् संज्ञायामगः" (पा० ८।४।३) इति सूत्रेण नकारस्य णकारः । रेफस्य भिन्नपदस्थत्वात् "रषाभ्यां नो णः समानपदे" (पा० ८.४।१) सूत्रस्येहाप्राप्तिः ।

'पृणाते' र्वा पर्णः । 'अक्षरवर्णसामान्यान्निर्ब्रूयात् न त्वेव न निर्ब्रूयात्' (नि०२।१) इति निरुक्तकारोक्तेः । तथा च सुपर्णः शोभनपर्णः शोभनपतनो वा । सुपर्णः=सूर्यः । तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

'सुपर्णो धावते दिवि' । ऋक् १।१०५।१।।

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।'

ऋक् १।१६४।४६।।

यदुक्तं—नयते र्डे 'न' इति, तत्र मन्त्रलिङ्गम्—

'कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।'

ऋक् १।१६४।४७।।

अत्र सुपर्णाः=मेघाः, हरयः=किरणाः, नियानं=नीचैर्यानम् । पृणातेः सुपर्णत्वे मन्त्रलिङ्गम्—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।"

ऋक् १०।१६४।२०।।

'णीञ्' इस प्रापणार्थक धातु से उणादि 'ड' प्रत्यय और टि का लोप करने से 'न' शब्द सिद्ध होता है । पारण ही पर्ण है, पृषोदरादि नियम से उपधा को ह्रस्व और उसका लोप, सु के साथ गतिसमास तथा णत्व करने से 'सुपर्ण' शब्द सिद्ध होता है । रेफ के भिन्न-पदस्थ होने से "रषाभ्यां नो णः समानपदे" (पा० ८।४।१) से अप्राप्त णत्व यहां "पूर्वपदात् संज्ञायामगः" (पा० ८।४।३) सूत्र से किया गया है । अथवा—क्र्यादिक 'पृ' धातु से उणादि 'न' प्रत्यय करने से 'पर्ण' शब्द सिद्ध होता है । क्योंकि निरुक्तकार का वचन है कि—'अक्षर वर्ण की समानता को आश्रित करके भी पद का निर्वचन करे, निर्वचन की उपेक्षा न करे' (नि० २।१) । इस प्रकार 'सुपर्ण' शब्द का अच्छे प्रकार से भचक्र (राशिचक्र) को पार करने वाला या अच्छे प्रकार से चलने वाला अर्थ होता है । 'सुपर्ण' नाम सूर्य का है । जैसा कि "सुपर्णो धावते दिवि" (ऋक् १।१०५।१); "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो०" (ऋक् १।१६४।४६) इत्यादि मन्त्रों से प्रतिपादित है ।

'णीञ्' धातु से उणादि 'ड' प्रत्यय करने से निष्पन्न 'न' शब्द के अर्थ की पुष्टि—"कृष्णं नियानं हरयः०" (ऋक् १।१६४।४७) इत्यादि मन्त्र से होती है । यहां 'सुपर्ण' नाम मेघ का, हरि नाम किरणों तथा नियान नाम नीचे को चलने का है । 'पृ' इस क्र्यादि

यदुक्तं—'मेघः सुपर्णः', तत्र मन्त्रलिङ्गम्—

"दिव्यं सुपर्णं वायसं बृहन्तमपां गर्भं दर्शतमोषधीनाम् ।
अभीपतो वृष्टिभिस्तर्पयन्तं सरस्वन्तमवसे जोहवीमि ॥"

ऋक् १।१६४।५२॥

यच्चोक्तम्—'अग्निः सुपर्णः', तत्र मन्त्रलिङ्गम्—

'भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः'। ऋक् १।१६४।५१॥

एवं विविधैः रूपैः सुपर्ण आत्मानं व्यनक्ति ।

भवतश्चात्रास्माकम्—

विष्णुः सुपर्णः स हि वास्तु सूर्यः, सोऽग्निः स वा मेघ उतास्तु पक्षी ।
तमेव मित्रं तमुवाच दिव्यं, तं वा गरुत्मन्तमुदाहरन्ति ॥१३३॥
वेदोऽस्ति काव्यं स हि शब्दरूपो, जगच्च काव्यं तदिहास्ति दृश्यम् ।
कर्ता द्वयोरस्ति सुपर्ण एकः, स एव वाच्यं वचनञ्च वेद ॥१३४॥

वायुवाहनः—८५६

वातीति—'वायुः'। 'वा गतिगन्धनयोः' इति धातुरादादिकः, ततः "कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्यः उण्" (उ० १।१) इत्युणादिसूत्रेण 'उण्' प्रत्ययः, तस्मिंश्च "आतो युक् चिण्कृतोः" (पा० ७।३।३३) सूत्रेण 'युक्'। वाहनः—'वह

धातु से निष्पन्न 'सुपर्ण' शब्द के अर्थ की पुष्टि—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया०" (ऋक् १।१६४।२०) इत्यादि मन्त्र से होती है। मेघ के सुपर्णत्व को सिद्ध करने वाला "दिव्यं सुपर्णं वायसम्०" (ऋक् १।१६४।५२) इत्यादि मन्त्र हैं। तथा अग्नि की सुपर्णता "भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति"० (ऋक् १।१६४।५१) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध होती है। इस प्रकार सुपर्ण अपने नाना रूपों से अपने आप को प्रकट करता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

'सुपर्ण' शब्द का वाच्य भगवान् विष्णु, सूर्य, अग्नि, मेघ, पक्षी, मित्र, दिव्य तथा गरुत्मान् आदि को विद्वान् पुरुषों ने बताया है।

वेद शब्दरूप काव्य, तथा जगत् दृश्यरूप काव्य है। इन दोनों का कर्ता एक सुपर्ण ही है, और वह ही वाच्य और वचन अर्थात् वाचक रूप वेद का पूर्ण रूप से जानकार है।

वायुवाहनः—८५६

'वायु' नाम गतिशील का है। गति तथा गन्धनार्थक आदादिक 'वा' धातु से उणादि 'उण्' प्रत्यय, तथा 'युक्' का आगम करने से सिद्ध होता है। 'वाहन' शब्द प्रापणार्थक

प्रापणे' भौवादिको धातुस्ततो 'णिच्', ततो ल्युर्योरनः, णिलोपश्च । वाहयतीति 'वाहनः' । वायुना=तत्तद्भेदभिन्नैर्वायुविकारैर्वाहयति=प्रवर्तयति सर्वं जगदिति 'वायुवाहनो' विष्णुः सूर्यो वा । एवञ्च लोके प्रसिद्धो 'वादल' शब्द उपपन्नो भवति । तथा हि—वायूनां दलं वादलं जलरसपूर्णो वायुसमूहः वाष्पसमूहो वा वादलेत्यभिख्यां लभते ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यै तावती महिना सम्बभूव" ।।
ऋक् १०।१२५।८।।

सूर्य एव च वातदलस्य वाहनः प्राधान्येन, तस्मात् सूर्योऽपि 'वायुवाहन' इत्युक्तो भवति ।

भवति चात्रास्माकम्—

"वायुवाहन उक्तोऽसौ, लोके विष्णू रविश्च सः ।
शकुनिः स सुपर्णो वा, स वा वायुदलः स्मृतः ।।१३५।।



हेतुमण्णिजन्त 'वह' धातु से नन्द्यादि 'ल्यु' प्रत्यय और यु को अन आदेश करने से बनता है । वायु अर्थात् वायुजन्य विकारों से जो जगत् का प्रवर्तन करता है, उसका नाम 'वायुवाहन' है । यह विष्णु या सूर्य का नाम है ।

इसी प्रकार से लोक-प्रसिद्ध 'वादल' शब्द की उपपत्ति होती है । जल से पूर्ण वायु या वाष्प के समूह का नाम 'वादल' है ! इस अर्थ की पुष्टि "अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा०" (ऋक् १०।१२५।८) इत्यादि मन्त्र से होती है । प्रधानता से सूर्य ही वायुदल का वाहन (प्रेरक) है, इसलिये सूर्य का नाम भी 'वायुवाहन' है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

'वायुवाहन' नाम विष्णु, सूर्य, शकुनि (पक्षी), सुपर्ण तथा वायुदल अर्थात् वादल का है ।

धनुर्धरो धनुर्वेदो दण्डो दमयिता दमः।
अपराजितः सर्वसहो नियन्तानियमोयमः[1] ॥१०५॥

८५७ धनुर्धरः, ८५८ धनुर्वेदः, ८५९ दण्डः, ८६० दमयिता, ८६१ दमः। ८६२ अपराजितः, ८६३ सर्वसहः, ८६४ नियन्ता, ८६५ नियमः (अनियमः), ८६६ यमः (अयमः)॥

धनुर्धरः—८५७

'धन धान्ये' इति जौहोत्यादिको धातुस्ततः "अर्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित्" (उ० २।११७) इत्युणादिसूत्रेण नित् 'उसिः' प्रत्ययः, तेन 'धनुः' इति। धृञः पचाद्यचि 'धरः' उक्तः। धनुषो धरः='धनुर्धरः', विष्णुः सूर्यो वा।
मन्त्रलिङ्गञ्च—

"अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आविवेश॥
ऋक् १०।१२५।६॥

लोकेऽपि च पश्यामः—सूर्यकृतं प्रसिद्धमिन्द्रधनुर्द्यवि। नेत्रे सूर्यदैवते, ते च धनुरिव भ्रुवौ धारयतः। एवमसौ धनुर्धरो लोकं व्याप्नोति सर्वमिति।
भवति चात्रास्माकम्—

"धनुर्धरो विष्णुरनन्तशक्तिर्धनुर्दधानो दिवमाविवेश।
दृश्यं धनुः सूर्यकृतञ्च तस्य, नेत्रे धनुर्धारयतस्तथैव" ॥१३६॥

धनुर्धरः—८५७

धान्यार्थक 'धन' धातु से उणादि नित् 'उसि' प्रत्यय करने से 'धनुः' शब्द सिद्ध होता है। 'धृञ्' इस धारणार्थक धातु से पचादि 'अच्' प्रत्यय करने से 'धर' शब्द सिद्ध होता है। धनुष् को धारण करने वाले का नाम 'धनुर्धर' है। यह विष्णु या सूर्य का नाम है। यह नाम "अहं रुद्राय ०" (ऋक् १०।१२५।६) इत्यादि मन्त्र से प्रमाणित होता है।

हम लोक में भी देखते हैं—सूर्य के द्वारा निर्मित आकाश में इन्द्रधनु नाम से प्रसिद्ध धनुष को। सूर्य-दैवताक नेत्र भी धनुष के समान भ्रुकुटि को धारण करते हैं। इस प्रकार भगवान् 'धनुर्धर' इस समस्त विश्व में व्याप्त हो रहा है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

अनन्त-शक्ति भगवान् विष्णु या सूर्य का नाम 'धनुर्धर' है, क्योंकि वह धनुष को धारण करता हुआ द्युलोक में प्रविष्ट हो रहा है। सूर्यकृत धनु आकाश में प्रत्यक्ष देखने में आता है, तथा सूर्यदैवत नेत्र, भ्रुकुटि रूप धनुष को धारण करते हैं।

---

१. 'अनियमः, अयमः' इति केचिच्छिन्दन्ति। एतत् सर्वमस्माभिः एकषष्ठ्युत्तरशततमे तथा द्विषष्ठ्युत्तरशततमे नाम्नि व्याख्यातम्।

धनुर्वेदः—८५८

धनुरुक्तः। वेद—इति 'विद्लृ लाभे' धातोः पचाद्यच्, गुणः। यद्वा—धनुर्विन्दति=लभत इति 'धनुर्वेदः'। "कर्मण्यण्" (पा० ३।२।१) इत्यण्। यद्वा—धनुर्वेदयति=स्वरक्षार्थं सर्वेभ्य इति 'धनुर्वेदः'। 'विद्लृ' धातोर्ण्यन्ताद् 'अज्विधिः सर्वधातुभ्यः' (वा० ३।१।१३४) इत्यनुशासनाद् 'अच्' प्रत्ययो णेर्लोपः। अन्तिमः पक्षः श्रेयान्।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"अवतत्य धनुष्ट्वꣳ सहस्राक्ष शतेषुधे।
निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो नः सुमना भव" ॥ यजुः १६।१३॥

भवति चात्रास्माकम्—

धनुर्हि लब्ध्वा स दधाति सर्वं, गवादिकानां धनुरस्ति शृङ्गम्।
सिंहादिहिंस्रस्य नखादिरूपं, धनुश्च मर्त्यस्य सुबुद्धिरत्र ॥१३७॥

एवं तद्धनुषः सर्वत्र व्याप्तत्वात् स धनुर्धरो विष्णुः 'धनुर्वेदः' इत्युच्यते।

धनुर्वेदः—८५८

'धनु' शब्द को पहले सिद्ध किया गया है। 'वेद' शब्द लाभार्थक 'विद' धातु से पचादि 'अच्' और लघूपधगुण करने से बनता है। अथवा—धनु को जो प्राप्त करे, उसका नाम 'धनुर्वेद' है। धनुष् पद के उपपद रहते हुये 'विद' धातु से "कर्मण्यण्" (पा० ३।२।१) सूत्र से 'अण्' प्रत्यय करने से 'धनुर्वेद' शब्द सिद्ध होता है। अथवा—जो अपनी-अपनी रक्षा के लिये सब को धनुष् का लाभ (प्राप्ति) करवाता है, उसका नाम 'धनुर्वेद' है। यहां ण्यन्त 'विद' धातु से "अज्विधिः सर्वधातुभ्यः" (वा० ३।१।१३४) इस अनुशासन से अच् प्रत्यय और णि का लोप करने से 'धनुर्वेद' सिद्ध हुआ है, और यह ही पक्ष श्रेष्ठ है। इस नामार्थ की पुष्टि—"अवतत्य धनुष्ट्वꣳ सहस्राक्ष शतेषुधे०" (यजुः १६।१३) इत्यादि मन्त्र से होती है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'धनुर्वेद' इसलिये है कि वह जगत् की रक्षा के लिये स्वयं, अथवा अपनी-अपनी रक्षा के लिये सब को धनुष् देकर सब की रक्षा करता है। गो आदि पशुओं का धनुष् शृङ्ग, सिंह आदि हिंसक पशुओं का धनुष् नख तथा मनुष्य का शोभन-बुद्धि है।

इस प्रकार उस धनुष् की सर्वत्र व्याप्ति होने से धनुर्धर विष्णु का नाम 'धनुर्वेद' है।

दण्डः—८५६

'दमु उपशमे' दैवादिको धातुस्ततो "अमन्ताड्डः" (उ० १।११४)इत्युणादि सूत्रेण 'डः' प्रत्ययः। अमिति प्रत्याहारस्तेन 'अ म ङ ण न' इत्येते गृहीताः भवन्ति। बाहुलकाड्डस्य नेत्संज्ञा। दमयतीति 'दण्डो', डकारयोगेन मकारस्य परसवर्णो णकारः। दमयति=उपशमयति सर्वाणि ज्योतींषि स्वतेजसा, अतः सूर्यो 'दण्डः'। विष्णुश्च 'दण्डः', स दण्डरूपेण स्वनियमेन नियमयति सर्वं रुद्ररूपः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

'ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि'।
ऋक् १०।१२५।७॥

भवति चात्रास्माकम्—

"दण्डः स विष्णुर्दमयत्यशेषं, यथाव्यवस्थं नयते पुरुत्रा।
तमेव दण्डं प्रणमन्ति धीराः, सूर्यं तथा विष्णुमुरुप्रगाथम्" ॥१३८॥

दण्डः—८५६

'दण्ड'—शब्द उपशमार्थक 'दम' इस दैवादिक धातु से उणादि 'ड' प्रत्यय करने तथा मकार को अनुस्वार और परसवर्ण करने से बनता है। बाहुलक से ड प्रत्यय के डकार की इत्संज्ञा नहीं होती। जो दमन करता है, उसका नाम 'दण्ड' है। अपने तेज से सब नक्षत्र आदि ज्योतियों के तेज का दमन=शमन करने से सूर्य का नाम 'दण्ड' है। तथा विष्णु का नाम 'दण्ड' इसलिये है कि वह रुद्ररूप से सब का नियमन करता है। इस नामार्थ की पुष्टि "ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्याम्०" (ऋक् १०।१२५।७) इत्यादि मन्त्र करता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'दण्ड' है, क्योंकि वह सब को अपनी व्यवस्थानुसार दमन=नियमन करता हुआ पुरुत्रा (बहुत जगह) अर्थात् जहां-तहां घुमा रहा है। उस उरुप्रगाथ अर्थात् बहुत प्रकार की स्तुतियों से स्तुत भगवान् विष्णु या सूर्य को धीरपुरुष प्रतिपद प्रणाम करते हैं।

दमयिता—८६०

'दमु उपशमे' दैवादिकाद्धातोर्णिच्, वृद्धिः, अमन्तत्वान्मित्त्वे **"मितां ह्रस्वः"** (पा० ६।४।९२) सूत्रेण ह्रस्वः। दमि इत्यस्य **"सनाद्यन्ता धातवः"** (पा० ३।१।३२) सूत्रेण धातुसंज्ञा, ताच्छील्ये **"तृन्"** (पा० ३।२।१३५) इति तृन्। तस्य चेडागमो, गुणोऽयादेशः, प्रातिपदिकत्वे सावनङ्ङादि= 'दमयिता'। दमयति=उपशमयति तच्छीलो 'दमयिता'। अर्थाज्जगति जगदीशकृताया जगद्व्यवस्थाया भञ्जकमुपशम्य स्ववशे स्थापयितेत्यर्थः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

'अथेदं विश्वं पवमान ते वशे त्वमिन्दो प्रथमो धामदा असि'।

ऋक् ९।८६।२८॥

'यदद्य कच्च वृत्रहन् उदगा अभि सूर्यः। सर्वं तदिन्द्र ते वशे'।

ऋक् ८।९३।४॥

लोकेऽपि च पश्यामः—सबलो निर्बलो वा सर्वोऽपि स्वस्य विरोधयितारं यथाकथञ्चिदपि स्ववशगं कर्तुं प्रयतते। सोऽयं गुणो दमयितेतिनाम बिभ्रतो भगवतो विष्णोरेव सर्वत्र जगति व्याप्तः। एवञ्च विष्णोः, सूर्यस्य, इन्द्रस्य, आत्मनो वा 'दमयिता' इति नाम।

भवति चात्रास्माकम्—

दमयिता—८६०

'दमयिता'—शब्द की सिद्धि उपशमार्थक 'दम' धातु से 'णिच्' तथा तन्निमित्तक वृद्धि, और इसके अमन्तलक्षण मित् होने से णि परे रहते मितलक्षण ह्रस्व करने पर, णिजन्त 'दमि' धातु से ताच्छील्य विशिष्ट कर्ता में 'तृन्' प्रत्यय और प्रातिपदिक सम्बन्धी कार्य करने से 'दमयिता' शब्द सिद्ध होता है। दमनशील का नाम 'दमयिता' है। अर्थात् जो जगदीश के द्वारा विहित जगत् की व्यवस्था को भङ्ग करता है, उसका उपशमन करके उसको अपने वश में करने वाले का नाम 'दमयिता' है। इस ही नामार्थ को यह **"अथेदं विश्वं पवमान ते वशे त्वमिन्दो०"** (ऋक् ९।८६।२८); **"यदद्य कच्च वृत्रहन् उदगा अभि०"** (ऋक् ८।९३।४) इत्यादि मन्त्रवाक्य पुष्ट करते हैं।

लोक में भी हम देखते हैं—कि सब कोई निर्बल हो या सबल, अपने विरोधी को सब प्रकार से वश में करने का प्रयत्न करता है। यह वशीकरणरूप गुण, 'दमयिता' नामक भगवान् विष्णु का ही सर्वत्र जगत् में व्याप्त हो रहा है। इस प्रकार से यह दमयिता' नाम विष्णु, सूर्य, इन्द्र या आत्मा का है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

"विष्णुर्हि विश्वं स्ववशे विधत्ते, तृन्नन्त[1] एषोऽथ दमोऽथ दण्डः।
विघ्नं विहन्तुं सबलोऽबलो वा, यथाबलं यस्यति[2] नौति[3] तं वा ॥१३६॥

१—तृन्नन्तः—दमयिता । २—यस्यति=प्रयतते । ३—विघ्नापहाराय विधिर्नमसः ॥

दमः—८६१

'दमु उपशमे' दैवादिकाद्धातोः पचाद्यच् प्रत्ययः कर्तरि, दाम्यतीति 'दमः'। दुःस्वभावानां भगवत्कृतजगन्नियमभञ्जकानां दमितेत्यर्थः । अयञ्च दमनरूपो गुणो लोकेऽपि दृश्यते—यथा अंशतः सर्वेऽपीन्द्रियाणि दाम्यन्ति मनश्चोपशमयन्ति । यद्वा—सर्वोऽप्येकस्मिन् कर्मणि प्रसक्तोऽन्यतो दाम्यति स्वमात्मानमिति ।

तथा च भगवान् विष्णुः सूर्यादीन् स्वस्वकर्मणि प्रसज्जयितुं सनियमं दाम्यति नितराम् । चक्षुषी दर्शने, श्रोत्रे श्रवणे, मनो मनने, नासिकां गन्धोपादाने, जिह्वां वचने, रसनां रसने चैव प्रसज्जयति । अयञ्चात्राभिप्रेतोऽर्थः—यस्य

समस्त विश्व को नियन्त्रित करके अपने वश में रखने के कारण से भगवान् विष्णु का दण्ड, दम तथा दमयिता नाम है । इस ही दमनशीलता गुण के सर्वत्र व्याप्त होने से लोक में भी सब कोई सबल या निर्बल अपने विघ्नों को नष्ट करने का प्रयत्न करता हुआ उस सर्वेश्वर को नमस्कार करता है ।

'तृन्नन्त' यह पद 'दमयिता' नाम का संकेत है । यस्यति=प्रयत्न करता है । नमस्कार का विधान विघ्नों के अपहार के लिये होता है ।

दमः—८६१

उपशमार्थक दिवादिगणीय 'दम' धातु से कर्त्ता में पचादि 'अच्' प्रत्यय करने से 'दम' शब्द सिद्ध होता है । दमन करने वाले का नाम 'दम' है । अर्थात् भगवत्-कृत जगत् के नियमों को तोड़ने वाले दुःस्वभाव प्राणियों का जो दमन करता है, उसका नाम 'दम' है । यह दमनरूप गुण लोक में भी देखने में आता है, जैसे सब ही अंश रूप से इन्द्रियों का दमन तथा मन का शमन करते हैं । अथवा—एक काम में लगा हुआ सब कोई दूसरी ओर से अपने आपको दमन करता है ।

भगवान् विष्णु भी सूर्य आदि ग्रहों को अपने-अपने कर्म में नियुक्त करने के लिये उनका नियमानुसार दमन करता है । तथा नेत्रों को देखने में, श्रोत्रों को सुनने में, मन को मनन करने में, नासिका को गन्ध के ग्रहण करने में, जिह्वा को बोलने में तथा रसना को रस ग्रहण करने में सनियम नियुक्त करता है, अर्थात् जिसका जो नियत कर्म है, वह

यत्कर्म नियतीकृतं, तत्तदेव कर्म करोति विकारादृते। एवं सर्वं दाम्यन् विष्णु 'दम' उच्यते।

भवति चात्रास्माकम्—

"दमो हि सर्वत्र विराजमानः, क्रियासु सर्वं स नियम्य युङ्क्ते।
ग्रहास्तमेव दममत्र विष्णुं, नमन्ति सर्वे परिधौ भ्रमन्तः ॥१४०॥

अपराजितः—८६२

परा=उपसर्गः। 'जि जये' तथा 'जि' अभिभवे' भौवादिकौ धातू। 'जि' भाषार्थश्चौरादिकोऽपि कैश्चिदिष्यते, तस्य नात्र ग्रहणम्। जयाभिभवार्थाभ्यां धातुभ्यां कर्मणि 'क्तः', अनिट्, गुणाभावः=पराजितः। न पराजित इति नञ्-समासे नञो नलोपः। परैर्न पराजीयते, पराभिभूयते वा स 'अपराजितो' विष्णुः।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"महाँ असि सोम ज्येष्ठ उग्राणामिन्द ओजिष्ठः।
युध्वा सञ्छश्वज्जिगेथ।" ऋक् ९।६६।१६ ॥

इति निदर्शनम्। सर्वो हि लोकोऽपराजितो बुभूषुर्नितरां प्रयतमानो दृश्यते।

विकार-रहित स्थिति में उस ही कर्म को करता ही है, यह वास्तविक अभिप्रेत अर्थ है। इस प्रकार सब का दमन करता हुआ भगवान् विष्णु 'दम' नाम से कहा जाता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'दम' है, क्योंकि वह सर्वत्र व्यापकरूप से विराजमान होकर, सबको नियमानुसार कर्मों में नियुक्त करता है। सब ग्रह भी अपनी-अपनी परिधि में घूमते हुए उस ही 'दम' नामक भगवान् विष्णु को नमस्कार करते हैं।

अपराजितः—८६२

'परा' उपसर्ग है। जयार्थक 'जि' तथा अभिभवार्थक 'जि' ये दोनों धातु भ्वादिगण में पठित हैं। तथा भाषार्थक भी चुरादिगण-पठित 'जि' धातु कुछ विद्वान् मानते हैं, लेकिन उसका यहां ग्रहण नहीं है। जय तथा अभिभवार्थक 'जि' धातुओं से कर्म में 'क्त' प्रत्यय तथा इट् और गुण के अभाव से 'पराजित' शब्द सिद्ध होता है। पराजित नाम हारे हुये या तिरस्कृत का है। पराजित शब्द का नञ् के साथ तत्पुरुष समास करने से 'अपराजित' शब्द बनता है। जो कभी भी किसी से पराजय या तिरस्कार को प्राप्त नहीं होता, उसका नाम 'अपराजित' है। यह भगवान् विष्णु का नाम है। इस नामार्थ की प्रामाणिकता **"महाँ असि सोम ज्येष्ठ०"** (ऋक् ९।६६।१६) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध होती है। यह उदाहरण मात्र है। सब लोग निरन्तर इसी इच्छा से ही प्रयत्न में संलग्न दीखते हैं कि वे पराजित न हों।

भवति चात्रास्माकम्—

"विष्णुर्हि लोकेऽस्त्यपराजितः सखा, मनोऽपि लोकेऽस्त्यपराजितं सखा।
सखापि लोकेऽस्त्यपराजितः सखा, सखाऽस्ति चात्मा यदि नापराजितः[1] ॥१४१॥

१. ना इति निषेधार्थे। पराजितः विषयैः पराभूतः, तथा नेति=नापराजितः।

सर्वसहः—८६३

'सर्व' शब्द उक्तः। 'षह मर्षणे' भौवादिको धातुः, ततः कर्त्रर्थे पचाद्यच् प्रत्ययः। सहत इति सहः, सर्वस्य सहः='सर्वसहः'। न च "पूःसर्वयोर्दारिसहोः" (पा० ३।२।४१) सूत्रेण खचः प्राप्तिः। कर्मणः शेषत्वेन विवक्षणात्, संज्ञात्वाद् वा। इह सूत्रे सहिग्रहणमसंज्ञार्थम्। एवञ्च समुद्रे पतद्भिर्नदनद्यादिप्रवाहैः समुद्र इव प्राकृतविकारैरविक्रियमाणः कूट इव तिष्ठन्नित्यर्थः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"नाक्षस्तप्यते भूरिभारः"। ऋक् १।१६४।१३॥ सर्वं सहत इत्यर्थः।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

सब के हितकर भगवान् विष्णु का नाम 'अपराजित' है। इसी अपराजितरूप गुण से युक्त मन सब का सखा है, अर्थात् मन विषयों से अनभिभूत सब का हितकर है। इसी प्रकार लोक में सखा अर्थात् सुहृत् (मित्र) भी किसी से पराजित न होने पर सखा (हितकर) है। तथा अपना आत्मा भी यदि भोगों से पराजित नहीं है, तो सखा अर्थात् हितकर है।

पद्य के अन्तिम चरण में 'नापराजित' पद में 'ना' यह निषेधार्थक है, तथा पराजित= विषयों से अभिभूत होना, जो वैसा नही वह 'अपराजित' है।

सर्वसहः—८६३

'सर्व' शब्द की सिद्धि पहले की गई है। 'सह' शब्द 'षह' इस सहनार्थक धातु से कर्ता अर्थ में पचादि 'अच्' प्रत्यय करने से बनता हैं। सब को सहन या सब कुछ सहन करने वाले का नाम 'सर्वसह' है। यहां कर्म की शेषत्व की विवक्षा करने से अथवा इसके संज्ञा शब्द होने से "पूःसर्वयोर्दारिसहोः" (पा० ३।२।४१) सूत्र से 'खच्' प्रत्यय नहीं होता, क्योंकि वहां सूत्र में असंज्ञा के लिये ही सह धातु का ग्रहण है। इस प्रकार जो, समुद्र में गिरते हुये नद नदी आदि के प्रवाहों से जैसे समुद्र अविक्रियमाण अर्थात् विकार-रहित रहता है, उसी प्रकार प्रकृति के विकारों से विकृत नहीं होता, उसका नाम 'सर्व-सह' है। जैसा कि "नाक्षस्तप्यते भूरिभारः" (ऋक् १।१६४।१३) इत्यादि वेद-वाक्य से सिद्ध है।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्हि सर्वं सहते पुरुत्रा, स एव गां वापि दिवं तथा च।
स एव दाधार चरं स्थिरं वा, तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥१४२॥

लोके चापि पश्यामो—जीवोऽपि सर्वमायुः सर्वं सहमानः कुर्वंश्च कर्माणि क्षपयत्यायुः, स एष विष्णोरेव गुणः।

नियन्ता—८६४

नि—उपसर्गः। 'यम उपरमे' भौवादिको धातुस्ततः 'तृच्' प्रत्ययः, अनिट्। अनुस्वारपरसवर्णौ। सावनङ्ङादि। नियच्छति=निबध्नाति सर्वं व्यवस्थितवर्त्मना गमनायेति 'नियन्ता' विष्णुः।

तद्यथा लोकेऽपि पश्यामो—हृदयं नियन्त्रा नियन्त्रितं नित्यं स्वकक्षायामासीनं कर्मणि प्रवर्तते सततं विकारादृते। एवमूह्यं सर्वत्र। यत्तूक्तमृते विकारा-

---

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

सब को सहन करने के कारण से भगवान् विष्णु का नाम 'सर्वसह' है, क्योंकि वह ही इस पृथिवी आकाश तथा सब स्थावर जङ्गम को धारण करता है, और ये सब भुवन उस ही में स्थित हैं।

हम लोक में भी देखते हैं—यह जीवात्मा भी सब कुछ सहन करता हुआ तथा कर्मों को करता हुआ अपनी सकल आयु को व्यतीत कर देता है। यह सब सर्वसहत्वरूप भगवान् विष्णु का ही गुण सर्वत्र व्याप्त है।

नियन्ता—८६४

'नि' उपसर्ग है। उपरमार्थक अनिट् 'यम' इस भ्वादिगणपठित धातु से कर्ता अर्थ में 'तृच्' प्रत्यय, अनुस्वार-परसवर्ण, तथा प्रातिपदिक-संज्ञा-निमित्तक स्वादि कार्य करने से 'नियन्ता' शब्द सिद्ध होता है। जो सब को व्यवस्थितरूप से चलने के लिये नियन्त्रित करता है, उसका नाम 'नियन्ता' है। यह भगवान् विष्णु का नाम है।

नियन्त्रण करना रूप अर्थ लोक में भी देखने में आता है—जैसे कि प्रत्येक प्राणी का हृदय नियन्ता के द्वारा नियन्त्रित होकर ही अपनी कक्षा में रहता हुआ कर्म में प्रवृत्त होता है स्वस्थ स्थिति में, अर्थात् किसी प्रकार का विकार न होने पर। 'विकार न होने पर' कहने का आशय है कि किसी समय हृदय विकृत होकर अनियन्त्रितरूप से भी कार्य

दिति, तत्रैवमवधार्यम्—सर्पदष्टो मृतोऽपि विषक्षपणकर्मणा जीवति । जले निमज्य मृतोऽप्येकमहोरात्रं पर्युषितोऽपि च कृतसम्यगुपचारो जीवति ।

प्रसङ्गप्राप्तं किञ्चिदुच्यते—जले निमज्य मृतस्य मनुष्यस्याधरीकरणेन जलं निःसार्य पुनस्तं महति लवणराशौ निगूह्य, कम्बलैश्चात्यन्तमाच्छाद्य, घटिकानां सार्धद्वयमेवं रक्षित्वा, पुनर्लवणमपमृज्य जानुबाहुना शनैः शनैः क्रमयितव्यः प्रगृह्य । यदि चेत् स जीवनशेषस्ततो जीवति । निमग्नस्य हि प्राणवायुना सह जलं रक्ते निविशते, तच्च रक्तस्थं जलं लवणं विशोषयति । सफला दृष्टचरा चेयं क्रिया मया निर्दिष्टा ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"नरा वा शंसं पूषणमगोह्यमग्निं देवेद्धमभ्यर्चसे गिरा ।
सूर्यामासा चन्द्रमसा यमं दिवि त्रितं वातमुषसमक्तुमश्विना" ।।

ऋक् १०।६४।३।।

इति निदर्शनम् । भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्नियन्ता स यमः प्रदिष्टः, तेनैव यन्त्रा नियतं समस्तम् ।
सर्गात् स्वकक्षां क्रमते यथार्कः, तथा शरीरे हृदयं नियन्तृ ।।१४३।।

करता है । जैसे सर्प से दष्ट (डसा हुआ) मूच्छित अवस्था में भी विषनाशक कर्म के द्वारा जीता रहता है । जल में डूब कर मरा हुआ तथा बहुत देर से पड़ा हुआ भी एक रात दिन तक जीता रहता है, अच्छे प्रकार से उपचार (चिकित्सा आदि) करने से ।

कुछ प्रासङ्गिक वर्णन—जल में डूबकर मरा हुआ मनुष्य, उसको नीचा करके जल निकाल कर, फिर उसको एक बड़े नमक के राशि (ढेर) में छिपाकर और वस्त्रों से आच्छादित करके एक मुहूर्त-पर्यन्त रखकर, फिर लवण को पूंछकर, भुजा और जानुओं के सहारे से पकड़ कर धीरे-धीरे चलाना चाहिये । ऐसा करने से यदि उसका जीवन शेष है तो वह जी जाता है, क्यों कि डूबने वाले के रक्त में प्राण-वायु के साथ जल का प्रवेश हो जाता है, उस रक्तस्थ जल का विशोषण लवण कर देता है । यह सब प्रक्रिया मैंने अपनी देखी लिखी है ।

इस नामार्थ को यह "नरा वा शंसं पूषणमगोह्यमग्निम्०" (ऋक् १०।६४।३) इत्यादि मन्त्र प्रमाणित करता है । यह उदाहरण मात्र है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'नियन्ता' है, तथा उस ही का नाम यम है । उस नियन्ता के द्वारा नियन्त्रित ही यह सब सूर्य आदि, सृष्टि के आरम्भ से अपनी कक्षा में घूम रहा है । तथा शरीर में हृदय स्वयं परमेश्वर से नियन्त्रित हुआ 'नियन्ता' है ।

'अर्क' इति ज्योतिषामुपलक्षणमत्र, स्तुत्या हि सर्वे ग्रहाः। अर्च्यत इत्यर्कः, स्तोतव्यो विष्णुः सूर्यो वा। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः। स यन्ता शश्वतीरिषः"।
ऋक् १।२७।७॥

नियमः—८६५

'नि'—उपसर्गः। 'यम उपरमे' इति भौवादिकाद्धातोः **"यमः समुपनिविषु च"** (पा० ३।३।६३) सूत्रेण करणेऽधिकरणे वा 'अप्' प्रत्ययः। नियम्यतेऽनेनास्मिन् वेति 'नियमः'। सर्वं स्थावरं जङ्गमञ्च भगवता नियम्यते, भगवत्येव च नियम्यते, भगवतः सर्वगतत्वादिति।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"निष्षहमाणो यमते नायते धन्वासहा नायते"। ऋक् १।१२७।३॥

"नि स्थिराणि चिदोजसा"। ऋक् १।१२७।४॥

यथा शरीरे सर्वं नियन्त्रितं तथैव लोके, लोकश्च तस्मिन्निति नियमो विष्णुः।

भवति चात्रास्माकम्—

"सर्वं निबद्धं नियमे हि विष्णौ, यथा शरीरेऽङ्गगणं निबद्धम्।
तथा च विष्णौ क्रमते निबद्धं, विश्वं समस्तं स्तब्धञ्च तस्मिन्" ॥१४४॥

अर्क शब्द से सब ज्योतिरूप ग्रह तथा उपग्रहों का ग्रहण है, क्योंकि वे सब ही स्तुत्य हैं। पूजा के योग्य (पूजनीय) का नाम 'अर्क' है, यह विष्णु या सूर्य का नाम है। इसी नियन्ता नाम को प्रमाणित करने वाला **"यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः०"** (ऋक् १।२७।७) इत्यादि मन्त्र है।

नियमः—८६५

'नि' उपसर्ग है। 'यम' धातु से करण या अधिकरण अर्थ में 'अप्' प्रत्यय करने से 'नियम' शब्द सिद्ध होता है। जिसके द्वारा या जिसमें नियन्त्रित किया जाय, उसका नाम 'नियम' है। भगवान् का नाम 'नियम' है, क्योंकि यह सब स्थावर जङ्गमरूप वर्ग भगवान् के द्वारा अपने में ही नियन्त्रित है, सर्वगत होने से। इस नामार्थ को **"निष्षहमाणो यमते०"** (ऋक् १।१२७।३)तथा "नि स्थिरा०"(ऋक् १।१२७।४)इत्यादि मन्त्र प्रमाणित करता है।

जैसे शरीर में सब कुछ नियन्त्रित है उसी प्रकार लोक में, तथा सकल लोक भगवान् में नियन्त्रित है। इस प्रकार 'नियम' नाम भगवान् विष्णु का हुआ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

'नियम' नाम भगवान् विष्णु का है। क्योंकि जैसे शरीर में अङ्गों का समूह बन्धा हुआ है, उस ही प्रकार उसमें सब कुछ बन्धा है, तथा उस ही में चलता है और उस ही में आश्रित है।

यमः—८६६

यच्छति=उपसंहरति सर्वं सर्गान्ते, सर्गस्थितौ च नियमयतीति 'यमः'। 'यमेः' पचाद्यच् प्रत्ययः। सर्वस्योपसंहारको नियामकश्च 'यम' इत्यर्थः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"नरा वा शंसं पूषणमगोह्यमग्निं देवेद्धमभ्यर्चसे गिरा।
सूर्यामासा चन्द्रमसा यमं दिवि त्रितं वातमुषसमक्तुमश्विना"॥
ऋक् १०।६४।३॥

भवति चात्रास्माकम्—

यमो नियन्ता स रविः स विष्णुर्व्याप्नोति विश्वं स्वमयूखभासा।
तस्मिन् स्थितं विश्वमिदं विभाति, विष्णुं रविं वा प्रणमन्ति तस्मात्॥१४५॥



यमः—८६६

सर्ग के अन्त में अर्थात् महाप्रलय के समय जो सब का उपसंहार कर, अर्थात् अपने आप में समावेश करके स्थित होता है, उसका नाम 'यम' है। 'यम' धातु से पचादि 'अच्' प्रत्यय करने से 'यम' शब्द की सिद्धि होती है। अर्थात् जो सब का उपसंहारक और नियामक है, उसका नाम 'यम' है। इस नाम में "नरा वा शंसं पूषणमगोह्यमग्निम्०" (ऋक् १०।६४।३) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु या सूर्य का नाम 'यम' है। उस ही का नाम नियन्ता भी है, क्योंकि वह इस समस्त विश्व को अपने प्रकाश से व्याप्त या नियन्त्रित करता हुआ अपने आप में स्थित रखता है, अर्थात् वह समस्त विश्व उस ही में स्थित है। इसी लिए सब भगवान् विष्णु या सूर्य को नमस्कार करते हैं।

सत्त्ववान् सात्त्विकः सत्यः सत्यधर्मपरायणः ।
अभिप्रायः प्रियार्होऽर्हः प्रियकृत् प्रीतिवर्धनः ॥१०६॥

८६७ सत्त्ववान्, ८६८ सात्त्विकः, ८६९ सत्यः, ८७० सत्यधर्मपरायणः । ८७१ अभिप्रायः, ८७२ प्रियार्हः, ८७३ अर्हः, ८७४ प्रियकृत्, ८७५ प्रीतिवर्धनः ॥

सत्त्ववान्—८६७

अस्तेश्शतरि 'सच्छब्दो' व्युत्पादितः । तस्मात् "तस्य भावस्त्वतलौ" (पा० ५।१।११८) इति सूत्रेण षष्ठ्यन्तात्सतो भावे 'त्व' प्रत्ययः । 'सत्त्व' शब्दाच्च "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्" (पा० ५।२।९४) सूत्रेणास्त्यर्थे 'मतुप्' प्रत्ययः, सत्त्वमस्यास्तीति 'सत्त्ववान्' । "मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" (पा० ८।२।९) सूत्रेण मकारस्य वकारः । सुबादिकार्यं, नुम्, दीर्घः, संयोगान्तलोपश्च । मतुबर्थाश्च—

"भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः" ॥

मन्त्रलिङ्गञ्च तदर्थे—

"अभि त्वा देव सवितरीशानं वार्य्याणाम् । सदावन् भागमीमहे" ॥
ऋक् १।२४।३॥

सदेति नित्यार्थकमव्ययम् । तत्सदावतः सम्बुद्धौ सदावन्निति । स पुनर्भूम्ना स्तूयते—

सत्त्ववान्—८६७

'सत्' शब्द की सिद्धि भवनार्थक 'अस्' धातु से 'शतृ' प्रत्यय करके की गई है। उस 'सत्' शब्द से भाव में 'त्व' प्रत्यय करने से 'सत्त्व' शब्द और 'सत्त्व' शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय, मकार को वकार, स्वादिकार्य, नुम्, दीर्घ और संयोगान्तलोप करने से 'सत्त्ववान्' शब्द बन जाता है।

'मतुप्' के अर्थों का संग्रह इस प्रकार है—

भूमा (बाहुल्य), निन्दा, प्रशंसा, नित्यसम्बन्ध, अतिशय, संसर्ग तथा अस्तित्व इन अर्थों में मतुप् आदि प्रत्यय होते हैं।

इसी की पुष्टि करनेवाला "अभि त्वा देव सवितरीशानं वार्य्याणाम्०" (ऋक् १।२४।३) इत्यादि मन्त्र है। यहां 'सदा' यह नित्यार्थक अव्यय है, इस से 'मतुप्' प्रत्यय होकर 'सदावत्' और सम्बोधन में 'सदावन्' शब्द बना है।

"न हि ते क्षत्रं न सहो न मन्युं वयश्च नामी पतयन्त आपुः ।
नेमा आपोऽनिमिषं चरन्तीर्न ये वातस्य प्रमिनन्त्यभ्वम्" ॥

ऋक् १।२४।६॥

वयः शब्दस्यार्थोऽत्र ग्रहास्तदुपजीवनाश्चेति सङ्गच्छते । लोकेऽपि च पश्यामो—यथा शरीरमधिष्ठाय शरीरवान् जीवः सर्वमायुस्तद् गमयति, तथैयंवा विष्णुः समग्रमिदं जीवयन् प्रवर्तयति स्वसाद्भाव्यात् ।

भवति चात्रास्माकम्—

स सत्त्ववान् विष्णुरनन्तगर्भः, स्वसत्तया विश्वमिदं बिभर्ति ।
तथा यथा देहमिमं ह देही, देहो न तस्यान्तमियात् कदाचित् ॥१४६॥

सात्त्विकः—८६८

'सत्त्व' शब्दो व्युत्पादितस्तस्मादार्हीयष्ठक्, "ठस्येकः" (पा० ७।३।५०) इति तस्येकादेशः। ठक्यकार उच्चारणार्थः। "किति च" (पा० ७।२।११८) सूत्रेणादिपदवृद्धिः। 'यस्येति च" (पा० ६।४।१४८)सूत्रेणाकारलोपः='सात्त्विकः'।

सत्त्ववानित्यनेन तस्य भगवतः सल्लक्षणता प्रतीयते । 'सात्त्विक' इत्यनेन नाम्ना च प्रकाशरूपता, ज्ञानरूपता वा प्रतीयते ।

उसी की बाहुल्य से स्तुति "नहि ते क्षत्रं न सहो न मन्युं वयश्च नामी०" (ऋक् १।२४।६)इत्यादि मन्त्र से की गई है। यहां वय शब्द से ग्रह और तदुपजीवी वर्ग का ग्रहण होता है । हम लोक में भी देखते हैं—जैसे शरीर में स्थित होकर शरीरी जीवात्मा सकल आयुपर्यन्त शरीर को चलाता है, उस ही प्रकार भगवान् विष्णु अपने सद्भाव से इस विश्व को चला रहा है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारां इस प्रकार व्यक्त करता है—

अनन्तगर्भ भगवान् विष्णु का नाम 'सत्त्ववान्' है। क्योंकि वह अपनी सत्ता से इस सकल विश्व का धारण या पोषण उसी प्रकार कर रहा है, जिस प्रकार यह जीवात्मा इस शरीर का धारण या पोषण करके इसे चला रहा है, किन्तु यह देह आत्मा का कभी अन्त अर्थात् पार नहीं पा सकता ।

सात्त्विकः—८६८

'सत्त्व' शब्द की सिद्धि पहले की गई है। इससे आर्हीय तद्धित 'ठक्' प्रत्यय, ठक् को इक आदेश, और कित् लक्षण आदि वृद्धि तथा अकार का लोप करने से 'सात्त्विक' शब्द सिद्ध होता है । सत्त्ववान् नाम से भगवान् के सत्तारूप गुण की प्रतीति, तथा 'सात्त्विक' नाम से भगवान के प्रकाशरूपत्व या ज्ञानरूपत्व गुण की प्रतीति होती है ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"स सत्यसत्वन् महते रणाय रथमातिष्ठ तुविनृम्ण भीमम्।
याहि प्रपथिन्नवसोप मद्रिक् प्र च श्रुत श्रावय चर्षणिभ्यः॥"
ऋक् ६।३१।५॥

त्वमित्यनुवर्तते, स त्वं सत्यसत्वन्!

भवति चात्रास्माकम्—

स सात्त्विकः सत्यजवः स्वयम्भूः, सत्त्वेन युक्तं कुरुतेऽत्र विश्वम्।
सत्त्वं स्वकञ्चार्हति दृश्यलोके, सत्त्वार्हमेतज्जगदस्ति सर्वम् ॥१४७॥

तथा च सर्वो मनुष्यादि वनस्पत्यादिवर्गश्च सत्त्वयुक्तः, सत्त्वार्हः, सत्त्वसम्बन्धी वा।

सत्यः—८६६

अस्तीति सत्, सत्सु साधुः=‘सत्यः’, "तत्र साधुः" (पा० ४।४।९८।) सूत्रेण ‘यत्’ प्रत्ययः। सत्सु साधुस्वभावेषु परमहितकारित्वेन लब्धसपर्यः। महापुरुषपूज्यो नित्यपरमहितकारी चेत्यर्थः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

इस नामार्थ की पुष्टि "स सत्यसत्वन् महते रणाय०" (ऋक् ६।३१।५) इत्यादि मन्त्र से होती है। ऊपर से ‘त्वम्’ पद की अनुवृत्ति आती है। ‘स त्वं सत्यसत्वन्’ इस प्रकार वाक्य की सङ्गति होती है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

सत्यजव तथा स्वयम्भू भगवान् विष्णु का नाम ‘सात्त्विक’ है, क्योंकि वह इस विश्व को सत्त्व से युक्त बनाता है। तथा इस दृश्य वर्ग में सब ही अपने-अपने सत्त्व से युक्त हुए अर्थात् अस्तित्व रखते हुये सत्त्व (प्रकाश या ज्ञान) के योग्य वा इससे सम्बद्ध हैं।

इस प्रकार सब मनुष्यादि तथा स्थावर वनस्पति आदि सत्त्व से युक्त या सम्बद्ध हैं।

सत्यः—८६६

जो है उसका नाम ‘सत्’ है, अर्थात् सल्लक्षणों से युक्त ‘सत्’ है, और उनमें जो साधु है, उसका नाम ‘सत्य’ है। तद्धित ‘यत्’ प्रत्यय करने से ‘सत्य’ शब्द सिद्ध हुआ है। साधु स्वभाव वालों में परमहितकारी होने से जो पूजित है, अर्थात् महापुरुषों के पूजनीय तथा सब के परमहितकारी का नाम ‘सत्य’ है।

"अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः । देवो देवेभिरागमत् ।"

ऋक् १।१।५॥

दृश्यते चैतत्सर्वं सत्येनैव व्याप्तम् । तस्मात् सत्योऽग्निविष्णुर्वा, विष्णुरग्निर्वा 'सत्यः' । जगद्रूपञ्चैतद् दृश्यं काव्यं भगवतस्तथा च—

"देवस्य पश्य काव्यम्" । ऋक् १०।५५।५॥

इति श्रुतिवचनम् । भवति चात्रास्माकम्—

सत्यः कविः काव्यमिदं चकार, दृश्यं सदालङ्कृतमेव तस्य ।
न तत्र मोहो न विकारभावो, द्रष्टा पुनर्मुह्यति नौति तञ्च ॥१४८॥

यथा च तस्येदं जगद्रूपं दृश्यं काव्यं तथा तस्य श्रव्यमपि काव्यं भवति वेदरूपम् । तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"अस्मा इत् काव्यं वच उक्थमिन्द्राय शंस्यम् ।
तस्मा उ ब्रह्मवाहसे गिरो वर्धन्त्यत्रयो गिरः शुम्भन्त्यत्रयः ।"

ऋक् ५।३९।५॥

सत्यधर्मपरायणः—८७०

'अस्तेः' शत्रन्ताद् यति 'सत्य' शब्द उक्तः । 'पृ' धातोरपि 'परः' शब्दः व्युत्पादितोऽस्ति । 'धरते' र्मनिनि 'धर्मः' । 'एतेरयते र्वा' ल्युटि 'अयन' शब्दः

इस नाम को "अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः०" (ऋक् १।१।५) इत्यादि मन्त्र प्रमाणित करता है । यह 'सत्य' नाम विष्णु या अग्नि का है, क्योंकि इस सत्य नाम अर्थात् सत्य से ही सब कुछ व्याप्त हो रहा है। यह जगत् भगवान् का दृश्य काव्य है, जैसा कि "देवस्य पश्य काव्यम्" (ऋक् १०।५५।५) इस वेदवाक्य से स्पष्ट है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है--

भगवान् विष्णुरूप 'सत्य' कवि ने इस जगत्रूप काव्य को बनाया है, जो सदा दृश्य तथा अलंकृत काव्य है । भगवान् का इसमें न मोह है, तथा न विकारीभाव है । किन्तु इसको देखने वाला लौकिक जीव मोहित होकर भगवान् को नमस्कार करता है ।

जिस प्रकार भगवान् का यह जगत् रूप दृश्य काव्य है, उस ही प्रकार उसका वेदरूप श्रव्य काव्य है । जैसा कि "अस्मा इत् काव्यं वच०" (ऋक् ५।३९।५) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध है ।

सत्यधर्मपरायणः—८७०

'अस्' धातु से 'शतृ' प्रत्यय करके 'सत्' शब्द सिद्ध किया गया है । उससे 'यत्' प्रत्यय करके 'सत्य' शब्द बना है । 'धृञ् धारणे' इस धातु से 'मनिन्' प्रत्यय करने से

साधुर्भवति । सत्यश्चासौ धर्मः सत्यधर्मः सच्चिदानन्दलक्षणः, स एव परः= परम अयनं=आश्रयः स्वरूपं वा यस्य स 'सत्यधर्मपरायणः' । अथवा — सत्यरूपस्य धर्मस्य परः=ऐकान्तिक अयनम्=आश्रयो यः स 'सत्यधर्मपरायण' इति, विष्णुः सूर्यो वा । मन्त्रलिङ्गञ्च —

"कविमग्निमुप स्तुहि, सत्यधर्माणमध्वरे । देवममीवचातनम् ॥"

ऋक् १।१२।७॥

परायणत्वे मन्त्रलिङ्गम्—

"यन्नियानं न्ययनं संज्ञानं यत् परायणम् ।
आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे ॥" ऋक् १०।१९।४॥

परमत्वे च—

"यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥"

ऋक् १०।१२९।७॥

एतेन हृदयाख्ये परमे व्योम्नि अयनं=गमनं यस्येति विष्णुस्तथा परमे महाकाशे गमनं यस्येति सूर्यश्चोक्तो भवति । तथा च मन्त्रः—

"इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः ।" ऋक् १०।८९।१०॥

"सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः ॥" ऋक् १०।८५।१॥

"पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू (सूर्याचन्द्रमसौ) क्रीडन्तौ परियातो अध्वरम् ।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट (सूर्यः) ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः (चन्द्रमाः)"॥

ऋक् १०।८५।१८॥

'धर्म' शब्द सिद्ध होता है । 'गत्यर्थक इण्' या अय' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय करने से 'अयन' शब्द बनता है । सच्चिदानन्द लक्षण धर्म सत्यधर्म है, वह ही है पर (श्रेष्ठ) आश्रय वा स्वरूप जिसका उसका नाम है 'सत्यधर्मपरायण' । यह भगवान् विष्णु या सूर्य का नाम है ।

भगवान् के सत्यधर्मत्व की सिद्धि "कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे०" । (ऋक् १।१२।७) इत्यादि मन्त्र से होती है । तथा परायणत्व की सिद्धि "यन्नियानं न्ययनं संज्ञानं यत् परायणम्०" (ऋक् १०।१९।४) इत्यादि मन्त्र से होती है । और परमत्व "यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्०" (ऋक् १०।१२९।७) इस मन्त्र से सिद्ध होता है । इस प्रकार से हृदयरूप परम व्योम में अयन=गमन है जिसका, तथा परम आकाश में गमन है जिसका, इस रूप से विष्णु और सूर्य दोनों का इस से अभिधान होता है । यह भावार्थ इस "इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः" (ऋक् १०।८९।१०), "सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः०" (ऋक् १०।८५।१) तथा "पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू० (ऋक् १०।८५।१८) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध होता है ।

भवति चात्रास्माकम्—

सत्येनोत्तभिता भूमिः, सत्येनोत्तभिता च द्यौः।
विष्णुरस्ति स गेयो यः, सत्यधर्मपरायणः ॥१४६॥

लोकेऽपि च दृश्यते—सत्यधर्मपरायणस्य विष्णोः सूर्यस्य वानुकरणं कुर्वाणो मनुष्योऽपि सत्यधर्मभाषणपरस्ताद्भाव्याय कल्पते। स च तथाभूतो मनुष्यः सर्वैः स्तूयते, यतो ह्ययं वैष्णवपथपथिकः।

अभिप्रायः—८७१

अभि-प्र चोपसर्गौ. तत्पूर्वं 'इण् गतौ' इत्यादादिको धातुस्ततः कर्तरि पचाद्यच् प्रत्ययो, गुणायादेशौ, सांहितिको दीर्घश्च = 'अभिप्रायः'। अभिप्रैति सर्वमिति 'अभिप्रायः'। यद्वा—अभिप्रपूर्वाद 'इणः' कर्मणि "एरच्" (पा० ३।३।५६) इत्यच् प्रत्ययः। अभिप्रेयते सर्वतो गम्यते सर्वैः प्रार्थयमाणैरिति 'अभिप्रायः'।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"स्वायुधः सोतृभिः पूयमानोऽभ्यर्ष गुह्यं चारु नाम।
अभि वाजं सप्तिरिव श्रवस्याभिवायुमभिगा देव सोम॥"

ऋक् ९।९६।१६॥

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

जिस सत्यरूप धर्म को आश्रित करके भूमि तथा द्युलोक स्थिररूप से स्थित हैं, वह 'सत्यधर्मपरायण' भगवान् विष्णु ही गेय अर्थात् स्तवनीय है। लोक में भी देखने में आता है—जो मनुष्य, भगवान् विष्णु या सूर्य का अनुकरण करता हुआ सत्य बोलने में तत्पर हो जाता है, वह विष्णुरूपता को प्राप्त करने योग्य बन जाता है। तथा वह विष्णुपथ का पथिक होने से सब का सतुत्य हो जाता है।

अभिप्रायः—८७१

'अभि' और 'प्र' उपसर्ग हैं, इन के पूर्व में रहते हुये 'गत्यर्थक इण्' धातु से कर्ता अर्थ में पचादि 'अच्' प्रत्यय, गुण और अय् आदेश, तथा संहिता-विषयक दीर्घ करने से 'अभिप्राय' शब्द सिद्ध होता है। जो चतुरश्ररूप से सब को प्राप्त होता है, उसका नाम 'अभिप्राय' है। अथवा—अभि और प्र पूर्वक 'इण्' धातु से कर्म में 'अच्' प्रत्यय करने से 'अभिप्राय' शब्द बनता है। सब प्राणियों का जो सब प्रकार से गम्य है, उसका नाम 'अभिप्राय' है। इसमें "स्वायुधः सोतृभिः पूयमानोऽभ्यर्षम्०" (ऋक् ९।९६।१६);

"अभी नो अर्ष दिव्या वसून्यभि विश्वा पार्थिवा पूयमानः ।
अभि येन द्रविणमश्नवामाभ्यार्षेयं जमदग्निवन्नः ॥"
ऋक् ६।६७।५१॥

"त्वोतो वाज्यह्रयोऽभि पूर्वस्मादपरः । प्र दाश्वाँ अग्ने अस्थात् ॥"
ऋक् १।७४।८॥

लोकेऽपि च पश्यामः—सर्वोऽयं सर्गरूपः स्थावरजङ्गमवर्गस्तमभिप्रायाख्यं विष्णुमभिप्रैति, परस्परञ्च । तथा हि—शिष्यो गुरुमभिप्रैति, पत्नी पतिं, अभियोक्ताभियुक्तश्चाधिकरणिकं, क्रेता विक्रेता च विपणिकमित्यादिव्यवहार-जातं तस्यैवाभिप्रायनाम्नो भगवतो व्यापकतां दर्शयति ।

भवति चात्रास्माकम्—

अभिप्रायः स सूर्योऽस्ति, विष्णुर्वा स विभुः कविः ।
नानारूपधरं मर्त्या, अभिप्रायं नमन्ति तम् ॥१५०॥

प्रियार्हः—८७२

'प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च' इति क्रैयादिको धातुस्तत "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" (पा० ३।१।१३५) सूत्रेण 'कः' प्रत्ययः कर्तरि, कित्वाद् गुणाभावः । "अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ" (पा० ६।४।७७) सूत्रेण 'इयङ्'='प्रिय' इति ।

"अभी नो अर्ष दिव्या वसून्यभि०" (ऋक् ६।६७।५१) तथा "त्वोतो वाज्यह्रयोऽभि पूर्वस्मादपरः०" (ऋक् १।७४।८) इत्यादि मन्त्र प्रमाणरूप हैं ।

लोक में भी हम देखते हैं—यह स्थावर जङ्गम रूप सब वर्ग, 'अभिप्राय' नामक विष्णु को प्राप्त होता है, तथा परस्पर में भी एक एक को प्राप्त होता है । जैसे—शिष्य गुरु को, पत्नी पति को, अभियोक्ता तथा अभियुक्त आधिकरणिक (जज)आदि को, तथा क्रेता(खरीदने वाला) और विक्रेता (बेचने वाला) बाजार या दुकान को प्राप्त होता है । यह सब व्यवहारगण, उस ही 'अभिप्राय' नामक भगवान् विष्णु की व्यापकता को प्रकट करता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'अभिप्राय' है, तथा उस नानारूपधारी 'अभिप्राय' नामक विष्णु को मनुष्य सूर्य, विभु, कवि आदि नामों से स्तुति करते हुए नमस्कार करते हैं ।

प्रियार्हः—८७२

कान्ति तथा तर्पणार्थक 'प्रीञ्' इस क्र्यादिगणपठित धातु से 'क' प्रत्यय और इयङ् आदेश करने से 'प्रिय' शब्द सिद्ध होता है । प्रिय शब्द के उपपद रहते हुये, पूजार्थक

प्रियोपपदाद् 'अर्ह पूजायाम्' इति भौवादिकाद्धातोः **कर्तर्यच्**। प्रियमर्हतीति 'प्रियार्हः'। यद्वा—अर्हतेः पचाद्यच्, सप्तमीति योगविभागात्समासः। प्रियेषु—अर्हः=योग्यः प्रिय इति 'प्रियार्हः'।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे।" यजुः २३।१९॥

लोकेऽपि च पश्यामो—लोके हि यस्य यत् प्रियतोऽपि प्रियं वस्तु तद् वस्तु स पूज्यायार्पयति। पूज्योऽपि च स्वप्रियं वस्तु तदर्हते ददाति। यद्वा—प्रियेषु भोगेषु निरपेक्षस्य अर्हः=पूज्यो भगवान् विष्णुरेवेति सः 'प्रियार्हः' इति। सोऽयं भगवतो व्यापकस्य गुणः सर्वत्रानुस्यूतः।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुः प्रियार्हः स जगत्प्रसिद्धः, प्रियाणि धामानि स चैति नित्यम्।
प्रियं प्रियार्हाय जनो ददाति, प्रियं स लब्ध्वा मनुते स्वपूजाम् ॥१५१॥

अर्हः—८७३

'अर्ह पूजायाम्' इति भौवादिकाद्धातोः कर्मणि 'घञ्' प्रत्ययः। अर्ह्यते=

'अर्ह' धातु से कर्ता में 'अच्' प्रत्यय और सवर्ण दीर्घ करने से 'प्रियार्ह' शब्द सिद्ध हो जाता है। प्रिय के जो योग्य है, उसका नाम 'प्रियार्ह' है। अथवा—'अर्ह' धातु से पचादि 'अच्' प्रत्यय और प्रिय शब्द का अर्ह शब्द के साथ सप्तमी के योगविभाग से, समास करने से 'प्रियार्ह' यह समस्त पद बनता है। प्रियों में जो योग्य प्रिय है, उसका नाम 'प्रियार्ह' है। यह नामार्थ इस **"प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे"** (यजु० २३।१९) इत्यादि मन्त्र से प्रमाणित होता है।

लोक में भी हम देखते हैं—जिसकी जो प्रिय से भी प्रिय वस्तु होती है, वह उस वस्तु को अपने पूज्य के अर्पण करता है, तथा वह पूज्य भी अपनी प्रिय वस्तु को उसके योग्य के लिये देता है। इस प्रकार यह सर्वव्यापक भगवान् विष्णु का प्रियार्हत्वरूप गुण सर्वत्र व्याप्त हो रहा है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का जगत्प्रसिद्ध नाम 'प्रियार्ह' है, क्योंकि वह सदा प्रिय धामों (तेज या स्थानों) में जाता है। तथा प्रत्येक जन, अपने योग्य प्रिय के लिये प्रिय वस्तु देता है, और वह भी उस प्रिय वस्तु की प्राप्ति से अपने आप को पूज्य मानता है।

अर्हः—८७३

पूजार्थक 'अर्ह' धातु से कर्म में 'घञ्' प्रत्यय करने से 'अर्ह' शब्द सिद्ध होता है।

प्राप्तुं युज्यत इति 'अर्हः'। सर्गान्तर्गतान् सर्वान् भोगान् विहाय श्रेयोऽर्थिनां विदुषां सर्वप्रकारैः साधनैः, सोपकरणैः पूजाविधानैः, सर्वकर्मार्पणेन निष्कामकर्मभिश्च स एव प्राप्तुं योग्य इत्यर्थः। अत एवार्ह्यते=पूज्यते=सम्मान्यते वा यः सोऽर्हो विष्णुरित्युक्तो भवति।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥"

ऋक् १।९४।१॥

इतिनिदर्शनम्। बहुत्रार्हतेः प्रयोगो वेदे।

भवति चात्रास्माकम्—

अर्होऽस्ति विष्णुर्बहुधा विभक्तः, सर्वं करोत्यात्मगुणेन युक्तम्।
अर्होऽस्ति सः[1] सर्वमिहास्ति चार्ह्यं, परस्परं लोकसृतस्तथार्हः॥१५२॥

१. स इति कृतव्याख्यानं विष्णोर्नाम।

प्रियकृत्—८७४

'प्रिय' शब्दो व्युत्पादितः प्रीणातेः के। तद्रूपकर्मोपपदात्, 'कृञ्' धातोः

जो प्राप्त करने योग्य है, उसका नाम 'अर्ह' है। सर्ग के अन्तर्गत सब भोगों को छोड़कर श्रेय (कल्याण) के इच्छुक विद्वानों का सब प्रकार के साधनों, सोपकरण पूजाविधानों, सब कर्मों और कर्म-फलों के अर्पण द्वारा वह एक भगवान् ही प्राप्त करने योग्य है, इसलिये उसका नाम 'अर्ह' है। तथा सब के सम्मान का विषय होने से भी उसे 'अर्ह' कहते हैं। इस नामार्थ में "इमं स्तोममर्हते जातवेदसे०" (ऋक् १।९४।१) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है। यह उदाहरणमात्र है, वेद में बहुत स्थानों में 'अर्हति' धातु का प्रयोग आता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'अर्ह' है। वह विविध प्रकार से विभक्त होकर सब को अपने अर्हत्वरूप गुण से युक्त करता है। वह 'सः' भगवान् 'अर्ह' है, तथा उसकी व्याप्ति से यहां सब परस्पर में भी 'अर्ह' हैं।

'सः' भगवान् का नाम है। इसका व्याख्यान किया जा चुका है।

प्रियकृत्—८७४

'प्रिय' शब्द का व्युतपादन 'प्री' धातु से 'क' प्रत्यय करके किया गया है। इस

क्विपि तुगागमे च 'प्रियकृत्' इति। प्रियं करोति, प्रियम्=इष्टं मनस ईप्सितं वा करोतीति 'प्रियकृत्'।

यथा च लोकेऽपि जीवो यावच्छरीरमधितिष्ठति, तावच्छरीरं कान्तं, प्रीणाति च स तच्छरीरम्। अमुथैवायं सर्वत्र व्याप्तो भगवान् विष्णुः सूर्यो वा सर्वस्येप्सितं कमनीयकञ्च विधत्ते, इति स प्रीणातीति कृत्वा 'प्रियकृद्' उच्यते।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"वषट् ते विष्णवास आकृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम्।
वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥"
ऋक् ७।९९।७॥

अत्र मन्त्रे पात इति स्तोतुरीहा, स च तदनुसारं करोतीति 'प्रियकृत्'। बह्वर्थोऽयं प्रियकृच्छब्दो मन्त्रेषु लभ्यते।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्हि लोके प्रियकृत् पुरुत्रा, प्रियं करोत्येव समस्तजन्तोः।
स्तोतारमप्येष करोति युक्तं, यद् वाञ्छया तेन हविः प्रणुन्नम्॥१५३॥

प्रियरूप कर्म के उपपद रहते हुये 'कृ' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय कर्ता में तथा 'तुक्' का आगम करने से 'प्रियकृत्' शब्द सिद्ध होता है। जो प्रिय (इष्ट) को करता है, अर्थात् अपने मनोवाञ्छित अर्थ को करता है, उसका नाम 'प्रियकृत्' है।

जैसे लोक में—जब तक जीवात्मा शरीर में रहता है, तब तक शरीर कान्त (सुन्दर) रहता है, अर्थात् इच्छा का विषय बना रहता है, और जीवात्मा इसका तर्पण अर्थात् तृप्ति करता है। इसी प्रकार भगवान् विष्णु या सूर्य सब के कमनीय (इष्ट) अर्थ को सिद्ध करता हुआ प्रीणन करने से 'प्रियकृत्' नाम से कहा जाता है।

इस नाम के भावार्थ की सिद्धि "वषट् ते विष्णवास आकृणोमि०" (ऋक् ७।९९।७) इत्यादि मन्त्र से होती है। इस मन्त्र में 'पात' शब्द से स्तोता की ईहा अर्थात् इच्छा का प्रतिपादन है, और स्तोतव्य को इसका कर्ता अर्थात् करनेवाला होने से 'प्रियकृत्' नाम से कहा गया है। 'प्रियकृत्' शब्द के मन्त्रों में बहुत से अर्थ देखने में आते हैं।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'प्रियकृत्' है, क्योंकि वह सब जीवों का मनोवाञ्छित प्रिय करता है। वह स्तोता को उसके इष्ट कामों से, तथा यष्टा को जिस कामना से वह हविः प्रदान करता है, उस कामना से युक्त करता है। अर्थात् स्तोता और यष्टा के सब कामों को सिद्ध करता है।

बह्वर्थो हि हविः शब्दो, मन्त्रोच्चारणपुरःसरं प्रदीयमानेन हविषा होतुर्वाञ्छितार्थसिद्धिर्भवति । वाञ्छितार्थबहुत्वाच्च मन्त्रबहुत्वम् । महार्थस्य लब्ध्यै वेदोऽनुसन्धेयः । तथा च—

"अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥"

ऋक् १।१८९।१॥

युयोध्यस्मत् जुहुराणं=कुटिलं दुरभ्यस्तम्, एनः=पापं कर्म इति होतुर्वाञ्छा । तथा—

"तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ऋक् ३।६२।१०॥

धियो यो नः प्रचोदयादिति ध्यातुर्वाञ्छा, तां पूरयतीति 'प्रियकृत्', विष्णुः सूर्यो वा ।

प्रीतिवर्धनः—८७५

'प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च' इति क्रैयादिको धातुस्ततः स्त्रियां भावे 'क्तिन्,' ='प्रीतिः' तृप्तिः । वर्धनः—'वृधु वृद्धौ' इति भौवादिकाण्णिजन्ताद्धातोर्नन्द्यादिल्युं, योरनो णिलोपो । वर्धयतीति वर्धनः, प्रीतेर्वर्धनः='प्रीतिवर्धनः' । यद्वा—

'हवि' शब्द भी अनेकार्थक है, किन्तु यष्टा की उद्देश्य-सिद्धि मन्त्रोच्चारण-पूर्वक हविः-प्रदान से होती है । वाञ्छित अर्थों के बहुत होने से ही मन्त्रों का बाहुल्य है । मन्त्रों के महिमशाली अर्थों को प्राप्त करने के लिये वेद का अनुसन्धान करना चाहिये । इस अभिप्राय का द्योतक यह **"अग्ने नय सुपथा राये०"** (ऋक् १।१८९।१) इत्यादि मन्त्र है । इस मन्त्र में 'हमारे से द्रोह करने वाले कुटिल पाप को हे अग्ने ! आप नष्ट करें,' यह वाञ्छा है । तथा **"तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो०"** (ऋक् ३।६२।१०) इत्यादि मन्त्र में भी शुभ-बुद्धि-प्राप्ति की वाञ्छा है । इस प्रकार से जो वाञ्छा को पूर्ण करता है, उसका नाम 'प्रियकृत्' है ।

प्रीतिवर्धनः—८७५

तर्पण तथा कान्ति (इच्छा) अर्थ में वर्तमान 'प्री' इस क्र्यादि धातु से, स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव में 'क्तिन्' प्रत्यय करने से 'प्रीति' शब्द सिद्ध होता है ।

'वर्धन' शब्द—वृद्ध्यर्थक 'वृधु' णिजन्त धातु से नन्द्यादि ल्यु प्रत्यय, और यु को अन आदेश, तथा णि का लोप करने से सिद्ध होता है । जो बढ़ाता है उसका नाम वर्धन है, प्रीति को जो बढ़ाता है उसका नाम 'प्रीतिवर्धन' है । अथवा—छेदन और पूरणार्थक 'वर्ध'

'वर्ध छेदनपूरणयोः' चौरादिको धातुः, पूरणकर्मा चेहायं, तस्माल्ल्यु, र्योरनो, णिलोपः। प्रीतिं वर्धयति=पूरयतीति 'प्रीतिवर्धन' इत्यर्थः।

मन्त्रलिङ्गञ्च, 'अग्ने' इत्यनुवर्तते—

"इमा अस्मै मतयो वाचो अस्मदाँ ऋचो गिरः सुष्ठुतयः समग्मत।
वसूयवो वसवे जातवेदसे वृद्धासु चिद्वर्धनो यासु चाकनत् ॥"

ऋक् १०।९१।१२॥

वाञ्छित-पूर्त्यै प्रार्थना—

"वाजसनिं रयिमस्मे सुवीरं प्रशस्तं धेहि यशसं बृहन्तम् ॥'

ऋक् १०।९१।१५॥

सर्वार्थानां समर्धनः 'प्रीतिवर्धनः' इत्यर्थान्तरम्। तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते संसृजेथाम्" ॥

यजुः १५।५४॥

भवति चात्रास्माकम्—

प्रीतिवर्धन उक्तोऽसौ, विष्णुः सूर्योऽग्निरर्यमा।
तं स्तुवन्ति बुद्धाभि, र्यथा वाञ्छाप्तिलिप्सवः ॥१५४॥

धातु चौरादिक है। यहां इसका पूरण अर्थ लेने से प्रीति को जो पूरण करता है, उसका नाम 'प्रीतिवर्धन' है। इस नाम के अभिप्राय की "इमा अस्मै मतयो वाचो०" (ऋक् १०।९१।१२) इत्यादि मन्त्र से पुष्टि होती है। इस मन्त्र में ऊपर से 'अग्ने' पद की अनुवृत्ति आती है।

"वाजसनिं रयिमस्मे सुवीरम्०" (ऋक् १०।९१।१५) इत्यादि मन्त्र में वाञ्छितार्थ की पूर्ति के लिये प्रार्थना की गई है। सब अर्थों को बढ़ाने वाला और प्रीतिवर्धन समानार्थ हैं। अर्थात् समीहित अर्थों को बढ़ाने वाला, यह 'प्रीतिवर्धन' शब्द का ही अर्थ है। इस नामार्थ की पुष्टि "उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि"० (यजुः १५।५४) इत्यादि मन्त्र से होती है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

'प्रीतिवर्धन' नाम भगवान् विष्णु, सूर्य तथा अग्नि का है। इन ही की विद्वान् पुरुष, अपनी इच्छापूर्ति के लिये 'प्रीतिवर्धन' नाम से स्तुति करते हैं।

विहायसगतिर्ज्योतिः सुरुचिर्हुतभुग् विभुः ।
रविर्विरोचनः सूर्यः सविता रविलोचनः ॥१०७॥

८७६ विहायसगतिः, ८७७ ज्योतिः, ८७८ सुरुचिः, ८७९ हुतभुक्, ८८० विभुः । ८८१ रविः, ८८२ विरोचनः, ८८३ सूर्यः, ८८४ सविता, ८८५ रविलोचनः ॥

विहायसगतिः—८७६

वि—उपसर्गः । 'ओहाक् त्यागे', 'ओहाङ् गतौ' वेति जौहोत्यादिकौ धातू, ताभ्यां यथार्थं "वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि" (उ०४।२२१) इत्यनेनोणादिसूत्रेण 'असुन्' प्रत्ययो, "वसेर्णित्" (उ० ४।२१८) इत्यतो णिदनुवर्तनाच्च स णिद् भवति । छान्दसत्वञ्च नाम्नां "ऋषिभिः परिगीतानि" (महा०शान्ति०) इत्युक्त्यैव सिद्धम्। अत एव चास्माभिरपि प्रतिनामान्ते "अग्ने संसृज्महे गिरः" (ऋक् ६।१६।३७) इति मन्त्रमूलकं 'भवति चात्रास्माकम्' इति वाक्यं लिख्यते । विहा अस्— इति स्थितौ "आतो युक् चिण्कृतोः" (पा० ७।३।३३) इति सूत्रेण धातोर्युगागमो, बाहुलकात् 'पृषोदरादित्वाद् वा अकारवर्णागमो='विहायस' इति ।

गतिः—'गमेः' स्त्रियां भावे क्तिनि='गतिः', कर्मणि वा गम्यते=प्राप्यत इति 'गतिः'। एवञ्च विजिहते यत्रेति 'विहायसम्' अन्तरिक्षम्। यद्वा—विजहतीति 'विहायसाः' त्यागशीलास्तपोनिष्ठा ऋषयः । विहायसेऽन्तरिक्षे गतिर्गमनं

विहायसगतिः—८७६

वि उपसर्ग है । त्यागार्थक 'ओहाक्' तथा गत्यर्थक 'ओहाङ् ये दोनों जुहोत्यादिगण पठित धातु हैं, इनमें से किसी से भी अर्थानुसार "वहिहाधा०" (उ० ४।२२१) इत्यादि उणादि सूत्र से 'असुन्' प्रत्यय होता है, और वह णिद्वत् होता है । यद्यपि यह प्रत्यय छन्द में होता है, तथापि "ऋषिभिः परिगीतानि" इस वचन से नामों का छान्दसत्त्व सिद्ध होने से भी प्रत्यय-विधान उपपन्न होता है । इसी लिये हमने प्रत्येक नाम के अन्त में स्वरचित पद्य के आदि में "अग्ने संसृज्महे गिरः" (ऋक् ६।१६।३७) इस वाक्य को मूल (आधार)बनाकर, "भवति चात्रास्माकम्" यह वाक्य लिखा है । 'विहा अस्' इस स्थिति में प्रत्यय के णित्वत् होने से युक् का आगम, बाहुलक अथवा पृषोदरादि से अकारवर्ण का आगम होने से 'विहायस' शब्द सिद्ध होता है ।

'गति'— शब्द गत्यर्थक 'गम्' धातु से स्त्रीत्वविशिष्ट भाव या कर्म में 'क्तिन्' प्रत्यय होने से बनता है । जिसे प्राप्त किया जाता है, उसका नाम 'गति' है। इस प्रकार से जिस में गमन करते हैं, उसका नाम 'विहायस', यह अन्तरिक्ष का नाम हुआ । अथवा जो त्याग

यस्य स 'विहायसगतिः' सूर्यः । विहायसैः तपस्विभिर्गम्यते=प्राप्यत इति 'विहायसगतिः' विष्णुः । "यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते" (ऋक् ५।४४।६) इति मन्त्र-लिङ्गानुसारं सर्वैरेव पृथिवीस्थैर्विहायसे गच्छन्नवलोक्यते सूर्योऽतो 'विहायस-गतिः' उक्तो भवति ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"नूनमर्च विहायसे स्तोमेभिः स्थूरयूपवत् ।
ऋषे वैयश्व दम्यायाग्नये ॥" ऋक् ८।२३।२४।

जातवेदसं, चरिष्णुम्, अङ्गिरस्तमः, बृहद्भाः, व्यश्वः, पावकं, कृष्णवर्त्तनिं, विहायसम्, इत्यादीनि विशेषणानि सूक्तेऽस्मिन् यत्र तत्र मन्त्रेषु प्रयुक्तानि विष्णुमग्निं सूर्यं वा विहायसगतिनाम्नोऽर्थं प्रकटयन्ति । लोकेऽपि च—भगवतो गुणस्य व्याप्तिर्दृश्यते । तथा च—विहायसे अन्तरिक्षे पक्षिणां गतिर्मनुष्य-कृतानाञ्च विमानानामग्निशक्त्युज्जृम्भितानां क्रीडनकानाञ्चेति सर्वं तमेवानु-कुर्वन् तस्य व्यापकतां प्रकटयति ।

भवन्ति चात्रास्माकम्—

करते हैं वे 'विहायस,' यह त्यागशील तपोनिष्ठ सात्त्विक पुरुषों का नाम हुआ । विहायस (अन्तरिक्ष) में है गति (गमन) जिसका, यह सूर्य का नाम हुआ, तथा जो विहायसों (त्यागशील तपस्वियों) से प्राप्त किया जाता है, यह 'विहायसगति' भगवान् विष्णु का नाम हुआ ।

विहायस (अन्तरिक्ष) में गमन करते हुये सूर्य को सब देखते हैं, इसलिये **"यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते"** (ऋक् ५।४४।६) इस मन्त्र के वाक्यानुसार सूर्य का नाम 'विहायसगति' होता है । इस नामार्थ की पुष्टि **"नूनमर्च विहायसे०"** (ऋक् ८।२३।२४) इत्यादि मन्त्र से होती है ।

यत्र-तत्र मन्त्रों में प्रयुक्त जातवेदस, चरिष्णु, अङ्गिरस्तम, बृहद्भाः, व्यश्व, पावक, कृष्णवर्त्तनि तथा विहायस इत्यादि विशेषण 'विहायसगति' नाम के वाच्यार्थभूत विष्णु, सूर्य या अग्नि को प्रकट करते हैं । लोक में भी भगवान् के इस विहायसगतिरूप गुण की व्याप्ति देखने में आती है । जैसे कि—विहायस=अन्तरिक्ष में पक्षी, मनुष्यकृत वायुयान, तथा अग्नि की शक्ति से पूर्ण क्रीडन (खिलोनों) की गति होती है । इस प्रकार, यह सब भगवान् 'विहायसगति' का अनुकरण करता हुआ उसी की व्यापकता को प्रकट करता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

विहायसगतिर्विष्णुः, सूर्यो विश्वमनाः कविः ।
गतिं ददाति सर्वस्मै, यथाखं यस्य युज्यते ॥१५५॥

तस्यानुकरणं लोके, वीनां खेऽव्याहता गतिः ।
विमानानि च मार्त्यानि, यान्त्यायान्ति विहायसे ॥१५६॥

विहायसगतिं विष्णुं, यः स्तौति ज्ञानचक्षुषा ।
स शक्नोति गतिं कर्तुं, प्राणानवरोध्य खे सदा ॥१५७॥

श्रूयते च योगिन उड्डीयन्ते ।

ज्योतिः—८७७

'द्युत दीप्तौ' भौवादिको धातुस्ततो "द्युतेरिसन्नादेश्च जः" (उ०२।११०) इत्युणादिसूत्रेण "इसन्" प्रत्ययो धातोरादेश्च जकारादेशः। तेन द्योतत इति 'ज्योतिः', सूर्यनक्षत्रादयः। अग्निश्च सूर्यस्यैवापरं रूपम्। तथा चोक्तं भवति—

"अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ।
सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा" ।यजुः ३।९॥

एवञ्च वेदे यत्राग्नेर्वर्णनं तत्सर्वं ज्योतिष एवेति ज्ञेयम्। यावद्धा च सूर्यवर्णनं तत्सर्वं ज्योतिस्वरूपस्य भगवतो विष्णोरेवान्वाख्यानम्। ज्योतिः

'विहायसगति' नाम भगवान् विष्णु या सूर्य का है। उसी का नाम विश्वमना या कवि भी है। वह सब के लिये आकाश में यथाशक्ति गति देता है।

आकाश में पक्षियों की अप्रतिहत गति, तथा मनुष्यकृत विमानों का यातायात, उस ही 'विहायसगति' का अनुकरण है।

जो मनुष्य ज्ञान दृष्टि से इस 'विहायसगति' नामक विष्णु की स्तुति करता है, वह प्राणों का अवरोध करके यथेच्छ आकाश में गति कर सकता है।

सुना भी जाता है कि योगिपुरुष अपनी योगक्रिया के द्वारा उड़ भी जाते हैं।

ज्योतिः—८७७

दीप्त्यर्थक भ्वादिगणपठित 'द्युत' धातु से उणादि 'इसन्' प्रत्यय, और धातु के आदिभूत दकार को जकार आदेश करने से 'ज्योति' शब्द सिद्ध होता है। जो प्रकाशित होता (चमकता) है, उसका नाम 'ज्योति' है, जैसे सूर्य नक्षत्र आदि। अग्नि, सूर्य का ही दूसरा रूप है, जैसा कि 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा। सूर्यो ज्योति०" (यजु० ३।९) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध है।

इस प्रकार वेद में जहां अग्नि का वर्णन है, वह सब ज्योति का ही जानना चाहिए। तथा जितने प्रकार से सूर्य का वर्णन है, वह सब ज्योतिःस्वरूप भगवान् विष्णु का ही वर्णन

शब्देन सर्वत्र सूर्याग्नी बोध्यौ, भगवाँश्च तयोरपि भासक इति ज्योतिःस्वरूपोऽस्त्येव ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष् पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ।" ऋक् १।५०।१०।।

अथर्वणि यजुषि चापि ।

लोकेऽपि च पश्यामो—यद्यस्य जीवनं तत्तस्य ज्योतिः । चक्षुरपि सूर्यदैवतं ज्योतिःस्वरूपमृते विकारात् । सूर्यो हि सदा स्वत्विषा भासयत्यात्मानं बहुधा तेजोमयत्वादूष्मघर्मत्वाच्च । सूर्यस्य सर्वदा सत्त्वात् पशव रात्रावपि पश्यन्ति । एवं ज्योतिषः सर्वत्र व्यापकता दृश्यते ।

भवतश्चात्रास्माकम्—

ज्योतिर्हि विष्णुः स च सर्वविष्टः, सूर्यादिकेष्वात्मततिं विचष्टे ।
तस्योपजीव्येष्वपि तस्य दीप्तिश्, चक्षुर्यथा पश्यति दृश्यमात्रम् ॥१५८॥
सूर्यो हि वा ज्योतिरसौ च सूर्योऽग्निश्चास्ति वा ज्योतिरसौ च वाग्निः ।
छाया यथाच्छायिनमेव याति, तथैव सर्वत्र विभज्य चोह्यम् ॥१५९॥

है । 'ज्योति' शब्द से सर्वत्र अग्नि और सूर्य का ही ग्रहण होता है, तथा भगवान् सूर्य और अग्नि का भी भासक होने से ज्योतिःस्वरूप है ही । इस नाम को **"उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त०"** (ऋक् १।५०।१०) इत्यादि ऋक्, यजु तथा अथर्व वेद प्रतिपादित मन्त्र प्रमाणित करता है ।

लोक में भी हम देखते हैं—जो जिसका जीवन है, वह उसकी ज्योति है । चक्षु भी सूर्यदैवतक होने से विकाररहित स्थिति में ज्योतिरूप है । सूर्य अपनी दीप्ति से सदा तेजोरूप और उष्ण होने से अपने आप को बहुत प्रकार से प्रकाशित करता है । सूर्य की सत्ता के सार्वकालिक होने से, चक्षु इन्द्रिय, विशेष करके पशुओं की, रात्रि में भी देखती है । इस प्रकार से ज्योति की सर्वत्र व्याप्ति देखने में आती है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'ज्योति' है । वह सूर्य आदि सब में प्रविष्ट होकर अपने प्रकाश का विस्तार करता है । तथा सूर्य आदि के उपजीव्य चक्षु आदि में भी उसी की दीप्ति है, जिससे चक्षु सकल दृश्य वर्ग को देखती है ।

सूर्य ही ज्योति तथा ज्योति ही सूर्य है, अग्नि ही ज्योति तथा ज्योति ही अग्नि है, इसी प्रकार छाया और छायी के दृष्टान्त से पृथक्-पृथक् कल्पनायें कर लेनी चहियें ।

सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः, अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः, सूर्य आत्मा, आत्मा सूर्यः, सूर्यश्चक्षुः, चक्षुः सूर्यः, सूर्य आतप, आतपो वा सूर्यः, चन्द्रो मनो, मनो वा चन्द्रः, शेषेष्वपि ग्रहेष्वप्येवमूह्यम् भवति ।

सुरुचिः—८७८

'सु' उपसर्गः । 'रुच दीप्तौ' भौवादिको धातुस्तत "इगुपधात् कित्" (उ०४।१२०) इत्युणादिसूत्रेण 'इन्' प्रत्ययः किच्च स, तस्माद् गुणाभावः । सुष्ठु रोचत इति 'सुरुचिः' सूर्यो विष्णु र्वा । तस्य चेदं विचित्रं जगत् सुतरां दीप्तिमत्, सर्वथा भास्वद् दृश्यत इति ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"तमुक्षमाणं रजसि स्व आ दमे चन्द्रमिव सुरुचं ह्वार आ दधुः ।"

ऋक् २।२।४॥

"यतस्रुचः सुरुचं विश्वदेव्यं रुद्रं यज्ञानां साधदिष्टिमपसाम् ।"

ऋक् ३।२।५॥

इति निदर्शनम् । भवति चात्रास्माकम्—

यद्यद् विशुद्धं सुरुचीति बोध्यं, तद्विष्णुसूर्येन्दुकृतञ्च सर्वम् ।
व्याप्नोति सर्वं सुरुचिर्हि विष्णुः, सूर्योऽपि तस्मात् सुरुचिश्च चन्द्रः ॥१६०॥

जैसे—सूर्य ज्योति, ज्योति सूर्य, अग्नि ज्योति, ज्योति अग्नि, सूर्य आत्मा, आत्मा सूर्य, सूर्य चक्षु, चक्षु सूर्य, सूर्य आतप, आतप सूर्य, चन्द्र मन, मन चन्द्र इत्यादि ।

सुरुचिः—८७८

'सु' उपसर्ग है, दीप्त्यर्थक भ्वादिगणपठित 'रुच' धातु से उणादि कित्त्वविशिष्ट 'इन्' प्रत्यय करने से तथा कित् होने के कारण गुण का अभाव होने से 'रुचि' शब्द सिद्ध होता है । जो साधु प्रकार से या अत्यन्त प्रकाशित होता है, उसका नाम 'सुरुचि' है । यह सूर्य या विष्णु का नाम है । और उसका यह विचित्र-रचना-विशिष्ट जगत्, सदा प्रकाशमान दृष्टिगोचर होता है । इस नाम को **"तमुक्षमाणं रजसि स्व आ दमे०"** (ऋक् २।२।४) इत्यादि मन्त्र प्रमाणित करता है, तथा **"यतस्रुचः सुरुचम्०"** (ऋक् ३।२।५) इत्यादि मन्त्र भी इस में प्रमाण है । यह उदाहरण है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

यहां जो कुछ भी विशुद्ध (उज्ज्वल या प्रकाशमान) प्रतीत होता है, उसके विशुद्धत्व का कारण विष्णु, सूर्य या चन्द्र होता है, तथा वह 'सुरुचि' नाम से कहा जाता है । यह 'सुरुचि' नामक भगवान् विष्णु, सर्वव्यापक रूप से सब में विद्यमान है, इसलिये सूर्य तथा चन्द्र का भी 'सुरुचि' नाम है ।

हुतभुक्—८७६

'हु दानादनयोः' इति जौहोत्यादिको धातुस्ततः कर्मणि 'क्तः' भवति, क्त्वाद् गुणाभावो'=हुतम्'।

भुगिति—'भुज पालनाभ्यवहारयो' रौधादिको धातुरभ्यवहारकर्मा चेहायं, ततः 'क्विप्',गु णाभावः, कुत्वम्, वा च चर्त्वम्। हुतं भुङ्क्ते='हुतभुग्, हुतभुक्'। हुतमित्यग्नौ प्रक्षिप्तं समन्त्रम्।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"सप्त ते अग्ने समिधः सप्तः जिह्वाः" यजुः १७।७६॥

लोके च पश्यायः—शरीराग्निर्हि जिह्वया मुखे हुतं भुङ्क्ते। प्राणवायुना च तत्सर्वत्र प्रसार्यते। एवञ्च सूर्योऽग्नि र्वा शरीरे वैश्वानरनाम्नोच्येते।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्हि लोके हुतभुक् प्रसिद्धः, सोऽग्निः स वा यज्ञसमिद्धदीप्तिः।
वैश्वानरो वास्ति स वास्ति सूर्यो, दावानलो वा स च वाडवो वा॥१६१॥

हुतभुक्—८७६

दान=हविःप्रक्षेप तथा आदान रूप अर्थ में वर्तमान जुहोत्यादिगणीय 'हु' धातु से कर्म में 'क्त' प्रत्यय, तथा किन्निमित्तक गुण का अभाव होने ते 'हुत' शब्द सिद्ध होता है।

'भुक्' शब्द—पालन और अभ्यवहार (भक्षणार्थक) 'भुज्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय, गुण का अभाव, तथा वैकल्पिक चर्त्व करने से सिद्ध होता है। हुत को जो खाता है उसका नाम 'हुतभुक्' है। 'हुत' नाम अग्नि में समन्त्र प्रक्षिप्त द्रव्य का नाम है। इसका भाव **"सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वाः"** (यजुः १७।७६) इस मन्त्र से सिद्ध होता है।

लोक में भी हम देखते हैं—शरीराग्नि, मुख में जिह्वा के द्वारा प्रक्षिप्त द्रव्य को खाता है, और प्राणवायु उस भुक्त को सर्वत्र शरीर में प्रसारित करता है। इसी अभिप्राय से शरीर में स्थित अग्नि या सूर्य वैश्वानर नाम से कहा जाता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

लोक में भगवान् विष्णु ही 'हुतभुक्' नाम से प्रसिद्ध है, तथा यज्ञ में प्रकाशमान अग्नि, सूर्य, दावानल और वाडवानल का भी 'हुतभुक्' नाम है।

विभुः—८८०

'वि' उपसर्गः। 'भू सत्तायां' भौवादिको धातुस्ततो "**विप्रसम्भ्यो ड्व-संज्ञायाम्**" (पा० ३।२।१८०) सूत्रेणासंज्ञायां 'डुः' प्रत्ययः, टिलोपः='विभुः'। विविधो भवतीति 'विभुः'।

यद्वा—"**अश्वादयश्च**" (उ० ५।२९) इत्युणादिसूत्रे, 'अन्येभ्योऽपि डुन् प्रत्ययो दृश्यते' इत्यनुशासनात्,—यथा कुत्सितं द्रवतीति कद्रुः, तथा विविधो भवति, विविधं भावयति वा 'विभुः' इति ज्ञेयम्।

लोकेऽपि चैतद्दृश्यते—यथैक एवात्मा पुत्रभावं [पुत्रीभावं, सर्वाङ्गपूर्णतां, विकलाङ्गतां वापद्य बहुधा भवति, तथैवायं विष्णुः सूर्यो वा, स्वं भवितृरूपं यथादृश्यवस्तु वैविध्येन भावयति। तत्र कश्चिदेव न मुह्यति पारोवर्यविद्, अन्ये तु सर्वे मुह्यन्ति। तदेवं यथा, गोमनुष्याश्वादिषु जातिरेकापि सा स्वं रूपं पृथक् पृथग् व्यनक्ति। तत्र पृथग्दृशो मुह्यन्ति, न तु तदेकतां पश्यन्निति। एवमिह विश्वे सर्वत्र वैविध्येन ततं विष्णुं पश्यन् न मोहमेति, मुह्यति च पृथग्-वस्तुदृष्टिः। एवं बहुत्रोह्यम्।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

विभुः—८८०

'वि' उपसर्ग है। सत्तार्थक भ्वादिगणपठित 'भू' धातु से संज्ञा में 'डु' प्रत्यय और टि का लोप करने से 'विभु' शब्द बनता है। जो विविध प्रकार का होता है, अर्थात् जो एक ही विविध स्वरूपों को धारण करे, उसका नाम 'विभु' है। अथवा—"**अश्वादयश्च**" (उ०५।२९) इस उणादि सूत्र में अन्य धातुओं से भी 'डुन्' प्रत्यय होता है, ऐसा अनुशासन करने से कद्रु के समान 'भू' धातु से 'डुन्' प्रत्यय होकर, 'विविध' होता है, या विविध करता है' इस अर्थ में 'विभु' शब्द सिद्ध होता है।

लोक में भी ऐसा देखने में आता है कि—जैसे एक ही आत्मा पुत्रत्व, पुत्रीत्व, सकलाङ्गत्व तथा विकलाङ्गत्व को प्राप्त करके विविधरूप बन जाता है, इसी प्रकार भगवान् विष्णु या सूर्य, अपने होने वाले स्वरूप को वस्तुस्वरूपानुसार नाना रूप से बनाता है। किन्तु इस भगवान् की नानारूपता को देखकर कोई ज्ञानी पुरुष ही मोहित नहीं होता, और सब मोहित हो जाते हैं। इसी प्रकार से गोपशु, मनुष्य तथा अश्व आदि में जाति एक होती हुई भी वह सब में अपने स्वरूप को पृथक्-पृथक् व्यक्त करती है। यहां इसकी पृथक्ता को देखने वाले मोहित होते हैं, परन्तु उसकी एकता को देखने वाला मोहित नहीं होता। इस विश्व में सर्वत्र व्याप्त विविधरूप विष्णु को एक रूप से देखनेवाले पुरुष को मोह नहीं होता, किन्तु पृथक्-पृथक् वस्तु-स्वरूपों को देखने वाले को मोह होता है। इस प्रकार का वर्णन बहुत स्थानों में किया गया है।

"एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्।"

ऋक् ८।५८।२॥

"त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तमः कविर्देवानां परिभूषसि व्रतम्।
विभुर्विश्वस्मै भुवनाय मेधिरो द्विमाता शयुः कतिधा चिदायवे।"

ऋक् १।३१।२॥

"ऋभुर्ऋभुभिरभि वः स्याम विभ्वो विभुभिः शवसा शवांसि।"

ऋक् ७।४८।२॥

भवति चात्रास्माकम्—

विभुर्हि विष्णुः स च वापि सूर्यः, कविः स वाग्निः प्रथमः स वोषाः।
स एव सर्वत्र विभुः प्रसृप्तः, स भाति विश्वे विबभूव चैकः ॥१६२॥

रविः—८८१

'रु शब्दे' आदादिको धातुस्ततः कर्तरि करणे वा "अच इः" (उ० ४।१३९) इत्युणादिसूत्रेण 'इः' प्रत्ययः। रौतीति 'रविः', रूयते वानेनेति 'रविः', शब्दकर्ता, शब्दकारयिता वेत्यर्थः। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"त्वं वृषाक्षुं मघवन्नभ्रं मर्याकरो रविः।
त्वं रौहिणं व्यास्यो विवृत्रस्याभिनच्छिरः" ॥ अथर्व २०।१२८।१३॥

"सद्यो जातो वृषभो रोरवीति"। ऋक् ७।१०।१॥

इस नामार्थ की प्रामाणिकता—"एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः०" (ऋक् ८।५८।२); "त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तमः०" (ऋक् १।३१।२) तथा "ऋभुर्ऋभुभिरभि वः०" (ऋक् ७।४८।२) इत्यादि मन्त्रों से होती है।

भाष्यकार इस भाव को अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'विभु' है, तथा वह ही सूर्य, कवि, अग्नि, प्रथम, उषा आदि शब्दों का वाच्य है। वह ही सर्वत्र व्यापक होकर, एक होता हुआ भी विश्व में विविध-रूपों में प्रतीत हो रहा है।

रविः—८८१

शब्दार्थक अदादिगणपठित 'रु' धातु से, कर्ता या करण में उणादि (उ० ४।१३९) सूत्र से 'इ' प्रत्यय करने से 'रवि' शब्द सिद्ध होता है। शब्द करने वाले या शब्द करवाने वाले का नाम 'रवि' है। इस नामार्थ की पुष्टि "त्वं वृषाक्षुं मघवन्नभ्रम्०" (अथर्व २०।१२८।१३) तथा "सद्यो जातो वृषभो रोरवीति" (ऋक् ७।१०।१) इत्यादि मन्त्रों से होती है।

लोकेऽपि पश्यामः—आत्मवच्छब्दते—ऋते विकरात् चेतन इत्यर्थः। वायुना पूर्णं निघृष्टञ्चानात्मवच्चापि शब्दते। एवं भगवतः सर्वत्र व्याप्तिर्दृश्यते।

सूर्य आत्मा, आत्मा वा सूर्यः। रविरात्मा, आत्मा वा रविः। रविर्विष्णु-र्विष्णुर्वा रविः, इत्यादि योजना कार्या ज्ञानवृद्ध्यै।

भवति चात्रास्माकम्—

रविर्हि विष्णू रविरस्ति सूर्यः, सोऽग्निः स वा सर्वगतः स मूलम्।
विश्वस्य शब्दस्य च जन्तुमात्रे, वायूत्थसंघर्षणजस्य चापि ॥१६३॥

विरोचनः—८८२

'वि' उपसर्गः। 'रुच् दीप्तौ' इति भौवादिको धातुस्ततः 'णिच्', गुणस्ततो ल्युर्योरनो णिलोपो, विरोचयतीति 'विरोचन;'। यद्वा—रोचतेः "अनुदात्तेतश्च हलादेः (पा० ३।२।१४९) इति सूत्रेण तच्छीले कर्तरि 'युच्', योरनः। विरोचते तच्छीलो 'विरोचनः'। स्वयं भासमानो विश्वं भासयतीत्यर्थः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

लोक में भी हम देखते हैं—किसी प्रकार के विकार के न होने पर आत्मवान् अर्थात् चेतन शब्द करता है। तथा वायु से पूर्ण होकर और घर्षण (रगड) के प्रभाव से जड वस्तु भी शब्द करती है। इस प्रकार से भगवान् रवि की व्याप्ति सर्वत्र देखने में आती है। सूर्य ही आत्मा है, और आत्मा ही सूर्य है। रवि आत्मा है, आत्मा ही रवि है। रवि विष्णु है, और विष्णु ही रवि है। अपने ज्ञान-विस्तार के लिये इस प्रकार योजना करनी चाहिये।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

'रवि' नाम भगवान् विष्णु, सूर्य तथा अग्नि का है। वह ही सर्वगत होने से जन्तुमात्र में अर्थात् चेतन में स्थित शब्द का तथा वायु के संघर्ष से उत्पन्न होने वाले जड़वस्तु स्थित शब्द का मूल (कारण) है।

विरोचनः—८८२

'वि' उपसर्ग है। दीप्त्यर्थक भ्वादिगणपठित 'रुच्' धातु है, इस से हेतुमण्णिच्, गुण, नन्द्यादि 'ल्यु', यु को अन आदेश तथा णि का लोप करने से 'विरोचन' शब्द सिद्ध होता है। अथवा—'रुच्' धातु से ताच्छील्य-विशिष्ट कर्ता में 'युच्' प्रत्यय, और यु को अन आदेश करने से 'विरोचन' शब्द सिद्ध होता है। इस प्रकार से जो दीप्तिशील है, उसका नाम 'विरोचन' है, अर्थात् जो स्वयं प्रकाशमान है, और इस समस्त विश्व को प्रकाशित करता है, उसका नाम 'विरोचन' है।

"तस्या विरोचनः प्राह्लादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम्" ॥

अथर्व ८।१०(४)।२॥

तदर्थक विरोचमानपदान्वितमन्त्रश्च—

"श्रिये सुदृशीरुपरस्य याः स्वर्विरोचमानः ककुभामचोदते ।
सुगोपा असि न दभाय सुक्रतो परो मायाभिर्ऋत आस नाम ते" ॥

ऋक् ५।४४।२॥

"अयं पुनान उषसो विरोचयत्" । ऋक् ९।८६।२१॥

इतीन्द्रमहिम्नि । तत्रैव च—

"अथेदं विश्वं पवमान ते वशे" । ऋक् ९।८६।२८॥

इत्यादि निदर्शनम् । लोके चाप्येकैव जातिर्विविधं रोचते ।

भवति चात्रास्माकम्—

विरोचते विश्वमिदं समस्तं, विरोचमानेन विभिन्नरूपैः।
बिभ्रच्च नामानि परश्शतानि, विष्णू रविश्चात्र विभात एवम् ॥१६४॥

सूर्यः—८८३

'सृ गतौ इति भौवादिको धातुः 'षू प्रेरणे' इति तौदादिको वा, ताभ्यां "राजसूयसूर्यमृषोद्य०" (पा० ३।१।११४) इत्यादिना सूत्रेण 'क्यप्' प्रत्ययान्तः

'विरोचन' नाम **"तस्या विरोचनः०"** [अथर्व ८।१०(४)।२] इत्यादि अथर्ववेद मंत्र से प्रमाणित होता है । इसी के अर्थ वाले 'विरोचमान' पद की पुष्टि **"श्रिये सुदृशीरुपरस्य याः०"** (ऋक् ५।४४।२) इत्यादि मन्त्र से होती है । तथा इसी नामार्थ को **"अयं पुनान उषसो विरोचयत्"** (ऋक् ९।८६।२१) यह इन्द्र की महिमा में पठित मन्त्र, तथा वहां ही स्थित **"अथेदं विश्वं पवमान ते वशे"** (ऋक् ९।८६।२८) इत्यादि मन्त्र पुष्ट करता है । हम लोक में एक ही जाति को विविध प्रकार से रोचमान देखते हैं ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

विभिन्न रूपों से विरोचमान भगवान् 'विरोचननामा' विष्णु के द्वारा यह समस्त विश्व प्रकाशमान हो रहा है, और अनन्त नामों को धारण करते हुये विष्णु तथा सूर्य देव यहां साक्षात् प्रकाशमान हो रहे हैं ।

सूर्यः—८८३

'सूर्य' शब्द गत्यर्थक 'सृ' इस भ्वादिगणपठित धातु, **अथवा** प्रेरणार्थक 'षू' इस तुदादिगणपठित धातु से 'क्यप्' प्रत्यय के निपातन तथा सृ धातु को ऊत्व और षू धातु को

'सूर्य' शब्दो निपात्यते, सरते रूत्वं, सुवते रूड़ागमश्च । सरति, सुवति वा सूर्यः । "हलि च" (पा० ८।२।७७) सूत्रेण दीर्घः । उभयत्रापि कित्त्वाद् गुणाभावः । सरति सर्वत्र विश्वे—आकाशे, सुवति=प्रेरयति लोकं कर्मणि वा सूर्यो विष्णुर्भास्करो वा । मन्त्रलिङ्गञ्च—

"यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजाँस्याददे ।
एवा स्त्रीणाञ्च पुंसाञ्च द्विषतां वर्च आददे" ॥ अथर्व ७।१३।१॥

"तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य ।
विश्वमाभासि रोचनम्" ॥ ऋक् १।५०।४॥

सुवतेः—"देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय" । यजु ९।१॥

उदयाद् यावदस्तं यतः सूर्यस्यैव सवितेति संज्ञा । लोकेऽपि च पश्यामः—सकलमेतज्जगत् सरणसुवनक्रियाभ्यां व्याप्तं सत् मूलाधारं सूर्यं विष्णुं वा स्तौति ।

भवति चात्रास्माकम्—

सूर्यः सृषूभ्यां क्यपि चास्ति सिद्धस्, तस्य क्रियाभिश्च जगत्समाप्तम् ।
विशेषणं सूर्यनिमित्तकं यत्, तत् स्वार्थवद्[1] विश्वमिदं विधत्ते ॥१६५॥

रूट् आगम के निपातन से सिद्ध होता है । जो सकल विश्व या आकाश में गमन करता है, या सकल लोक को कर्म में प्रेरित करता है, उसका नाम 'सूर्य' है । यह विष्णु या भास्कर का नाम है ।

इस नाम को "यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजाँस्याददे०" (अथर्व ७।१३।१), "तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य०" (ऋक् १।५०।४) तथा 'षू' धातु के अर्थ के अभिप्राय से "देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय" (यजुः ९।१) इत्यादि मन्त्र प्रमाणित करते हैं ।

उदय होकर चलते हुये सूर्य की अस्त होने तक सविता संज्ञा होती है । लोक में भी हम देखते हैं—यह सम्पूर्ण जगत् सरण और सुवन रूप क्रियाओं से व्याप्त हुआ, इन ही क्रियाओं के द्वारा अपने मूलभूत विष्णु या सूर्य की स्तुति करता है, अर्थात् व्यक्त करता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

सृ और षू धातु से 'क्यप्' प्रत्यय करने से 'सूर्य' शब्द सिद्ध हुआ है, तथा उसकी सरण और सुवन रूप क्रियाओं से यह सकल जगत् व्याप्त है । सूर्य के विशेष्य रूप उद्देश्य से जो इस के अन्यत्र व्याख्यात विशेषणभूत विरोचन आदि नाम हैं, वे सब अपने अनुगुण ही इस विश्व को बनाते हैं ।

पूर्वं व्याख्यातानि विरोचन-विहायसगति-स्वधृतेत्यादिनामानि तमेव सूर्यं स्तुवन्ति विष्णु-धर्मकम्।

१. स्वार्थवद्—विशेषणकृतः, उपसर्गविद्योतितश्च योऽर्थस्तद्वदित्यर्थः।

सविता—८८४

'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' इति आदादिको धातुस्ततः 'तृच्' कर्तरि, "स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा" (पा० ७।२।४४) सूत्रेण पाक्षिक इट्, गुणः, अवादेशः, अनङ्ङादि=सवितेति! सूते=सूर्यद्वारा वृष्टिसस्यादिकमुत्पाद्य जगज्जनयतीति सवितोच्यते। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः। सवितारं नृचक्षसम्॥"
"सखाय आ निषीदत सविता स्तोम्यो नु नः। दाता राधांसि शुम्भति॥"
ऋक् १।२२।७, ८॥

भवति चात्रास्माकम्—

सर्वं जगत्तस्य यदस्ति राधो, विभक्तरूपं सविता प्रसूते।
प्रसूत एषोऽप्युषसः स्वयञ्च, सुवर्णविन्दोरिव दृश्यमानः॥१६६॥

विभक्तारमिति विशेषणेन सवितृत्वरूपो गुणो जगति व्याप्तः सर्वं

पूर्व व्याख्यात विरोचन, विहायसगति, स्वधृत इत्यादि नाम अपने विशेष्यभूत सूर्य का ही स्तवन करते हैं। 'स्वार्थवत्' का अर्थ है—विशेषणकृत और उपसर्ग से प्रकट हुये अर्थ के समान।

सविता—८८४

प्राणिगर्भविमोचनार्थक, अदादिगण-पठित 'षूङ्' धातु से कर्ता में 'तृच्' प्रत्यय, पाक्षिक इट्, गुण, अवादेश, तथा सुप् सम्बन्धि अनङ् आदि कार्य करने से 'सविता' शब्द सिद्ध होता है। जो सूर्य के द्वारा वृष्टि से अन्न आदि उत्पन्न करके जगत् को उत्पन्न करता है, उसका नाम 'सविता' है। इस नाम को "विभक्तारं हवामहे०" (ऋक् १।२२।७) तथा "सखाय आनिषीदत०" (ऋक् १।२२।८) इत्यादि मन्त्र प्रमाणित करते हैं।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

यह 'सविता' अर्थात् सवितृरूप सूर्य अपने स्वभूत (धन) रूप इस जगत् को विभक्त रूप से उत्पन्न करता है, और यह स्वयं सुवर्ण के विन्दु के समान दीखता हुआ उषा से उत्पन्न हुआ है।

मन्त्रोक्त "विभक्तारम्" इस विशेषण पद से जगत् में व्याप्त सवितृरूप गुण से यह विभिन्न भेदयुक्त सकल विश्व ही सविता पद का वाच्य 'अर्थात् सविता है, यह अर्थ प्रतीत होता है। गर्भस्थित जातक माता के उपस्थ से बाहर आता है, इसलिये प्रसव करने के

सवितृपदेन युनक्ति । मातुरुपस्थाज्जायते=बहिर्यातीति माता 'सावित्री' इत्युच्यते ।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"वि तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थात् नानारूपाः पशवो जायमानाः ।"
अथर्व १०।२।२५।।

रविलोचनः—८८५

'रवि'रुक्तः । 'लोचनः'—'लोचृ दर्शने' इति भौवादिको धातुस्ततो णिजन्तात् 'ल्युः', योरनः, अनादेशः, णिलोपः । रविणा लोचयति सर्वमिति 'रविलोचनः' । यद्वा—लोच्यतेऽनेनेति लोचनः, रविर्लोचनं=चक्षुर्यस्य स 'रविलोचनः' । सूर्याचन्द्रमसौ भगवतो ज्येष्ठस्य ब्रह्मणो नेत्रे, इत्यथर्ववेदे, ताभ्यां लोचयति विश्वमिति । यद्वा—लोचते=लोचनशीलो द्रष्टा, रविरूपेण साधनेन लोचते सर्वं विश्वमिति 'रविलोचनः' ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः" । यजुः २३।१०।।

"द्वित्वेन विश्वं व्याप्तम्" ।

हेतु से माता का नाम सावित्री है। जैसा कि "वि तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थात् नाना रूपाः पशवो जायमानाः" (अथर्व १०।२।२५) इस मन्त्र से सिद्ध होता है ।

रविलोचनः—८८५

'रवि' शब्द की सिद्धि पहले की जा चुकी है । 'लोचन' शब्द की सिद्धि 'लोचृ' इस दर्शनार्थक भ्वादिगणपठित णिजन्त धातु से 'ल्यु' प्रत्यय, यु को अन आदेश, तथा णि का लोप करने से होती है । रवि के द्वारा जो समस्त जगत् को प्रकाशित करता है, उसका नाम 'रविलोचन' है । अथवा —जिसके द्वारा देखा जाये, उसका नाम लोचन है; रवि ही है लोचन जिसका उसका नाम 'रविलोचन' है । अथर्व वेद (१०।७।३३) में ज्येष्ठ ब्रह्म के वर्णन में सूर्य चन्द्र को ब्रह्म के नेत्र बताया है, उन ही के द्वारा वह जगत् को देखता है, इसलिये उसका नाम 'रविलोचन' है । यद्वा—लोचन यह लोचनशील द्रष्टा का नाम है, वह ही रविरूप साधन से जगत् का द्रष्टा होने से 'रविलोचन' है । सूर्य और चन्द्रमा के विषय में यह यजुर्वेद का "सूर्य एकाकी चरति॰" (यजुः २३।१०) इत्यादि वचन है । यह सब विश्व द्वित्व से निबद्ध अर्थात् द्वन्द्व रूप है । सविता रूप सूर्य के द्रष्टृत्व को सिद्ध करने

"हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ।"

ऋक् १।३५।२।। यजुः ३३।४३।।

भवति चात्रास्माकम्—

लोकेऽस्ति विष्णू रविलोचनाख्यः, स लोचते विश्वमतोऽर्कनेत्रः।
ज्येष्ठं ब्रुवन्तीह सनातनं तं, विज्ञा नमन्त्यत्र सहस्रकृत्वः ।।१६७।।

"तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः" (अथर्व १०।७।३२)।।ज्येष्ठनाम्नि विस्तरेणोक्तम् ।

अनन्तो हुतभुग् भोक्ता सुखदो नैकजोऽग्रजः।
अनिर्विण्णः सदामर्षी लोकाधिष्ठानमद्भुतः ।। १०८।।

८८६ अनन्तः, ८८७ हुतभुक्, ८८८ भोक्ता, ८८९ सुखदः [असुखदः], ८९० नैकजः, ८९१ अग्रजः। ८९२ अनिर्विण्णः, ८९३ सदामर्षी, ८९४ लोकाधिष्ठानम्, ८९५ अद्भुतः ।।

अनन्तः—८८६

'अन्त.'—'अम गत्यादिषु' भौवादिको धातुस्ततो "हसिमृग्रि०" (उ० ३।८६) इत्यादिनोणादिसूत्रेण 'तन्'.प्रत्ययः=अन्तः। अमति=गच्छति यत्रेत्यन्तः। नञ् निषेधार्थीयस्तेन बहुव्रीहिः समासो, न अन्तं यस्य स 'अनन्तः'।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

वाला यह "हिरण्ययेन सविता रथेना०" (ऋक् १।३५।२; यजुः३३।४३) इत्यादि ऋक् तथा यजुर्वेद का मन्त्र है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

'रविलोचन' नाम भगवान् विष्णु का है, क्योंकि वह रविरूप नेत्र के द्वारा इस विश्व को देखता है। तथा विज्ञ=विद्वान् पुरुष उस ज्येष्ठनामक ब्रह्म का ज्येष्ठरूप से वर्णन करते हुए उसको हजारों बार नमस्कार करते हैं।

जैसा कि "तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः" (अथर्व १०।७।३२) इत्यादि अथर्व मन्त्र से सिद्ध है। इस विषय का सविस्तर वर्णन 'ज्येष्ठ' नाम के व्याख्यान में किया गया है।

अनन्तः—८८६

गत्याद्यर्थक 'अम' धातु से उणादि 'तन्' प्रत्यय और अनुस्वार परसवर्ण करने से 'अन्त' शब्द सिद्ध होता है। जहां जाया जाता है उसका नाम 'अन्त' है, जिसका अन्त नहीं है

"समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे ।
न मेथेते न तस्थुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे ॥"
ऋक् १।११३।३॥

"अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः ।" ऋक् १।११५।५॥

"अजिरासस्तदप ईयमाना आतस्थिवांसो अमृतस्य नाभिम् ।
अनन्तास उरवो विश्वतः सीं परि द्यावापृथिवी यन्ति पन्थाः ॥"
ऋक् ५।४७।२॥

"अश्मन्यनन्ते अन्तरश्मनि"। ऋक् १।१३०।३॥

"दिविस्वनो यतते भूम्योपर्यनन्तं शुष्ममुदियर्त्ति भानुना ।
अभ्रादिव प्रस्तनयन्ति वृष्टय सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरुवत् ॥"
ऋक् १०।७५।३॥

लोकेऽपि च पश्यामः—स्वयमध्वा नामति, बहुत्वञ्चाध्वनामिह, तैश्चानन्तैरध्वभिर्व्याप्तो लोकोऽयमनन्त उच्यते । यथा च शरीरे मांसमयीनां—सिराणामनन्तैः स्रोतोभिः पृथक् पृथगिन्द्रियज्ञानं मनसश्चिन्तनं मलोपमलधातूपधातुतत्त्वरूपञ्च जलमुह्यतेऽनन्तम्, तथाऽयमनन्तो लोकोऽनन्तेन विष्णुनोह्यतेऽनन्ताध्वव्याप्तः ।

भवति चात्रास्माकम्—

उसका नाम 'अनन्त' है । इस नाम की प्रामाणिकता "समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस०" (ऋक् १।११३।३); "अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः" (ऋक् १।११५।५); "अजिरासस्तदप ईयमाना०" (ऋक् ५।४७।२); "अश्मन्यनन्ते अन्तरश्मनि" (ऋक् १।१३०।३) तथा "दिवि स्वनो यतते भूम्योपर्यनन्तम्०" (ऋक् १०।७५।३) इत्यादि मन्त्रों से सिद्ध होती है ।

हम लोक में भी देखते हैं—मार्ग अपने आप नहीं चलता, तथा मार्ग भी अनन्त हैं । उन अनन्त अध्व (मार्गों) से व्याप्त हुआ यह लोक 'अनन्त' कहा जाता है । जैसे इस शरीर में मांसमयी सिराओं के अनन्त प्रवाहों के द्वारा, भिन्न भिन्न रूप से इन्द्रियज्ञान, मनश्चिन्तन, मल-उपमल, धातु-उपधातुओं के तत्त्वरूप अनन्त जल का वहन किया जाता है, उसी प्रकार अनन्त मार्गों से व्याप्त यह अनन्तलोक, अनन्तरूप भगवान् विष्णु के द्वारा वहन किया जाता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

अनन्तनामा भगवान् स विष्णुः, करोत्यनन्ताध्वविवर्ति विश्वम्।
नरश्च नान्तं लभते हि तस्य, सूर्यादयोऽनन्तमिवापुरेनम्[१]॥१६८॥

१. नान्तमापुरित्यर्थः।

हुतभुक्—८८७

जुहोतेः क्ते 'हुतम्' उक्तम्। 'भुग्' इति 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' रौधादिको धातुस्ततः 'क्विप्'। गुणाभावः, कुत्वं गकारः, वा च चर्त्वम्। हुतं भुङ्क्ते 'हुतभुक्'। लोके चाग्नौ प्रक्षिप्तं हविरग्निः प्रज्वलन् भक्षति, तस्मादग्निः 'हुतभुग्' उच्यते।

यथा चायमग्निर्हुतमात्मगतं कुरुते, तथा भगवान् विष्णुरपि हुतरूपमिमं सर्वं भूतसमुदायमात्मगतं कुरुते, स्वस्मिन् समावेशयतीत्यर्थः। अग्निश्चायं सूर्यदैवतस् तस्मात् सूर्य एव विष्णुरेव वा, तयोरेकरूपत्वात्। अत एव विष्णुसहस्रनामसु 'हुतभुक्' नाम्नो निर्देशः।

व्यापकता च हुतभुजः सर्वत्र दृग्गोचरैव। मन्त्रलिङ्गञ्च—

"उरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकं जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम्"।

ऋक् ७।९९।४॥

भगवान् विष्णु का नाम 'अनन्त' है। वह महिमशाली भगवान् विष्णु इस विश्व को अनन्त अध्व (मार्गों) से व्याप्त करता है। मनुष्य या सूर्य आदि शक्तियां भी उस अनन्त को प्राप्त नहीं कर सकतीं, अर्थात् इस अनन्त को प्राप्त करने में असमर्थ हैं।

हुतभुक्—८८७

'हु' धातु से 'क्त' प्रत्यय करने से 'हुत' शब्द सिद्ध हुआ है। 'भुक्'—शब्द पालन तथा भोजनार्थक रुधादिगणीय 'भुज' धातु से 'क्विप्', गुण का अभाव, तथा वैकल्पिक चर्त्व करने से सिद्ध होता है। हुत को जो खाता (भक्षण करता) है, उसका नाम 'हुतभुक्' है। अग्नि में प्रक्षिप्त हवि द्रव्य का अग्नि भक्षण करता है, इसलिये अग्नि का नाम 'हुतभुक्' है। जिस प्रकार अग्नि हुत द्रव्य को अपने आत्मगत अर्थात् अपने में समाविष्ट कर लेता है, उसी प्रकार भगवान् विष्णु भी, इस हुतरूप जगत् को अपने में समाविष्ट कर लेता है। और यह अग्नि सूर्य-दैवतक होने से सूर्य या विष्णु रूप है, क्यों कि सूर्य और विष्णु भी परस्पर अभिन्न हैं। इसी लिये विष्णु के सहस्र नामों में 'हुतभुक्' नाम का सङ्ग्रह किया है।

'हुतभुक्' नाम की व्यापकता सर्वत्र प्रत्यक्ष देखने में आती है। इस नामार्थ की पुष्टि "उरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकम्०" (ऋक् ७।९९।४); "वषट् ते विष्णवास

"वषट् ते विष्णवास आकृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम ।
वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः" ॥
ऋक् ७।९९।७॥

"बृहस्पते जुषस्व नो हव्यानि विश्वदेव्य । रास्व रत्नानि दाशुषे" ॥
ऋक् ३।६२।४॥

बृहस्पतिः=सूर्यः—

"वृषभं चर्षणीनां विश्वरूपमदाभ्यम् । बृहस्पतिं वरेण्यम्" ।"
ऋक् ३।६२।६॥

"यज्ञेन वर्धत जातवेदसमग्निं यजध्वं हविषा तना गिरा ।
समिधानं सुप्रयसं स्वर्णरं द्युक्षं होतारं वृजनेषु धूर्षदम्" ॥
ऋक् २।२।१॥

भुङ्क्तेऽर्थे—

"त्वे अग्ने विश्वे अमृतासो अदुह आसा देवा हविरदन्त्या हुतम्" ।
ऋक् २।१।१४॥

इति निदर्शनम् । भवन्ति चात्रास्माकम्—

लोकेऽस्ति विष्णुर्हुतभुक् प्रसिद्धः, सूर्योऽग्निरापः पृथिवी मरुच्च ।
स्तोत्रा प्रदत्तानि हवींषि सद्यो, भोक्तृस्वरूपे परियन्ति तानि ॥१६९॥
यस्यास्ति या या स्तुतिमार्गरूढा, वाञ्छा स तां तां मनुजस्य भुङ्क्ते ।
वाञ्छानुरूपञ्च फलं प्रदातुं, ददाति तस्मै धिषणां तथा सन् ॥१७०॥

आकृणोमि०"(ऋक् ७।९९।७); "बृहस्पते जुषष्व नो हव्यानि०"(ऋक ३।६२।४);, "वृषभं चर्षणीनाम्०" (ऋक् ३।६२।६) तथा "यज्ञेन वर्धत जातवेदसमग्निं यजध्वम्०" (ऋक् २।२।१) इत्यादि मन्त्र करते हैं । भक्षणार्थ की पुष्टि "त्वे अग्ने विश्वे अमृतासो०" (ऋक् २।१।१४) इस मन्त्र से होती है । यह उदाहरणमात्र है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का लोक-प्रसिद्ध नाम 'हुतभुक्' है । तथा इसी नाम से सूर्य, अग्नि, आप्, पृथिवी तथा मरुत् का भी अभिधान होता है । यजमान रूप स्तोता के द्वारा प्रदान किया हुआ हवि द्रव्य, शीघ्र ही भोक्ता के स्वरूप में परिणत हो जाता है ।

जो मनुष्य जिस जिस इच्छा से भगवान् की स्तुति करता है, वह उस इच्छा को अपने में समाविष्ट अर्थात् आत्मगत करके उस इच्छा के अनुरूप फल देने के लिये उसको सद्बुद्धि से युक्त करता है ।

मर्त्योऽपि तद्वद्धुतभुग्भविष्णु, ददाति वाञ्छ्यानि यथेप्सितानि ।
स्वशक्तिगर्भाणि च सर्वकस्मै, दातार[1] मग्रचं प्रपदं नमस्यन् ॥१७१॥

१. दातारमग्रचमिति=विष्णुं सूर्यं अग्निं वा । लोके चापि पश्यामः—वैश्वानरोऽग्निः सर्वान्तःप्रविष्टः सर्वं यथाकामं प्रीणाति ।

भोक्ता—८८८

'भुजि' अत्राभ्यवहारकर्मा, ततः 'तृच्' कर्तरि, अनिट्, गुणोऽनङ्ङादि सुप्कार्यम्, कुत्वं गकारस्तस्य चर्त्त्वञ्च='भोक्ता' । भुङ्क्त इति 'भोक्ता' । कालरूपो हि भगवान् कालक्रमेण सर्वं भुङ्क्ते । अग्निसूर्यादिद्वारा सर्वस्य भोक्ता वेत्यादि सर्वं हुतभुङ्नाम्नि विशदीकृतं द्रष्टव्यम् ।

भवति चात्रास्माकम्—

भोक्तास्ति विष्णुर्हुतभुक् स एव, यथाभिलाषं हुतमस्ति यद्यत् ।
तत्तत् स भुङ्क्ते विविधस्वरूपः[1], नाम्नां[2] शतैश्चात्र स एव गीतः॥१७२॥

१. विविधस्वरूपः=विविधदेवरूपइत्यर्थः । २. शतशब्दो बहुपर्यायः ।

इसी प्रकार हुतभुक्-भवनशील मनुष्य भी, उस सर्वश्रेष्ठ दातारूप भगवान् को पद पद पर नमस्कार करता हुआ, अपनी शक्ति के अनुसार सब की इच्छायें पूर्ण करता है ।

दातृ और अग्रच शब्द से विष्णु, सूर्य या अग्नि का ग्रहण है । लोक में भी हम देखते हैं—भगवान् वैश्वानर नामा अग्नि सब में प्रविष्ट होकर सब को तृप्त करता है ।

भोक्ता—८८८

यहां भक्षणार्थक 'भुज' इस अनिट् धातु से कर्ता अर्थ में 'तृच्' प्रत्यय, अनिट्, गुण, सुप् सम्बन्धि अनङ् आदि कार्य, और गकार को चर्त्त्व ककार करने से 'भोक्ता' शब्द सिद्ध हुआ है । जो सब का भक्षण करता है, उसका नाम 'भोक्ता' है, अर्थात् सब को खानेवाले कालरूप भगवान् का नाम 'भोक्ता' है । अथवा—अग्नि सूर्य आदि के द्वारा सब का खानेवाला होने से भगवान् का नाम 'भोक्ता' है । यह सब 'हुतभुक्' नाम में स्पष्ट किया गया है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'हुतभुक्' है, तथा वह ही 'भोक्ता' है । मनुष्य अपनी इच्छानुसार जो कुछ भी हुतरूप से अर्पण करता है, उसको वह विविध रूपों को धारण करके भक्षण करता है। इसीलिये भगवान् की अनन्त नामों से स्तुति की जाती है ।

'विविध-स्वरूपः'—नाना प्रकार के देवरूप धारण करके । 'शत' शब्द बहुत्व संख्या का वाचक है ।

सुखदः— ८८९

'सु' उपसर्गः । 'खनु अवदारणे' भौवादिको धातुः, ततः "**अन्येष्वपि दृश्यते**" (पा० ३।२।१०१) इति सूत्रेण 'डः' प्रत्ययः, टेर्लोपः='सुखम्'। सुखं ददातीति 'ददातेः' "**आतोऽनुपसर्गे कः**" (पा० ३।२।३) इति सूत्रेण 'कः' प्रत्ययः, आल्लोपः='सुखदः' इति । सुखमित्युदकनामसु निघण्टौ (१।१२) पठितम् ।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजाः ।
समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु" ॥
ऋक् ७।४९।२॥

सुखदस्य=विष्णोः सूर्यस्य जलदातुरनुकरणमेतद्यत् तडागवापीकूपादीनां निर्माणम् । भवति चात्रास्साकम्—

विष्णुर्हि लोके सुखदः प्रसिद्ध, इन्द्रोऽथ वज्री वृषभः स एव ।
स एव लोकाय जलं ददाति, समुद्रवृष्टिस्रवणैर्यथर्तु ॥१७३॥

सुखमधिकृत्य—

सुखदः—८८९

'सु' उपसर्ग है । सुपूर्वक अवदारणार्थक भ्वादिगणपठित 'खनु' धातु से, **अन्येष्वपि दृश्यते** (पा० ३।२।१०१) सूत्र से 'ड' प्रत्यय और टि का लोप करने से 'सुख' शब्द सिद्ध होता है । तथा सुखरूप-कर्म के उपपद होने पर दानार्थक 'दा' धातु से कर्ता में 'क' प्रत्यय और आकार का लोप करने से 'सुखद' शब्द बन जाता है ।

निघण्टु (१।१२) में सुख शब्द का उदक (जल) के नामों में पाठ है, जैसा कि **"या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति०"** (ऋक् ७।४९।२) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध है । 'सुखद' नामक भगवान् विष्णुरूप सूर्य का ही यह अनुकरण है, जो लोक में तडाग, कूप, वापिका (बावड़ी) आदि का निर्माण है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'सुखद' है, तथा वह ही इन्द्र, वज्री और वृषभ नाम से प्रसिद्ध है । वह ही ऋतु अर्थात् समयानुसार समुद्र, वृष्टि या स्रवणों (झरनों) से लोक के लिये जल का प्रदान करता है ।

"तक्षन् नासत्याभ्यां परिज्मानं सुखं रथम् । तक्षन् धेनुं सबर्दुघाम्" ॥
ऋक् १।२०।३॥

सुपेशसं सुखं रथम् यमध्यस्था उषस्त्वम् ।
तेना सुश्रवसं जनं प्रावाद्य दुहितर्दिवः ॥" ऋक् १।४९।२॥

द्यौरिह सुखं रथम् । सुखं=अवकाशः, तस्य दाता वा 'सुखदः' । पूर्वं-मन्त्रगतं सुखदेति नामान्यथा व्याख्यातं, तत्तत्रैव द्रष्टव्यम् ।

भवति चात्रास्माकम्—

सुखं शरीरेऽस्ति चितं[1] समग्रं, रथं शरीरं सुषिरं कृतं तत् ।
कर्मानुरूपं जनुषे[2] पृथक्शो, ददाति मन्ये सुखदोऽस्ति विष्णुः ॥१७४॥

१. सुषिराण्यङ्गप्रत्यङ्गानि समूह्यैकीकृतम् । २. जायत इति जनुः ।

नैकजः—८९०

'इण्' धातोरौणादिके 'कनि' प्रत्यये, एतीति एकः, प्राग्व्युत्पादितः । संख्याभिधायी वैकशब्दः । 'जनी प्रादुर्भावे' इति दैवादिको धातुस्ततः पञ्चम्यन्त-सप्तम्यन्तैकशब्दोपपदाद् "पञ्चम्यामजातौ" (पा० ३।२।९८) सूत्रेण "सप्तम्यां

सुख शब्द का अर्थ—"तक्षन् नासत्याभ्यां परिज्मानं सुखं रथम्०" (ऋक् १।२०।३); "सुपेशसं सुखं रथं यमध्यस्था०" (ऋक् १।४९।२) इत्यादि मन्त्रों से स्पष्ट होता है । यहां द्युलोक का सुख रूप रथ से ग्रहण है । सुख नाम अवकाश का है, उस को देने वाला 'सुखद' है । पूर्व मन्त्र में सुखद शब्द का व्याख्यान भिन्न प्रकार से किया है । वह मन्त्रभावानुसार वहां ही देखना चाहिये ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

इस सावकाश शरीर रूप रथ में ही सब प्रकार के सुख का सङ्ग्रह है, क्यों कि इस में समग्र सुन्दर छिद्र अर्थात् अवकाश युक्त अङ्ग प्रत्यङ्गों का समुच्चय है । इस सुखरूप शरीर-रथ का सब जीवों को कर्मानुसार देनेवाला 'सुखद' होने से भगवान् विष्णु ही है ।

'चित' नाम सब सावकाश अङ्ग प्रत्यङ्गों को एकत्र करके किये हुये का है । जन्म लेने वाले का नाम 'जनु' है ।

नैकजः—८९०

'एक' शब्द का व्युत्पादन, 'जो जाता है वह एक है' इस अर्थ में गत्यर्थक 'इण्' धातु से उणादि 'कन्' प्रत्यय से किया गया है । एक शब्द संख्या का वाचक भी है । प्रादुर्भावार्थक दिवादिगणपठित 'जन' धातु से, पञ्चम्यन्त या सप्तम्यन्त एक शब्द के उपपद रहते हुये, पञ्चम्या० (पा० ३।२।९८) अथवा सप्तम्या० (पा० ३।२।९७)

जनेर्डः" (पा० ३।२।९७) इति सूत्रेण वा 'डः' प्रत्ययः। एकस्मादेकस्मिन् वा जायते इत्येकजो, निषेधार्थकेन न शब्देन समासे 'नैकजः' इति।

बहुत्र बहुधा जायमानो 'नैकज' उच्यते, असकृज्जो वा नैकजः। "अन्येष्वपि दृश्यते (पा० ३।२।१०१) इति सूत्रेण 'ड' प्रत्ययस्तस्मिन् टेर्लोपश्च। सूर्योऽसकृज्जायमानो दृश्यते, तदर्थाभिधायि चैतन्नाम। यद्वा—अनेकेषु स्थानेषु जायते स्थानेभ्य इति वा, स तथोच्यते सूर्यस्तस्य नैकजत्वेन व्यवस्थापयिता विष्णुश्च।

तस्य च लोके सर्वत्र व्यापकता, सर्वं एव हि नैकजाः जन्तवः। ज्ञायते चैतत् पौर्वदेहिकवृत्तस्मर्तॄणां वचांसि श्रुत्वा। श्रुतानि च (ई० सन् १९३६ जनवरीमासे) लवपुरमधिवसता मया पूर्वजन्मवृत्तवक्तुर्वचांसि परिप्रश्नपूर्वकाणि।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।" ऋक् १०।८५।१९॥

"नहि ग्रभायारण सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।
अधा चिदोकः पुनरित् स एत्या नो वाज्यभीषाडेतु नव्यः"॥

ऋक् ७।४।८॥

इति निदर्शनम्। भवति चात्रास्माकम्—

सूत्र से 'ड' प्रत्यय और टि का लोप करने से 'एकज' शब्द सिद्ध होता है। एक से या एक में जो प्रादुर्भूत हो उसका नाम 'एकज' है। इस 'एकज' शब्द का निषेधार्थक न शब्द के साथ समास करने से 'नैकज' शब्द बन जाता है।

बहुत स्थानों में बहुत प्रकार से जो प्रादुर्भूत हो, उसका नाम 'नैकज' है। अथवा—जो बार बार प्रादुर्भूत होता है, उसका नाम 'नैकज' है। यहां अन्ये० (पा० ३।२।१०१) सूत्र से 'ड' प्रत्यय और टि का लोप होता है। यह नाम सूर्य का है, क्यों कि वह बार बार प्रकट होता है। अथवा अनेक स्थानों में या स्थानों से जो प्रकट होता है, वह 'नैकज' नाम से कहा जाता है। इस प्रकार यह सूर्य और सूर्य के व्यवस्थापक विष्णु का नाम होता है।

इस नैकजत्व की व्यापकता सर्वत्र लोक में देखने में आती है, क्योंकि सब ही जीव नैकज हैं। इस की पुष्टि पूर्वजन्म के समाचारों के स्मरण करने वालों के वचनों को सुनने से होती है। मैंने स्वयं सन् १९३६ जनवरी महीने में लाहौर में रहते हुये, पूर्व जन्म के समाचार बताने वाले के वचन प्रश्नपूर्वक सुने हैं। इसी भाव को "नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुः० (ऋक् १०।८५।१९) तथा "न हि ग्रभायारण सुशेवोऽन्योदर्यो०" (ऋक् ७।४।८) इत्यादि मन्त्र पुष्ट करते हैं। यह उदाहरण मात्र है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

स नैकजो विष्णुरिहास्ति सूर्यो, नवो नवो चन्द्रमसा सहैति ।
शिशु अमू क्रीडनतत्परावित्यधाचिदोकः पुनरित् स एत्या ॥१७५॥

शिशुमधिकृत्य मन्त्रलिङ्गम्—

"पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परियातो अध्वरम् ।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्टे ऋतूंरन्यो विदधज्जायते पुनः" ॥

ऋक् १०।८५।१८॥

अग्रजः—८६१

'अग्र' शब्दः "ऋज्रेन्द्राग्र०" (उ०२।२८) इत्यादिनोणादिसूत्रेण गत्यर्थाद् 'अगि' धातो 'रनि' निपातितः । "सप्तम्यां जनेर्डः" (पा० ३।२।९७) इति सूत्रेण अग्रोपपदात् 'जन' धातोः 'डः' प्रत्ययः, टेर्लोपः । अग्रे जायत इति 'अग्रजः' । सर्वेषामग्रे भव इत्यर्थः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च सूर्यमधिकृत्य—

"नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्" ।

ऋक् १०।८५।१९॥

प्रथमजो वाग्रजः । विष्णुमधिकृत्य—

"पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥ यजुः ३१।२०॥

भगवान् विष्णु या तद्रूप सूर्य का नाम नैकज है, क्यों कि वह चन्द्रमा के साथ नित्य नवीन रूप धारण करके आता है । सूर्य और चन्द्र शिशु रूप बनकर क्रीडा करते हुये प्रति दिन नूतन बनकर आते हैं ।

इसी शिशुरूप भाव को "पूर्वापरं चरतो माययैतौ०" (ऋक् १०।८५।१८) इत्यादि मन्त्र पुष्ट करता है ।

अग्रजः—८६१

'अग्र' शब्द गत्यर्थक 'अगि' धातु से उणादि 'रन्' प्रत्यय और नलोप के निपातन से सिद्ध होता है । सप्तम्यन्त 'अग्र' शब्द के उपपद रहते हुये 'जन' धातु से 'ड' प्रत्यय और टि का लोप करने से 'अग्रज' शब्द बन जाता है । जो सब से पहले विद्यमान होता है, उसका नाम 'अग्रज' है ।

इस नाम के वाच्यार्थ सूर्य के होने की पुष्टि "नवो नवो भवति जायमानो०" (ऋक् १०।८५।१९) इत्यादि मन्त्र से होती है । तथा 'अग्रज' शब्द के सब से प्रथम होने वाले विष्णुरूप अर्थ की पुष्टि "पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय०" (यजुः ३१।२०) इत्यादि मन्त्र से होती है । 'अग्रज' ही लोक में ज्येष्ठ कहलाता है ।

अग्रजो ज्येष्ठ इति लोके। भवति चात्रास्माकम्—

सूर्योऽग्रजो दृश्यदृशास्ति दृश्ये, ज्येष्ठः स वा लोकवचः प्रसिद्धः।
आत्मा पृथक् पूर्वभवः शरीरात्, स जायते वा म्रियते न कर्हि ॥१७६॥

अनिर्विण्णः—८९२

'विद सत्तायां' दैवादिको, 'विद विचारणे' रौधादिको वा धातुः, निरुपसर्गो निस् वा, निसः सोरुत्वम्। ततः कर्तरि 'क्तः' अनिट्, गुणाभावः। **"रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः"** (पा० ८।२।४२) इति सूत्रेण निष्ठातकारस्य नकारः, पूर्वस्य धातोर्दकारस्य च नकारः। ततोऽचः परत्वाभावात् **"कृत्यचः"** (पा० ८।४।२८) इत्यनेनाप्राप्ते णत्वे **"निर्विण्णस्योपसंख्यानम्"** (वा० ८।४।२८) इति वार्तिकेन परस्य नकारस्य णत्वे पूर्वस्य ष्टुत्वम्। नञा समासे नञो नलोपः= 'अनिर्विण्णः' इति।

यो न कदाचिदपि निर्वेदं=खिन्नतां (विरक्ततां) प्राप्नोति सोऽनिर्विण्णः। यो हि रज्यति, स कदाचिद्विरज्यति नायं तथा किन्तु सदा तटस्थः। यद्वा— **"उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते"** इति वैयाकरणनियमान्निर्वेदो=दुःखं

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

इस दृश्य वर्ग में सम्पूर्ण दृश्यवर्ग की अपेक्षा से सूर्य ही अग्रज है, तथा वह ही लोकवचनानुसार सब से ज्येष्ठ है। आत्मा भी शरीर से पूर्व तथा जन्म और मृत्युहीन होने से 'अग्रज' नाम से कहा जा सकता है।

अनिर्विण्णः—८९२

सत्तार्थक भ्वादिगणीय या विचारणार्थक रुधादिगणीय 'विद्' धातु है। 'निर् या निस्' उपसर्ग है, निस् के सकार को रुत्व हो जाता है। इस प्रकार 'निर्' पूर्वक 'विद्' धातु से कर्ता में 'क्त' प्रत्यय, इट् और गुण का अभाव, और निष्ठा के तकार को तथा धातु के दकार को नकार करने पर, अच् से परे न होने से **"कृत्यचः"** (पा० ८।४।२८) सूत्र से अप्राप्त णत्व का **"निर्विण्णस्योपसंख्यानम्"** (वा० ८।४।२८) इस वार्तिक से विधान किया है, और पूर्व को ष्टुत्व किया है, इस प्रकार से 'निर्विण्ण शब्द सिद्ध हुआ है। नञ् के साथ समास करने से 'अनिर्विण्ण' शब्द बना है।

जो कभी भी निर्विण्ण (खिन्न) या विरक्त नहीं होता, उसका नाम 'अनिर्विण्ण' है। अर्थात् जिसको राग होता है, उसी को कभी विराग होता है, किन्तु भगवान् इन दोनों से रहित होने से 'तटस्थ' है, और इसीलिये 'अनिर्विण्ण' है। अथवा—'उपसर्ग से धातु के अर्थ का परिवर्तन हो जाता है', इस वैयाकरण नियमानुसार निर्वेद नाम दुःख या

विवेकहीनता वा, सा नञा प्रतिहन्यते । अर्थात् सदानन्दरूपो, विवेकरूपश्च (ज्ञानरूपश्च) सः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् । ऋक् १।१८।६।।

एवं प्रसङ्गतः—

"सत्यसत्वन्" । ऋक् ६।३१।५। "सत्यौजाः" । यजुः १०।२८ ।।
"सत्ययोनिः" । ऋक् ४।१९।२।। "सत्यराधः" । ऋक् ७।४१।३ ।।
"सत्यवर्मा" । अथर्व ४।२९।७।। "सत्यशवसः" । ऋक् १।८६।८ ।।
"सत्यज्योतिः" । यजुः १७।८०।। "सत्यशुष्मः" । ऋक् ३।३०।२१ ।।

इत्यादीनि वेदवचनानि तं सदानन्दज्ञानरूपमेव प्रत्याययन्ति । स एवात्र 'अनिर्विण्ण' इति नाम्नोच्यते ।

भवति चात्रास्माकम्—

अनिर्विण्णः स एवास्ति, विष्णुः सूर्यः स्वयम्प्रभुः ।
स्रोतांसि च स्रवन्त्येव, जगच्चातो विचारवत्[1] ।। १७७ ।।

१. विचारवत्=विचारयुक्तम्, गतिशीलमित्यर्थः । विचरणयुक्तं वा ।

सदामर्षी—८९३

'सदा' सर्वकालेऽर्थेऽव्ययम् । सदेत्युपपदात्—'मृष तितिक्षायाम् इति

विवेकहीनता का है, उसका नञ् से निषेध हो जाता है, अर्थात् वह सदा आनन्द तथा विवेक (ज्ञान) रूप है ।

भगवान् की ज्ञानरूपता "सदसस्पतिमद्भुतम्०" (ऋक् १।१८।३); "सत्यसत्वन्" (ऋक् ६।३१।५); "सत्यौजाः" (यजु० १०।२८); "सत्ययोनिः" (ऋक् ४।१९।२); "सत्यराधः" (ऋक् ७।४१।३); "सत्यवर्मा" (अथर्व ४।२९।७); "सत्यशवसः" (ऋक् १।८६।८); "सत्यज्योतिः" (यजुः १७।८०); "सत्यशुष्मः" (ऋक् ३।३०।२१) इत्यादि वचनों से सिद्ध होती है । वह ही सत्यरूप यहां 'अनिर्विण्ण' नाम से कहा गया है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

स्वयं शक्तिस्वरूप भगवान् विष्णु या सूर्य का नाम 'अनिर्विण्ण' है । उसी से बहते हुये ज्ञान-स्रोतों से व्याप्त यह जगत् भी विचार (ज्ञान) या गति अथवा विचरण से युक्त है ।

सदामर्षी—८९३

'सदा' यह सर्वकालाधिकरणार्थक अव्यय है । अर्थात् 'सब समय में' यह इसका अर्थ

दैवादिकाद्धातोः "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" (पा० ३।२।७८) सूत्रेण 'णिनिः', गुणो रपरः, सुपीनन्तलक्षणो दीर्घो, नलोपः='सदामर्षी'। मृष्यतिरत्र वहनकर्मा सहनकर्मणाऽभिन्नार्थः।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"नाक्षस्तप्यते भूरिभारः"। ऋक् १।१६४।१३॥

वहन्न तप्यते, सहत इत्यर्थः। लोकेऽपि—शरीरं वहद्धृदयं न तप्यते, विकाराद्दृते। एवं सर्वेष्वङ्गेषु योजनीयम्। समुद्रः सदामर्षी, नदीः सर्वान् जन्तूंश्च वहमानः।

भवति चात्रास्माकम्—

सदामर्षी स एवास्ति, विष्णुः सूर्यः सनातनः।
तद्गुणञ्च जगत् सर्वं, सदामर्षि वपुर्यथा ॥ १७८॥

लोकाधिष्ठानम्—८६४

'लोक' शब्दो व्युत्पादितो घञि, कर्तर्यचि वा। 'अधिष्ठानम्'—इति 'अधि' पूर्वात् तिष्ठतेः' भौवादिकादधिकरणे 'ल्युट्' योरनः, दीर्घः।

है। 'सदा' इस शब्द के उपपद रहते हुये सहनार्थक 'मृष' धातु से ताच्छील्य-विशिष्ट कर्ता में 'णिनि' प्रत्यय, रेफपरक गुण, तथा सुप् कार्य, इन्नन्त लक्षण दीर्घ होने से 'सदामर्षी' शब्द सिद्ध होता है। मृष् धातु का यहां सहन के ही समान वहन अर्थ है।

इस भावार्थ की पुष्टि "नाक्षस्तप्यते भूरिभारः" (ऋक् १।१६४।१३) इत्यादि वेदवचन से होती है। यहां 'वहन करता हुआ तप्त नहीं होता' ऐसा अर्थ ज्ञात होता है। लोक में भी देखने में आता है कि—शरीर को धारण करता हुआ, विकाररहित हृदय तप्त नहीं होता। इसी प्रकार की योजना सब अङ्गों में कर लेनी चाहिये। सब नदी नदों तथा जलीय जन्तुओं को वहन करता हुआ भी निर्विकार समुद्र 'सदामर्षी' नाम से वाच्य होता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

सनातन पुरुष भगवान् विष्णु या सूर्य, 'सदामर्षी' नाम का वाच्य है। और यह ही सदामर्षिरूप गुण इस जगत् में व्याप्त है, जैसे शरीर सब उपाङ्गों को वहन करता हुआ 'सदामर्षी' है।

लोकाधिष्ठानम्—८६३

'लोक'—शब्द का व्युत्पादन 'घञ्' या कर्ता में 'अच्' प्रत्यय करके किया गया है। 'अधिष्ठान' शब्द—'अधिपूर्वक' गतिनिवृत्त्यर्थक भ्वादिगणीय 'ष्ठा' धातु से अधिकरण में

उपसर्गात्सुनोतिसुवतिस्यति० (पा० ८।३।६५) इत्यादिना सूत्रेण सस्य षः, ष्टुत्वम्='अधिष्ठानम्'। लोकस्य अधिष्ठानम्=लोकाधिष्ठानम्—ब्रह्म, विष्णुः, सूर्यो वेति। "लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य" (४।१।३) इति च महाभाष्यम्।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा"। अथर्व ९।९।११॥
"तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा"। ऋक् १।१६४।१३॥
"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः"
ऋक् १।१६४।३९॥
"यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वम्"। तै० आ० १०।१।१॥

भवति चात्रास्माकम्—

लोकाधिष्ठानमस्त्यर्को, विष्णुर्ब्रह्मादिनामधृत्।
सति तस्मिन् स्थितं सर्वं, जीवे वर्ष्म[1] स्थितं यथा ॥१७९॥

१. वर्ष्म=शरीरम्।

'ल्युट्' प्रत्यय यु को अन आदेश, दीर्घ तथा सकार को षकार और ष्टुत्व करने से सिद्ध होता है। लोक का जो अधिष्ठान (स्थिति का आधार) है, उसका नाम 'लोकाधिष्ठान' है। यह ब्रह्म, विष्णु या सूर्य का नाम है। विष्णु शब्द के पुल्लिङ्ग होने पर भी नपुंसकलिङ्ग से निर्देश "लिङ्गमशिष्यम्०" (४।१।३) इत्यादि महाभाष्य वचन से उपपन्न होता है। इस नामार्थ की पुष्टि "यस्मिन्नातस्थु०" (अथर्व ९।९।११); "तस्मिन्नातस्थुः०" (ऋक् १।१६४।१३); "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्०" (ऋक् १।१६४।३९) तथा "यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वम्" (तै० आ० १०।१।१) इत्यादि वेद वचनों से होती है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

'लोकाधिष्ठान' नाम ब्रह्म आदि नाम धारण करने वाले भगवान् विष्णु अथवा उसी के अन्यरूप सूर्य का है। उसी में यह सब कुछ दृश्यवर्ग स्थित है, जैसे जीव में शरीर स्थित है।

'वर्ष्म' नाम शरीर का है।

अद्भुतः—८९५

'अद्' इत्यव्ययं कदाचिदर्थे। अदुपपदाद् 'भू धातोः' **"अदि भुवो डुतच्"** (उ० ५।१) इत्युणादिसूत्रेण 'डुतच्' प्रत्ययो, डित्वाट्टिलोपः। अद्=कदाचिद् भवतीत्यद्भुतम्। सन्नप्यभूतमिवेत्यर्थः। **"यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते"** ऋक् ५।४४।६ इति वैदिकनियममनुसृत्य लोकेऽपि पश्यामः—सन्नपि सूर्यो भूचक्रेण व्यवहितत्वान्न दृश्यते। सन्नपि पुरुषः स्थानेन व्यवहितो न दृश्यते। येयमीदृशी दशा तामेषोऽद्भुतशब्द आचष्टे। अद्भुत शब्दस्याश्चर्यवाचकताप्येतस्मादेव, यत् सदपि वस्तु न दृश्यते, दृश्यते च कदाचिदिति।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्"। ऋक् १।१८।६॥

"वषट्कृतस्याद्भुतस्य दस्रा"। ऋक् १।१२०।४॥

अद्भुतशब्दस्याश्चर्यवाचकत्वे—अद्भुतमधीते, अद्भुताध्यापक इति। निरुक्ते च——**'इदमपीतरदद्भुतमभूतमिव।'** नि० १।६॥

भवति चात्रास्माकम्—

अद्भुतः—८९५

'अद्' यह अव्यय है, इसका कदाचित् अर्थात् कभी कभी होना अर्थ है। इस 'अद्' के उपपद होने पर 'भू' धातु से उणादि 'डुतच्' प्रत्यय और टि का लोप होने से 'अद्भुत' शब्द सिद्ध होता है। जो कदाचित् होता है, अर्थात् जो होता हुआ भी अभूत=न होने के समान है, उसका नाम 'अद्भुत' है। **"यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते"** (ऋक् ५।४४।६) इस वैदिक नियमानुसार लोक में होता हुआ भी सूर्य कभी कभी भूचक्र से अन्तर्हित होने से दीखता नहीं। तथा प्रत्येक प्राणी भी स्थान के व्यवधान से अदृष्ट हो जाता है, इस ही स्थिति को अद्भुत शब्द कहता है। इसी से अद्भुत शब्द का आश्चर्य अर्थ भी है, क्योंकि जो होती हुई भी वस्तु, कभी दीखे और कभी न दीखे, यह आश्चर्य का ही विषय है। इस नाम तथा नामार्थ की पुष्टि **"सदसस्पतिमद्भुतम्०"** (ऋक् १।१८।६) तथा **"वषट्कृतस्याद्भुतस्य दस्रा"** (ऋक् १।१२०।४) इत्यादि वेद-वचनों से होती है।

अद्भुत शब्द की आश्चर्य-वाचकता के प्रकट करने में **"अद्भुतमधीते"** तथा **"अद्भुताध्यापकः"** इत्यादि वाक्य प्रयुक्त होता है। अर्थात् इसका पढ़ना या पढ़ाना आश्चर्य-युक्त है। निरुक्त में 'जो विना हुये के समान हो उसका नाम अद्भुत है' ऐसा कहा है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

सूर्योऽद्भुतः शाश्वतिकोऽथ विष्णुः, सदास्तिमानक्षिपथन्न याति ।
यथा जनः सन्नपि नैव दृश्यः,[1] लब्धान्तरश्चास्ति तथात्र सूर्यः[2] ॥१८०॥

१. नैव दृश्य=द्रष्टुमशक्यः २. सूर्यः=सरणशीलं सर्वम् ।



सनात् सनातनतमः, कपिलः कपिरप्ययः ।
स्वस्तिदः स्वस्तिकृत् स्वस्ति, स्वस्तिभुक् स्वस्तिदक्षिणः ॥१०६॥

८९६ सनात्, ८९७ सनातनतमः, ८९८ कपिलः, ८९९ कपिः, ९०० अप्ययः । ९०१ स्वस्तिदः, ९०२ स्वस्तिकृत्, ९०३ स्वस्ति, ९०४ स्वस्तिभुक्, ९०५ स्वस्तिदक्षिणः ॥

सनात्—८९६

'सनात्' इति शश्वदर्थकमव्ययम् । सनान्नित्योऽविकार्येकरस इत्यर्थः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"सनात् युवानमवसे हवामहे" । ऋक् २।१६।१॥

युवानमिन्द्रम् ।

"सनादेव सहसे जात उग्रः" । ऋक् ४।२०।६॥

"आ यो महः शूरः सनादनीडः" । ऋक् १०।५५।६॥

इत्यादि निदर्शनम् । 'सनात्' शब्दो बहुत्र प्रयुक्तो वेदे । जगदिदं सनात् प्रवाहतः ।

शाश्वत अर्थात् सनातन भगवान् विष्णु या सूर्य का नाम 'अद्भुत' है, क्यों कि वह होता हुआ भी विना हुये के समान अदृष्ट रहता है । जैसे मनुष्य होता हुआ भी कभी कभी व्यवहित होने से दीखता नही, उसी प्रकार सूर्य भी कभी कभी भूचक्र से व्यवहित होकर अदृष्ट हो जाता है ।

'सूर्य' नाम सरणशील दृश्यवर्ग का भी है ।

सनात्—८९६

'सनात्' यह शश्वत् अर्थात् नित्यार्थक अव्यय है । नित्य, अविकारी, एकरस (एक रूप) का नाम 'सनात्' है । जैसा कि **"सनात् युवानमवसे०"** (ऋक् २।१६।१); **"सनादेव सहसे जात उग्रः"** (ऋक् ४।२०।६) तथा **"आ यो महः शूरः"** (ऋक् १०।५५।६) इत्यादि वेद-वाक्यों से सिद्ध है । यह उदाहरण है । सनात् शब्द का प्रयोग वेद में बहुत आता है, यह जगत् भी प्रवाह से नित्य होने से 'सनात्' है ।

भवति चात्रास्माकम्—

सनात् स सूर्यः सः युवा स इन्द्रः, स वास्तु विष्णुः स सखा स उग्रः ।
स एव शूरः स महाननीडः, सनात्तथात्मास्ति जगत् सनाच्च ॥१८१॥

सनातनतमः—८९७

'सना' इति सदार्थेऽव्ययम् । तस्मात् भवार्थे **"सायञ्चिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च"** (पा० ४।३।२३) इति सूत्रेण 'ट्युः' प्रत्ययो, योरनादेशस्तुडागमश्च='सनातनः' । तस्माच्चातिशायनिकस्तमप् । अतिशयेन सनातनः =सनातनतमः । सर्वस्य जगतो व्यापकत्वात् समकालीन आद्योऽन्त्यश्चेत्यर्थः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"सनातनमेनमाहुरुताद्य: स्यात्पुनर्णवः ।
अहोरात्रे प्रजायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः" ॥ अथर्व १०।८।२३॥

लोके चापि सर्वं सनातनं=सदाभवं प्रवाहतः पुरातनमित्यर्थः ।

भवति चात्रास्माकम्—

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

'सनात्' नाम भगवान् विष्णु या सूर्य का है, तथा इस ही सनात् शब्द के वाच्य अर्थ युवा, इन्द्र, सखा, उग्र, शूर, महान्, तथा अनीड हैं । अर्थात् इन सब का ही सनात् शब्द से अभिधान होता है, तथा आत्मा और जगत् का भी 'सनात्' नाम है ।

सनातनतमः—८९७

'सना' यह भी नित्यार्थक अव्यय है । इस से भवार्थ में 'ट्यु' प्रत्यय, तुट् का आगम, यु को अन आदेश करने से 'सनातन' पद सिद्ध होता है । इस सनातन पद से आतिशायनिक 'तमप्' प्रत्यय करने से 'सनातनतम' पद बन जाता है ।

अतिशय करके जो सनातन है, उसका नाम 'सनातनतम' है । जो इस जगत् के आदि में, व्यापक होने से जगत् के सत्ताकाल में, तथा जगत् के अन्त में प्रलय होने पर भी विद्यमान है, उसका नाम 'सनातनतम' है । इस नामार्थ को **"सनातनमेनमाहुरुताद्यः स्यात्पुनर्णव०:"** (अथर्व १०।८।२३) यह मन्त्र पुष्ट करता है ।

लोक में भी सब कुछ प्रवाह से नित्य सत्तान्वित होने से सनातन है, किन्तु भगवान् विष्णु सनातनतम है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

सनातनो विष्णुरुतापि सूर्यः, सनाद्दिनं नक्तमुषाः सनाच्च ।
सनाभवं जन्म जरा मृतिश्च, सनादयं याति जगत् प्रपश्यन् ॥१८२॥

कपिलः—८९८

'क्रमेः' "कमेः पश्च" (उ० १।५५) इत्युणादिसूत्रेण 'इलच्' प्रत्ययो, मकारस्य पकारादेशश्च='कपिलः', इति पिङ्गलवर्णो लोके प्रसिद्धः, स च सूर्यः । कपिं सूर्यं वा लाति=आदत्ते सर्वस्य जगतः प्रवर्तनायेति 'कपिलः' विष्णुः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"दशानामेकं कपिलं समानम्"। ऋक् १०।२७।१६॥

लोकेऽपि—इन्द्रधनुषि सूर्यरश्मिषु च स्पष्टं कपिलता दृश्यते । सूर्यरश्मिभिरेव सनान्मेघा रज्यन्ते=कपिलीक्रियन्ते । तस्मात् 'कपिलः' सूर्यो वर्णश्च लोके ।

भवति चात्रास्माकम्—

सूर्यो हि लोके कपिलः प्रजातः, सोऽब्दान् विधत्ते कपिलान् स्वगोभिः ।
तथा यथा पिङ्गलकेशमूर्धा, बालो विभात्यत्र शिरोरुहैः स्वैः ॥१८३॥

सनातन ही भगवान् विष्णु या सूर्य 'सनातनतम' है । दिन, रात्रि, उषा, जन्म, जरा आदि सब ही सदा होने से सनातन शब्द के वाच्य हैं । तथा भगवान् सूर्य सदा ही इस विश्व को देखता हुआ द्युलोक में विचरण करता है ।

कपिलः—८९८

कान्त्यर्थक 'कमु' धातु से उणादि 'इलच्' प्रत्यय, और मकार को पकार करने से 'कपिल' शब्द सिद्ध होता है । लोक में पिङ्गल वर्ण होने से यह सूर्य का नाम है । अथवा कपि नाम भी सूर्य का है, उसको जो जगत् की प्रवृत्ति के लिये ग्रहण करता (अपनाता) है उसका नाम 'कपिल' है, यह विष्णु का नाम हुआ । इस नाम को "दशानामेकं कपिलं समानम्" (ऋक् १०।२७।१६) यह वेद-वचन प्रमाणित करता है ।

लोक में इन्द्रधनुष् या सूर्य की किरणों में कपिलता (पिङ्गलता) स्पष्ट देखने में आती है । सूर्य की किरणों से ही सदा मेघों में कपिलता आती है, इसलिये सूर्य का और लोक में वर्ण का नाम 'कपिल' है ।

इस भाव को भाष्यकार इस प्रकार प्रकट करता है—

भगवान् सूर्य का विष्णु रूप होने से 'कपिल' नाम है । वह ही अपनी किरणों से मेघों को रञ्जित करके इस प्रकार शोभित होता है, जैसे पिङ्गल केशों वाला बालक अपने पिङ्गल वर्ण के केशों (बालों) से शोभित होता है ।

कपिः—८९९

कः—'कै शब्दे' भौवादिकः, 'कॄ विक्षेपे' तौदादिकः, 'कनी दीप्तिकान्तिगतिषु' भौवादिकः; एभ्यो यथेप्सितार्थम् "अन्येष्वपि दृश्यते" (पा० ३।२।१०१) सूत्रेण 'डः' प्रत्ययस्तस्मिंश्च टेर्लोपः । कायति=शब्दायते, किरति=जलं विकिरति, कनति=दीप्तो भवतीति वा 'कः', तं पाति=रक्षति, पिबति=संहृतिसमयेऽन्तः समावेशयतीति 'कपिः' विष्णुः । कं=जलं पातीति 'कपिः' सूर्यश्च । 'पातेः पिबतेर्वा' "अच इः" (उ० ४।१३९) इत्युणादिसूत्रेण 'इः' प्रत्ययो बाहुलकात् किच्च स, अत आतो लोपः='कपिः' ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"प्रिया तष्टानि मे कपिर्व्यक्ताव्यदूदुषत् । ऋक् १०।८६।५॥
"इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत् पर्वतानाम् ॥"

ऋक् १०।८९।१०॥

"इन्द्र पिब प्रतिकामं सुतस्य प्रातः सावस्तव हि पूर्वपीतिः ।
हर्षस्व हन्तवे शूर शत्रूनुक्थेभिष्टे वीर्या प्रब्रवाम ॥"

ऋक् १०।११२।१॥

उक्थः=स्तवः । स च शब्दरूपस्तं पिबतीति कपिः । कपिः सोमप उक्थपश्चेति जले शब्दे च सङ्गतिः । आदित्योऽप्यत एव कपिर्यतो हि स रसमादत्ते ।

कपिः—८९९

'क'—शब्द भ्वादिगणपठित शब्दार्थक 'कै' अथवा तुदादिगणपठित विक्षेपार्थक 'कॄ' अथवा दीप्ति कान्तिगत्यर्थक 'कनी' धातु से अपने अभीष्ट अर्थानुसार 'ड' प्रत्यय और टि का लोप करने से सिद्ध होता है । जो शब्द करता है, जल का प्रक्षेप करता है, अथवा दीप्त होता है, उसका नाम 'क' है । और उस 'क' का जो पालन अथवा अपने अन्तः समावेश करता है, उसका नाम 'कपि' है । यह विष्णु का नाम हुआ । अथवा—'कं' नाम जल का जो पान करता है, उसका नाम 'कपि' है । यह सूर्य का नाम हुआ । अथवा—पानार्थक या रक्षणार्थक 'पा' धातु से उणादि कित् 'इ' प्रत्यय और आकार का लोप करने से 'कपि' शब्द बन जाता है । इस नाम की पुष्टि **"प्रिया तष्टानि मे कपिः०"** (ऋक् १०।८६।५); **"इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे०"** (ऋक् १०।८९।१०) तथा **"इन्द्र पिब प्रतिकामं सुतस्य०"** (ऋक् १०।११२।१) इत्यादि मन्त्रों से होती है ।

उक्थ नाम स्तव का है, और वह शब्दरूप होता है । उसको जो पीता है, उसका नाम 'कपि' है । इस प्रकार से सोम और उक्थ को पीने वाले का नाम 'कपि' हुआ । यहां कपि शब्द जल और शब्द के पीने अर्थ में सङ्गत होता है । क=जलरूप रस के लेने से

लोकेऽपि च पश्यामः—स्तुत्या मनो, जलपानेन च शारीरमोजस्तरुणायते । समानश्च लोको वेदेन ।

भवति चात्रास्माकम्—

कर्पिहि सूर्यो रसहृत् स वास्ति, लोके तृषार्तो रसमाजिहीते[1] ।
उक्थः स्तुतिर्हृष्टमनास्तया सन्, कपिर्मनो वापि च हर्षमेति ।।१८४।।

१. आजिहीते=आदत्ते ।

अप्ययः—९००

'अपि'—उपसर्गः । 'इण् गतौ' आदादिको धातुस्ततः "एरच्" (पा० ३।३।५६) इति सूत्रेणाधिकरणे 'अच्' प्रत्ययो, गुणायादेशौ, उपसर्गेकारस्य यणि च 'अप्ययः' इति सिध्यति । अपियन्ति=लीयन्तेऽस्मिन् भूतानि प्रलयकालेऽतः 'अप्ययः' इत्युच्यते, विष्णुः सूर्यो वा ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"महो दिवः पृथिव्याश्च सम्राट्" । ऋक् १।१००।१।।

" न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्च न शवसो अन्तमापुः ।
स प्ररिक्वा त्वक्षसा क्ष्मो दिवश्च मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ।।
ऋक् १।१००।१५।।

ही सूर्य का आदित्य नाम भी होता है । लोक में भी हम देखते हैं— कि स्तुति से मन और जल पीने से ओज तरुण अर्थात् नूतन हो जाता है । लोक और वेद एक समान ही हैं ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

'कपि' नाम सूर्य का है, क्योंकि वह रस (जल) का पान करता है । लोक में भी प्यास लगने पर जल का ही ग्रहण किया जाता है । 'उक्थ' नाम स्तुति का है, उससे हृष्ट (आनन्दित) हुआ मन भी 'कपि' नाम का वाच्य है ।

आजिहीते=ग्रहण करता है ।

अप्ययः—९००

'अपि' उपसर्ग है । 'गत्यर्थक इण्' अदादिगणपठित धातु से अधिकरण अर्थ में 'अच्' प्रत्यय, गुण और अय् आदेश, तथा उपसर्ग के इकार को यण् करने से 'अप्यय' शब्द सिद्ध होता है । जिसमें प्रलय काल में सब भूतप्राणियों का लय होता है, उसका नाम 'अप्यय' है । यह विष्णु या उसी के अपर रूप सूर्य का नाम है । इस अर्थ की सिद्धि **"महो दिवः पृथिव्याश्च सम्राट्"** (ऋक् १।१००।१); **"न यस्य देवा देवता न मर्ता०"**

"यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा"।
ऋक् १।१५४।२॥

यस्मिन् क्षयं=निवासं प्रलय वाप्नुवन्ति सः 'अप्ययः'। उपसर्गवशादन्तर्निगरण-रूपोऽत्र धात्वर्थः।

भवति चात्रास्माकम्—

यस्माज्जनुर्यस्य लयोऽपि तत्र, मृदो घटोऽसौ मृदि लीयते वा।
सूर्यात् प्रसूतिः प्रलयश्च सूर्ये, विष्णोः समस्तं, तमुपैति चान्ते ॥१८५॥

लोके च पश्यामो--यस्मात् स्वस्थानाज्जन्तुः प्रातर्बहिर्निर्गच्छति, रात्रौ पुनस्तस्मिन्नेवायाति।

● समाप्तमिदं नवमं शतकं सव्याख्यम् ●

(ऋक् १।१००।१५); "यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति०" (ऋक् १।१५४।२) इत्यादि मन्त्रों से होती है।

अर्थात् जिसमें ये सब भूत क्षय=निवास या प्रलय को प्राप्त करते हैं, उसका नाम 'अप्यय' है। उपसर्ग के कारण यहां 'भीतर को निगरण करना' धातु का अर्थ है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

जिससे जिसका जन्म होता है, उस ही में उसका लय होता है, जैसे घट का जन्म मट्टी से होता है तथा मट्टी में ही उसका लय होता है। इसी प्रकार सूर्य या विष्णु से ही सब की उत्पत्ति होती है, और अन्त में यह सब कुछ सूर्य या विष्णु में ही लीन हो जाता है।

लोक में भी हम देखते हैं--जिस स्थान से जन्तु प्रातःकाल निकल कर बाहर जाता है, उसी स्थान में सायङ्काल पुनः आ जाता है।

● हिन्दी-व्याख्या-युक्त यह नवम शतक समाप्त हुआ ●

नन्दाख्यमेतच्छतकं समाप्तं, मनोरमं विष्णुसहस्रनाम्नः।
अनूदितं राष्ट्रगिरा च भूयाद्, भव्याय दिव्यं भुवि भावुकानाम् ॥९॥



स्वस्तिदः—६०१, स्वस्तिकृत्—६०२, स्वस्ति—६०३, स्वस्तिभुक्—६०४, स्वस्तिदक्षिणः—६०५

'सु' उपसर्गस्तदुपपदाद् 'अस् भुवि' धातोः "सावसेः शित्" (उ० ४।१८१) इत्युणादिसूत्रेण 'ति' प्रत्ययः, स च शित् । शित्वात् सार्वधातुकसंज्ञा, तेन चार्धधातुकलक्षणो भूभावो न भवति । सु+अस्ति—यण्='स्वस्ति' । मङ्गलवाचकोऽयं स्वस्तिशब्दोऽव्ययञ्च स्वरादिपाठात् । अनव्ययमपि क्वचित्तथाविधप्रयोगदर्शनात् । तदुपपदाद्ददातेः "आतोऽनुपसर्गे कः" (पा० ३।२।३) सूत्रेण 'कः' प्रत्ययः कर्तरि, आतो लोपः । स्वस्ति ददातीति 'स्वस्तिदः' कल्याणदो विष्णुः सूर्यो वा ।

यद्वा—सत्त्वाय=आत्मधारणाय—अर्थाज्जीवनाय जीवनोपयोगीनि साधनानि ददाति स, तथाभूतः । इह च परस्परापेक्षं सर्वमपि स्वस्तिदं, यतो हि यद्यस्योपकारि तत्तस्य स्वस्तिदमिति सुबोधा भगवतः स्वस्तिदस्य सर्वव्यापकता ।

स एव च 'स्वस्तिकृत्'—स्वस्त्युपपदात् 'करोतेः' क्विप् तुक् च ।

स्वस्तिदः—६०१; स्वस्तिकृत्—६०२; स्वस्ति—६०३; स्वस्तिभुक्—६०४; स्वस्तिदक्षिणः—६०५

'सु' उपसर्गपूर्वक सत्तार्थक 'अस्' धातु से उणादि शित् 'ति' प्रत्यय और यण् करने से 'स्वस्ति' शब्द सिद्ध होता है । यहां ति प्रत्यय को शित्वत् भावं करने से सार्वधातुक संज्ञा हो जाती है, इसलिए अस् धातु को आर्धधातुक-निमित्तक 'भू' भाव नहीं होता ।

स्वस्ति शब्द मङ्गलवाचक है । यह स्वस्ति शब्द स्वरादि में पठित होने से अव्यय भी है तथा अनव्यय भी है, क्योंकि दोनों ही प्रकार से इसका प्रयोग देखने में आता है । इस 'स्वस्ति' पद के उपपद में रहते हुए 'दा' धातु से कर्ता अर्थ में 'क' प्रत्यय और आकार का लोप करने से 'स्वस्तिद' शब्द सिद्ध होता है । 'स्वस्तिद' नाम कल्याण के देने वाले विष्णु या सूर्य का है ।

अथवा—सत्त्व=आत्मधारण अर्थात् जीवन के लिए जीवनोपयोगी साधनों के देने वाले का नाम 'स्वस्तिद' है । इस दृश्य प्राणीवर्ग में सब ही परस्पर एक दूसरे के जीवन में सहायक होने से स्वस्तिद नाम के वाच्य हैं । इसी से सरलतापूर्वक भगवान् की सर्वव्यापकता का बोध होता है ।

वह ही 'स्वस्तिकृत्' है । यहां 'स्वस्ति' पूर्वक 'कृ' धातु से 'क्विप्' और तुक् का आगम होता है ।

'स्वस्तिभुक्'—स्वस्त्युपपदाद् 'भुजेः'—अवनार्थकात् 'क्विप्'। स्वदत्तस्य जीवनसाधनस्य शुभस्य वा रक्षकः, स एव स्वस्तिरूपः=कल्याणरूपः सर्वस्य शुभाशंसीति भावः।

स एव च स्वस्तिं दक्षते=वर्धयतीति 'स्वस्तिदक्षिणो' वरदहस्तो मङ्गल-हस्त इति।

स्वस्तिपदार्थप्राधान्यात् पञ्चानामपि नाम्नां युगपदेव व्याख्या विहिता।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"स्वस्तिदा विशस्पतिः"। ऋक् १०।१५२।२॥

"स्वस्ति नो दिवो अग्ने"। ऋक् १०।७।१॥

"स्वस्ति मित्रावरुणौ"। ऋक् ५।५१।१४॥

"स्वस्तिगर्भसूक्तम्" (ऋक् १०।६३।३—१६) मन्त्रान्तरञ्च समुदाय-गमकमुदाहरणम्—

"विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि देवा उत यज्ञियानि वः।
ये स्थ जाता अदितेरद्भ्यस्परि ये पृथिव्यास्ते म इह श्रुता हवम्॥"
ऋक् १०।६३।२॥

भवति चात्रास्माकम्—

स स्वस्तिदः स्वस्तिकृदत्र नः स्यात्, स स्वस्तिभुक् स्वस्तिपदाभिधानः।
स स्वस्तिमद्दक्षिण एव नः स्यात्, स्वस्तिश्च भूयः परिपातु चास्मान्॥१८६॥

'स्वस्ति' पूर्वक पालनार्थक 'भुज' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय और उसका सर्वलोप होने से 'स्वस्तिभुक्' शब्द बनता है। जिसका अर्थ—अपने दिये हुए जीवन के साधनों का रक्षक, ऐसा होता है।

वह ही सब के कल्याण का इच्छुक होने से 'स्वस्ति' रूप है। तथा वह ही स्वस्ति= कल्याण का वर्धक होने से 'स्वस्तिदक्षिण है' अर्थात् मङ्गलहस्त या वरदहस्त है।

सब में स्वस्ति शब्दार्थ के प्रधान होने से पांचों नामों का एक ही साथ व्याख्यान किया गया है। इसमें "स्वस्तिदा विशस्पतिः" (ऋक् १०।१५२।२); "स्वस्ति नो दिवो अग्ने" (ऋक् १०।७।१); "स्वस्ति मित्रावरुणौ" (ऋक् ५।५१।१४) तथा "स्वस्तिगर्भ सूक्त" (१०।६३।३-१६) इत्यादि और समूहावलम्बन रूप से "विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि०" (ऋक् १०।६३।२) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं।

भाष्यकार इस भाव को अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

इन सब स्वस्तिद, स्वस्तिकृत्, स्वस्तिभुक्, स्वस्ति तथा स्वस्तिदक्षिण नामों का वाच्यार्थ भगवान् विष्णु या सूर्य है। क्योंकि वह सब को कल्याण=जीवनोपयोगी साधनों का देने वाला, तथा मङ्गल का देने वाला है, इसलिए वह स्वस्तिरूप भगवान् हमारी रक्षा करे।

अरौद्रः कुण्डली चक्री विक्रम्यूर्जितशासनः ।
शब्दातिगः शब्दसहः शिशिरः शर्वरीकरः ॥ ११० ॥

९०६ अरौद्रः, ९०७ कुण्डली, ९०८ चक्री, ९०९ विक्रमी, ९१० ऊर्जितशासनः । ९११ शब्दातिगः, ९१२ शब्दसहः, ९१३ शिशिरः, ९१४ शर्वरीकरः ॥

अरौद्रः—९०६

'रुदिर्' अश्रुविमोचने' धातुरादादिकस्तस्मात् 'णिच्', ततो "रोदेर्णिलुक् च" (उ० २।२२) इत्युणादिना 'रक्' प्रत्ययो णेर्लुक् च भवति । णिलोपश्च न स्थानिवत्, लुका लुप्तत्वात्, तेन रकः कित्त्वाद् गुणाभावो, "नेड्वशि कृति" (पा० ७।२।८) इति सूत्रेण इटो निषेधः । रोदयतीति 'रुद्रः', स देवता अस्येति "साऽस्य देवता" (पा० ४।२।२४) इति सूत्रेण 'अण्' प्रत्ययः, आदिवृद्धिः, "यस्येति च" (पा० ६।४।१४८) इति सूत्रेणाकारलोपः='रौद्रः' । रौद्रोऽस्यास्ति मत्वर्थीयोऽर्शाद्यच् । न रौद्रः—'अरौद्रः', नञ्समासः । एवञ्च रुद्रदैवतका भयक्रोधादयोऽस्य न सन्तीति वाच्योऽर्थोऽरौद्रनाम्नः । एवम्विधश्च् विष्णुः सूर्यो वा । मन्त्रलिङ्गञ्च—

"ताविदा चिदहानां तावश्विना वन्दमान उपब्रुवे । ता उ नमोभिरीमहे" ॥

अरौद्रः—९०६

अश्रुविमोचनार्थक अदादिगणीय 'रुदिर' धातु से 'णिच्' प्रत्यय तथा णिजन्त से उणादि 'रक्' प्रत्यय, और णि का लुक् करने से 'रुद्र' शब्द सिद्ध होता है । णि का लुक् शब्द से लोप होने से, और इसीलिए णि के स्थानिवद्भाव न होने से तथा रक् प्रत्यय के कित् होने से गुण नहीं होता । तथा "नेड् वशि कृति" (पा० ७।२।८) इस सूत्र से इट् का निषेध हो जाता है । रुद्र देवता जिसका है, इस अर्थ में ताद्धित 'अण्' प्रत्यय, आदि वृद्धि, तथा "यस्येति च" (पा० ६।४।१४८) सूत्र से अकार का लोप करने से 'रौद्र' शब्द बन बन जाता है । यह भय क्रोध आदिकों का नाम है, ये हैं जिसमें उसका नाम 'रौद्र', यहां मत्वर्थीय अच् प्रत्यय हुआ है । जो रौद्र नहीं है. उसका नाम 'अरौद्र' है । नञ् समास और न का लोप होकर 'अरौद्र' शब्द सिद्ध होता है ।

इस प्रकार रुद्रदैवतक भय क्रोध आदि जिसमें नहीं है, वह 'अरौद्र' शब्द का वाच्यार्थ हुआ । ऐसा विष्णु या सूर्य है, इसलिए विष्णु या सूर्य का यह 'अरौद्र' हुआ नाम ।

"ताविद् दोषा ता उषसि शुभस्पती ता यामन् रुद्रवर्तनी ।
मा नो मर्ताय रिपवे वाजिनीवसू परो रुद्रावति ख्यतम्" ॥
ऋक् ८।२२।१३, १४ ।

अरौद्रशब्दार्थ च—

"इन्द्रश्च मृडयाति नो न नः पश्चादघं नशत् ।
भद्रं भवाति नः पुरः ॥" ऋक् २।४१।११ ॥

यतोऽरौद्रस्ततो वसूनि दयते । अत्र मन्त्रलिङ्गम्—

"यो विश्वा दयते वसु" । ऋक् ८।१०३।६ ॥

"यो भोजनं च दयसे च वर्धनमार्द्रादा शुष्कं मधुमद् दुदोहिथ ।
स शेवधिं निदधिषे विवस्वति विश्वस्यैक ईशिषे सास्युक्थ्यः" ॥
ऋक् २।१३।६ ॥

स=इन्द्रः ।

"अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति" ।
ऋक् २।३३।१० ॥

इत्यादि निदर्शनम् ।

भवति चात्रास्माकम्—

अरौद्र इत्येव मनो निधाय, यः स्तौति तं शम्भुमनन्तरूपम् ।
तस्मै ददातीह स भोजनानि, वसूनि काम्यानि च सर्वकाणि ॥१८७॥

इस में—"ताविदा चिदाहानां तावश्विना०" (ऋक् ८।२२।१३); "ताविद् दोषा ता उषसि शुभस्पती०" (ऋक् ८।२२।१४) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं ।

तथा अरौद्र शब्द के अर्थ की पुष्टि—"इन्द्रश्च मृडयाति नो न०" (ऋक् २।४१।११) इस मन्त्र से होती है । अरौद्र होने से ही वह वसु=धन देता है । इस अर्थ की पुष्टि—"यो विश्वा दयते वसु" (ऋक् ८।१०३।६); "यो भोजनं च दयसे च वर्धनमार्द्रा शुष्कम्०" (ऋक् २।१३।६), इस मन्त्र में 'स' शब्द से इन्द्र लिया गया है । तथा "अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वम्०" (ऋक् २।३३।१०) इत्यादि मन्त्रों से होती है । यह उदाहरणमात्र है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

जो मनुष्य अनन्तरूप भगवान् विष्णु के 'अरौद्र' नाम के तत्त्व को समझकर उसकी अरौद्र नाम से स्तुति करता है, भगवान् उस मनुष्य को सब प्रकार के कामों, भोजनों तथा वसु=धनों से पूर्ण कर देता है ।

कुण्डली—९०७

'कुडि दाहे' भौवादिकः, 'कुडि रक्षणे' चौरादिको वा धातुरिदित्, इदित्वाच्च नुम्। ताभ्यां "कालस्तृपश्च" (उ० १।१०४) इत्युणादिसूत्रे चकारपाठादन्यतोऽपि 'कलः' प्रत्यय, ककार इत्, अनुस्वारपरसवर्णौ। 'कुण्डल' शब्दाच्च नित्ययोगे मत्वर्थीयः 'इनिः'। "यस्येति च" (पा० ६।४।१४८) सूत्रेणाकारलोप इन्नन्तलक्षणो दीर्घः='कुण्डली'। एवञ्च कुण्डलं दाहो रक्षणं वा, सोऽस्यास्तीति 'कुण्डली' सूर्यः, अग्निस्तज्जनकत्वाद्विष्णुश्च।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"अजीजनो हि पवमान सूर्यम्"। यजुः २२।१८॥

सूर्योऽग्निश्च, प्रकाशपाकाभ्यां जगत् रक्षतः। सूर्ये च कदाचित्कुण्डल दृश्यत एव प्रकाशरूपम्। नेत्रयोरपि सूर्यदेवतयोः कुण्डलता प्रत्यक्षं दृश्यते। समानता हि ब्रह्माण्डपिण्डयोः, "लोकसम्मितः पुरुषः" इत्यायुर्वेदवित्समयात्। एवञ्च कुण्डलिनो भगवतो विष्णोः सूर्यस्य वा व्यापकता सिद्धा।

भवति चात्रास्माकम्—

कुण्डली—९०७

दहनार्थक भ्वादिगण पठित अथवा रक्षणार्थक चुरादिगण पठित इदित् 'कुडि' धातु से नुम्, तथा उससे "कलस्तृपश्च" (उ० १।१०४) इस उणादि सूत्र में पठित चकार के वल से 'कल' प्रत्यय, ककार की इत्संज्ञा तथा अनुस्वार और परसवर्ण होने से 'कुण्डल' शब्द सिद्ध होता है। और 'कुण्डल' शब्द से नित्ययोग अर्थ में मतुप् के अर्थवाला 'इनि' प्रत्यय, "यस्येति च" (पा० ६।४।१४८) सूत्र से अकार का लोप, प्रातिपदिकसंज्ञा, तथा इन्नन्तलक्षण दीर्घ करने से 'कुण्डली' शब्द बन जाता है। दहन या रक्षा का नाम 'कुण्डल' है। वह जिसका या जिसमें है, उसका नाम 'कुण्डली' है। यह सूर्य, अग्नि और सूर्य आदि का जनक होने से विष्णु का नाम है। जैसा कि **"अजीजनो हि पवमान सूर्यम्"** (यजु० २२।१८) इस वेदवचन से सिद्ध है।

सूर्य और अग्नि अपने प्रकाश और पाक के द्वारा जगत् की रक्षा करते हैं। सूर्य का तो परिधिरूप कुण्डल, प्रत्यक्ष भी देखने में आता है। सूर्यदैवतक नेत्रों में भी कुण्डलता प्रत्यक्ष देखने में आती है। आयुर्वेद के "लोकसम्मितः पुरुषः" इस सिद्धान्तानुसार, ब्रह्माण्ड और पिण्ड एक समान हैं। इस प्रकार से 'कुण्डली' भगवान् विष्णु वा सूर्य की जगत् में व्यापकता भी सिद्ध हो जाती है।

भाष्यकार इस भाव को अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रगट करता है—

स कुण्डली सूर्य इहास्ति बोध्यस्, तस्यौजसा पाकमुपैति सर्वम् ।
स कुण्डली कुण्डलमेति तद्वन्—नेत्रञ्च तद्दैवतकं यतस्तत् ॥१८८॥

चक्री—९०८

'चक तृप्तौ प्रतिघाते च' इति भौवादिको धातुस्ततश् "चकिरम्योरुच्चोपधायाः" (उ० २।१४) इत्युणादिसूत्रेण 'रक्' प्रत्ययो बाहुलकाच्च नोत्वम् । "नेड् वशि कृति" (पा० ७।२।८) सूत्रेण चेटो निषेधः ।

यद्वा—"घञर्थे कविधानम्" (वा० ३।३।५८) इति 'क' प्रत्यय, तस्मिन् "कृञादीनां द्वे भवतः" (वा० ६।१।१२) इति द्वित्वम्, अभ्यासकार्ये यणादेशे च—'चक्रम्' । चक्यते=तृप्यते जगत्, प्रतिहन्यते च तमो येन तच्चक्रं सूर्यः, सोऽस्यास्यास्तीति 'चक्री' ।

यद्वा—क्रियते घटादिकमिव विभिन्नरूपं जगद्येन तच्चक्रम्, भगवतः संकल्पादिरूपा शक्तिः, तदस्यास्तीति 'चक्री' विष्णुः ।

एतदर्थकं मन्त्रलिङ्गम्—

"चक्रिर्यो विश्वा भुवनाभि सासहिश्चक्रिर्देवेष्वादुवः ।
आ देवेषु यतत आ सुवीर्य आशंस उत नृणाम् ॥" ऋक् ३।१६।४ ॥

भगवान् विष्णु या तदभिन्नरूप सूर्य का नाम 'कुण्डली' है । प्रत्येक वस्तु का पाक उस ही के तेज से होता है । तथा वह प्रकाशमय मण्डल रूप कुण्डल से युक्त होता है । सूर्यदैवतक नेत्र भी कुण्डल से युक्त होने से 'कुण्डली' शब्द के वाच्य होते हैं ।

चक्री—९०८

तृप्ति और प्रतिघातार्थक भ्वादिगण पठित 'चक' धातु से "चकिरम्योरुच्चोपधायाः" (उ० २।१४) इस उणादिसूत्र से 'रक्' प्रत्यय, और बाहुलक से उत्व का अभाव होने से 'चक्र' शब्द सिद्ध होता है । इसमें इट् का निषेध "नेड्वशि कृति" (पा० ७।२।८) सूत्र से होता है ।

अथवा—'कृञ्' धातु से द्वित्व प्रकरण के "के कृञादीनां द्वे भवतः" (वा० ६।१।१२) इस वार्तिकानुसार 'क' प्रत्यय, द्वित्व, बाहुलक से अभ्यास संज्ञा, तथा अभ्यास ऋकार को अत्व आदि कार्य करने से 'चक्र' शब्द सिद्ध होता है । जिसके द्वारा जगत् की तृप्ति की जाये तथा तम (अन्धकार) का हनन किया जाये, उसका नाम 'चक्र' है । यह सूर्य का नाम है, और वह जिसका है, उसका नाम 'चक्री' है ।

अथवा जिससे घटादि के समान यह विभिन्न रूप जगत् किया जाता है, उसका नाम 'चक्र' है । यह भगवान् की सङ्कल्पात्मिका शक्ति का नाम है, वह जिसकी है उसका नाम 'चक्री' है । इस अर्थ की पुष्टि "चक्रिर्यो विश्वा भुविनानि०" (ऋक् ३।१६।४)

जगति प्रत्येकं भ्रमन्निव दृश्यतेऽतश्चक्रत्वरूपस्य गुणस्य व्यापकता सर्वत्र दृश्यते ।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्हि चक्री स उ वास्ति सूर्यो, विश्वञ्च चक्रे भ्रमतीव तस्य ।
यो दण्डभूतः स च[1] चक्रभूतः, पश्यन्ति विज्ञा न तु तं विमूढाः ।।१८६।।

१. चोऽप्यर्थे ।

इतरोऽपि चक्रमेतस्मादेव, भ्रमता तेन सर्वं भ्रमति ।

विक्रमी—६०६

विपूर्वः 'क्रमु पादविक्षेपे' धातुस्तस्माद् भावे 'घञ्' । "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः" (पा० ७।३।३४) सूत्रेण घञि वृद्धि-निषेधः । विक्रमणं विक्रमः, सोऽस्यास्तीति 'विक्रमी' । मतुबर्थे 'इनिः' । "यस्येति च" (पा० ६।४।१४८) इत्यलोपः । इन्नन्तलक्षणो दीर्घः । प्रातिपदिकान्तनलोपः । यद्वा—विक्रमणमस्मिन्नस्तीति 'विक्रमी' ।

इत्यादि मन्त्र से होती है । जगत् में सब कुछ घूमता हुआ सा दीखता है इससे भगवान् के चक्रत्वरूपगुण की सार्वत्रिक व्याप्ति सिद्ध होती है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु या सूर्य का नाम चक्री है, क्योंकि यह सकल जगत् उस ही के चक्र में भ्रमण करता हुआ सा प्रतीत होता है । जो दण्ड है वह ही चक्र भी है, किन्तु इस तत्त्व को बुद्धिमान् विद्वान् समझते हैं, मूढ नहीं । अर्थात् दण्डभ्रमि ही स्वयं चक्ररूप में व्याप्त है ।

इसी भ्रमि रूप गुण के कारण से, लौकिक गाड़ी आदि के साधनभूत अङ्ग का नाम भी चक्र है । क्योंकि उस ही के भ्रमण करने से सब कुछ भ्रमण करता है ।

विक्रमी—६०६

पादविक्षेपणार्थक विपूर्वक 'क्रम' धातु से भाव में 'घञ्' प्रत्यय और वृद्धि का निषेध होने से 'विक्रम' शब्द सिद्ध होता है । विशेष प्रकार से क्रमण (पादन्यास) का नाम विक्रम है । वह जिसका या जिसमें है, उसका नाम 'विक्रमी' है । मतुप् के अर्थ में 'इनि' प्रत्यय और अकार का लोप होने से तथा प्रातिपदिक संज्ञा और इन्नन्तलक्षण दीर्घ होने से 'विक्रमी' शब्द बन जाता है । जिसका विश्व में तथा विश्व का जिसमें विशेष प्रकार से क्रमण (गमन) है, उसका नाम 'विक्रमी' है । इसी अर्थ का समर्थक "यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति०" (ऋक् १।१५४।२) इत्यादि मन्त्र है ।

तथा चानुरूपं मन्त्रलिङ्गम्—

"यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा"।

ऋक् १।१५४।२॥

भवति चात्रास्माकम्—

स विक्रमी विष्णुरुतास्ति सूर्यः, सर्वञ्च तस्मिन् क्रमते सनाद्वै।
स विक्रमं स्वं वितरन् समग्रे, सर्वं करोत्यात्मगुणेन तुल्यम्[1] ॥१६०॥

१. विक्रमधर्माणं=गतिशीलमित्यर्थः।

ऊर्जितशासनः—६१०

'ऊर्ज बलप्राणनयोः' इति चौरादिको धातुस्ततो 'णिच्', णिजन्ताच्च कर्तरि 'क्तः', अकर्मकत्वात् इडागमः। "निष्ठायां सेटि" (पा० ६।४।५३) सूत्रेण णेर्लोपे='ऊर्जितम्' बलवदित्यर्थः।

यद्वा—'अनित्यण्यन्ताश्चुरादय' इत्यनुशासनात् केवलादेवोर्जेः कर्तरि 'क्त', इट्='ऊर्जितम्'।

यद्वा—'ऊर्ज' धातो "गुरोश्च हलः" (पा० ३।३।१०३) सूत्रेण स्त्रीत्व-विशिष्टे भावे अकारस्ततश्च 'टाप्'=ऊर्जा, सा सञ्जातास्येति "तदस्य सञ्जातं

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

'विक्रमी' नाम भगवान् विष्णु या सूर्य का है, क्योंकि यह सब दृश्य वर्ग उसमें क्रमण (गति) करता है। तथा भगवान् भी व्यापकरूप में समग्र विश्व में विशेष प्रकार का क्रमण करता हुआ, इस विश्व को अपने समान ही 'विक्रमी' बनाता है, अर्थात् गतिशील बनाता है।

ऊर्जितशासनः—६१०

बलवान् होने तथा जीवन धारण अर्थ में वर्तमान चौरादिक 'ऊर्ज' धातु से 'णिच्' प्रत्यय। धातु के अकर्मक होने से कर्ता अर्थ में 'क्त' प्रत्यय, इडागम तथा णि का लोप होने से 'ऊर्जित' शब्द सिद्ध होता है। 'ऊर्जित' नाम बलवान् का है।

अथवा—चुरादिगणपठित धातुओं से णिच् प्रत्यय के अनित्य होने से केवल अण्यन्त 'ऊर्ज' धातु से कर्ता में 'क्त' प्रत्यय और इट् का आगम होने से 'ऊर्जित' शब्द सिद्ध होता है।

अथवा—'ऊर्ज' धातु से स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में 'अकार' प्रत्यय और 'टाप्' करने से

तारकादिभ्य इतच्" (पा० ५।२।३६) इतीतच् प्रत्ययो, "यस्येति च" (पा०६।४।१४८) इत्याकारलोपः='ऊर्जितम्' इति।

शासनम्—'शासु अनुशिष्टौ" इत्यादादिको धातुस्ततः करणे 'ल्युट्', योरनः='शासनम्'। ऊर्जितं=बलवदनुशासनं=आज्ञानुवर्तनं यस्य स 'ऊर्जित-शासनो' विष्णुरनतिक्रमणीयनियमः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"सो अपां नपादूर्जयन्नप्स्वन्तर्वसुदेयाय विधत्ते विभाति।"

ऋक् २।३५।७॥

तथा—

तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे"।

ऋक् १०।९१।१०॥

लोकेऽपि च—सर्वं दृश्यमूर्जायुक्तं शासनबद्धञ्च दृश्यते। हस्तावन्तरिक्ष-स्थानीयौ अन्तरिक्षे एवावलम्बेते, तथान्यदपि भगवता यथानियमशिष्टं यद्धि-रचितम् तन्नातिक्रामति तन्नियममिति—

भवति चात्रास्माकम्—

'ऊर्जा' शब्द सिद्ध होता है। वह ऊर्जा जिसमें है, उसका नाम 'ऊर्जित' है। ताद्धित 'इतच्' प्रत्यय और अकार का लोप होने से 'ऊर्जित' शब्द बन जाता है।

शासन—अनुशासन करने अर्थ में विद्यमान 'शासु' धातु से करण में 'ल्युट्' प्रत्यय तथा यु को अन आदेश करने से 'शासन' शब्द सिद्ध होता है। ऊर्जित=बलवान् है शासन =आज्ञापालन जिसका, उसका नाम है—'ऊर्जितशासन'। यह भगवान् विष्णु का नाम है, क्योंकि उसके नियम का कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता। अर्थात् भगवान् का नियम सब के लिए अवश्य पालनीय है। इसमें "सो अपां नपादूर्जयन्नप्स्वन्तर्वसुदेयाय०" (ऋक् २।३५।७) तथा "तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि०" (ऋक् १०।९१।१०) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं।

लोक में भी सब दृश्यवर्ग ऊर्जा से युक्त तथा नियमबद्ध देखने में आता है। जैसे हाथ अन्तरिक्ष-स्थानीय हैं, वे अन्तरिक्ष में ही स्थित (लटकते) रहते हैं। और भी जो कुछ भगवान् ने जिस-जिस नियम से युक्त बनाया है, वह उस नियम का अतिक्रमण नहीं कर सकता, यह निश्चित सिद्धान्त है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

स विष्णुरेवोर्जितशासनोऽस्ति, स शासदूर्जां नियतां विधत्ते ।
जले स्थले यच्च पदार्थजातं, सर्वं बलं यच्छति भुक्तमात्रम्[1] ॥१९१॥

१. भुक्तमात्रं=भोग्यतामितम् । व्यवहृतमित्यर्थः ।

शब्दातिगः—९११

शब्दमतिगच्छति=वाचमतिक्रम्य वर्तते इति 'शब्दातिगः' । शप्यते=आक्रोश्यतेऽनेनेति 'शब्दः' । 'शप् आक्रोशे' धातोः "शाशपिभ्यां ददनौ" (उ० ४।९७) इत्युणादिसूत्रेण 'दन्' प्रत्ययो, अनिट् । "झलां जश् झशि" (पा० ८।४।५३) सूत्रेण जश्त्वम् । 'अति' पूर्वाद् 'गम्लृ गतौ' धातोश्च "अन्येष्वपि दृश्यते" (पा० ३।२।१०१) इति 'डः', टिलोपः । स्तुत्यो हि विष्णुः सूर्यश्च नाक्रोशार्थकापशब्दविषय इत्यर्थः । वस्तुतस्तु सर्वविधवागविषयः सः ।

सर्वो हि प्राणी स्ववाञ्छानुरूपं स्तौति, शपति वा, किन्तु स सर्वविधस्तुतिशापाविषय इति भावः । स च सर्वान्तःस्थः सर्वं जानाति । व्यापकता चैवं तस्य सिध्यति, यतो हि जगति जातो जन्तुः किञ्चिन्न किञ्चिज्जानाति ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

भगवान् विष्णु का नाम 'ऊर्जितशासन' है, क्योंकि वह शासन करता हुआ प्रत्येक वस्तु को नियत ऊर्जा से युक्त करता है । इसलिए प्रत्येक जलीय या स्थलीय वस्तु व्यवहार में लाई हुई बल देती है ।

'भुक्तमात्र' का अर्थ है—भोग्यता को प्राप्त या व्यवहृत ।

शब्दातिगः—९११

जो शब्द का अतिक्रमण कर गया है, उसका नाम 'शब्दातिग' है, अर्थात् शब्द के अगोचर का नाम 'शब्दातिग' है । आक्रोशार्थक 'शप्' धातु से उणादि 'दन्' प्रत्यय करने से 'शब्द' यह शब्द सिद्ध होता है । अति उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक 'गम्' धातु से 'ड' प्रत्यय और टि का लोप करने से 'अतिग' शब्द सिद्ध होता है । भगवान् विष्णु या सूर्य स्तुत्य होने से आक्रोश के विषय न होते हुए भी वस्तुतः वे सब प्रकार के ही शब्द के विषय नहीं हैं ।

प्रत्येक प्राणी अपनी अपनी इच्छानुसार स्तुति या आक्रोश=निन्दा करता है, किन्तु भगवान् किसी प्रकार के स्तुति या निन्दावचन के विषय नहीं होते । वे सब के हृदय में स्थित हैं और सबको जानते हैं, और उनकी यह ज्ञानांश से व्यापकता सर्वत्र सिद्ध होती है, क्योंकि प्रत्येक जीव अल्प या बहुत रूप में कुछ न कुछ जानता ही है ।

"मा वो घ्नन्तं मा शपन्तं प्रतिवोचे देवयन्तम् ।
सुम्नैरिद्व आ विवासे ।" ऋक् १।४१।८॥
"प्रत्यगेनं शपथा यन्तु तृष्टाः ।" ऋक् १०।८७।१५॥
"अशपत यः करस्नं व आददे"। ऋक् १।१६१।१२॥ इति निदर्शनम् ।
शब्दः=शपथरूपः शापरूपो वा, यथा—

"यो न शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ।
वृक्ष इव विद्युता हत आमूलादनुशुष्यतु ॥
अथर्व ७।५६।१।

भवति चात्रास्माकम्—

शब्दातिगः शब्दविलेपहीनः, सर्वं विलङ्घ्याक्रमतेऽथ विष्णुः ।
जन्तुर्यथा स्वार्थवशं हवींषि, जुहोति लब्धुं निजवाञ्छितानि ॥१६२॥

शब्दसहः—६१२

'शब्दः' उक्तः शपतेरौणादिके दनि । 'षह मर्षणे' भौवादिको धातुस्ततः पचाद्यच् । सहत इति 'सहः', शदानां सहः 'शब्दसहः' विष्णुः सूर्यो वा । यद्यपि लोके शब्द-शब्दः सदसद्वचनसमानार्थः प्रयुज्यते, तथापीहासद्वचनार्थाभि-

---

इस नामार्थ की पुष्टि—"मा वो घ्नन्तं मा शपन्तं प्रति०" (ऋक् १।४१।८); "प्रत्यगेनं शपथा यन्तु तृष्टाः" (ऋक् १०।८७।१५)तथा "अशपत यः करस्नं व आददे" (ऋक् १।१६१।१२) इत्यादि मन्त्र करते हैं ।

शब्द—शपथरूप अथवा शापरूप भी है । इस अर्थ की पुष्टि—"यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात्०" (अथर्व ७।५६।१) इत्यादि मन्त्र करता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'शब्दातिग' है क्योंकि वह सब प्रकार के शब्दों के सम्बन्ध से रहित है । वह किसी भी स्तुतिशब्द या निन्दाशब्द का विषय नहीं है । यह मनुष्य का अपना स्वभाव है कि वह अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए हविर्दानपूर्वक भगवान् की स्तुति करता है ।

शब्दसहः—६१२

'शब्द' शब्द आक्रोशार्थक 'शप्' धातु से उणादि 'दन्' प्रत्यय करने से बनता है । मर्षणार्थक 'षह' धातु से पचादि 'अच्' प्रत्यय करने से 'सह' शब्द सिद्ध होता है । जो शब्दों का सहन करता है, उसका नाम 'शब्दसह' है । यह विष्णु या सूर्य का नाम

धायिनं शब्दमभिप्रेत्य 'शब्दसह' इति नाम। यथा हि—लोकेऽपशब्दान् प्रयुञ्जानमात्मानं प्रति निर्बलं दीनं सक्षमः सबल औदासीन्येन सहते, न तु प्रतिचिकीर्षुस्तं किञ्चिद् ब्रूते तस्मै क्रुध्यति वा; तथा विष्णुः सूर्यो वापि सर्वस्य दुरुक्तं सहमानौ न तद्विरुद्धमनुध्यायत इति तयोः 'शब्दसहः' इति नाम।

बहुधा च वाञ्छितमुद्दिश्य शब्द-सन्ततिः। तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"तद् राधो अद्य सवितुर्वरेण्यं वयं देवस्य प्रसवे मनामहे।
अस्मभ्यं द्यावापृथिवी सुचेतुना रयिं धत्तं वसुमन्तं शतग्विनम् ॥"
ऋक् १।१५९।५॥

"मुञ्चतु मा शपथ्यात्।" ऋक् १०।९७।१६॥

सर्वस्मात् किल्विषादित्यर्थः।

भवति चात्रास्माकम्—

लोकेऽस्ति कः शब्दसहः प्रसिद्धः, सूर्योऽथ विष्णुस्तदुपासको वा।
क्षमा विभूषा सकलस्य लोके, सर्वं क्षमावान् सहते क्षमायाम् ॥१९३॥

है। यद्यपि सत् और असत् दोनों प्रकार के शब्दों का 'शब्द' शब्द से ग्रहण होता है, तथापि यहां असत् शब्दों का ही ग्रहण है। जैसे लोक में बलवान् पुरुष, किसी अपशब्दों को कहते हुए निर्बल पुरुष के सब शब्दों को उदासीनता से सहन करता है, उसकी किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नही करता, उस ही प्रकार भगवान् विष्णु या सूर्य भी सब के अपशब्दों को सहन करते हैं, तथा किसी के प्रति विरुद्धभाव नहीं रखते, इसलिये इन का नाम 'शब्दसह' है।

शब्दों का विस्तार भी अपने अभीष्टार्थानुसार बहुत प्रकार से किया जाता है, जैसा कि—"तद् राधो अद्य सवितु वंरेण्यं वयम्०" (ऋक् १।१५९।५) तथा "मुञ्चतु मा शपथ्यात्" (ऋक् १०।९७।१६) इत्यादि मन्त्रों से सिद्ध है। शपथ्यात्=सब प्रकार के पाप से।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

लोक में 'शब्दसह' नाम का प्रसिद्ध वाच्यार्थ क्या है? उस का उत्तर इस प्रकार है कि—भगवान् विष्णु, सूर्य, अथवा इन का उपासक शब्दसह नाम का वाच्यार्थ है। लोक में क्षमा ही सब का भूषण है, इस लिये क्षमावान् ही सब को सहन करता है।

शिशिरः—९१३

'शश प्लुतगतौ' धातुः, तत "अजिरशिशिरशिथिलस्थिरस्फिरस्थविरखदिराः" (उ० १।५३) इत्युणादिसूत्रेण 'किरच्' प्रत्ययः उपधाया इत्वञ्च निपात्यते । कित्वाद् गुणाभावः—'शिशिर' इति । शशति=शीघ्रमुत्प्लुत्य गच्छतीति 'शिशिरः' सूर्यो विष्णुश्च । सूर्यो हि सर्वस्य गतेर्दाता तद्गतिरूपश्च सर्व ऋतुगणः ।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद्वर्षाः स्विते नो दधात ।
आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद्वः शरणे स्याम" ।। अथर्व६।५५।२।।

तथा स 'इद्'—

"इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम" ।। अथर्व६।५५।३।।

इति निदर्शनम् । एतेन सर्वेषामृतुनाम्नां वाच्यः स विष्णुः सूर्यो वा भवतीति विज्ञायते, अतएव च स 'माधवः' इति लोके प्रसिद्धः । सूर्यस्य गतिरूपैर्ऋतुभिः सर्वं विश्वं व्याप्यते । तस्माद् विष्णुः सूर्यो वा तन्नाम्नोक्तो भवति—'शिशिर' इति ।

भवति चात्रास्माकम्—

शिशिरः—९१३

प्लुतगति=कूदकर चलने अर्थ में वर्तमान भ्वादिगणपठित 'शश' धातु से उणादि 'किरच्' प्रत्यय और उपधा को इत्व के निपातन से, तथा कित्वनिमित्तक गुण के अभाव से 'शिशिर' शब्द सिद्ध होता है । जो कूदकर शीघ्र चलता है, उसका नाम 'शिशिर' है । यह विष्णु या सूर्य का नाम है । सब को गति देने वाला सूर्य है, तथा यह सब ऋतुगण सूर्य की गतिरूप ही हैं । जैसा कि **"ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः०"**(अथर्व० ६।५५।२) तथा **"इदावत्सराय परिवत्सराय०"** (अथर्व ६।५५।३) इत्यादि मन्त्रों से प्रमाणित है ।

यह संक्षिप्त उदाहरणमात्र है । इससे यह प्रतीत होता है कि भगवान् विष्णु और सूर्य ही सब ऋतु=ग्रीष्म आदि नामों के वाच्य हैं । इसलिए भगवान् का लोक-प्रसिद्ध नाम 'माधव' है । सूर्य की गतिरूप ऋतुओं से ही यह सफल विश्व व्याप्त है, इसलिये भगवान् विष्णु या सूर्य का ऋतु नाम 'शिशिर' से अभिधान है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

गत्या हि सूर्यो निजया पृथक्शो, जगत्यृतूनां कुरुते बहुत्वम् ।
स सूर्य आत्मा सकलस्य लोके, तन्नामभिर्गायति तत्त्ववित्तम् ॥१६४॥

शर्वरीकरः—६१४

'शॄ हिंसायां' क्र्यादिको धातुस्ततः "कृगॄशॄवृञ्चतिभ्यः ष्वरच्" (उ० २। १२१) इत्युणादिसूत्रेण 'ष्वरच्' प्रत्ययः। षस्य "षः प्रत्ययस्य" (पा० १।३।६) सूत्रेणेत्संज्ञा, तस्य लोपः। गुणो रपरः। स्त्रियाञ्च "षिद्गौरादिभ्यश्च" (पा० ४।१।४१) इति सूत्रेण ङीषि='शर्वरी' इति। कर इति करोतेः पचाद्यच्, शर्वर्याः करः='शर्वरीकरः' सूर्यः। शर्वरी=रात्रि तमो वा, तच्चास्तं यन्नेष करोतीति तथोच्यते।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः।
अहोरात्रे प्रजायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः" ॥ अथर्व १०।८।२३॥

तथा—"आ त्वेषं वर्तते तमः"। यजुः ३४।३२॥

लोके च प्रत्यक्षं पश्यामः प्रकाशावरणं तमः सर्वत्र सर्वदा तिष्ठति।

भवति चात्रास्माकम्—

इस विश्व में सूर्य अपनी गति के द्वारा विविध प्रकार की ऋतुओं का निर्माण करता है, तथा वह सूर्य ही सकल लोक का आत्मा है। इसलिये तत्त्ववित् विद्वान् पुरुष भगवान् का ऋतु नाम 'शिशिर' आदि से गान करते हैं।

शर्वरीकरः—६१४

हिंसार्थक 'शॄ' इस क्र्यादिगणपठित धातु से उणादि 'ष्वरच्' प्रत्यय, षकार की इत्संज्ञा और लोप, रपर गुण, तथा स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीष्' प्रत्यय करने से 'शर्वरी' शब्द सिद्ध होता है। शर्वरी का करने वाला 'शर्वरीकर' होता है। 'कृ' धातु से पचादि 'अच्' प्रत्यय करने से 'कर' शब्द बनता है। 'शर्वरीकर' नाम सूर्य का है। शर्वरी, रात्रि या अन्धकार का नाम है। रात्रि या अन्धकार को करने वाले का नाम है—'शर्वरीकर'। अस्त को प्राप्त होता हुआ सूर्य, रात्रि या अन्धकार को करता है, इसलिए सूर्य का नाम 'शर्वरीकर' है। इसमें यह "सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात्पुनर्णवः०" (अथर्व १०।८।२३) तथा "आ त्वेषं वर्तते तमः" (यजुः ३४।३२) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं।

लोक में भी हम देखते हैं—प्रकाश का आवरण करने वाला अन्धकार सदा सर्वत्र रहता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

ज्योतिर्हि सूर्यस्तमसः परस्ताद्, भूगोलविक्षेपवशाद् विधत्ते ।
दिनं निशा च परिवर्तमाने, तमःप्रकाशौ च सदैकरूपौ ॥१९५॥



अक्रूरः पेशलो दक्षो, दक्षिणः क्षमिणां वरः ।
विद्वत्तमो वीतभयः, पुण्यश्रवणकीर्तनः ॥१११॥

९१५ अक्रूरः, ९१६ पेशलः, ९१७ दक्ष, ९१८ दक्षिणः, ९१९ क्षमिणां वरः । ९२० विद्वत्तमः, ९२१ वीतभयः, ९२२ पुण्यश्रवणकीर्तनः ।

अक्रूरः—९१५

'कृती छेदने' तौदादिको धातुस्ततः "कृतेश्च क्रू च" (उ० २।२१) इत्युणादि-सूत्रेण 'रक्' प्रत्ययः 'क्रू' चादेशो धातोः सर्वस्यानेकाल्त्वात् । कृन्ततीति 'क्रूरः' । नञा समासे नञो नलोपः, न क्रूरो 'अक्रूर' इति । स च विष्णुः सूर्यो वा ।

सूर्यो हि न किञ्चित् कृन्तति, परन्तु संयोगवशतो विकारोत्पादकः काल-वशाच्च । षड् भावविकाराः उक्ताः । तथा च यथा कर्त्री (कर्तनसाधनविशेषः) हस्तसंयोगमापद्य वस्त्रादिकं कृन्तति, एवं सूर्यादयो ग्रहा न स्वरूपेण क्रूरा अक्रूरा वा, किन्त्वन्येन संयोग एवैषां क्रूराक्रूरत्वसम्पादकः । एष विषयः परा-शरादिमहर्षिभिर्विशदं विवेचितः ।

सर्वदा अन्धकार के सम्बन्ध से रहित ज्योतिःस्वरूप सूर्य, भूगोल के व्यवधान वश सदा परिवर्तमान (घूमते हुए) तमः और प्रकाशस्वरूप रात्रि और दिन का निर्माण करता है ।

अक्रूरः—९१५

छेदनार्थक 'कृती' धातु से उणादि 'रक्' प्रत्यय और सकल धातु के स्थान में 'क्रू आदेश' करने से 'क्रूर' शब्द सिद्ध होता है । जो काटता है, उसका नाम 'क्रूर' है । क्रूर शब्द के साथ 'नञ् समास' और नकार का लोप करने से 'अक्रूर' शब्द बनता है । जो क्रूर नहीं है, वह 'अक्रूर' है ।

यह विष्णु या सूर्य का नाम है । सूर्य किसी का भी छेदक न होकर केवल काल या संयोग के प्रभाव से विकार को उत्पन्न करता है, अर्थात् सूर्य आदि ग्रह स्वयं क्रूर अथवा अक्रूर नहीं हैं, किन्तु किसी अन्य ग्रह से संयुक्त होकर केवल विकार के उत्पादक हैं, न कि हस्त से संयुक्त होकर कर्त्री (कैंची) के समान छेदक । इस विषय का विषद विवेचन पराशर आदि महर्षियों ने किया है ।

तथा च—सर्वं ऋतव एकस्य जोवयितारोऽन्यस्य च मारयितारः। एवं दिनं निशा च किञ्चित्प्रसूते, किञ्चिच्च हन्ति। न तत्र दिनं निशा वा स्वरूपेण हेतुः, किन्तु कालसंयोगः, ग्रहसंयोगो, ग्रहाणां दशानुदशानाञ्च योगस्तेन युक्ते तत्र कारणम्। एवं सत्यपि मानवा यथामनोऽनुरूपं व्यवहरन्ति स्वमनस्तोषाय।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"क्रूरमस्या आशंसनं······तद्वै पितृषु किल्बिषम्"। अथर्व ५।१९।५॥

यस्मिंश्च किल्बिषं नास्ति सोऽक्रूरः इत्यर्थादापद्यते। बहुत्र यजुष्यथर्वणि च विभिन्नविभक्तिवचनान्तः क्रूर शब्दः। तथा च—

"क्रूरम्" यजुः ६।२; "क्रूरस्य" यजुः १।२८; "क्रूराणि" अथर्व १२।७।३; "क्रूरैः" अथर्व १६।७।२; "क्रूरम्" अथर्व ५.१९।५; ६।४९।१; १८।४।८३; १९।९।१४; १९।५६।५ इत्यादि निदर्शनम्।

भवति चात्रास्माकम्—

अक्रूरमेतत् सकलं हि दृश्यं, क्रूरं भवेत् कर्मवशेन सर्वम्।
लोको यथाकामवशं ब्रवीति, क्रूरेण दैवेन विनाशितोऽसौ[1] ॥१९६॥

१. असावहमिति वा।

जैसे कि सब ही ऋतुएं किसी की मारक और किसी की जीवक होती हैं, इसी प्रकार रात और दिन किसी के उत्पादक और किसी के मारक होते हैं। किन्तु इस जीवन या मरण में दिन या रात्रि अपने रूप से हेतु नहीं हैं, अपितु वे काल, ग्रह, ग्रहदशा तथा अवान्तर दशा से युक्त होकर ही जीवों के मृत्यु और जीवन में हेतु होते हैं। ऐसा होने पर भी मनुष्य अपने मन के अनुसार ही मनस्तुष्टि के लिए व्यवहार करते हैं। इस नाम को अर्थापत्तिरूप से "क्रूरमस्या आशंसनं तद्वै पितृषु किल्बिषम्" (अथर्व ५।१९।५) इत्यादि मन्त्र प्रमाणित करता है।

क्रूर नाम किल्विष (पाप) युक्त का है, और जिसमें किल्विष नहीं है वह 'अक्रूर' है, यह अर्थापत्ति से सिद्ध होता है। क्रूर शब्द यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में विभक्ति वचन भेद से बहुत प्रयुक्त हुआ है। जैसे कि—"क्रूरम्" यजुः—६।२; "क्रूरस्य" यजुः १।२८; "क्रूराणि" अथर्व १२।७।३; "क्रूरैः" अथर्व १६।७।२ इत्यादि उदाहरण मात्र हैं।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु या सूर्य का नाम अक्रूर है। तथा उसका बनाया हुआ यह सकल दृश्यवर्ग भी अक्रूर है, किन्तु कर्म के प्रभाव से यह क्रूर बन जाता है। किन्तु यह क्रूरता जलोष्मा के समान सांयोगिक(आगन्तुक)गुण है। जैसी कि लोक-प्रसिद्ध कहावत है—'क्रूर दैव ने मेरा नाश कर दिया'। यहां अशुभ कर्म के योग से ही दैव की क्रूरता सिद्ध होती है।

पेशलः—६१६

'पिश अवयवे' तौदादिको धातुर्मुचादिस्ततो "वृषादिभ्यश्चित्" (उ० १।१०६) इत्युणादिसूत्रेण 'कल' प्रत्ययः स च कित्, कित्त्वेऽपि च बाहुलकाद् गुणः='पेशलः'। पिशति=अवयवं करोतीति 'पेशलः' इति।

लोके च पश्यामः—शरीरमिदमेकं रोचिष्णु च दृश्यते, किन्तु यदि तत्त्वतो विलोक्येत ततोऽवयवेषु विभक्तं दृश्यते, अवयवाः अपि स्वप्रत्यवयवेषु विभक्ता दृश्यन्ते। एवं नक्षत्राणामेकं मण्डलं, तस्मिन् मण्डले च प्रत्येकं नक्षत्राण्यवयवाः। एवमेव च कालसमष्टयां क्षणघटिदिनमासवर्षाणां भेद उपपद्यत इति। तथा कलाविकलांशराशिगणनामार्गोऽपि सम्यगूह्यते।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"सरस्वती मनसा पेशलं वसु नासत्याभ्यां वयति दर्शतं वपुः।
रसं परिस्रुता न रोहितं नग्नहुर्धीरस्तसरं न वेम" ॥
यजुः १६।८३॥

लोके च पेशलशब्दः कोमलार्थकः। भवतश्चात्रास्माकम्—

पेशलः—६१६

अवयव=खण्ड करने अर्थ में वर्तमान, तुदाद्यन्तर्गत मुचादि धातुओं में पठित 'पिश' धातु से उणादि 'कल' प्रत्यय, और गुण करने से 'पेशल' शब्द सिद्ध होता है। यहां 'कल' प्रत्यय के कित् होने पर भी बाहुलक से गुण हो जाता है। जो अवयव=खण्ड अथवा विभाग करता है, उसका नाम 'पेशल' है।

लोक में भी हम देखते हैं—यह प्राणिशरीर एक और सुन्दर देखने में आता है, किन्तु यदि तत्त्व से देखा जाये तो, वह अपने अवयवों में विभक्त और अवयव भी अपने प्रत्यवयवों में विभक्त देखने में आते हैं।

इसी प्रकार नक्षत्र अपने एकरूप मण्डल में अवयव रूप से विभक्त हैं, और पूर्वोक्त प्रकार से ही इस समष्टि रूप काल में, क्षण, घटी, दिन, मास, वर्ष आदि अवयव रूप से विभक्त हैं। इसी प्रकार कला, विकला, अंश, राशि क्रम से भी गणना की कल्पना की जा सकती है। इस नाम में "सरस्वती मनसा पेशलं वसु०" (यजु० १६।८३) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है। लोक में 'पेशल' शब्द कोमल अर्थ का वाचक है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

सर्वं हि लोके यदिहास्ति दृश्यं, तच्छोभते खण्डकृतैकरूपम् ।
यथा वपुः पेशलमत्र दृश्यं, परन्तु तत् खण्डशतैर्निबद्धम् ॥१६७॥
तथैव कालः क्षणवृद्धिवृद्धः, क्षयाय विश्वस्य सदोपयाति ।
तं पेशलं सत्यधियोऽनुयोगान्, नयन्ति पुण्यैर्विनमन्ति सूर्यम् ॥१६८॥

दक्षः—६१७

'दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च' इति भौवादिको धातुस्ततः 'पचाद्यच्' प्रत्ययः, शीघ्रकर्मा चेहायम् । "अग्न आयाहि वीतये" इत्यादिमन्त्रेषु भगवत आह्वानं सुस्पष्टम्, अत आहूतः क्षिप्रं दक्षति=आगच्छतीति 'दक्षः' ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"त्वं दक्षैः सुदक्षो विश्ववेदाः" । ऋक् १।९१।२॥
"शुचिष्ट्वमसि प्रियो न मित्रो दक्षाय्यो अर्यमेवासि सोम" ।
ऋक् १।९१।३॥

दक्षाय्यः=शीघ्रगन्ता ।

भगवान् विष्णु का नाम 'पेशल' है, तदनुसार लोक में भी सब दृश्यवर्ग पेशल ही देखने में आता है । यद्यपि यह देखने में एकरूप है, तथापि अपने अवयवों से विभक्त है, जैसे कोमल और एकरूप दीखता हुआ यह शरीर, परस्पर विभक्त सैंकड़ों अवयवों से निबद्ध है ।

इसी प्रकार क्षणरूप अपने अवयवों से विवृद्ध हुआ काल सदा विश्व को क्षीण करता हुआ चल रहा है । उस भगवान् 'पेशल' नामक विष्णु अथवा सूर्य को, विद्वान् पुरुष पुण्य-कर्मों के द्वारा नमन करते हुए प्राप्त करते हैं ।

दक्षः—६१७

'दक्ष' शब्द वृध्यर्थक तथा शीघ्रार्थक भ्वादिगण पठित 'दक्ष' धातु से पचादि 'अच्' प्रत्यय करने से बनता है । यहा इस धातु का शीघ्र अर्थ लिया गया है । वैदिक मन्त्र **"अग्न आयाहि वीतये"** इत्यादि में स्पष्टरूप से भगवान् का आह्वान देखने में आता है, इसलिए आह्वान करने पर जो शीघ्र आता है उसका नाम 'दक्ष' है । इस नाम की पुष्टि **"त्वं दक्षैः सुदक्षो विश्ववेदाः** (ऋक् १।९१।२) तथा **"शुचिष्ट्वमसि प्रियो न मित्रो दक्षाय्यो अर्यमेवासि सोम"** (ऋक् १।९१।३) इत्यादि मन्त्रों से होती है। 'दक्षाय्य' नाम शीघ्र चलने वाले का है । तथा इसी नामार्थ को **"या ते धामानि दिवि**

"या ते धामानि दिवि या पृथिव्यां या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु।
तेभिर्नो विश्वैः सुमना अहेडन् राजन्त्सोम प्रतिहव्या गृभाय" ॥
ऋक् १।९१।४॥

"तं दक्षः सचते कविः"। ऋक् १।९१।१४॥

"त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः।
त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ ॥ ऋक् १।९१।२२॥

दक्षः=सोमः, सूर्यो विष्णुश्च। तथा च मन्त्रः—

"सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा। मर्य इव स्व ओक्ये ॥
ऋक् १।९१।१३॥

लोकेऽपि च पश्यामः सर्वोऽयं—लोकः शीघ्रायते कार्यकरणाय, न च कश्चिदकर्मकृत्तिष्ठति। एवं सर्वव्यापकता भगवतो दक्षस्य स्पष्टं दृश्यते। दक्षते इति पदञ्च स्पष्टं मन्त्रे। यथा—

"कृधि रत्नं यजमानाय सुक्रतो त्वं हि रत्नधा असि।
आ न ऋते शिशीहि विश्वमृत्विजं सुशंसो यश्च दक्षते" ॥
ऋक् ७।१६।६॥

भवति चात्रास्माकम्—

दक्षो हि सूर्यो सहि वास्ति सोमः, सोमो हि विष्णुर्हृदि सन्निविष्टः।
स एव राजा वरुणः स एव, स ज्योतिषा विश्वतमोऽपहन्ति ॥१९९॥

या पृथिव्याम्०" (ऋक् १।९१।४); "तं दक्षः सचते कविः" (ऋक् १।९१।१४) और "त्वमिमा ओषधीः सोम०" (ऋक् १।९१।२२) ये मन्त्र पुष्ट करते हैं।

'दक्ष' नाम सोम, सूर्य और विष्णु का है। जैसा कि "सोम रारन्धि नो हृदि०" (ऋक् १।९१।१३) इत्यादि मन्त्र में प्रतिपादित है। लोक में भी हम देखते हैं—सम्पूर्ण प्राणिवर्ग अपने-अपने कार्य को करने के लिए शीघ्रता करता है, कोई भी विना कर्म किए नहीं रह सकता। इसलिए भगवान् 'दक्ष' नामक विष्णु की सर्वव्यापकता स्पष्ट देखने में आती है। "कृधि रत्नं यजमानाय०" (ऋक् ७।१६।६) इत्यादि मन्त्र में 'दक्षते' पद स्पष्टरूप से प्रयुक्त हुआ है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

'दक्ष' नाम सोम, सूर्य या सर्वव्यापक विष्णु का है। और वह ही सर्वत्र विराजमान होने से राजा तथा वह ही वरुण है, तथा वह ही अपने तेज के द्वारा सम्पूर्ण अन्धकार का नाश करता है।

प्रवृद्धः, शक्तः, शीघ्रकारी च दक्षपदवाच्यः। तस्मात् सूर्यः, अग्निः, चन्द्रमाः, वरुणः, विष्णुश्चेति सर्वे दक्षपदाभिधेयाः।

तथा च—"अर्वन्तमाशुं" (ऋक् १।९१।२०) ददातीति शेषः। अनेन मन्त्रवाक्येन शीघ्रकारिता व्यज्यते। अधिसोमोक्ताः सर्वे गुणा अपि सोमा एव, यथा सूर्यस्य गुणो ज्योतिस्ततो ज्योतिरपि सूर्य एव।

दक्षिणः—९१८

'दक्षतेः'—"द्रुदक्षिभ्यामिनन्" (उ० २।५०) इत्युणादिसूत्रेण 'इनन्' प्रत्ययः। दक्षते=क्षिप्रमागच्छत्याहूत आगत्य च सन्तुष्टो मुक्तहस्तं ददातीत्युदारः स 'दक्षिण' उच्यते, दक्ष एव वा 'दक्षिणः'।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"सु सन्दृशं त्वा वयं मघवन् वन्दिषीमहि।
प्र नूनं पूर्णबन्धुरः स्तुतो याहि वशां अनु योजा न्विन्द्र ते हरी"॥
ऋक् १।८२।३॥

लोकेऽपि दक्षिणोत्तराभिधेये द्वे अयने, तत्र दक्षिणतोऽयमानः सूर्यः 'दक्षिण' उच्यते। तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

'दक्ष' शब्द का अर्थ बढ़ा हुआ, समर्थ तथा शीघ्रकारी है। इसलिए सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, वरुण और विष्णु ये सब दक्ष पद के वाच्य हैं। जैसा कि "अर्वन्तमाशुम्" (ऋक् १।९१।२०) इत्यादि मन्त्र से प्रतिपादित है। 'ददाति' क्रिया इस मन्त्र वाक्य का शेष है, तथा इस मन्त्र वाक्य से शीघ्रकारिता प्रकट होती है। सोमाश्रयी सब गुण भी सोमरूप ही हैं, जैसे सूर्य का ज्योतिरूप गुण भी सूर्यरूप ही है।

दक्षिणः—९१८

'दक्ष' धातु से उणादि 'इनन्' प्रत्यय करने से 'दक्षिण' शब्द बनता है। जो बुलाने से शीघ्र आता है तथा आकर सन्तुष्ट हुआ खुले हाथों देता है, इससे उसका नाम उदार तथा 'दक्षिण' है। अथवा 'दक्ष' का ही नाम 'दक्षिण' है। इसी नामार्थ को "सु सन्दृशं त्वा वयं मघवन्०" (ऋक् १।८२।३) इत्यादि मन्त्र पुष्ट करता है।

लोक में भी दक्षिण और उत्तर इन दो गतियों के कारण से सूर्य का नाम 'दक्षिण' और 'उत्तर' है। दक्षिण से चलता हुआ सूर्य दक्षिण और उत्तर से चलता हुआ सूर्य उत्तर

"युक्तस्ते अस्तु दक्षिण उत सव्य शतक्रतो।
तेन जायामुप प्रियां मन्दानो याह्यन्धसो योजा न्विन्द्र ते हरी" ॥
ऋक् १।८२।५॥

सव्यशब्देनोत्तरायणमुच्यते। एवञ्च दक्षिणेन यन् सूर्यः यथा 'दक्षिणः' तथोत्तरेण यन् 'उत्तरः' उच्यते। वेदे चोत्तराभिधायी सव्यशब्दो, यथा—

"उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम्" ॥ अथर्व १२।१।२८॥

बहुत्र वेदे विभिन्नविभक्तिवचनान्तोऽयं दक्षिणः शब्दः प्रयुक्तः। निदर्शनमात्रन्नः प्रयोजनम्।

भवति चात्रास्माकम्—

स दक्षिणः सूर्य इहास्ति वाच्यः, स एव चाप्युत्तरतोऽभियाति।
तस्य प्रतीकौ च करौ[1] प्रसिद्धौ, यद्वास्ति सर्वं द्विविभक्तमत्र ॥२००॥

१—सबाहुमूलकौ।

क्षमिणां वरः—९१९

'क्षमूष सहने' भौवादिको धातुस्ततः षित्त्वाद् भावे 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' (पा० ३।३।१०४) सूत्रेण 'अङ्' प्रत्यये 'टापि' च 'क्षमा', ततः सा अस्यास्मिन्निति त्यर्थे मत्वर्थीय 'इनिः'=क्षमी।

कहा जाता है। जैसा कि—"युक्तस्ते अस्तु दक्षिण उत सव्य०" (ऋक् १।८२।५) इत्यादि मन्त्र में प्रतिपादित है। इस मन्त्र में सव्य नाम उत्तर का है, जैसा कि "उदीराणा उतासीना०" (अथर्व १२।१।२८) इस मन्त्र में स्पष्ट प्रतिपादित है।

वेद में बहुत स्थानों में दक्षिण शब्द विभिन्न विभक्ति वचनान्त प्रयुक्त हुआ है। हमारा प्रयोजन केवल उदाहरण मात्र दिखलाना है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

सूर्य का नाम दक्षिण तथा उत्तर है, क्योंकि वह दक्षिण से गति करता हुआ दक्षिण, तथा उत्तर से गति करता हुआ उत्तर है। ये दोनों सबाहूहस्त उसके प्रतिनिधि हैं, अथवा यह दो प्रकार से विभक्त सबकुछ दक्षिण और उत्तर नाम का वाच्य है।

क्षमिणां वरः—९१९

सहनार्थक भ्वादिगणपठित 'क्षमूष्' धातु से षिन्निमित्तक स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में 'अङ्' प्रत्यय, और अङन्त से 'टाप्' प्रत्यय करने से 'क्षमा' शब्द सिद्ध होता है। 'क्षमा' शब्द से वह इस में या इसकी है, इस अर्थ में मतुप् के अर्थ में 'इनि' प्रत्यय करने से

वरः—'वृणोतेः' कर्मण्यच् 'वर' इति । क्षमिणां=सहनशीलानां, क्षमावतां मध्ये वरः=श्रेष्ठ इत्यर्थः, सूर्यो विष्णु र्वा ।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।

ऋक् १०।१२१।५।। यजुः ३२।६।।

भवति चात्रास्माकम्—

सर्वं क्षमावत् स्वपरानुरक्तं, स सूर्य एकः क्षमिणां वरः सन् ।
दाधार यो द्यां पृथिवीमुत स्वस्, तस्मै च मे स्यान्नम उक्तिरद्य ।।२०१।।

विद्वत्तमः—९२०

विदन्तीति विद्वांसो ज्ञानिनस्तेष्वतिशयेन श्रेष्ठः सर्वज्ञत्वादिति 'विद्वत्तमो' विष्णुः । ज्ञानरूपो ज्ञानागारो वा भगवान् विष्णुः सूर्यश्च । तस्यैव ज्ञानं सर्वत्र प्राणिषु विभक्तं सत्तमेवैकं प्रतिपदं विदुषां श्रेष्ठमाचष्टे ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

'क्षमी' शब्द बनता है । वरणार्थक 'वृ' धातु से कर्म में 'अच्' प्रत्यय, तथा रपरक गुण करने से 'वर' शब्द सिद्ध होता है । 'क्षमिणां वरः' यहां निर्धारण में षष्ठी विभक्ति है, इसीलिये समास भी यहां नहीं होता ।

सहनशीलों में सबसे अधिक सहनशील का नाम 'क्षमिणां वर' है, यह सूर्य तथा विष्णु का नाम है । जैसा कि यह नामार्थ "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा०" (ऋक् १। १२१।५। यजुः ३२।६) इत्यादि मन्त्र से प्रमाणित होता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

आत्मानुरागी या परानुरागी रूप से यह सम्पूर्ण जगत् ही क्षमावान् है, किन्तु सब ही क्षमावानों में श्रेष्ठ क्षमावान् होने से सूर्य का अथवा तदभिन्न विष्णु का नाम 'क्षमिणां-वर' है । क्योंकि वह इस पृथिवी और द्युलोक को अपनी सहनशक्ति से धारण किए हुए है, इसलिये उस सर्वधारक परमेश्वर को मेरा नमस्कार है ।

विद्वत्तमः—८२०

याथातथ्य रूप से पदार्थों को जानने वालों का नाम 'विद्वान्' है, अर्थात् जो वस्तुतत्त्व को जानते हैं, उनका नाम 'विद्वान्', और उन विद्वानों में जो सबसे श्रेष्ठ 'विद्वान्' है, उसका नाम 'विद्वत्तम' यह भगवान् का नाम है । अर्थात् भगवान् विष्णु या सूर्य ही ज्ञान-रूप या ज्ञान के निधि हैं, और उन ही का ज्ञान सर्वत्र प्राणियों में विभक्त हो रहा है । इस

"मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान्"। ऋक् ३।१।१७।।
"अग्निर्विश्वानि काव्यानि विद्वान्"। ऋक् ३।१।१८।।

भवति चात्रास्माकम्—

विद्वत्तमो विष्णुरथाऽस्ति सूर्यो, धामानि सर्वाणि च वेद सर्गात्।
विद्वत्तमोऽतो न तथा मनुष्यो, विद्वत्तमं तञ्च गृणन्ति वेदाः ।।२०२।।

वीतभयः—९२१

'वि' उपसर्गः। 'इण् गतौ' आदादिको धातुस्ततः कर्तरि भूते 'क्तः' कित्त्वाद् गुणाभावे='इतः'।

'ञिभी भये' जौहोत्यादिकाद्धातोः "अज्विधौ भयादीनामुपसख्यानं नपुंसके क्तादिनिवृत्त्यर्थम्" (वा० ३।३।५६) इति भावे 'अच्' प्रत्ययः, गुणायादेशौ। तेन 'भयं' इति सिध्यति। वि=विशेषेण इतं=गतं भयं=भीतिर्यस्येति 'वीतभयः' विष्णुः सूर्यो वा। भयं हि निर्बलस्य भवति न तु बलिनः। सूर्यो विष्णुर्वा सर्वतो बली, अतो 'वीतभयः'।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

नाम तथा नामार्थ की पुष्टि "मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान्" (ऋक् ३।१।१७) तथा "अग्निर्विश्वानि काव्यानि विद्वान्" (ऋक् ३।१।१८) इत्यादि मन्त्रों से होती है।

भाष्यकार इस भाव को अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

भगवान् विष्णु या सूर्य का नाम 'विद्वत्तम' है, क्योंकि वह सृष्टि के आरम्भ से अब तक होने वाले सब धामों (स्थानों) को जानता है। इसीलिए वह 'विद्वत्तम' है, तथा सब श्रुतियां उसी की स्तुति करती हैं, ऐसा मनुष्य नहीं हो सकता।

वीतभयः—९२१

'वि' उपसर्ग है, इसके पूर्व में रहते गत्यर्थक 'इण्' धातु से भूतकाल-विशिष्ट कर्ता में 'क्त' प्रत्यय, और किन्निमित्तक गुण का अभाव होने से 'वीत' शब्द सिद्ध होता है। 'भय'—शब्द जुहोत्यादिगणीय 'भी' धातु से भाव में 'अच्' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। विशेष करके जो भयरहित है, अर्थात् जिसका भय से बिल्कुल भी सम्बन्ध नहीं है, उसका नाम 'वीतभय' है। यह भगवान् विष्णु या सूर्य का नाम है।

भयभीत निर्बल होता है, बलवान् को कभी भय नहीं होता, भगवान् विष्णु या

"यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य । सर्वं तदिन्द्र ते वशे" ॥
ऋक् ८।९३।३॥

"महाँ असि सोम ज्येष्ठ उग्राणामिन्द्र ओजिष्ठः । युध्वा सञ्छश्वज्जिगेथ"॥
ऋक् ९।६६।१६॥

ओजिष्ठस्येन्द्रस्य सूर्यस्य विष्णोर्वा वशे सर्वमतोऽभयः स विष्णुरुक्तो भवति । लोकेऽपि च पश्यामः—सबलो वीतभयो भवति, तस्माद् वीतभयत्वरूपो विष्णोर्गुणः सर्वत्र व्याप्तः ।

भवति चात्रास्माकम्—

भयं बलिष्ठादिति विश्वसिद्ध—मोजिष्ठ इन्द्रः स कुतो बिभीयात् ।
तस्मादसौ वीतभयः प्रदिष्टः, स एव सूर्यः स हि विष्णुरिन्द्रः ॥२०३॥

पुण्यश्रवणकीर्तनः—९२२

'पूञ् पवने' भौवादिको धातुस्ततः "पूञो यण् णुक् ह्रस्वश्च" (उ० ५।१५) इत्युणादिसूत्रेण 'यत्' प्रत्ययो णुगागमो धातोरूकारस्य ह्रस्वश्च । पवते पूयते वानेनेति 'पुण्यम्' । 'श्रु श्रवणे' धातुर्भौवादिकस्ततः करणे 'ल्युट्' ।

सूर्य सबसे बलवान् होने से 'वीतभय' है । जैसा कि—"यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि०" (ऋक् ८।९३।३) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध होता है । तथा "महां असि सोम ज्येष्ठ०" (ऋक् ९।६६।१६) इत्यादि मन्त्र से भी इसी अर्थ की पुष्टि होती है ।

लोक में भी हम देखते हैं—बलवान् को किसी प्रकार का भय नहीं होता । इससे प्रतीत होता है कि भगवान् का यह वीतभयत्वरूप गुण सर्वत्र विश्व में व्याप्त है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

यह लोक में प्रसिद्ध है कि भय बलवान् से निर्बल को होता है, किन्तु भगवान् विष्णु या सूर्य से बलवान् कोई दूसरा है ही नहीं, तब इनको भय किस से हो सकता है ? अर्थात् किसी से नहीं । इसलिए उसका नाम 'वीतभय' है, और वह इन्द्रापरनामा सूर्य तथा विष्णु है ।

पुण्यश्रवणकीर्तनः—९२२

पवन=पवित्रीभवन अथवा पवित्रीकरणार्थक 'पूञ्' धातु से उणादि 'यत्' प्रत्यय, 'णुक्' का आगम तथा धातु के ऊकार को ह्रस्व उकार करने से 'पुण्य' शब्द सिद्ध होता है । जो पवित्र करता है, या जिसके द्वारा पवित्र होता है, उसका नाम 'पुण्य' है । श्रवणार्थक 'श्रु' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय करने से 'श्रवण' शब्द सिद्ध होता है । संशब्दनार्थक

श्रूयतेऽनेनेति 'श्रवणम्'। 'कृत संशब्दने' चौरादिको धातुस्ततः णिजन्ताद् भावे 'युच्', योरनः='कीर्तनम्'। एवञ्च पुण्यं=पवित्रीकरणं, नाम्नां श्रवणं कीर्तनञ्च यस्य स 'पुण्यश्रवणकीर्तनो' विष्णुः सूर्यो वा।

यस्य विष्णोर्नाम्नामन्यतः श्रवणं तथा स्वमुखत उच्चार्य कीर्तनमित्युभयथा पवित्रीकरणं भवति, स एतन्नाम्नाभिधीयते।

मन्त्रलिङ्गञ्चैतदर्थसमर्थकम्। यथा—

"मनामहे चारु देवस्य नाम"। ऋक् १।२४।१॥

"अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत"। ऋक् ८।६९।८॥

"तस्मा इन्द्राय गायत"। ऋक् १।५।४॥

"पवमान ऋतं बृहच्छुक्रं ज्योतिरजीजनत्। कृष्णा तमांसि जङ्घनत्"॥
ऋक् ९।६६।२४॥

यथा चायं पवमानः सूर्येन्द्रसोममहागयाग्निकविपुरोहितादिनामा कृष्णानि तमांसि हन्ति, तथैव भगवतो नाम्नां श्रवणं सङ्कीर्तनञ्च कृष्णानि तमांसि=अज्ञानरूपाणि तथा जुहुराणमेनश्चापहन्ति। तस्माद् भगवान् 'पुण्यश्रवणकीर्तनः' उदीयते।

अत्र नामसंग्रहे नामश्रवणमाहात्म्यमप्युक्तम्। यथा—

'कृत' धातु से 'णिच्' प्रत्यय और णिजन्त से भाव में 'युच्' प्रत्यय तथा यु को 'अन' आदेश करने से 'कीर्तन' शब्द सिद्ध होता है।

इस प्रकार जिसके नामों का श्रवण पवित्र करने वाला है, उसका नाम 'पुण्यश्रवणकीर्तन' है। यह विष्णु या सूर्य का नाम है। जिस भगवान् विष्णु के नामों को दूसरे से सुनकर, या स्वयं अपने मुख से उच्चारण करके, दोनों ही प्रकार से पवित्र हो जाता है, उस भगवान् विष्णु का नाम 'पुण्यश्रवणकीर्तन' है। इसी अर्थ का समर्थन—**'मनामहे'०** (ऋक् १।२४।१); **"अर्चत प्रार्चत०"** (ऋक् ८।६९।८); **"तस्मा इन्द्राय०"** (ऋक् १।५।४) तथा **"पवमान ऋतं बृहत्०"** (ऋक् ९।६६।२४) इत्यादि मन्त्र करते हैं।

जिस प्रकार यह पवमान, सूर्य, इन्द्र, सोम, महागय, अग्नि, कवि तथा पुरोहित नामा सूर्य, कृष्णवर्ण अन्धकारों को नष्ट करता है, उसी प्रकार भगवान् के नामों का श्रवण और कीर्तन, अज्ञानरूप अन्धकारों तथा कुटिल पापों को नष्ट करता है। इसलिये भगवान् का नाम 'पुण्यश्रवणकीर्तन' है। यहां इन नामों के संग्रह में **"य इदं शृणुया-**

"य इदं शृणुयान्नित्यं, यश्चापि परिकीर्तयेत् ।
नाशुभं प्राप्नुयात् किञ्चित्, सोऽमुत्रेह च मानवः ।।"
वि० स० श्लोक १२२।।

भवति चात्रास्माकम्—

यस्यास्ति नाम्नां श्रवणं पवित्रं, सङ्कीर्तनं चाप्यमलं हि तस्य ।
सोऽनन्तनामा भगवान् हि विष्णुः, स्वनामभिर्विश्वमिदं पुनाति । २०४।।



उत्तारणो दुष्कृतिहा पुण्यो, दुःस्वप्ननाशनः ।
वीरहा रक्षणः सन्तो, जीवनः पर्यवस्थितः ।। ११२ ।।

९२३ उत्तारणः, ९२४ दुष्कृतिहा, ९२५ पुण्यः, ९२६ दुःस्वप्ननाशनः ।
९२७ वीरहा, ९२८ रक्षणः, ९२९ सन्तः, ९३० जीवनः, ९३१ पर्यवस्थितः ।।

उत्तारणः—९२३

'उत्' उपसर्गः । 'तॄ प्लवनसंतरणयोः' इति भौवादिको धातुस्तरणकर्मेहायम् । ततो णिजन्ता'ल्ल्युः' योरनः, णिलोपः, णत्वम् । उत्तारयतीति—'उत्तारणः' । भवार्तिसन्तप्तानां भगवच्छरणागतानाम् उत्तितीर्षूणामुत्तारणो नाविको नावेवेत्यर्थः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

न्नित्यं यश्चापि परिकीर्तयेत्०" (वि०स० श्लोक १२२) इत्यादिरूप से नाम-श्रवण तथा कीर्तन का माहात्म्य भी कहा गया है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

'पुण्यश्रवणकीर्तन' नाम भगवान् विष्णु का है, क्यों कि वह अपने श्रवण और कीर्तन करने से पवित्र करने वाले अनन्त नामों से इस समस्त विश्व को पवित्र करता है ।

उत्तारणः—९२३

'उत्' उपसर्ग है, इस से संयुक्त प्लुतगति और तिरने अर्थ में वर्तमान 'तॄ' इस भ्वादिगणपठित धातु से 'णिच्' और णिजन्त से 'ल्यु' प्रत्यय तथा यु को 'अन' आदेश करने और 'णि' का लोप करने से 'उत्तारण' शब्द सिद्ध होता है ।

यहां इस धातु का 'तरण' अर्थ लिया गया है । सांसारिक दुःखों से सन्तप्त, शरणागत, भवसागर से तरने की इच्छा वालों को, नौका से समुद्र पार करने वाले नाविक के समान, जो पार करने वाला (उतारने वाला) है, उसका नाम 'उत्तारण' है । जैसा कि

"वीहि स्वस्तिं सुक्षितिं दिवो नॄन् द्विषो अंहांसि
दुरिता तरेम ता तरेम तवाऽवसा तरेम।" ऋक् ६।२।११॥
"जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो निदहाति वेदः।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः॥"
ऋक् १।९९।१॥

नाविको नावोत्तितीर्षूनब्धेस्तारयतीति लोकदृष्टिः। तथैवायं ध्यातो भर्गः सूर्यो विष्णुर्वा धियः प्रदानेन तारयतीति स 'उत्तारण' उच्यते।

भवति चात्रास्माकम्—

उत्तारणो विष्णुरिहास्ति सिद्धो, योंऽहांसि हन्तुं धिषणां ददाति।
ध्यात्रे, स शुद्धो लभतेऽप्रमेयं, यशः सुखं जन्म च पुण्यवर्गे ॥२०५॥

दुष्कृतिहा—९२४

'दुस्' उपसर्गः। करोतेः 'क्तः', गुणाभावः, अनिट्, दुसः सोरुत्वम्, रोर्विसर्गः। विसर्जनीयस्य "इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य" (पा० ८।३।४१) सूत्रेण षः। 'दुष्कृत' शब्राददन्तलक्षणो मत्वर्थीय 'इनिः'। "यस्येति च" (पा० ६।४।१४८) सूत्रेणाकारलोपो='दुष्कृती'। दुष्कृतिनं हन्तीति हतवान् वा स 'दुष्कृतिहा'।

"वीहि स्वस्ति सुक्षितिं दिवो नॄन्०" (ऋक् ६।२।११)' तथा "जातवेदसे सुनवाम०" (ऋक् १।९९।१) इत्यादि मन्त्रों से प्रतिपादित है।

लोक में प्रत्यक्ष नौका द्वारा नाविक का समुद्र से पार करना देखने में आता है, इसी प्रकार ध्यात="पुनः पुनः ध्यान का विषय किया हुआ" भर्ग, सूर्य अथवा विष्णु, बुद्धिदान के द्वारा इस दुःखरूप भवसागर से पार करता है, इसलिये उसका नाम 'उत्तारण' है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'उत्तारण' है, क्यों कि वह ध्यान करने वाले को बुद्धि का दान करके, उसको पापों से पार कर देता है। जिस से कि वह शुद्ध होकर, अनुपम यश, सुख तथा पुण्य वर्ग में जन्म प्राप्त करता है।

दुष्कृतिहा—९२४

'दुस्' उपसर्गपूर्वक अनिट् 'कृ' धातु से 'क्त' प्रत्यय, गुण का अभाव, दुस् के सकार को रुत्व, रेफ को विसर्ग तथा विसर्गों को षत्व करने से 'दुष्कृत' शब्द सिद्ध होता है। इस 'दुष्कृत' शब्द से अदन्तलक्षण मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय, तथा इन्नन्त लक्षण दीर्घ करने से प्रथमा के एकवचन में 'दुष्कृती' शब्द बन जाता है। दुष्कृती को जिसने मारा या मारता

हन्तेः सार्वकालिकः 'क्विप्', तस्य च सर्वापहारः, इन्नन्तलक्षणो दीर्घो नलोपश्च। 'दुष्कृतिहा' विष्णुः सूर्यो वा। दुष्कर्मकारिणो दण्डलक्षणाशुभफलदानेन हन्तीति भावः।

तदर्थे मन्त्रलिङ्गञ्च—

"ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः"। ऋक् ९।७३।६॥

लोकेऽपि च पश्यामो—लोकवेदमर्यादया हीनं कर्म कुर्वाणस्तेनैव विघ्नरूपतां गतेन कर्मणा तदिष्टात् प्रच्याव्यते। तथा च कस्यचिद् घातको राज्ञा स मृत्युदण्डेन दण्डनीयः, पाशेन शूलेन वा हन्तव्य इत्युद्घोष्यते। तत्र तत्कर्तृकहननक्रियैव तस्य घातिका सर्वत्र प्रतिपदञ्चैतत्पश्यामः।

तत्र राज्ञः प्रतिनिधिर्न्यायकर्ता विष्णुस्थानीयः सूर्यस्थानीयो वा भवति। एवं सर्वत्र योजनीयम्।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"यो मायातुं यातुधानेत्याह, यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन, विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट॥"
ऋक् ७।१०४।१६॥

"हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते।"
ऋक् ७।१०४।१३॥

है, उसका नाम 'दुष्कृतिहा' है। 'दुष्कृति' शब्दपूर्वक 'हन्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय और उसका सर्वलोप तथा इन्नन्तलक्षण दीर्घ करने से 'दुष्कृतिहा' शब्द बन जाता है। यह विष्णु या सूर्य का नाम है, क्यों कि वह दुष्कृति=बुरा कार्य करने वालों को उनके कर्मानुरूप अशुभ फल देकर मारता है। इसी अर्थ का समर्थक **"ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः"** (ऋक् ९।७३।६) इत्यादि मन्त्र है।

लोक में भी हम देखते हैं—लोक और वेद की मर्यादा को भङ्ग करके कर्म करते हुए को, उसका वह ही कर्म विघ्न बनकर उसके अभिप्रेत लक्ष्य से च्युत कर देता है। जैसे कोई किसी की हत्या करता है, उसके फलस्वरूप राजा उसके लिये फांसी या शूली की घोषणा करता है। वहां उस हिंसक की पूर्वकृत हत्या ही घातक होती है, यह हम पद पद पर देखते हैं। इस में राजा का प्रतिनिधि न्यायकर्ता विष्णु या सूर्य के स्थान में समझना चाहिये। इसी प्रकार और भी कल्पनायें कर लेनी चाहियें। यह ही भावार्थ **"यो मायातुं यातुधानेत्याह०"** (ऋक् ७।१०४।१६); **"हन्ति रक्षो हन्त्यासद्०"** (ऋक्

"ते नो मुञ्चन्त्वंहसः" । ऋक् १०।९७।१५।।

"पृथिवी नः पार्थिवात् पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात् पात्वस्मान्" ।

ऋक् ७।१०४।२३।।

इत्यादि निदर्शनम् । भवति चात्रास्माकम्—

लोके दुष्कृतिहा विष्णु, हृद्देशमधितिष्ठति ।
दुष्कृतं बाधकं कर्तुः, स्वयमेव भवेदिह ।।२०६।।

पुण्यः—९२५

पूञः पुणतेर्वा 'पुण्यम्' ।

पवित्वा पुण्ययति=शुभकर्मवतः करोतीति 'पुण्यः' । अर्थाद् यः स्वयं शुभकर्मा दुष्कृतान् शरणागतान् पवित्रीकृत्य शुभकर्मभाजो विधत्ते, स 'पुण्यः' इत्युच्यते भगवान् विष्णुः सूर्यो वा ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"विश्वतो नः शकुने पुण्यमावद" । ऋक् २।४३।२।।

७।१०४।१३); ते नो मुञ्चन्त्वंहसः" (ऋक् १०।९७।१५) तथा "पृथिवी नः पार्थिवात् पात्वंहसः०" (ऋक् ७।१०४।२३) इत्यादि मन्त्रों से पुष्ट होता है। यह उदाहरणों से दिग्दर्शन मात्र है ।

इसी भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

लोक में सब के हृदय में विराजमान भगवान् विष्णु का नाम 'दुष्कृतिहा' है; क्यों कि वह सब के हृदय-प्रदेश में स्थित हुआ, प्राणी के दुष्कृत द्वारा ही प्राणी का हनन करता है ।

पुण्यः—९२५

पवनार्थक 'पूञ्' अथवा शुभकर्मार्थक 'पुण' धातु से 'पुण्य' शब्द सिद्ध होता है। जो पापियों को पापों से शुद्ध करके शुभ (पुण्य) कर्मशाली बनाता है, उसका नाम 'पुण्य' है। अर्थात् जो स्वयं शुभ कर्मशील है, तथा अपनी शरण में आये हुए दुष्कृतियों को पवित्र करके जो शुभकर्मशाली बनाता है, उसका नाम 'पुण्य' है। यह भगवान् विष्णु वा सूर्य का नाम है। इस नाम को "विश्वतो नः शकुने पुण्यमावद" (ऋक् २।४३।२) इत्यादि

"कालेऽयमङ्गिरा देवोऽथर्वा चाधितिष्ठतः।
इमं च लोकं परमञ्च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः।
सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा काल. स ईयते परमो नु देवः॥"
अथर्व १६।५४।५॥

भवति चात्रास्माकम्—

पुण्योऽस्ति विष्णुः कुरुते पवित्रं, सूर्यं ह्यतोऽसौ तमसः परस्तात्।
तस्मिन् पवित्रे सकलं पवित्रं, खं वायुरापः पृथिवी तथाग्निः॥२०७॥

दुःस्वप्ननाशनः—६२६

'दुस्' उपसर्गः। 'ञिष्वप् शये' आदादिको धातुः, ततः "स्वपो नन्" (पा० ३।३।९१) सूत्रेण 'नन्' प्रत्यये='स्वप्नः'। दुष्टः स्वप्नो 'दुःस्वप्नः'। नाशन—इति 'णश् अदर्शने' दैवादिको धातुस्ततो हेतुमण्णिच्, वृद्धिः, ल्युः, अनादेशः, णिलोपः='नाशन' इति। दुःस्वप्नस्य नाशनो 'दुःस्वप्ननाशनः' विष्णुः सूर्यो वा।

तदर्थे मन्त्रलिङ्गञ्च—

"पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै।
य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि पथा पुनर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥"
ऋक् १०।८६।२१॥

मन्त्र प्रमाणित करता है। तथा "कालेऽयमङ्गिरा देवोऽथर्वा०" (अथर्व १६।५४।५) इत्यादि मन्त्र से भी यह नाम प्रमाणित होता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

तम से परे, ज्योतिस्वरूप भगवान् विष्णु का नाम 'पुण्य' है, क्योंकि वह पवित्र सूर्य का निर्माण करता है, तथा उसके पवित्र होने से यह आकाश, वायु, जल, पृथिवी आदि सब ही पवित्र हैं।

दुःस्वप्ननाशनः—९२६

'दुस्' उपसर्गपूर्वक शयनार्थक 'ष्वप्' धातु से भाव में 'नन्' प्रत्यय करने से और धातु के आदि षकार को सकार करने से 'स्वप्न' शब्द सिद्ध होता है। दुष्ट=अमङ्गल स्वप्न का नाम 'दुःष्वप्न' है।

'नाशन' शब्द अदर्शनार्थक 'णश्' धातु हेतुमण्णिजन्त से 'ल्यु' और यु को अन आदेश और णि का लोप करने से सिद्ध होता। दुःष्वप्न को जो नष्ट करता है, उसका नाम 'दुःष्वप्ननाशन' है। यह विष्णु या सूर्य का नाम है। इस अर्थ की पुष्टि "पुनरेहि वृषा-

"जाग्रद्दुःष्वप्न्यं स्वप्नेदुःष्वप्न्यम् ।" अथर्व १६।६।६॥

भवति चात्रास्माकम्—

वैश्वानरोऽग्निः सुसमिद्धदीप्ति, विभज्य भोज्यं परिपच्य दोषान् ।
दुःष्वप्ननाशं कुरुते हि नूनं, वैश्वानरोऽग्निः सविता स इन्द्रः ॥२०८॥

अग्निमात्रं सूर्यदैवतकम् ।

वीरहा—६२७

'वीरहा' शब्दो बहुधा व्युत्पादितचरः । विविधमीरत इति 'वीराः' अश्वा, विविधा गतिर्गतिचातुर्यञ्चाश्वानामेवेति प्रत्यक्षं सर्वेषाम् । तांश्च यो हन्ति=गमयति । हनिरिह गतिकर्मान्तर्भावितण्यर्थश्च । एवञ्च योऽश्वानां गतेर्दाता सोऽत्र 'वीरहा' शब्देनोच्यते सूर्यः । सर्वेषां वा बहुधेराणानां जन्तूनां गमयिता विष्णुः ।

सूर्यपक्षे मन्त्रलिङ्गम्—

"त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः ।
वन्वन्नवातः परिधींरपोर्णु वीरेभिरश्वैर्मघवा भवा नः ॥"
ऋक् ९।९६।११॥

कपे० (ऋक् १०।८६।२१) तथा "जाग्रद्दुःष्वप्न्यं स्वप्नेदुःष्वप्न्यम्" (अथर्व १६।६।६) इत्यादि मन्त्र करते हैं ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

अत्यन्त दीप्त वैश्वानर अग्नि भुक्त को विभक्त करके तथा दोषों का पाचन करके दुःष्वप्नों का नाश करता है । इसलिये दुःष्वप्ननाशन, वैश्वानर, अग्नि, सविता, इन्द्र आदि नामों से भगवान् विष्णु का ही अभिधान है ।

वीरहा—६२७

'वीरहा' शब्द का बहुत प्रकार से व्याख्यान किया गया है । विविध प्रकार से जो गति करता है, उसका नाम 'वीर' है । यह अश्व का नाम होता है, क्योंकि विविध प्रकार के गति-चातुर्य में अश्व (घोडा) ही प्रसिद्ध है । उन घोड़ों को जो चलाता है, उस का नाम 'वीरहा' है । यहां 'हन्' धातु गति अर्थ में है, तथा अन्तर्भावितण्यर्थ है । इस प्रकार से जो अश्वों को गति-देने वाला है, उसका नाम 'वीरहा' है । यह सूर्य का नाम है । अथवा-बहुत प्रकार से चलने वाले जीवों का चलाने वाला 'वीरहा' है । यह भगवान् विष्णु का नाम है

सूर्य के पक्ष में "त्वया हि नः पितरः०" (ऋक् ९।९६।११) इत्यादि मन्त्र प्रमाण

तथा च लोकेऽपि पश्यामः—शीघ्रं गमनाय सारथिरश्वं कशया ताडयति। यद्वा—विविधमीरयितुं मेघान् हन्तीति।

भवति चात्रास्माकम्—

स वीरहा विष्णुरुतापि सूर्यो, वीरेभिरश्वैः[1] सकलोपयातः।
गतिञ्च लब्ध्वा तत एव सर्वं, यथेरितं याति विचित्रगत्या ॥२०६॥

१. "**अतो भिस ऐस् वा**" इति (कातन्त्र-व्याकरणे) सूत्रं, तेन मनुष्येभिः, देवेभिः, रथेभिरिति वेदे प्रयुक्ताः शब्दा लोकेऽपि प्रयुज्यन्ते। वेदे च भिस ऐस् वैकल्पिको दृश्यते सामान्येन, तथा च यथा—"**वीरेभिरश्वैः**"।

रक्षणः—६२८

'रक्ष पालने' भौवादिको धातुः, ततः "**कृत्यल्युटो०**" (पा० ३।३।११३) सूत्रेण बाहुलकात् कर्तरि 'ल्युट्'।

"**बहुलमन्यत्रापि**" (उ० २।७८) इत्युणादिसूत्रेण युज्वा, योरनः। "**अट्कुप्वाङ्०**" (पा० ८।४।२) इति सूत्रेण णत्वं='रक्षणः'। रक्षति=पालयति सकलं विश्वमिति 'रक्षणः' सूर्यो विष्णुश्च।

है। लोक में भी हम देखते हैं—अश्वों (घोडों) को शीघ्र चलाने के लिये सारथि, कशा (कोडा) के द्वारा घोड़ों का ताडन करता है। अथवा विविध रूप से प्रेरणा देने के लिये मेघों का हनन करता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु या सूर्य का नाम 'वीरहा' है, क्यों कि वह वीरों (अश्वों) के द्वारा सर्वत्र गमन करता है या गया हुआ है, तथा यह सब दृश्य वर्ग उसी से गति को प्राप्त करके विविध प्रकार के और विचित्र गमन से युक्त है, अर्थात् अपनी इच्छानुसार विविध प्रकार की विचित्र गति करता है।

"**अतो भिस ऐस् वा**" इस (कातन्त्र व्याकरण) के सूत्रानुसार, अदन्त शब्दों से परे 'भिस्' को वैकल्पिक 'ऐस्' आदेश होता है। इस लिये लोक में भी—मनुष्येभिः, देवेभिः, रथेभिः इत्यादि शब्दों का प्रयोग होता है। वेद में भी 'भिस्' को 'ऐस्' आदेश विकल्प से होता है, इसीलिये—"**वीरेभिरश्वैः**" इत्यादि प्रयोग उपपन्न होते हैं।

रक्षणः—६२८

पालनार्थक 'रक्ष' धातु से बाहुलक से कर्ता में 'ल्युट' प्रत्यय, अथवा—उणादि 'युच्' प्रत्यय, और यु को अन आदेश करने से 'रक्षण' शब्द सिद्ध होता है। जो सकल

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"रक्षा णो अग्ने तव रक्षणेभी रारक्षाणः सुमख प्रीणानः ।
प्रतिष्फुट विरुज वीड्वंहो जहि रक्षो महि चिद् वावृधानम् ॥"

ऋक् ४।३।१४॥

इति निदर्शनम् । भवति चात्रास्माकम्—

स रक्षणोऽग्निः सविता स विष्णुः, स वार्यमा विश्वभवांश्च बिभ्रत् ।
खं वायुरापः पृथिवी मरुच्च, रक्षन्ति धर्मेण च रक्षणस्य ॥२१०॥

सन्तः—६२६

'सम्' उपसर्गः । तत्पूर्वकात् 'तनु विस्तारे' इति धातोः "अन्येष्वपि दृश्यते" (पा० ३।२।१०१) इति सूत्रेण 'डः' प्रत्ययः । टेर्लोपः, समो मोऽनुस्वार-परसवर्णौ । सम्यक् तनोति विस्तारयति जगदिति 'सन्तः' ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"अस्मे वत्सं परिषन्तं न विन्दन्निच्छन्तो विश्वे अमृता अमूराः ।
श्रमयुवः पदव्यो धियंधास्तस्थुः पदे परमे चार्वग्नेः ॥"

ऋक् १।७२।२॥

विश्व की रक्षा करता है, उसका नाम 'रक्षण' है । यह भगवान् विष्णु या सूर्य का नाम है । इस नामार्थ की पुष्टि—"रक्षा णो अग्ने तव रक्षणेभी रारक्षाणः०" (ऋक् ४।३।१४) इत्यादि मन्त्र से होती है । यह उदाहरण द्वारा दिग्दर्शन है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

'रक्षण' नाम भगवान् विष्णु, सविता, अग्नि तथा अर्यमा का है, क्यों कि ये सब ही विश्वान्तर्गत पदार्थों की रक्षा करते हैं । तथा 'रक्षण' नामक भगवान् के रक्षण रूप गुण से व्याप्त होकर विश्व की रक्षा करते हुए आकाश, वायु, जल, पृथिवी आदि भी 'रक्षण' नाम से कहे जाते हैं ।

सन्तः—६२६

'सम्' उपसर्गपूर्वक विस्तारार्थक 'तनु' धातु से 'ड' प्रत्यय, टि का लोप और सम् के मकार को अनुस्वार परसवर्ण करने से 'सन्त' शब्द सिद्ध होता है । जो इस जगत् का समुचितरूप से विस्तार करता है, उसका नाम 'सन्त' है ।

इस नाम को "अस्मे वत्सं परिषन्तं न०" (ऋक् १।७२।२) इत्यादि मन्त्र प्रमाणित

अत्र 'परि' उपसर्गः, असेः तनोतेर्वा सन्तं 'परिषन्तं'। तनोतेः सम्पूर्वकस्य सन्तमिति परिपूर्वकस्यातेर्वा सन्तमिति समान एवार्थ उभयथा।

भवति चात्रास्माकम्—

"सन्तो हि विष्णुः स हि सन्तनोति, बुधो यथा सम्यगवाप्तवाक्यम्।
तस्मिन् तते विश्वमिदं ततं सत्, तमेव सन्तं परितोऽभ्युपैति ॥२११॥

जीवनः—६३०

'जीव प्राणधारणे' धातुर्भौवादिकस्ततो हेतुमण्णिच्, णिजन्ताल्ल्युः', योरनः, णेर्लोपः=जीवनः। प्रक्रिया पूर्वत्रोक्ता।

जीवयति=प्राणयति जीवनोपयोगिसाधनैरिति 'जीवनो' विष्णुः सूर्यो वा।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"विश्वस्य हि प्राणनं जीवनं त्वे वियदुच्छसि सूनरि।
सा नो रथेन बृहता विभावरि श्रुधि चित्रामघे हवम् ॥"
ऋक् १।४८।१०॥

करता है। यहां मन्त्र में 'परि' उपसर्ग है। 'सन्त' शब्द अस् या तनु धातु से निष्पन्न होता है। सम्पूर्वक तनु धातु से निष्पन्न 'सन्त' अथवा परि पूर्वक अस् धातु से निष्पन्न 'सन्त' शब्द का अर्थ समान ही है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'सन्त' है, क्यों कि वह सम्यक् रूप से अवगत (ज्ञात) विषय के अर्थ का विस्तार (फैलाव) करने वाले बुध (विद्वान्) के समान, इस विश्व का विस्तार करता है। और उस सर्वत्र व्याप्त भगवान् में ही विस्तीर्ण हुआ यह विश्व सब सब ओर से उसी 'सन्त' को प्राप्त होता है।

जीवनः—६३०

प्राणधारणार्थक 'जीव' धातु से हेतुम'णिच्', णिजन्त से 'ल्यु' प्रत्यय, यु को 'अन' आदेश तथा णि का लोप करने से 'जीवन' शब्द सिद्ध होता है। जो जीवनोपयोगी साधनों के द्वारा इस समस्त प्राणिवर्ग को साधनायुक्त जीवन प्रदान करता है, उसका नाम 'जीवन' है। यह विष्णु या सूर्य का नाम है। इस नामार्थ की पुष्टि **"विश्वस्य हि प्राणनं जीवनं त्वे०"** (ऋक् १।४८।१०) इत्यादि मन्त्र से होती है।

लोकेऽपि च पश्यामः—ब्राह्ममुहूर्तं उत्थाय भ्रमणं, स्नानं, जपनं, व्यायमनं, पठनादिकञ्च, मैथुनादृते जीवनं ददातीति ।

भवति चात्रास्माकम्—

स जीवनो विष्णुरुतापि सूर्यो, विभावरी वा बृहता रथेन ।
सा जीवनं प्राणवतो ह विश्वे, तस्यां सुखं कामवशं[1] लषन्ति[2] ॥२१२॥

१. कामवशं=यथेष्टम् । २. लषन्ति=कामयन्ते । प्राणवन्त इति शेषः ।

पर्यवस्थितः—६३१

'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' भौवादिको धातुः । पर्यवोपसर्गपूर्वात्तस्मात् तिष्ठतेः षस्य सत्वे, परेरिकारस्य यणोदेशे च कर्तरि 'क्तः'—'**गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवस्जनरुहजीर्यतिभ्यश्च**" (पा० ३।४।७२) इति सूत्रेण । परितः=सर्वत ऊर्ध्वाधस्तिर्यक् चावस्थित इत्यर्थः; सर्वव्यापक इति भावः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"पूषा विष्णुस्त्रीणि सरांसि धावन्" । ऋक् ६।१७।११ ॥

लोक में भी हम देखते हैं—ब्राह्ममुहूर्त में ऊठ कर, मैथुन क्रिया के अतिरिक्त किया हुआ भ्रमण, स्नान, नामजप, व्यायाम तथा पठनपाठन जीवन देता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

'जीवन' नाम भगवान् विष्णु या सूर्य का है । अथवा वृहत् हिरण्यमय रथ से युक्त होने से सूर्य का ही स्त्रीलिङ्ग नाम 'विभावरी' है । (वेद में लिङ्ग का कोई महत्त्व नहीं है, क्यों कि लिङ्ग लोकाश्रित है, इस लिये वेद में एक ही प्रतिपाद्य वस्तु को तीनों लिङ्गों से कहा जा सकता है ।) वह विभावरी ही सब विश्वान्तर्गत प्राणियों का जीवन है, तथा उसी विभावरी में स्थित प्राणी यथेष्ट कामों की इच्छा करते हुए उन्हें प्राप्त करते हैं ।

कामवशम्=इच्छानुसार । लषन्ति=इच्छा करते हैं । प्राणवन्तः=प्राणी, यह पद्य का शेष अंश है ।

पर्यवस्थितः—६३१

गति की निवृत्तिरूप अर्थ में वर्तमान 'ष्ठा' इस परि तथा अव उपसर्गपूर्वक धातु से कर्ता में 'क्त' प्रत्यय, धातु के षकार को सकार तथा परि के इकार को यण् करने से 'पर्यवस्थित' शब्द सिद्ध होता है । जो परितः=सब ओर, अर्थात् ऊपर नीचे तथा अन्य तिर्यक् दिशा विदिशा आदि में स्थित है, उसका नाम 'पर्यवस्थित' है । अर्थात् सर्वव्यापकत्व रूप अर्थ को यह 'पर्यवस्थित' शब्द प्रकट करता है । यह सर्वव्यापक भगवान् विष्णु का नाम है । इस अर्थ की पुष्टि **"पूषा विष्णुस्त्रीणि सराँसि०"** (ऋक् ६।१७।११);

"एवा ता विश्वा चकृवांसमिन्द्रम्" । ऋक् ६।१७।१३ ॥
"स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरम्०" । यजु० ४०।८ ॥
"वेत्यग्रुर्जनिवान् वा अतिस्पृधः समर्यता मनसा सूर्यः कविः ।
घ्रंसं रक्षन्तं परिविश्वतो गयमस्माकं शर्म वनवत् स्वावसुः ॥"
ऋक् ५।४४।७ ॥

"यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते" ऋक् ५।४४।६—यथायं विष्णुः पूषा सूर्यः कविश्च दिवि पृथिव्यां समुद्रादिषु च सर्वत्रावस्थितः, तथायमात्मापि शरीरे सर्वत्रावस्थितः । राजापि चारैः सर्वत्र दिवि भुवि जले वावस्थितो भवतीति कृत्वा विश्वं व्यश्नुते । अतः स विष्णुः सूर्यः कविर्वा सर्वत्र व्याप्तः 'पर्यवस्थित' उच्यते ।

भवति चात्रास्माकम्—

तं पर्यवस्थितं मन्ये, विष्णुं सूर्यं कविं सनात् ।
द्यवि स्थले जले वापि, तमूर्ध्वाधः परिष्ठितम् ॥२१३॥

"एवा ता विश्वा चकृवांसमिन्द्रम्" (ऋक् ६।१७।१३); "स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्०" (यजु० ४०।८); "वेत्यग्रुर्जनिवान् वा अतिस्पृधः०" (ऋक् ५।४४।७) इत्यादि मन्त्र करते हैं ।

"यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते" (ऋक् ५।४४।६) इस वेदवाक्यानुसार जैसा देखने में आता है, वैसा ही कहने में आता है । जिस प्रकार विष्णु, सूर्य, कवि तथा पूषा देव, पृथिवी अन्तरिक्ष तथा समुद्र आदि में सर्वत्र स्थित है, उस ही प्रकार यह जीवात्मा भी शरीर में सर्वत्र स्थित है । तथा देशाधिपति राजा भी अपने चार (दूतों) के द्वारा सर्वत्र आकाश, पृथिवी तथा जल आदि में स्थित हुआ, देश को अपनी सत्ता से व्याप्त करता है । इस लिये भगवान् विष्णु, सूर्य तथा कवि, सर्वत्र व्याप्त होने से 'पर्यवस्थित' नाम से कहे जाते हैं ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

आकाश, पृथिवी, जल आदि में तथा ऊपर नीचे और दिशा विदिशाओं में स्थित भगवान् विष्णु, सूर्य तथा कवि का नाम 'पर्यवस्थित' है, यह मैं (भाष्यकार) मानता हूँ ।

अनन्तरूपोऽनन्तश्रीर्जितमन्युर्भयापहः ।
चतुरश्रो गभीरात्मा विदिशो व्यादिशो दिशः ॥११३॥

९३२ अनन्तरूपः, ९३३ अनन्तश्रीः, ९३४ जितमन्युः, ९३५ भयापहः, ९३६ चतुरश्रः, ९३७ गभीरात्मा, ९३८ विदिशः, ९३९ व्यादिशः, ९४० दिशः ॥

अनन्तरूपः—९३२

'अनन्त' शब्दोऽनन्तमूर्तिनाम्नि व्युत्पादितचरः । 'रूप' शब्दश्च—'रु शब्दे' इत्यादादिकाद्धातोः "खष्पशिल्प० (उ० ३।२८) इत्युणादिसूत्रेण 'पः' प्रत्यय इडभावो धातोर्दीर्घत्वञ्च निपात्यते । रूप्यते=प्रकाश्यतेऽनेनेति 'रूपम्' । अनन्तानि रूपाणि यस्य सः 'अनन्तरूपः'=विविधरूपो विष्णुः । यद्वा—अमति गतिकर्मा, ततो न अन्तं=चलं रूपं यस्य स 'अनन्तरूपः', अविचलरूप इत्यर्थः ।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥"
ऋक् १०।८१।३; यजु० १७।१९॥

येयं केवलस्यैकरूपस्य देवस्य रूपगुणवर्णना सा न कदाचित् विचलति तस्माद् 'अनन्तरूपः' सः । अनन्तशब्दो बहुपर्यायोऽपि । तत्र विश्वरूपपदं वेदे, यथा—

अनन्तरूपः—९३२

'अनन्त' शब्द का व्युत्पादन अनन्तमूर्ति नाम के व्याख्यान में किया गया है । 'रूप' शब्द 'रु' इस शब्दार्थक धातु से उणादि 'प' प्रत्यय तथा दीर्घ का निपातन करने से सिद्ध होता है । जिसके द्वारा प्रकाश किया जाए, अथवा जो प्रकाशित किया जाये, उसका नाम 'रूप' है । जिसके रूप अनन्त (असंख्य) हैं, उसका नाम 'अनन्तरूप' है । यह विविध-रूप विष्णु का नाम है ।

अथवा गत्यर्थक 'अम' धातु से 'अन्त' शब्द बनाने से 'अन्त' नाम चल का है, और अन्त=चल नहीं है रूप जिसका, उसका नाम 'अनन्तरूप' है । अर्थात् अविचल, सदा एकरूप भगवान् का नाम 'अनन्तरूप' है । पूर्वोक्त भाव की पुष्टि "**विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो०**" (ऋक् १०।८१।३) तथा (यजु १७।१९) इत्यादि मन्त्र से होती है ।

जो यह देव की रूपगुण वर्णना है, वह देव के रूप और गुणों का अविचालित्व अर्थात् सदा एकरूपता को प्रकट करती है, अर्थात् देव का रूप शाश्वत और ध्रुव है । वह 'अनन्तरूप' है । अनन्त शब्द बहुत्व का वाचक है, इसी का पर्याय शब्द विश्वरूप है,

"सुप्राङ्जो मेम्यद् विश्वरूपः" । ऋक् १।१६२।२ ॥
"न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः ।
ऋक् १।१६२।२१॥

"आतिष्ठन्तं परिविश्वे अभूषञ्छ्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः ।
महत् तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥"
ऋक् ३।३८।४॥

"देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान ।
इमा च विश्वा भुवनान्यस्य महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥"
ऋक् ३।५५।१६ ॥

इति निदर्शनम् ।

अनन्तशब्दमधिकृत्य प्राग् बहूक्तम् । लोके च पश्यामः—प्रत्येक वस्तु सजातीयं विजातीयं वा परस्परं रूपेण भिन्नं सत्तस्य बहुरूपतामाचष्टे । अत एव च—

"विश्वमनः" । ऋक् ८।३३।२ ॥ "विश्वमानुषः" । ऋक् ८।४५।४२॥
"विश्वभानुषु" । ऋक् ४।१।३॥ "विश्ववार्यः" । ऋक् ८।१६।११॥

इत्यादि—बहुत्र विश्वशब्दविशिष्टानि पदानि वेदे दृश्यन्ते ।

भवति चात्रास्माकम्—

सोऽनन्तरूपो भगवान् वरेण्यो, रूपाणि कुर्वन् प्रतिरूपरूप्यः ।
निजं स्वरूपं प्रतिजन्मगुप्तं, कृत्वा जगद्धारयते ह्यतर्क्यम् ॥२१४॥

जिस का प्रयोग "सुप्राङ्जो मेम्यद् विश्वरूपः" (ऋक् १।१६२।२) में मिलता है । तथा—"न वा उ एतन्म्रियसे"० (ऋक् १।१६२।२१); "आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियो वसानश्चरति०" (ऋक् ३।३८।४); "देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः०" (ऋक् ३।५५।१६) इत्यादि मन्त्रों से उसकी बहुरूपता प्रमाणित होती है ।

अनन्त शब्द के विषय में पहले बहुत लिखा जा चुका है । लोक में भी हम देखते हैं—प्रत्येक सजातीय या विजातीय वस्तु, परस्पर भिन्न रूप होती हुई उसी अनन्तरूप की बहुरूपता का कथन करती है । इसीलिये वेद में—"विश्वमनः", "विश्वमानुषः", "विश्वभानुषु", "विश्ववार्यः" इत्यादि रूप से बहुत स्थानों में विश्व शब्द विशिष्ट पदों का प्रयोग देखने में आता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

वह सब का प्रार्थनीय, सर्वश्रेष्ठ, अनन्तरूप भगवान् विष्णु, जो कि प्रत्येक रूप से निरूपणीय है, अपने रूप को प्रत्येक जन्तुरूप से गुप्त करके रूपों को बनाता हुआ इस अचिन्त्य जगत् को धारण करता है ।

अनन्तश्रीः-६३३

'अनन्त'शब्दो व्याकृतः पूर्वम् । श्रीः=विभूतिः, विविधीभवनमित्यर्थः । 'श्रियः' "क्विब्वचिप्रच्छिश्रि०" (उ० २।५७) इत्यादिनौणादिसूत्रेण 'क्विप्' प्रत्ययो दीर्घश्च । अनन्ता श्रीः=विभूतिः, विविधभावो यस्य सः—'अनन्तश्रीः' । यद्वा—अचलविविधसत्त इति ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"नहि ते शूर राधसोऽन्तं विन्दामि सत्रा" । ऋक् ८।४६।११ ॥

तथा च लोकेऽपि पश्यामो—यथाकालभवानां पुष्पाणां श्रियः सूर्योदये प्रकाशन्ते, तासाञ्च श्रीणामनन्तता प्रतिपदं दृश्यते । बहुविस्तारवती पृथिवी विचित्रगर्भा च ।

भवति चात्रास्माकम् —

यदेकदा यद्रचितञ्च विष्णुना, तथाविधं तच्छ्रियया च भासते ।
अनन्तताऽतो भुवने श्रियो मता, यद्यस्ति तद्वान् स उ वास्ति तद्विधः ॥२१५॥

अनन्तश्रीः—६३३

'अनन्त' शब्द का व्युत्पादन पहले किया गया है । 'श्री' नाम विभूति का है, अर्थात् विविध प्रकार का होना विभूति शब्द का अर्थ है । सेवार्थक 'श्रि' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय तथा धातु को दीर्घ करने से 'श्री' शब्द सिद्ध होता है । अनन्त है विविध का प्रकार भाव (होना) जिसका, उसका नाम है—'अनन्तश्री' । अर्थात् जिसका विविधीभवन या सत्ता अपार है, उसका नाम 'अनन्तश्री' है ।

अथवा—अचल=ध्रुव है विविध प्रकार की सत्ता जिसकी, उसका नाम है—'अनन्तश्री' । इसमें यह मन्त्र प्रमाण है—"नहि ते शूर राधसोऽन्तं०" (ऋक् ८।४६।११)

लोक में भी हम देखते हैं—अपने समय पर होने वाले पुष्पों की शोभा सूर्य के उदय होने पर विकसित होती है, और उस श्री=शोभा की अनन्तता सब को प्रत्यक्ष देखने में आती है । इस प्रकार की बहुतसी शोभाएं अर्थात् विभूतियां पृथिवी पर देखने में आती हैं, क्योंकि यहां पृथिवी का बहुत बड़ा विस्तार है, तथा इस में बहुत प्रकार की विचित्र वस्तुएं हैं ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु ने इस विश्व में जो वस्तु जिस प्रकार की बनाई है, वह प्रत्येक वस्तु अपनी श्री से शोभित होती है । इसलिए वस्तुओं के अनन्त होने से, उनकी श्रियां भी अनन्त हैं, तथा उन सब श्रियों के भगवान् में होने से भगवान् का नाम 'अनन्तश्री' है ।

जितमन्युः—६३४

'जि जये' भौवादिको धातुः, ततः कर्मणि 'क्तः', गुणाभावः, अनिट्= 'जितम्'।

मन्युः—'मन ज्ञाने', 'मनु अवबोधने' इति दैवादिकतानादिकौ धातू, ताभ्यां यथार्थं **"यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच्"** (उ० ३।२०) इत्युणादिसूत्रेण 'युच्' प्रत्ययः। मन्यते ज्ञायते='मन्युः' क्रोधः। ज्ञानपूर्वकः क्रोधो, 'मन्युः', स जितो येन स 'जितमन्यु'र्विष्णुः। मन्युर्हि स्वतो बलवति भवति, न च भगवतो विष्णोः कश्चिद् बलवान्, अतो भगवति मन्योरभाव एव तस्य जितमन्युता। यद्वा—स्वयं मन्युरूपः स, न तस्य कश्चिज्जेता।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"मन्युरसि मन्युं मयि धेहि"। यजुः १९।९॥

जितमन्युत्वे मन्त्रलिङ्गम्—

"अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्रमोषीः।"

यजुः १८।४९॥

भवति चात्रास्माकम्—

जितमन्युः—६३४

जित—उत्कर्षार्थक 'जि' इस भ्वादिगणपठित धातु से कर्म में 'क्त' प्रत्यय, तथा इट् और गुण का अभाव होने से 'जित' शब्द सिद्ध होता है।

'मन्यु'—ज्ञानार्थक 'मन' अथवा अवबोधनार्थक 'मनु' इस दैवादिक धातु से उणादि 'युच्' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। 'मन्यु' नाम ज्ञानपूर्वक क्रोध का है, वह जिसने जीत लिया है, अर्थात् वश में कर लिया है, उसका नाम 'जितमन्यु' है। यह भगवान् विष्णु का नाम है। भगवान् में मन्यु का न होना ही भगवान् की जितमन्युता है, क्योंकि मन्यु=क्रोध अपने से बलवान् के विषय में होता है, और भगवान् से अधिक बलवान् कोई है ही नहीं, इसलिए भगवान् का नाम 'जितमन्यु' है।

अथवा—वह भगवान् स्वयं मन्युरूप है, उसका कोई दूसरा जीतने वाला नहीं है, इसलिए वह स्वयं ही 'जितमन्यु' है। जैसा कि **"मन्युरसि मन्युं मयि धेहि"** (यजुः १९।९) इत्यादि यजुर्वेद-मन्त्र से सिद्ध होता है। भगवान् की जितमन्युता इस—**"अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशꣳस मा नः०"** (यजुः १८।४९) इत्यादि मन्त्र से प्रमाणित होती है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

अहेडमानो वरुणो ह विश्व, श्रेयस्करे वर्त्मनि वर्तनाय।
कामानुरूपं प्रददाति वाञ्छ्यं, जनाय तस्मै य उ ते जुहोति ॥२१६॥

भयावहः—९३५

बिभेतेरचि 'भय'शब्द उक्तः। भयरूपकर्मण्युपपदेऽवपूर्वाद् 'हन' धातोः "आशिषि हनः" (पा० ३।२।४९) सूत्रेण 'ड' प्रत्ययष्टेर्लोपः। भयमवहन्यादिति 'भयावहः'। आशिषाशंसया भगवतो विष्णोः 'भयावहः' इति नाम।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शन्नः कुरु प्रजाभ्यो अभयं न पशुभ्यः॥ यजुः ३६।२२॥

लोकेऽपि च पश्यामः—सर्वो हि जीवो भगवन्तं प्रार्थयमानो भयाभावमाशंसते।

भवति चात्रास्माकम्—

भयं न मे स्यादिति कामयन्ते, देवा मनुष्याः किमुतान्यजीवाः।
भयावहस्तानभयान् विधत्ते, यतो यतो गन्तुमनाश्च यः स्यात् ॥२१७॥

भगवान् विष्णु इस विश्व को कल्याणकर मार्ग में प्रवृत्त करने के लिए, किसी प्रकार का मन्यु न करता हुआ, इसको इसकी इच्छानुकूल वाञ्छित अर्थ प्रदान करता है। विशेष करके उसके लिए, जो भगवान् के उद्देश्य से यज्ञ आदि शुभ कार्य करता है।

भयावहः—९३५

'ञिभी' इस भयार्थक धातु से 'अच्' प्रत्यय करके 'भय' शब्द की सिद्धि की गई है। इस भयरूप कर्म के उपपद में रहते अवपूर्वक 'हन्' धातु से आशीर्वाद अर्थ में 'ड' प्रत्यय और टि का लोप करने से 'भयावह' शब्द सिद्ध होता है। भय का हनन करे, इस आशीर्वाद के अभिप्राय से भगवान् का नाम 'भयावह' है। इसी अर्थ का समर्थक—**"यतो यतः समीहसे०"** (यजुः ३६।२२) इत्यादि मन्त्र है। लोक में भी हम देखते हैं—प्रत्येक जीव भगवान् की प्रार्थना करता हुआ भय के अभाव (नाश) की इच्छा करता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

देव मनुष्य तथा अन्य सब ही जीव, प्रतिक्षण यह इच्छा करते हैं कि हमें किसी प्रकार का भय न हो। उनको उनकी इच्छानुसार अभय करने वाले भगवान् का नाम 'भयावह' है। अर्थात् जो जहां पर है, या जाना चाहता है, उसके लिए वहां ही अभय करने वाले भगवान् 'भयावह' वर्तमान हैं।

चतुरश्रः—६३६

'चते याचने' भौवादिको धातुः, ततः "**चतेरुरन्**" (उ० ५।५८) इत्युणादिसूत्रेण 'उरन्' प्रत्यये 'चतुर्' इति पूर्वं व्युत्पादितः। चतति चत्यते वेति—चतुर्।

'अशू व्याप्तौ' सौवादिकः, 'अश भोजने' क्रैय्यादिको वा धातुस्ताभ्यां यथार्थं "**वङ्क्र्यादयश्च**" (उ० ४।६६) इत्युणादिसूत्रे वङ्क्र्यादीनामाकृतिगणत्वेन 'क्रिन्' प्रत्ययान्तः 'अश्रिः' शब्दो निपात्यते। स्त्रियां निन्त्वात् 'ङीप्'= 'अश्री'।

चतस्रोऽश्रयो यस्य स 'चतुरश्रः'। "**सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरश्र०**" (पा० ५।४।१२०) इत्यादिसूत्रेण समासान्तोऽच्प्रत्ययान्तो निपात्यते। तत्र पूर्वपदस्य पुंवद्भावः। "**यस्येति च**" (पा० ६।४।१४८) सूत्रेणाकारलोपश्च। चतस्रो दिशोऽश्नुते='चतुरश्रः'। यद्वा—चतसृषु दिक्षु स्थितानां प्राणिनां भोजनस्य दातेति विष्णुः। यद्वा—याचकानां सर्वविधकामानां पूरयिता।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"**अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्**"। ऋक् १०।४८।१॥

"**स पर्यगात्…याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥**"

यजुः ४०।८॥

चतुरश्रः—६३६

'चतुर्' शब्द याचनार्थक 'चते' धातु से उणादि 'उरन्' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। इसका व्युत्पादन पहले किया जा चुका है। याचना करनेवाले या जिससे याचना की जाए, उसका नाम 'चतुर्' है।

'अशू' इस व्यापनार्थक धातु से अथवा 'अश' इस भोजनार्थक धातु से उणादि 'क्रिन्' प्रत्यय के निपातन से 'अश्रि' शब्द सिद्ध होता है। तथा स्त्रीत्व की विवक्षा में नान्तलक्षण 'ङीप्' प्रत्यय करने से 'अश्री' शब्द बन जाता है।

चतुर् और अश्री शब्द का बहुव्रीहि समास करने पर, समासान्त अच् प्रत्यय के निपातन, पुंवद्भाव तथा "**यस्येति च**" (पा० ६।४।१४८) से अकार का लोप करने से 'चतुरश्र' शब्द बन जाता है। चारों दिशाओं को व्याप्त करने वाले, या चारों दिशाओं में स्थित प्राणियों को भोजन देने वाले का नाम 'चतुरश्र' है। अथवा—सब प्राणियों की कामनाएं पूर्ण करने वाले का नाम 'चतुरश्र' है। इस भावार्थ को—"**अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्**" (ऋक् १०।४८।१) तथा "**स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्०**" (यजुः ४०।८) इत्यादि मन्त्र पुष्ट करते हैं।

लोके चापि पश्यामः—यो हि यस्य व्यवस्थापकः स तस्य सर्वापेक्षापूरको यथार्थिमनोरथञ्चार्थं ददाति । एवञ्च लोके दृश्यमानेनानेन क्रमेण प्रतिपदं सर्वव्यापको भगवान् विष्णुर्व्यज्यते ।

प्रासङ्गिकञ्च किञ्चिदुच्यते । तथा चैतज्ज्ञेयम्—

यत्र सूर्यं इहोच्यते तत्र यथाव्याख्यानं सूर्यादयः सर्वे ग्रहा ग्राह्याः । कुतः एवं, यतो हि यो ग्रहो यस्य कामस्याधिपतिस्तत एव तं कामं याचतेऽर्थी । तथा च यथा--ऋणान्मुक्त्यर्थं जनाः कुजं (भूमिसुतं) स्तुवन्ति, तस्य च स्तोत्रस्य नाम 'ऋणमोचनस्तोत्रम्' इति । अमुथैव **"यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु"** (यजुः ३६।२) अत्र बृहस्पतिराराध्यते । तस्मादुपर्युक्तमुपपद्यते ।

भवतश्चात्रास्माकम्—

स विष्णुरेकश्चतुरश्र उक्तः, स एव सूर्यः स हि वास्ति दाता ।
यदर्थकामी हविषा च सम्यग्, जुहोति तस्मै स ददाति काम्यम् ॥२१८॥

तथा—

लोक में भी हम देखते हैं—जो जिसका व्यस्थापक होता है, वह अपने व्यवस्थाप्य की इच्छाओं को पूर्ण करता है, तथा प्रार्थयिता के मनोरथानुसार उसका अभीष्ट अर्थ देता है । लोक में भी दीखते हुए इस प्रकार के क्रम से, भगवान् की सर्वव्यापकता प्रकट होती है ।

यहां कुछ प्रासङ्गिक वर्णन करना भी उचित है, जो इस प्रकार है—जहां केवल सूर्य का ग्रहण है, वहां सूर्य शब्द से सूर्य आदि सब ग्रहों का ग्रहण समझना चाहिए । क्योंकि जो ग्रह जिस काम का अधिपति, अर्थात् मनोरथ को पूर्ण करने में अधिकृत है, उस ही से अर्थी उस काम की याचना करता है । जैसे—ऋण (कर्ज) से मुक्ति (छुटकारा) पाने के लिए मनुष्य भौम ग्रह की स्तुति करता है, तथा जिस स्तोत्र से स्तुति करता है, उस स्तोत्र का नाम (ऋणमोचन) स्तोत्र है । इसी प्रकार **"यन्मे च्छिद्रं चक्षुषो मनसो वाति०"** (यजुः ३६।२) यहां इस मन्त्र में बृहस्पति ग्रह की स्तुति है । इस प्रकार से उपर्युक्त वर्णन उपपन्न हो जाता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'चतुरश्र' है, तथा सूर्य का नाम भी 'चतुरश्र' है, क्यों कि वह अपने काम की प्राप्ति के लिये हवन यज्ञ आदि करने वाले मनुष्य को उस का वाञ्छित अर्थ प्रदान करता है ।

सर्वे ग्रहा वैष्णवशक्तिमन्तः, स्तुत्यास्तथैवेति च धार्यमत्र ।
नक्षत्रमप्येति तथैव चार्चां, स्वदेवतायाः स्तवनेन लोके ॥२१९॥

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा ।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥"

ऋक् १।९०।९; यजुः ३६।९॥

मित्रः=अनुराधा, वरुणः=शतभिषा, अर्यमा=उत्तराफाल्गुनी, इन्द्रः=ज्येष्ठा, बृहस्पतिः=पुष्यः, विष्णुः=श्रवणः। पृथक्शश्च मन्त्रलिङ्गानि तद्दैवतकानि । यथा—

"नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे ।" ऋक् १०।३७।१; यजुः ४।३५॥
"शन्नः सूर्य उरुचक्षाः ।" ऋक् ७।३५।८; अथर्व १९।१०।८॥
"शन्नो दिविचरा ग्रहाः ।" अथर्व १९।९।७॥

गभीरात्मा—९३७

'गभीर' इति—'गम्लृ गतौ' भौवादिको धातुः, ततो **"गभीरगम्भीरौ"** (उ० ४।३५) इत्युणादिसूत्रेण 'ईरन्'प्रत्ययान्तो निपात्यते । गमे मस्य भकारः पाक्षिको नुमागमश्च। तेन गभीरगम्भीरौ समानार्थौ शब्दौ । 'आत्म' शब्दो व्युत्पादितचरः, स चेह स्वरूपवचनः ।

सब ही ग्रहों में भगवान् विष्णु की शक्ति व्यापकरूप से स्थित है, इसलिये सब ही ग्रह अपने स्तोता के अभीष्ट अर्थ को सिद्ध करते हैं । तथा नक्षत्र भी अपने अधिष्ठातृ देवता की स्तुति से स्तुत होकर अपने स्तावक के मनोरथ को पूर्ण करता है ।

जैसा कि—**"शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा"**० (ऋक् १।९०।९; यजु० ३६।९) इत्यादि मन्त्र से प्रतिपादित है । यहां 'मित्र' शब्द से अनुराधा, 'वरुण' शब्द से शतभिषा, 'अर्यमा' शब्द से उत्तराफाल्गुनी, 'इन्द्र' शब्द से ज्येष्ठा, 'बृहस्पति' शब्द से पुष्य, तथा 'विष्णु' शब्द से श्रवण नक्षत्र का ग्रहण है । नक्षत्रों के अधिष्ठातृ देवताओं के प्रतिपादक पृथक् पृथक् भी—**"नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे"** (ऋक् १०।३७।१; यजुः ४।३५); **"शन्नः सूर्य उरुचक्षाः"** (ऋक् ७।३५।८; अथर्व १९।१०।८) तथा **"शन्नो दिविचरा ग्रहाः"** (अथर्व १९।९।७) इत्यादि मन्त्र हैं ।

गभीरात्मा—९३७

'गभीर' शब्द गत्यर्थक 'गम्लृ' इस भ्वादिगणपठित धातु से उणादि 'ईरन्' प्रत्यय, गम् के मकार को भकार करने से सिद्ध होता है । तथा पाक्षिक 'नुम्' का आगम करने से 'गम्भीर' शब्द सिद्ध होता है । अर्थ दोनों का समान है । 'आत्मा' शब्द का साधन पहले किया गया है । आत्मा शब्द यहां स्वरूप का वाचक है ।

गच्छति गम्यतेऽनेन, गच्छन्ति यमिति वा गभीरो गम्भीरो वा। अर्थाद् यो गच्छति=गमनशीलः, येन वा गम्यते=प्राप्यते सर्वं सः। यं वा गच्छन्ति=प्राप्नुवन्ति ध्यायन्ति प्रार्थयन्ते वा स गभीरो गम्भीरश्च विष्णुः सूर्यो वा।

जगद् गच्छति, समुद्रो गच्छति, समुद्रान्तस्तरङ्गाः स्रोतांसि च गच्छन्तीति कृत्वा सर्वथा स गतिरूपेण गुणेन सर्वत्र व्याप्तः। लोके चापि पश्यामः—शारीरिकेषु स्रोतःस्वपि दोषा, धातवो, मलांशाः वा सततं गच्छन्तीति।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"न त्वा गभीरः पुरुहूत सिन्धु र्नाद्रयः परिषन्तो वरन्त।
इत्था सखिभ्य इषितो यदिन्द्रा दृढं चिदरुजो गव्यमूर्वम्॥"

ऋक् ३।३२।१६॥

"समुद्रस्येव महिमा गभीरः०"। ऋक् ७।३३।८॥

इति निदर्शनम्। भवति चात्रास्माकम्—

गभीरात्मा स सूर्योऽस्ति, सर्वञ्च गमयत्यसौ।
अचलं दृश्यमानं यन्, मृत्युस्तदपि चालयेत्॥२२०॥

मृत्युः=नाशः।

जो गमन करता है अथवा जो गमन का प्रयोजक है, अथवा जिस को जाते हैं=प्राप्त करते हैं, उसका नाम 'गभीर' या गम्भीर है। अर्थात् जो गमनशील है, अथवा जिस के द्वारा सब कुछ प्राप्त किया जाता है, अथवा जिस की प्राप्ति-प्रार्थना वा ध्यान करते हैं, उसका नाम 'गभीर' है। यह विष्णु या सूर्य का नाम है।

यह सम्पूर्ण जगत् अथवा जगत् के अन्तर्गत समुद्र तथा समुद्रान्तर्गत स्रोत तथा तरङ्ग आदि सब कुछ गमनशील देखने में आता है, इसलिये भगवान् के गतिरूप गुण की सार्वत्रिक व्याप्ति प्रतीत होती है। लोक में भी हम देखते हैं—शरीर में स्थित स्रोतों में भी दोष धातु और मलांश सतत गतिशील रहते हैं। इस नाम को "न त्वा गभीरः पुरुहूत सिन्धु र्नाद्रयः०" (ऋक् ३।३२।१६) तथा "समुद्रस्येव महिमा गभीरः" (ऋक् ७।३३।८) इत्यादि मन्त्र प्रमाणित करते हैं। यह केवल उदाहरण मात्र है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

स्वयं गमनशील या जगत् के गमन का प्रयोजक हेतु होने से भगवान् का नाम 'गभीरात्मा' है, क्योंकि वह इस दृश्य अचलवर्ग को भी मृत्यु (नाश) के द्वारा गतिशील बना देता है।

विदिशः—९३८

'वि' उपसर्गः । 'दिश अतिसर्जने' तौदादिको धातुः । अतिसर्जनं=दानम् । ततः सामान्येन 'क्विप्' प्रत्ययस्तस्य च सर्वापहारः । दिशति=ददात्यवकाशमिति दिक् । दिगेव दिशा, तथा च भागुरेर्मते "आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा" इति हलन्तेभ्योऽपि टाप इष्टत्वात् । विविधा दिशो यस्य स 'विदिशः' विष्णुः सूर्यो वा । बहुव्रीहिसमास उपसर्जनह्रस्वः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्" । यजुः ३१।१३।।

सूर्यगतिकृतश्च दिशानामुत्तरदक्षिणादिव्यवहारः । तथा च—

"यत इन्द्र भयामहे ततो नोऽभयं कुरु"। अथर्व १९।१५।१। इत्यारभ्य—

"अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ।।"
अथर्व १९।१५।५।।

भवति चात्रास्माकम्—

विदिशः—९३८

'वि' उपसर्ग है । अतिसर्जन=दानार्थक 'दिश' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय, और उस का सर्वापहार (सर्वलोप) करने से 'दिक्' शब्द सिद्ध होता है । जो अवकाश देती है, उसका नाम 'दिक्' है । वही भागुरि आचार्य के मत में 'दिशा' है, क्योंकि वह हलन्त वाच्, निश् तथा दिश् शब्दों से 'टाप्' प्रत्यय की उत्पत्ति मानता है । विविध (बहुत प्रकार की) हैं दिशायें=अवकाश प्रदान या दान-प्रक्रियायें जिसकी, उसका नाम है—'विदिश' । बहुव्रीहि समास करने पर उपसर्जन ह्रस्व हो जाता है । इस नाम को **"दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्"** (यजुः ३१।१३) इत्यादि मन्त्र प्रमाणित करता है ।

दिशाओं का उत्तर दक्षिण आदि व्यवहार सूर्य के गतिभेद से सिद्ध होता है । जैसा कि—**"यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कुरु"** (अथर्व १९।५।१) इस मन्त्र से आरम्भ करके **"अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी०"** (अथर्व १९।५।५) इत्यादि अथर्ववेद मन्त्रों में प्रतिपादित है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

लोकेऽस्ति सिद्धो विदिशः स विष्णुः, स्थानं न तद्यत्र न सोऽस्ति सृप्तः ।
दिशः समग्राः श्रवणाच्च तस्य, प्रकाशमीयुर्विदिशोऽस्त्यतः सः ॥२२१॥

व्यादिशः—६३६

वि-आङ्पूर्वादतिसर्जनार्थाद् 'दिश' इगुपधलक्षणः 'कः' । विविधमा समन्ताद्दिशति=ददातीति 'व्यादिशः' । दानाय वा अन्यान् विविधं प्रेरयतीति ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"प्रजां देवि दिदिड्ढि नः" । ऋक् २।३२।६; २।४१।१७॥

भवति चात्रास्माकम्—

स व्यादिशो विष्णुरदभ्रदाता, तं वापि सर्वे नम आदिशन्ति ।
तदात्मतां याति हुतञ्च सर्वं, स सर्वकस्मै च ददाति देयम् ॥२२२॥

भगवान् विष्णु का नाम 'विदिश' है, क्यों कि वह सब दिशाओं में प्रसृप्त अर्थात् व्याप्त है । वस्तुतः ऐसा कोई स्थान ही नहीं, जहां भगवान् विष्णु की सत्ता न हो, और उसके श्रवणेन्द्रिय अर्थात् सङ्कल्पित अवकाश से दिशाओं का प्रकाश हुआ है, इसलिये भगवान् का नाम 'विदिश' है ।

व्यादिशः—६३६

वि और आङ् उपसर्गपूर्वक 'दिश्' धातु से इगुपधलक्षण 'क' प्रत्यय करने से 'व्यादिश' शब्द सिद्ध होता है ।

जो विविध प्रकार से और चारों ओर से देता है, उसका नाम 'व्यादिश' है । अथवा—जो अन्यों को दान के लिये प्रेरणा करे, उसका नाम 'व्यादिश' है । जैसा कि—"प्रजां देवि दिदिड्ढि नः" (ऋक् २।३२।६; २।४१।१७) इत्यादि मन्त्रों से यह नामार्थ प्रमाणित होता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

वह अदभ्रदाता (यथेप्सित देने वाला) भगवान् विष्णु 'व्यादिश' नाम का वाच्यार्थ है । उस को सब नमस्कार करते हैं, तथा उस के लिये हवन किया हुआ हवि द्रव्य, तद्रूपता को प्राप्त हो जाता है । वह सब विश्व में वर्तमान जीवों को अनुकूल देय द्रव्य देता है ।

दिशः—९४०

'दिशतेः' अतिसर्जनार्थादिगुपधलक्षणः 'कः'। आज्ञापनकर्मा चेहायम्। दिशति=आज्ञापयति वेदमुखेन विश्वनिबन्धनेन च, एवं कर्तव्यमेवं नेति='दिशः'। अनेकार्था हि धातवो भवन्ति।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता॥"
ऋक् १०।११०।७॥

भवति चात्रास्माकम्—

दिशो हि विष्णुः सकलाय सर्वं, यथेष्टभोगाय ददाति नित्यम्।
सूर्याय यो द्यां च खगाय पक्षौ, घासञ्च गोभ्यो मनुजाय मेधाम्॥२२३॥



दिशः—९४०

अतिसर्जनार्थक 'दिश' धातु से इगुपधलक्षण 'क' प्रत्यय करने से 'दिश' शब्द सिद्ध होता है। यहां दिश धातु का अर्थ आज्ञापन है, क्यों कि धातुओं के अर्थ अनेक होते हैं।

जो विश्व-निबन्धन (विश्व की रचना) या वेद के द्वारा आज्ञा देता है—कि ऐसा करना, ऐसा नहीं करना, उस का नाम 'दिश' है। इस नाम में "दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा०" (ऋक् १०।११०।७) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'दिश' है, क्यों कि वह सब को यथेष्ट भोगों को भोगने के लिये भोगसाधन तथा भोज्य पदार्थ देता है। जैसे कि सूर्य के लिये द्युलोक, गो आदि पशुओं के लिये घास, तथा मनुष्यों के लिये बुद्धि आदि।

अनादिर्भूर्भुवो लक्ष्मीः सुवीरो रुचिराङ्गदः ।
जननो जनजन्मादिर्भीमो भीमपराक्रमः ॥११४॥

९४१ अनादिः, ९४२ भूर्भुवः, ९४३ लक्ष्मीः, ९४४ सुवीरः, ९४५ रुचिराङ्गदः । ९४६ जननः, ९४७ जनजन्मादिः, ९४८ भीमः, ९४९ भीमपराक्रमः ॥

अनादिः—९४१

'डुदाञ् दाने' जौहोत्यादिको धातुः, तत आङ्पूर्वकात् "उपसर्गे घोः किः" (पा० ३।३।९२) सूत्रेण कर्मणि 'किः' प्रत्ययस्तस्मिन्नाल्लोप आदीयत इत्यादिः । निषेधार्थीयेन नञा समासे, नञो नलोपः । न आदीयते=न गृह्यते समनस्कैर्ज्ञानेन्द्रियैः कर्मेन्द्रियैश्च मृल्लोष्ठवदिति—'अनादिः', अचिन्त्यरूपो विष्णुः । यद्वा—न आदीयते=स्वीक्रियते स्वोद्भवाय किञ्चिदपरं निमित्तकारणमनेन सो 'अनादिः' स्वयम्भूः, स्वयञ्जातः, स्वयंसिद्ध इत्यर्थः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा" ।
यजुः ३२।१०॥

अनादिः—९४१

दानार्थक जुहोत्यादिगणपठित आङ्पूर्वक 'दा' धातु से कर्म में 'कि' प्रत्यय, तथा आकार का लोप करने से 'आदि' शब्द सिद्ध होता है । जिसका आदान (ग्रहण) किया जाता है, उसका नाम 'आदि' है । इस आदि शब्द का निषेधार्थक नञ् के साथ समास करने से और नकार का लोप करने से 'अनादि' शब्द सिद्ध होता है । जिसका मनसहित ज्ञानेन्द्रिय या कर्मेन्द्रियों से आदान (ग्रहण) नहीं हो सकता, उसका नाम 'अनादि' है । अर्थात् जो मिट्टी के ढेले के समान, मनसहित इन्द्रियों का विषय नहीं होता, उसको 'अनादि' कहते हैं । यह अचिन्त्य-स्वरूप भगवान् विष्णु का नाम है ।

अथवा—जो अपने प्रकट होने के लिए किसी अन्य कारण की अपेक्षा (आवश्यकता) नहीं रखता, उसका नाम 'अनादि' है । इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसी अनादि शब्द के समानार्थक स्वयम्भूः, स्वयञ्जात, स्वयंसिद्ध इत्यादि शब्द होते हैं । इस नामार्थ का समर्थन—"स नो बन्धुर्जनिता स विधाता०" (यजुः ३२।१०); "अपूर्वेणेषिता

"अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम् ।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ॥" अथर्व १०।८।३३॥
"सदसस्पतिमद्भुतम्" । यजुः ३२।१३॥ इति निदर्शनम् ।

लोकेऽपि च पश्यामो—यथा कुम्भकारमृत्तिकाद्यपेक्षया घटरूपकार्यस्य सादित्वं न तथा विष्णोः कार्यत्वाभावात् । अतः सोऽनादिरुच्यते विष्णुः । यद्वा—देशकालवस्तुपरिच्छेदराहित्येनेयत्तया अनादीयमान=अगृह्यमाणः सोऽनादिरिति ।

"अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।"

इति श्रीकृष्णगीता (अ० २।२५) वचनात् ।

भवति चात्रास्माकम्—

संयोगजं विश्वमिदं समस्तं, यः संयुनक्त्यात्मभवः पृथक् सः ।
सोऽनादिरुक्तः कविभिः पुराणै, र्विष्णुं विना नान्यदिहास्ति किञ्चित् ॥२२४॥

भूर्भुवः—६४२

'भू सत्तायाम्' भौवादिको धातुः, ततः "सम्पदादिभ्यः०" (वा० ३।३।९४) इत्यनेनाधिकरणे 'क्विप्' । भवन्त्यस्यामिति 'भूः' पृथिवी । तस्या भूः=आधारः ।

वाच०" (अथर्व १०।८।३३)' तथा' 'सदसस्पतिमद्भुतम्" (यजुः ३२।१३) इत्यादि मन्त्र करते हैं । यह उदाहरण मात्र है ।

हम लोक में भी देखते हैं—जसे घटरूप कार्य, कुम्भकार या मिट्टी आदि की अपेक्षा से सादि है, उस प्रकार भगवान् विष्णु सादि नहीं है, किसी का कार्य न होने से । इसलिए भगवान् 'अनादि' है । अथवा—देश काल तथा वस्तुकृत परिच्छेद से रहित होने से वह इयत्ता-रूप परिमाण से ग्रहण नहीं किया जा सकता, इसलिए उसका नाम 'अनादि' है । इसी भाव का पोषक "अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम्०" (अ० २।२५) इत्यादि गीताकार श्रीकृष्ण का वचन है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

इस समस्त विश्व की उत्पत्ति संयोग से होती है, किन्तु संयोग करने वाला संयोक्ता इस विश्व से पृथक् तथा स्वयम्भू अर्थात् स्वयंसिद्ध है । उसी परमतत्त्व को विद्वानों ने 'अनादि' नाम से कहा है । उस अनादि विष्णु के बिना यहां विश्व में कुछ भी नहीं है ।

भूर्भुवः—६४२

सत्तार्थक 'भू' धातु से अधिकरण में 'क्विप्' प्रत्यय करने से 'भू' शब्द सिद्ध होता है । जिसमें ये सब भूत=प्राणी होते हैं, उसका नाम 'भू' है । यह पृथिवी का नाम है ।

प्रथमश्च भूशब्दः प्रथमान्तो "भुवः संज्ञान्तरयोः" (पा० ३।२।१७६) सूत्रेण कर्तरि 'क्विपि' सिध्यति। एवञ्च प्रथमो भू शब्द आधारवाचकः प्रथमान्तो, द्वितीयश्च षष्ठयन्तः पृथिवीवाचकः। भुवर्यो भावयिता=उत्पादको मूलाधारः स 'भूर्भुव' इत्युच्यते।

स्वयं स्वस्मिन् भवतीति वा 'भूर्भुव' इति। लोकेऽपि च दृश्यते—घटादि-कार्यसत्तासम्पादयिता, घटादेरादौ स्वयंसिद्धो घटादीन् कर्तुमुपक्रमते, सोऽयमेव भावो 'भूर्भुव' इति नाम्ना व्यज्यते।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥"
अथर्व १०।८।४४॥

तथा च—

"अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन् विद्वान् भूतमुत भव्यमस्य॥"
अथर्व १०।८।१२॥

भवति चात्रास्माकम्—

स भूर्भुवः सत्यमनन्तरूपो, विष्णुर्हि विश्वं कुरुतेऽन्तवच्च।
तस्मिन् हि तस्युर्भुवनानि विश्वा, स्तम्नाति तन्नैव परान्यशक्तिः॥२२५॥

उस भू=पृथिवी का जो भूः=आधार है, उसका नाम 'भूर्भुवः' है। इस प्रकार से प्रथम प्रथमान्त भू शब्द आधार का वाचक है, तथा द्वितीय षष्ठयन्त भू शब्द पृथिवी का वाचक है। भू का जो उत्पन्न करने वाला अर्थात् मूलकारण है, उसका नाम 'भूर्भुवः' है।

अथवा—जो अपने आप अपने में ही हो, उसका नाम 'भूर्भुवः' है। लोक में भी देखने में आता है—घट आदि कार्य का कर्ता कुम्भकार आदि घटरूप कार्य से पहले से ही सिद्ध हुआ घटादि कार्य को करना आरम्भ करता है। 'भूर्भुवः' शब्द से भी यह ही भाव प्रकट होता है। तथा यह ही भाव "अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भूः०" (अथर्व १०।८।४४) तथा "अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते०" (अथर्व १०।८।१२) इत्यादि मन्त्रों से सिद्ध होता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

सत्यस्वरूप तथा अनन्तरूप भगवान् विष्णु का नाम 'भूर्भुवः' है, क्योंकि उस सान्त विश्व के कर्ता तथा आधाररूप विष्णु की कोई दूसरी शक्ति स्तम्भक अर्थात् आधार या कारण नहीं है।

लक्ष्मीः—६४३

'लक्ष दर्शनाङ्कनयोः' चौरादिको धातुः, ततो **"लक्षेर्मुट् च"** (उ० ३।१६०) इत्युणादिसूत्रेण 'ईः' प्रत्ययो मुटश्चागमः, णिलोपः, नेड्वशीतीण्निषेधो 'लक्ष्मीः'। लक्षयति=दर्शयतीति 'लक्ष्मीः'। सम्पत्तेः शोभाया वा नाम 'लक्ष्मीः' इति। स एव च लक्ष्मीरूपेण शोभारूपेण च सर्वत्र प्रसृतस्तथा च तेनैतद्रूपेण सर्वमङ्कितं दर्शितं वा भवति। लक्ष्मीवन्तो हि दूरस्था अपि दृश्यन्तेऽङ्किताइव।

यद्वा—यो जगद्रूपेण तटस्थलक्षणेन लक्षितो भवति, स 'लक्ष्मीः' इति नाम्नाभिधीयते। आविष्टलिङ्गोऽयम्, सा देवता लक्ष्मीरिति वा ज्ञेयम्।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि"। ऋक् १०।७१।२॥

"लक्ष्मण्यस्य सुरुचो यतानाः"। ऋक् ५।३३।१०॥

"श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे"। यजुः ३१।२२॥

लोकेऽपि च पश्यामः—सूर्यो हि प्रभयाङ्कितः सर्वैरेव दृश्यते दूरस्थोऽपि। तथा चाङ्कितः सूर्यो दिनादिमध्यान्तं, रात्र्यादिमध्यान्तञ्चाङ्कयति, तस्माल्लक्ष्मीः सूर्यः। तथा च—

लक्ष्मीः—६४३

लक्षण और दर्शन अर्थ में वर्तमान चौरादिक 'लक्ष' धातु से उणादि 'ई' प्रत्यय और 'मुट्' का आगम करने से 'लक्ष्मी' शब्द सिद्ध होता है। जो लक्षित (दर्शित) करती है, उसका नाम 'लक्ष्मी' है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार, सम्पत्ति या शोभा का नाम 'लक्ष्मी' होता है। तथा भगवान् विष्णु ही, लक्ष्मी=सम्पत्ति या शोभा के रूप से सर्वत्र प्रसृत (फैला हुआ) है, और इसी रूप से सब को अङ्कित या लक्षणों द्वारा दर्शित करता है। क्योंकि लक्ष्मीवान् पुरुष अङ्कित (चिह्नित हुए के समान) दूर से ही दीखते हैं।

अथवा—जो जगत्रूप तटस्थ लक्षण से लक्षित (ज्ञात) होता है, उसका नाम 'लक्ष्मी' है। यह विशेष्याधीन शब्द है। इसलिये वह देवता लक्ष्मी है, ऐसा भी कहा जा सकता है। यह नाम **"भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि"** (ऋक् १०।७१।२); **"लक्ष्मण्यस्य सुरुचो यतानाः"** (ऋक् ५।३३।१०); **"श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे"** (यजुः ३१।२२) इत्यादि मन्त्रों से प्रमाणित होता है।

लोक में भी हम देखते हैं—सूर्य दूर होता हुआ भी प्रभा से अङ्कित होने से सब को दीखता है, और स्वयं अङ्कित हुआ सूर्य दिन के तथा रात्रि के आदि मध्य और अन्त

"पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः"। अथर्व १०।८।१४॥

इत्यपि लिङ्गं भवति। भवति चात्रास्माकम्—

लक्ष्मीर्हि विष्णुः स हि वास्ति सूर्यः, स दृश्यते सर्वजनैः पृथक्शः।
पश्यंश्च लोकान् दिनरात्रिभागान्, दिव्यङ्कयन् याति रथेन देवः॥२२६॥

सुवीरः—६४४

सु—वि—उपसर्गौ। 'ईर गतौ कम्पने च' इति धातुरादादिकस्ततः "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" (पा० ३।१।१३५) इति सूत्रेण इगुपधलक्षणः 'कः' प्रत्ययः। शोभना=सरला विविधा च ईरा=गतिर्यस्य स 'सुवीरः'। यद्वा—शोभना, दक्षिणोत्तरायणभेदेन विविधा च गतिर्यस्य स 'सुवीरः' सूर्यः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम्।
गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्र चरा सोम दुर्यान्"॥
ऋक् १।९१।१९॥

बहुत्र विविधविभक्तिवचनान्तः सुवीरशब्दो वेदे।

भवति चात्रास्माकम्—

को अङ्कित (चिह्नित) करता है, इसलिये सूर्य का नाम 'लक्ष्मी' है। यह भाव "पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः" (अथर्व १०।८।१४) इस मन्त्र से पुष्ट होता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

'लक्ष्मी' नाम विष्णु या सूर्य का है। सूर्य को सब जन्तु भिन्न भिन्न देखते हैं, तथा वह भी सब को देखता हुआ तथा दिन और रात्रि के खण्डों को लक्षित करता हुआ द्युलोक में रथ से गमन कर रहा है।

सुवीरः—६४४

सु और वि उपसर्ग हैं। इन से युक्त, गति तथा कम्पनार्थक अादादिक 'ईर' धातु से इगुपधलक्षण 'क' प्रत्यय करने से 'वीर' शब्द सिद्ध होता है। शोभन और विविध प्रकार की है गति जिसकी, उसका नाम 'सुवीर' है। अर्थात् शोभन, उत्तरायण और दक्षिणायन आदि भेद से विविध प्रकार की जिसकी गति है, उसका नाम 'सुवीर' है। यह भगवान सूर्य का 'सुवीर' नाम—"या ते धामानि हविषा यजन्ति" (ऋक् १।९१।१९) इत्यादि मन्त्र से प्रमाणित होता है। सुवीर शब्द वेद में भिन्न भिन्न विभक्तिवचनान्त प्रयुक्त हुआ है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

लक्ष्मीः—६४३

'लक्ष दर्शनाङ्कनयोः' चौरादिको धातुः, ततो **"लक्षेर्मुट् च"** (उ० ३।१६०) इत्युणादिसूत्रेण 'ईः' प्रत्ययो मुटश्चागमः, णिलोपः, नेड्वशीतीण्निषेधो 'लक्ष्मीः'। लक्षयति=दर्शयतीति 'लक्ष्मीः'। सम्पत्तेः शोभाया वा नाम 'लक्ष्मीः' इति। स एव च लक्ष्मीरूपेण शोभारूपेण च सर्वत्र प्रसृतस्तथा च तेनैतद्रूपेण सर्वमङ्कितं दर्शितं वा भवति। लक्ष्मीवन्तो हि दूरस्था अपि दृश्यन्तेऽङ्किताइव।

यद्वा—यो जगद्रूपेण तटस्थलक्षणेन लक्षितो भवति, स 'लक्ष्मीः' इति नाम्नाभिधीयते। आविष्टलिङ्गोऽयम्, सा देवता लक्ष्मीरिति वा ज्ञेयम्।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि"। ऋक् १०।७१।२॥

"लक्ष्मण्यस्य सुरुचो यतानाः"। ऋक् ५।३३।१०॥

"श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे"। यजुः ३१।२२॥

लोकेऽपि च पश्यामः—सूर्यो हि प्रभयाङ्कितः सर्वैरेव दृश्यते दूरस्थोऽपि। तथा चाङ्कितः सूर्यो दिनादिमध्यान्तं, रात्र्यादिमध्यान्तञ्चाङ्कयति, तस्माल्लक्ष्मीः सूर्यः। तथा च—

लक्ष्मीः—६४३

लक्षण और दर्शन अर्थ में वर्तमान चौरादिक 'लक्ष' धातु से उणादि 'ई' प्रत्यय और 'मुट्' का आगम करने से 'लक्ष्मी' शब्द सिद्ध होता है। जो लक्षित (दर्शित) करती है, उसका नाम 'लक्ष्मी' है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार, सम्पत्ति या शोभा का नाम 'लक्ष्मी' होता है। तथा भगवान् विष्णु ही, लक्ष्मी=सम्पत्ति या शोभा के रूप से सर्वत्र प्रसृत (फैला हुआ) है, और इसी रूप से सब को अङ्कित या लक्षणों द्वारा दर्शित करता है। क्योंकि लक्ष्मीवान् पुरुष अङ्कित (चिह्नित हुए के समान) दूर से ही दीखते हैं।

अथवा—जो जगत्‌रूप तटस्थ लक्षण से लक्षित (ज्ञात) होता है, उसका नाम 'लक्ष्मी' है। यह विशेष्याधीन शब्द है। इसलिये वह देवता लक्ष्मी है, ऐसा भी कहा जा सकता है। यह नाम **"भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि"** (ऋक् १०।७१।२); **"लक्ष्मण्यस्य सुरुचो यतानाः"** (ऋक् ५।३३।१०); **"श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे"** (यजुः ३१।२२) इत्यादि मन्त्रों से प्रमाणित होता है।

लोक में भी हम देखते हैं—सूर्य दूर होता हुआ भी प्रभा से अङ्कित होने से सब को दीखता है, और स्वयं अङ्कित हुआ सूर्य दिन के तथा रात्रि के आदि मध्य और अन्त

"पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः" । अथर्व १०।८।१४॥

इत्यपि लिङ्गं भवति । भवति चात्रास्माकम्—

लक्ष्मीर्हि विष्णुः स हि वास्ति सूर्यः, स दृश्यते सर्वजनैः पृथक्शः ।
पश्यंश्च लोकान् दिनरात्रिभागान्, दिव्यङ्कयन् याति रथेन देवः ॥२२६॥

सुवीरः—६४४

सु—वि—उपसर्गौ । 'ईर गतौ कम्पने च' इति धातुरादादिकस्ततः "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" (पा० ३।१।१३५) इति सूत्रेण इगुपधलक्षणः 'कः' प्रत्ययः । शोभना=सरला विविधा च ईरा=गतिर्यस्य स 'सुवीरः' । यद्वा—शोभना, दक्षिणोत्तरायणभेदेन विविधा च गतिर्यस्य स 'सुवीरः' सूर्यः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम् ।
गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्र चरा सोम दुर्यान्" ॥
ऋक् १।६१।१६ ॥

बहुत्र विविधविभक्तिवचनान्तः सुवीरशब्दो वेदे ।

भवति चात्रास्माकम्—

को अङ्कित (चिह्नित) करता है, इसलिये सूर्य का नाम 'लक्ष्मी' है । यह भाव "पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः" (अथर्व १०।८।१४) इस मन्त्र से पुष्ट होता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

'लक्ष्मी' नाम विष्णु या सूर्य का है । सूर्य को सब जन्तु भिन्न भिन्न देखते हैं, तथा वह भी सब को देखता हुआ तथा दिन और रात्रि के खण्डों को लक्षित करता हुआ द्युलोक में रथ से गमन कर रहा है ।

सुवीरः—६४४

सु और वि उपसर्ग हैं । इन से युक्त, गति तथा कम्पनार्थक आदादिक 'ईर' धातु से इगुपधलक्षण 'क' प्रत्यय करने से 'वीर' शब्द सिद्ध होता है । शोभन और विविध प्रकार की है गति जिसकी, उसका नाम 'सुवीर' है । अर्थात् शोभन, उत्तरायण और दक्षिणायन आदि भेद से विविध प्रकार की जिसकी गति है, उसका नाम 'सुवीर' है । यह भगवान् सूर्य का 'सुवीर' नाम—"या ते धामानि हविषा यजन्ति" (ऋक् १।६१।१६) इत्यादि मन्त्र से प्रमाणित होता है । सुवीर शब्द वेद में भिन्न भिन्न विभक्तिवचनान्त प्रयुक्त हुआ है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

सुवीरः कथितो विष्णुः, सूर्यो वास्ति सनातनः ।
विविधा हि गतिर्लोके, सूर्यमूला विनानृजुम्[1] ॥२२७॥

१. सूर्य-चन्द्रमसो वंक्रता न भवति ।

तत्र विविधा गतयो, यथा 'सूर्यसिद्धान्ते'—

वक्रानुवक्रा कुटिला. मन्दा मन्दतरा समा ।
तथा शीघ्रतरा शीघ्रा ग्रहाणामष्टधा गतिः ॥

अजते वीरः पूर्वत्र बहुधा साधितः ।

रुचिराङ्गदः—९४५

रुचिरमिति—'रुच दीप्तावभिप्रीतौ च' इति भौवादिको धातुः, ततः "इसिमदिमुदिविविच्छिदिभिदिमन्दिचन्दितिमिमिहिमुहिमुचिरुचिरुधिबन्धिशुषिभ्यः किरच्" (उ० १।५१) इत्युणादिसूत्रेण 'किरच्' प्रत्ययः, कित्त्वाद् गुणाभावो='रुचिरम्' इति ।

अङ्ग इति—'अङ्गतेः' गतिकर्मणो "हलश्च" (पा० ३।३।१२१) इति संज्ञायामधिकरणे 'घञ्' । अङ्गत्यत्रावयवीति 'अङ्गम्' । यद्वा—अङ्गनमङ्गो, गतिवचनः । इदित्त्वान्नुम्, अनुस्वारपरसवर्णौ । रुचिरश्चासावङ्गो 'रुचिराङ्गः' ।

सनातन पुरुष भगवान् विष्णु या सूर्य का नाम 'सुवीर' है । वक्रा गति के अतिरिक्त सूर्य की नाना प्रकार की गतियां होती हैं, अर्थात् सब ग्रहों या अन्य जङ्गम पदार्थों की गति का मूल आश्रय सूर्य ही होता है, किन्तु वह वक्रगति कभी नहीं होता । इसी प्रकार चन्द्रमा भी कभी वक्री नहीं होता ।

'सूर्यसिद्धान्त' नामक ज्योतिष ग्रन्थ में ग्रहों की विविध गतियों का "वक्रानुवक्रा कुटिला मन्दा मन्दतरा समा०" इत्यादि रूप से ८(अष्ट)भेद युक्त वर्णन किया गया है । उनके नाम इस प्रकार हैं—१. वक्रा २. अनुवक्रा ३. कुटिला ४. मन्दा ५. मन्दतरा ६. समा ७. शीघ्रा ८. शीघ्रतरा ।

'वीर' शब्द की 'अज' धातु से सिद्धि पहले बहुत बार की जा चुकी है ।

रुचिराङ्गदः—९४५

'रुचिर' शब्द दीप्त्यर्थक तथा अभिप्रीत्यर्थक 'रुच' धातु से उणादि 'किरच्' प्रत्यय, और किन्निमित्तक गुण का अभाव होने से सिद्ध होता है । 'अङ्ग' शब्द गत्यर्थक 'अगि' धातु से अधिकरण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय होने से बनता है । जिसमें अवयवी गति करता है, उसका नाम 'अङ्ग' है । अथवा—भाव में 'घञ्' प्रत्यय करने से गति का ही नाम 'अङ्ग' है । रुचिर और अङ्ग का कर्मधारय समास करने से रुचिर=सुन्दर अङ्ग (शरीर) या गति का नाम 'रुचिराङ्ग' है ।

रुचिराङ्गोपपदात् 'ददातेः' "आतोऽनुपसर्गे कः" (पा० ३।२।३) सूत्रेण 'कः' प्रत्ययस्तस्मिश्चाल्लोप "आतो लोप इटि च" (पा० ६।४।६४) सूत्रेण। रुचिराङ्गं ददातीति 'रुचिराङ्गदः' विष्णुः सूर्यश्च। एवञ्च सुन्दरगतियुक्तं शरीरं, सुन्दरं गमनं वा यो ददाति स 'रुचिराङ्गदः'।

दृश्यते च लोकेऽपि—रुचिरैर्गमनशीलैरङ्गैः युक्तं विविधप्राणिवर्गस्य शरीरं क्रियादक्षं भवति। एवं प्राणिनां गतिशीलानामङ्गानां दाता स एव सर्वप्राणिहृदयंसन्निविष्टः सर्वं पश्यन्निव गुप्तः सर्वस्य गोप्ता विष्णुरिति। एष एव रुचिराङ्गदस्य रुचिराङ्गदत्वरूपो गुणः सर्वत्र विश्वे वर्तमानः विष्णुमाचष्टे। सूर्यदृष्टाङ्गे च विशिष्टा रुचिरता भवति। इत्यादि सर्वं लोकं दृष्ट्वा स्पष्टं भवति।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"त्वं कृपा पावक रोचसे"। ऋक् ६।२।६॥

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्हि लोके रुचिराङ्गदोऽस्ति, सूर्योऽथवा विश्वसृडस्ति वेत्ता।
कस्मै शरीराय कथम्विधं वा, दत्तं सुखायास्तु तदङ्गमङ्गम्॥२२८॥

इस रुचिराङ्ग शब्द के उपपद रहते 'दा' धातु से क प्रत्यय और आकार का लोप करने से 'रुचिराङ्गद' शब्द बन जाता है। रुचिर=सुन्दर अङ्ग को देने वाले का नाम 'रुचिराङ्गद' है। यह विष्णु या सूर्य का नाम है। इस प्रकार से जो सुन्दर गतियुक्त शरीर या सुन्दर गति को देता हैं, उसका नाम 'रुचिराङ्गद' है।

लोक में भी देखा जाता है—प्रत्येक प्राणी का शरीर, सुन्दर गमनशील अङ्गों से युक्त होकर ही क्रिया (कार्य) करने में समर्थ होता हे। और प्राणियों को इन गतिशील अङ्गों का देने वाला, वह ही सब के हृदयों में सन्निविष्ट, सब का द्रष्टा तथा सब का रक्षक भगवान् विष्णु है। यह ही भगवान् 'रुचिराङ्गद', अपने रुचिराङ्गदत्वरूप गुण से सर्वत्र विश्व में व्याप्त हो रहा हैं। इसीलिए सूर्य से अङ्ग (लग्न) के दृष्ट होने पर जातक विशेष रुचिर=सुन्दर होता है। यह सब लोक में देखने से स्पष्ट होता है। इसी भाव की पुष्टि **"त्वं कृपा पावक रोचसे"** (ऋक् ६।२।६) इत्यादि मन्त्र करता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु या सूर्य का नाम 'रुचिराङ्गद' है, क्योंकि वह विश्व का स्रष्टा इस बात को अच्छे प्रकार जानता है कि किस शरीर के लिए कैसा गतिशील अङ्ग दिया हुआ सुखकारक होगा।

यच्चात्र लोके सरलं सुविधाजनकं यन्त्रादिकं शिल्पिभिः क्रियते, तद्विष्णोरेवानुकरणम्। ज्ञानस्यादिमः स्रोतो विष्णुरेव।

जननः—९४६

'जनी प्रादुर्भावे' दैवादिको धातुः, ततो 'णिच्', तस्मिन् प्राप्ताया उपधावृद्धेः "जनिवध्योश्च" (पा० ७।३।३५) सूत्रेण निषेधः। ततो 'ल्युः' योरनादेशः, णिलोपः। जनयतीति 'जननः' सर्वस्य जगतो जननः, स्वयमजोऽपि।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"सोमापूषणा जनना रयीणां जनना दिवो जनना पृथिव्याः।
जातौ विश्वस्य भुवनस्य गोपौ देवा अकृण्वन्नमृतस्य नाभिम्"॥
ऋक् २।४०।१॥

"स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा"।
यजुः ३२।१०॥

लोकेऽप्येषो जननरूपो गुणः सर्वत्र व्याप्तो दृश्यते, यतो हि सर्वे जीवा जननाः स्वापत्यानाम्।

भवति चात्रास्माकम्—

यहां भगवान् विष्णु का ही अनुकरण करते हुए शिल्पी (कारीगर) यन्त्रों का निर्माण करते हैं, क्योंकि ज्ञान के आदि स्रोत भगवान् विष्णु ही हैं, अर्थात् जगत् में जो ज्ञान का प्रवाह है, उसका मूल उद्गम स्थान विष्णु है।

जननः—९४६

प्रादुर्भावार्थक दिवादिगणपठित 'जनी' धातु से 'णिच्' प्रत्यय करने पर प्राप्त उपधावृद्धि का "जनीवध्योश्च" (पा० ७।३।३५) सूत्र से निषेध, नन्द्यादि 'ल्यु', यु को अन आदेश, तथा णि का लोप करने से 'जनन' शब्द सिद्ध होता है। 'जनन' शब्द का अर्थ है—जो सब जगत् का जनक अर्थात् उत्पन्न करने वाला है, किन्तु स्वयं अज अर्थात् अजन्मा है। इसी अर्थ को पुष्ट करने वाला "सोमापूषणा जनना रयीणाम्०" (ऋक् २।४०।१) तथा "स नो बन्धुर्जनिता स विधाता" (यजुः ३२।१०) इत्यादि मन्त्र है।

यह जननरूप गुण लोक में भी सर्वत्र व्याप्त दीखता है, क्योंकि सब ही प्राणी अपने अपने सन्तान के जनक होते हैं।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

स बन्धुरुक्तो जननो हि विष्णुः, सूर्यं स जज्ञे सवितारमग्रयम् ।
विष्णुः पुनर्बीजमिवात्मशक्त्या, ¹वशासहायः प्रकरोति विश्वम् ॥२२९॥

१. "वशेदं सर्वमभवत्, यावत् सूर्यो विपश्यति" । अथर्व १०।१०।३४॥

जनजन्मादिः—९४७

जायन्ते इति 'जनाः', 'जनी प्रादुर्भावे' धातोः कर्तरि पचादि 'अच्' । जननं='जन्म', उणादि 'मनिन्' प्रत्ययः । 'आदिः'—'ददातेः' "उपसर्गे घोः किः" (पा० ३।३।९२) इति 'किः' प्रत्ययः, किस्त्वादालोपः । जनानां जन्मन आदिः='जनजन्मादिः' मूलकारणमित्यर्थः । स च विष्णुः सूर्योऽग्निर्वा ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"जनं जनं धायसे चक्षसे च" । ऋक् ५।१५।४ ॥
"विद्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः । पश्यञ्जन्मानि सूर्य" ॥
ऋक् १।५०।७ ॥
"अग्निर्जन्मानि देव आ वि विद्वान्" । ऋक् ७।१०।२ ॥

भगवान् विष्णु का नाम बन्धु तथा उसी का नाम 'जनन' है, क्योंकि उसने ही सबसे पहले सवितृरूप सूर्य को उत्पन्न किया, फिर स्वयं बीज के समान वर्तमान उसने वशा (माया) अर्थात् अपनी शक्ति से इस सकल विश्व को बनाया ।

वशा शब्द की पुष्टि "वशेदं सर्वमभवत्०" (अथर्व १०।१०।३४) इत्यादि मन्त्र से होती है ।

जनजन्मादिः—९४७

प्रादुर्भावार्थक 'जनी' धातु से पचादि 'अच्' प्रत्यय करने से 'जन' शब्द सिद्ध होता है । जिसका अर्थ है जो जन्म लेता है । 'जन्म' नाम उत्पत्ति का है । 'जनी' धातु से उणादि 'मनिन्' प्रत्यय करने से बनता है । 'आदि' शब्द 'दा' धातु से कृत् 'कि' प्रत्यय और आकार का लोप करने से बनता है । जनों के जन्म के आदि अर्थात् मूलकारण का नाम 'जनजन्मादि' है ।

यह नाम विष्णु सूर्य या अग्नि का है । यह नामार्थ "जनं जनं धायसे चक्षसे च" (ऋक् ५।१५।४); "विद्यामेषि रजस्पृथ्वहा०" (ऋक् १।५०।७); "अग्निर्जन्मानि देव आ वि विद्वान्" (ऋक् ७।१०।२) तथा 'ते हि द्यावापृथिवी०"

"ते हि द्यावापृथिवी मातरा मही देवी देवाञ्जन्मना यज्ञिये इतः ।
उभे बिभृत उभयं भरीमभिः पुरू रेतांसि पितृभिश्च सिञ्चतः" ॥
ऋक् १०।६४।१४ ॥

अग्निरीशे बृहतो अध्वरस्याग्निर्विश्वस्य हविषः कृतस्य" ।
ऋक् ७।११।४ ॥

"अग्निर्हवि····· यथा देवानां जनिमानि वेद" । ऋक् ३।४।१० ॥

"त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्नेः ।
अनन्ते अन्तः परिवीत आगाच्छुचिः शुक्रो अर्यो रोरुचानः" ॥
ऋक् ४।१।७ ॥

इति निदर्शनम् । बहुत्र वेदे जनेः सुप्तिङन्ताः प्रयोगाः । निदर्शनमात्रन्नः प्रयोजनं न प्रपञ्चः । जनजन्मादेः प्रतीकभूतौ पितरौ जन्मभृतां लोके चापि दृश्येते । पृथिवीहलयोरिव, पृथिवी स्त्री, हलश्च पुरुषशक्तियुक्तः पुमान्, रेतः स्थानीयं बीजं प्रकीर्य जनयति सस्यम् । तत्र बीजप्रकिरणे सस्यजनने च मूलकारणता पृथिवीहलयोरेव । एवमयं विष्णुरपि जीवजन्ममूलकारणत्वात् 'जनजन्मादिः' उक्तो भवति ।

भवति चात्रास्माकम्—

(ऋक् १०।६४।१४) और "अग्निरीशे बृहतोऽध्वरस्य०" (ऋक् ७।११।४) इत्यादि मन्त्रों से प्रमाणित होता है । इसी अर्थ को यह "अग्निर्हविः···यथा देवानां जनिमानि वेद" (ऋक् ३।४।१०) तथा "त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा०" (ऋक् ४।१।७) इत्यादि मन्त्र भी पुष्ट करते हैं । यह उदाहरण मात्र का प्रदर्शन है ।

जनी धातु के सुबन्त तथा तिङन्त रूप से बहुत से प्रयोग वेद में देखने में आते हैं । हमारा प्रयोजन केवल उदाहरण मात्र दिखलाना है, विस्तार करना नहीं । लोक में भी प्राणियों के माता पिता, 'जनजन्मादि' भगवान् के प्रतीक अर्थात् तत्स्थानापन्न हैं हल और पृथिवी, ऐसा देखने में आता है । हल पृथिवी का कर्षण करता है, वहां हल पुरुष-शक्ति युक्त होने से पुमान् और पृथिवी बीजाधानी होने से स्त्री है । इसमें बीजस्थानीय=रेतोधातु का स्थानीय बीज=गोधूम आदि है, जिससे धान्य की उत्पत्ति होती है । यहां बीज के वपन या धान्य के उत्पन्न करने में मूल कारण पृथिवी और हल ही हैं । इसी प्रकार भगवान् विष्णु भी जीवों के जन्मों के मूल कारण होने से 'जनजन्मादि' कहे जाते हैं ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

अग्निर्हि विष्णुः स हि वास्ति सूर्यो, यज्ञः स वा सर्वजनस्य चादिः।
तस्मात् स विष्णुः सकलं प्रपश्यन्, पुंस्त्रीस्वरूपेण विभाति जन्ये ॥२३०॥

सर्वजनस्य=सर्वजन्मवत इति। जायत इति जन उक्तः। यदि कदाचिद्-घटितघटनापटीयस्या भगवन्मायया, स्त्रिया सह सङ्गमेन स्त्री गर्भमादध्यात्तदा तस्यां निर्जीवोऽस्थिरहितो मांसपिण्डो जायते। कुतः? जनजन्मादि सूर्यरूपपुरुष-बीजस्य तत्राभावात्। अयमेवाऽव्यभिचारी नियमो जनजन्मादिं नियन्तारं विष्णुं सर्वत्रावस्थितं ज्ञापयति। संगच्छते चैतस्य 'जनजन्मादिः' नामवत्ता।

भीमः—९४८

'ञिभी भये' जौहोत्यादिको धातुः, ततो **"भियः षुग्वा"** (उ० १।१४८) इत्युणादिसूत्रेण 'मक्' प्रत्ययो, धातोः षुगागमश्च पाक्षिकः क्रियते। षुगागमा-भावे केवले मक्प्रत्यये, गुणाभावे, इडभावे च बिभेत्यस्मादिति='भीमः'।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"स वज्रभृद् दस्युहा भीम उग्रः"। ऋक् १।१००।१२॥

"सिंहो न भीम आयुधानि बिभ्रत्"। ऋक् ४।१६।१४॥

'जनजन्मादि' नाम भगवान् विष्णु, सूर्य, अग्नि या यज्ञ का है, क्योंकि ये सब जीवों के जन्मों के आदिभूत मूल कारण हैं। तथा भगवान् विष्णु इस सकल दृश्यवर्ग के द्रष्टा होते हुए, इस जन्य-रूप पुरुषस्वरूप से शोभित होते हैं।

पद्योक्त 'सर्वजन' शब्द का अभिप्रेत अर्थ, जन्म धारण करने वाले सब प्राणीमात्र हैं। जन नाम जन्म लेने वाले का है। यदि कदाचित् भगवती माया के विचित्र प्रभाव से असम्भव भी सम्भव बन जाए, अर्थात् स्त्री के द्वारा स्त्री में गर्भ स्थित हो जाए, तो उससे जीव तथा अस्थियों (हड्डियों) से रहित केवण मांस का पिण्ड ही उत्पन्न होगा, क्योंकि वहां जनजन्मादिरूप पुरुष का बीज नहीं है। यह ही अटल नियम, सर्वनियन्ता 'जन-जन्मादि' भगवान् विष्णु का ज्ञापक है, जो कि सर्वत्र जगत् में व्यापक होकर स्थित है। इसकी यह 'जनजन्मादि' नामवत्ता इस प्रकार से सुङ्गत हो जाती है।

भीमः—९४८

भयार्थक 'ञिभी' धातु से उणादि 'मक्' प्रत्यय, तथा पाक्षिक षुक् के अभाव पक्ष में 'षुक्' के न करने से भीम शब्द सिद्ध होता है। जिससे सब भय खाते हैं, उसका नाम 'भीम' है। यह नाम **स वज्रभृद् दस्युहा भीम उग्रः** (ऋक् १।१००।१२) तथा **सिंहो न भीमः आयुधानि बिभ्रत्"** (ऋक् ४।१६।१४) इत्यादि मन्त्रों से प्रमाणित होता है।

बहुत्रायं भीमशब्दो वेदे । लोकेऽपि च पश्यामः—सर्वं एव जीववर्गः सभयः, तथा च कपोतादयः श्येनाद् बिभ्यति, सिंहान्मृगा, राज्ञश्च चौरा बिभ्यति। एवमयं भीमत्वरूपेण गुणेन सर्वत्र व्याप्तो विष्णुः 'भीम' इत्युच्यते ।

भवति चात्रास्माकम्—

भीमो हि विष्णुः स हि वास्ति सूर्यः, सूर्यात्तमो याति परात् परस्तात् ।
यथा विवाहाज्जरठेन बाला, तथा हि सर्वं भयते च भीमात् ॥२३१॥

भीमपराक्रमः—६४६

भीमशब्द उक्तः । परोपसर्गपूर्वात् 'क्रमतेः' 'घञ्' भावे "नोदात्त०" (पा० ७।३।३४) इत्यादिना सूत्रेण वृद्धिनिषेधः । भीमः पराक्रमो यस्य स 'भीम-पराक्रमः' । सर्वान् पराक्रमशालिनोऽतिशय्य वर्तत इति भावः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"यत्र तमः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम्" । अथर्व १०।७।११॥

भीम शब्द का वेद में बहुत प्रयोग है । लोक में भी हम देखते हैं,—सब ही जीव वर्ग भय से युक्त है । जैसे कि कपोत आदि पक्षीवर्ग श्येन (बाज) से डरता है, मृग आदि पशुवर्ग सिंह से डरता है, तथा चौर आदि मनुष्यवर्ग राजा से डरता है । इस प्रकार अपने भीमत्व रूप गुण से सर्वत्र व्याप्त हुआ भगवान् विष्णु 'भीम' नाम से उक्त होता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु या सूर्य का नाम 'भीम' है, क्योंकि सूर्य के भय से भयभीत अन्धकार बहुत दूर चला जाता है । जैसे कोई कुमारी वृद्ध के साथ विवाह से डरती है, उसी प्रकार उस भीम से सब कोई डरता है ।

भीमपराक्रमः—६४६

'भीम' शब्द का व्युत्पादन पहले किया गया है । 'परा' उपसर्गपूर्वक पादविक्षेपणार्थक 'क्रमु' धातु से भाव में 'घञ्' प्रत्यय और नोदात्तोपदेश०" (पा० ७।३।३४) सूत्र से वृद्धि का निषेध करने से 'पराक्रम' शब्द सिद्ध होता है । भीम=भयंकर है पराक्रम जिसका, उसका नाम है 'भीमपराक्रम' । अर्थात् सब पराक्रमशीलों से अधिक पराक्रमशाली । यह विष्णु या सूर्य का नाम है । इस नामार्थ को यह "यत्र तमः पराक्रम्य०" (अथर्व १०।७।११) इत्यादि मन्त्र प्रमाणित करता है । अथवा—इसी भीमपराक्रम का वर्णन

"यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता । यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ।।"

अथर्व १०।७।१२।।

इत्यादि सूक्तं भीमपराक्रमं तं वर्णयति, तत्र विस्तरशो द्रष्टव्यम् ।

भवन्ति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्भीमपराक्रमः स भगवान् सर्वानधस्तान्नयेत् ।
यस्मिन् तस्य महाबलस्य कणशो भूयो बलं वा भवेत् ।
मर्त्यो भीमपराक्रमोऽपि न पुनर्जीवेदसद्विक्रमः ।
विष्णुः स्वेन पराक्रमेण सहते विश्वं भिया योजयन् ।।२३२।।

तथा यथा स्वात्मबलेन हीनो, राज्ञाप्तशक्तिर्भयदो नरः स्यात् ।
तस्माज्जना बिभ्यति दुर्बलाङ्गाद्, राज्ञो भयं तत्र यतोऽस्ति विष्टम् ।।२३३।।
यदा स राजा हरते बलं स्वं, तदा मनुष्यः स भवेत् पुरावत् ।
पराक्रमस्तस्य ततोऽपयाति, विष्णुर्हि राजा स बलं क्षिणोति ।।२३४।।



"यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता०" (अथर्व १०।७।१२) इत्यादि अथर्ववेद का सूक्त करता है । यह सब वहां ही देखना चाहिए ।

भाष्यकार इस भाव को अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'भीमपराक्रम' है, इसलिए उसका जिस भी जीव में न्यून या अधिक रूप से बल विद्यमान है, वह जीव सब को अपने प्रभाव से प्रभावित अर्थात् आक्रान्त कर लेता है । तथा भीमपराक्रम होने पर भी जिस जीव का बल समाप्त (क्षीण) हो जाता है, वह जीने में असमर्थ, अर्थात् मर जाता है । भगवान् अपने पराक्रम के द्वारा ही भीति से युक्त करके, अर्थात् भयभीत करके विश्व को सहन करता है ।

उस ही प्रकार जिस प्रकार कि कोई निर्बल मनुष्य भी राजकीय शक्ति प्राप्त करके, दूसरे आत्मबलसम्पन्न मनुष्यों के लिए भीम=भयकारक बन जाता है, क्योंकि उसमें राजकीय बल निहित है ।

तथा जब राजा उसे अधिकार से च्युत करके, अपने बल से रहित कर देता है, तब वह मनुष्य पहले के समान निर्बल हो जाता है, क्योंकि उसमें से राजसत्तारूप पराक्रम निकल जाता है । यहां विष्णु-स्थानीय राजा है, स्वयं प्राणी से निकल कर वह उसके बल को नष्ट कर देता है ।

आधारनिलयोऽधाता पुष्पहासः प्रजागरः ।
ऊर्ध्वगः सत्पथाचारः प्राणदः प्रणवः पणः ॥ ११५ ॥

९५० आधारनिलयः, ९५१ अधाता [धाता], ९५२ पुष्पहासः, ९५३ प्रजागरः। ९५४ ऊर्ध्वगः, ९५५ सत्पथाचार, ९५६ प्राणदः, ९५७ प्रणवः, ९५८ पणः ॥

आधारनिलयः—९५०

'आङ्' उपसर्गः। 'धृञ् धारणे' भौवादिको धातुः, ततः "अकर्त्तरि च कारके०" (पा० ३।३।१९) सूत्रेण 'घञ्', रपरा वृद्धिः। आध्रियते यस्मिन् येन वा स='आधारः'।

'निलय' इति—'नि' उपसर्गः। 'लीङ् श्लेषणे' क्र्यादिको धातुः, तत "एरच्" (पा० ३।३।५६) इति सूत्रेणाधिकरणे 'अच्' प्रत्ययः। "विभाषा लीयतेः" (पा० ६।१।५१) सूत्रेणात्वे प्राप्ते वैकल्पिके "निमिमीलियां खलचोरात्वं नेति वक्तव्यम्" इति वार्तिकेन निषिध्यते। ततो गुणायादेशौ। निलीयन्तेऽस्मिन्निति 'निलयः', आधाराणां निलयः='आधारनिलयः' इति। जगदाधाराणामपि धारक इति भावः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम" ॥

यजुः ३२।६ ॥

आधारनिलयः—९५०

'आधार' शब्द—'आङ्' उपसर्गपूर्वक धारणार्थक 'धृञ्' धातु से करण या अधिकरण में 'घञ्' प्रत्यय और रपरक वृद्धि करने से सिद्ध होता है।

'निलय' शब्द—'नि' उपसर्गपूर्वक, श्लेषणार्थक 'लीङ्' इस क्र्यादिगण पठित धातु से अधिकरण अर्थ में 'अच्' प्रत्यय और गुण तथा अयादेश करने से बनता है। यहां "विभाषा लीयते०" (पा० सू० ६।१।५१) से प्राप्त वैभाषिक आत्व का "निमिमीलियाम्०" (वा० ६।१।५१) इत्यादि वार्तिक से निषेध हो जाता है।

जिसमें सब का लय अर्थात् अन्तर्भाव होता है, उसका नाम 'निलय' है। आधारों का जो निलय है, उसका नाम 'आधारनिलय' है। अर्थात् जो जगत् के आधारभूत पदार्थों का भी आधार (धारण करने वाला) है, उसका नाम 'आधारनिलय' है।

इस नामार्थ की प्रामाणिकता "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा०" (यजुः ३२।६);

"यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम"।
यजुः ३२।७ ॥

"यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किञ्चन" ॥ अथर्व १०।८।१६ ॥

"न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप।
उदस्तभ्ना नाकमृष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः" ॥
ऋक् ७।९९।२ ॥

"उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्" ॥ अथर्व ११।७।१ ॥

"नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः।
आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि" ॥ अथर्व ११।७।१४ ॥

"यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा"।
ऋक् १।१५४।२ ॥

इति निदर्शनम्। भवति चात्रास्माकम्—

आधारनिलयो विष्णुस्तस्मिन्त्सर्वं समाश्रितम्।
स्वाधारं हि यथा व्योम, तथा सः[1] स्वयमाश्रितः ॥२३५॥

१. सः=विष्णुः।

यत्राधिसूर उदितो विभाति०" (यजुः ३२।७); "यतः सूर्यं उदेति अस्तं यत्र च गच्छति० (अथर्व १०।८।१६); न ते विष्णो जायमानो न जातो० (ऋक् ७।९९।२); उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः०" (अथर्व ११।७।१); नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः० (अथर्व ११।७।१४); तथा यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधि क्षियन्ति०" (ऋक् १।१५४।२) इत्यादि मन्त्रों से सिद्ध होती है। यह उदाहरणों का दिग्दर्शन है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'आधारनिलय' है, क्योंकि सब कुछ उस ही में आश्रित है। तथा वह स्वयं अपने आप में ऐसे ही आश्रित है जैसे व्योम में व्योम (आकाश)।

'सः' यह विष्णु का नाम है।

धाता—९५१

'डुधाञ् धारणपोषणयोः' इति जौहोत्यादिको धातुः, ततः 'तृच्' प्रत्ययः कर्तरि । अनिट्, अनङ्ङादि='धाता'। दधाति=धारयति पोषयति वा स 'धाता' इति । सर्वस्य जगतो धारकः पोषकश्च ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"शन्नो धाता शमु धर्ता नो अस्तु" । ऋक् ७।३५।३॥

'धेट् पाने' धातोर्वा 'तृच्' । **"आदेच उपदेशेऽशिति"** (पा० ६।१।४५) सूत्रेणात्वम्, अनिट्, अनङ्ङादि । धयति=पिबति विश्वमिति धाता, रसानां वा समाहर्ता सूर्यः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"स पुनान उप सूरे न धाता" । ऋक् ९।९७।३८॥

श्लोके सन्धिच्छेदे—अधातेत्यपि छेत्तुं शक्यते । तथा च न अन्यो धाता यस्य सोऽधाता, न चेह **"नद्यृतश्च"** (पा० ५।४।१५३) सूत्रेण कप् प्रत्ययः स्यादिति, समासान्तविधेरनित्यत्वात् । अधातृक एव—अधाता ।

भवति चात्रास्माकम्—

धाता—९५१

धारण-पोषणार्थक जुहोत्यादिगण पठित 'डुधाञ्' धातु से कर्ता अर्थ में 'तृच्' प्रत्यय करने से तथा सु विभक्ति और तन्निमित्तक 'अनङ्' आदि करने से 'धाता' शब्द सिद्ध होता है । जो धारण या पोषण करता है, उसका नाम 'धाता' है । इस नाम की पुष्टि **"शन्नो धाता शमु धर्ता नो अस्तु"** (ऋक् ७।३५।३) इत्यादि मन्त्र से होती है ।

अथवा—पानार्थक 'धेट्' धातु से 'तृच्' प्रत्यय, आत्त्व तथा सु विभक्तिनिमित्तक 'अनङ्' आदि करने से 'धाता' शब्द बनता है । जो इस विश्व या रसों का पान करता है उसका नाम 'धाता' है । यह विष्णु और सूर्य का नाम है । इस में **"स पुनान उप सूरे न धाता"** (ऋक् ९।९७।३८) यह मन्त्र प्रमाण है ।

यहां श्लोक में 'अधाता' पद भी सन्धिच्छेद करने से निकल सकता है । जिस का अर्थ होगा—अन्य कोई जिसका धारण पोषण करने वाला नहीं है । यहां बहुव्रीहि समास करने से यद्यपि 'कप्' की प्राप्ति होती है, तथापि वह समासान्तविधि के अनित्य होने से नहीं होता । जो अधातृक है, वह ही अधाता है ।

भाष्यकार इस भाव को अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

धाताऽथ धर्ता स हि विष्णुरेकः, धाताऽथ पाता स पपान¹ उक्तः।
¹पपिः स एवास्त्यथवाप्यधाता, अधातृको वा स कपिः स्वयम्भूः ॥२३६॥

१. पपिः सोमः। "पपानो देवेभ्यो०" ऋक् ६।४४।७॥

लोकेऽपि च कदाचिद्धाताप्यधातृको भवति यथारुचि। एवंगुणकश्च विष्णुर्व्याप्नोति लोकम्। धाता--अधाता--अधातृको वा।

पुष्पहासः—६५२

'पुष्प विकसने' दैवादिको धातुः, ततः पचादि 'अच्'। पुष्प्यति=विकसतीति 'पुष्पः'। 'हासः'—'हसे हसने' भौवादिको धातुस्ततो भावे 'घञ्', हसनं 'हासः' इति। पुष्पेषु यो विकाशरूपो धर्मः स एव हासो यस्य सः 'पुष्पहासः'।

यद्वा—पुष्प इव प्रफुल्लमुखमुद्रः स्मेरमुखः शोकराहित्यात्। यद्वा—पुष्पनं पुष्पो, भावे 'घञ्'। पुष्पो=विकाश एव हासो यस्य सः। एतेन भगवतः शोकराहित्यमानन्दरूपत्वञ्च बोध्यते।

विशोक-शोकनाशने नामनी विष्णोः पूर्वमुक्ते व्याख्याते च। योऽस्मिन् जगति प्रत्येकं वस्तुनो विकाशरूपो धर्मः स तस्यैव भगवतो विष्णोः सर्वव्याप-

---

विश्व का धारण और पोषण करने के कारण भगवान् विष्णु या सूर्य का नाम धाता है। तथा इस विश्व और रसों का पान करने से भी विष्णु और सूर्य को धाता कहा जाता है। तथा इसी कारण से उसका 'पाता' 'पपी' और 'पपान' नाम भी है। अथवा वह स्वयम्भू स्वतःसिद्ध होने से 'अधाता' भी है, तथा 'अधातृक' और 'कपि' भी है।

'पपि' नाम सोम का है। 'पपान' शब्द में—"पपानो देवेभ्यो०" (ऋक् ६।४४।७) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है। लोक में भी हम देखते हैं, किसी समय अपनी इच्छानुसार धाता भी अधाता बन जाता है। इस धातृत्व गुण से युक्त भगवान् विष्णु, सब लोक में व्याप्त है, वह धाता ही अधाता और अधातृक है।

पुष्पहासः—६५२

विकसनार्थक दिवादिगण पठित 'पुष्प' धातु से पचादि 'अच्' प्रत्यय करने से 'पुष्प' शब्द बनता है।

'हास' शब्द—हसनार्थक भ्वादिगण पठित 'हसे' धातु से भाव में 'घञ्' प्रत्यय करने से बनता है। पुष्पों में स्थित विकास (खिलना) रूप जो धर्म, वह ही जिसका हास अर्थात् हंसना (स्मितभाव) है, उसका नाम 'पुष्पहास' है।

अथवा—जो शोक आदि सांसारिक धर्मों से रहित होने से पुष्पों के समान विकसित (अल्पहास्ययुक्त) मुख है, उसका नाम 'पुष्पहास' है। अथवा—पुष्प नाम विकाश

कस्य। एवञ्च ज्ञेयं—जगति यः सदा प्रसन्नमुखमुद्रः शोकरहितश्च भवति, तस्मिन् निष्पापे शोकमोहरहिते स्वयं भगवान् विराजते। यता हि स विष्णुः, 'अंहोमुक्' इत्युच्यते।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेऽहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम्।
अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये॥"

ऋक् १०।६३।९॥

अन्यच्च—

"सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसम्०"। ऋक् १०।६३।१०॥

विश्वे क एधते, इति प्रश्ने—अरिष्टः स मर्तः इत्युत्तरम्। अरिष्टः= दुःखरहितः। रुष रिष हिंसायां धातू। तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"अरिष्टः स मर्त्तो विश्व एधते प्रप्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि।
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये॥"

ऋक् १०।६३।१३॥

हसमधिकृत्य—

"ऋतावानं विचेतसं पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः।
विश्वेषामध्वराणां हस्कर्त्तारं दमे दमे॥" ऋक् ४।७।३॥

(खिलने) का है, वह ही है हास जिसका, उसका नाम 'पुष्पहास' है। इस से भगवान् की शोकराहित्य तथा आनन्दरूपता प्रकट होती है।

भगवान् के 'विशोक' और 'शोकनाशन' नाम पहले कहे गये हैं, तथा उन का व्याख्यान कर दिया गया है। लोक में, जो प्रत्येक वस्तु में विकाशरूप धर्म देखने में आता है, वह उस ही सर्वव्यापक भगवान् विष्णु का है।

इस का वास्तविक अर्थ यह समझना चाहिये कि, जो जगत् में प्रसन्नमुख तथा शोकरहित होता है, उस में स्वयं भगवान् विराजमान होता है, क्यों कि भगवान् का नाम 'अंहोमुक्' है। इस में "भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहे०" (ऋक् १०।६३।९) तथा "सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसम्" (ऋक् १०।६३।१०) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं।

विश्व में बढ़ता कौन है, अर्थात् वृद्धि किस की होती है? इस प्रश्न का उत्तर "अरिष्टः स मर्तो विश्व एधते०" (ऋक् १०।६३।१३) मन्त्र से होती है, अर्थात् अरिष्ट नाम दुःख रहित का है, रिष्ट शब्द, रिष हिंसार्थक धातु से सिद्ध होता है। और यह दुःख का नाम है, इससे जो रहित है, वह 'अरिष्ट' है। तथा वह ही इस विश्व में बढ़ता है।

इस शब्द के अर्थ की पुष्टि—"ऋतावानं विचेतसं पश्यन्तो द्यामिव०" (ऋक्

पुष्पमधिकृत्य—

"तत्रामृतस्य पुष्पं देवा: कुष्ठमवन्वत०" । अथर्व ५।४।४।।

अमृतस्य=जलस्य । लोकेऽपि च पश्यामः—कफमूलकः कुष्ठात्मकः रोगोऽपि पुष्पवद् भासते, कण्डूमांश्च स भवति, कण्डूरपि कफमूलिका । इति पृथक् पृथक् निदर्शनम् ।

भवति चात्रास्माकम्—

स पुष्पहासो भगवान् वरेण्यः, स पुष्पहासोपमितं विधत्ते ।
विश्वं मनोहारि विराजितान्तः, स्वपुष्पहासत्वगुणं वितन्वन् ।।२३७।।

प्रजागरः—९५३

'प्र' उपसर्गः । 'जागृ निद्राक्षये' अादादिको धातुः, ततः कर्तरि पचादि 'अच्' । प्रकर्षेण जागर्तीति 'प्रजागरः' । गुणो रपरः । सदा जागरणशीलः प्रबोधरूप इत्यर्थः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"अग्ने त्वं सुजागृहि वयं सुमन्दिषीमहि ।
रक्षा णो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि ।।" यजुः ४।१४।।

"त्वं नः सोम सुक्रतुर्वयोधेयाय जागृहि ।" ऋक् १०।२५।८।।

"अग्निर्जागार तमृचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ।।"
ऋक् ५।४४।१५।।

४।७।३) इत्यादि मन्त्र से होती है । तथा पुष्प नाम की पुष्टि—"तत्रामृतस्य पुष्पं देवा कुष्ठमवन्वत०" (अथर्व ५।४।४) मन्त्र से होती है । अमृत नाम जल का है । लोक में भी हम देखते हैं—कफमूलक कुष्ठ नाम का रोग भी पुष्प के समान प्रतीत होता है, और उसमें कण्डू (खाज) होती है, क्योंकि खाज भी कफ के ही कारण से होती है । इस प्रकार ये सब भिन्न भिन्न उदाहरण हैं ।

प्रजागरः—९५३

'प्र' उपसर्ग है, इस से युक्त निद्राक्षय (निद्रा के अपगम) रूप अर्थ में विद्यमान 'जागृ' धातु से कर्त्ता अर्थ में पचादि 'अच्' प्रत्यय करने से 'प्रजागर' शब्द सिद्ध होता है । प्रकर्ष=उत्कृष्ट रूप से जो जागता है, अर्थात् जो सदा प्रबोधरूप है उसका नाम 'प्रजागर' है । इस अर्थ की पुष्टि "अग्ने त्वं सुजागृहि वयम्०"; (यजुः ४।१४) त्वं नः सोमसुक्रतुर्वयोधेयाय जागृहि" (ऋक् १०।२५।८) तथा "अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते०" (ऋक् ५।४४।१५) इत्यादि मन्त्र करते हैं ।

लोकेऽपि च पश्यामः—अग्निर्न स्वपिति सूर्यदैवतकत्वात्, सूर्योऽपि न स्वपिति, आत्मापि न स्वपिति, तथा प्राणा अपि न स्वपन्ति—"**देवो याति भुवनानि पश्यन्**" (ऋक् १।३५।२) इतिश्रुतिप्रतिज्ञावचनात्।

भवति चात्रास्माकम्—

प्रजागरो विष्णुरहस्करो वा, प्राणाः खमग्निर्मरुदाप आत्मा।
मनश्च जागर्ति सदा च तस्मिन्, प्रजागरे विश्वमिदं समाप्यम्[1] ॥२३८॥

१. समाप्यम्=सम्यगाप्तं सम्पूर्णतया व्याप्तमित्यर्थः।

ऊर्ध्वगः—९५४

'उर्द माने क्रीडायाञ्च' इति भौवादिको धातुः, तत "**इण्शीभ्यां वन्**" (उ० १।१५२) "**कॄगॄशॄदॄभ्यो वः**" (उ० १।१५५) इत्युणादिना वा 'वन्' 'वो' वा प्रत्ययो बाहुलकात्। "**उपधायां च**" (पा० ८।२।७८) इति सूत्रेणोकारस्य दीर्घः। पृषोदरादित्वाद्दस्य धः। "**नेड् वशि कृति**" (पा० ७।२।८) इतीण्णिषेधः='ऊर्ध्वम्'। तदुपपदाद् 'गमेः' "**अन्यत्रापि दृश्यते**" (वा० ३।२।४८) इति 'डः' प्रत्ययो डित्वाट्टेर्लोपः। ऊर्ध्वं गच्छतीति 'ऊर्ध्वगः' सूर्यो विष्णुर्वा, सर्वेषामूर्ध्वस्थितिशालित्वात्, सर्वतः श्रेष्ठत्वाद् वा।

लोक में भी हम देखते हैं—अग्नि का देवता सूर्य होने से अग्नि, सूर्य, जीवात्मा तथा प्राण कभी भी शयन नहीं करते, अपितु सदा प्रबोधशील रहते हैं। जैसा कि "**देवो याति भुवनानि पश्यन्**" (ऋक् १।३५।२) इस श्रुति से परिज्ञात है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु या सूर्य का नाम 'प्रजागर' है, क्योंकि वह सदा प्रबुद्ध रहता है। तथा प्राण, आकाश, वायु, जल, आत्मा मन सहित यह समस्त विश्व जागरणशील होता हुआ इस 'प्रजागर' नामक भगवान् विष्णु में समाप्त (समाया) हुआ है, अर्थात् अन्तर्भूत है।

समाप्त का अर्थ है=समीचीनरूप से अन्तर्भूत।

ऊर्ध्वगः—९५४

'ऊर्ध्व' शब्द मान तथा क्रीड़ार्थक भौवादिक 'उर्द' धातु से उणादि 'वन्' प्रत्यय, **उपधायां च** (पा० ८।२।७८) से उकार को दीर्घ तथा पृषोदरादिलक्षण दकार को धकार करने से सिद्ध होता है। यहाँ "**नेड् वशि कृति**" (पा० ७।२।८) इस सूत्र से इट् का निषेध हो जाता है। ऊर्ध्वोपपद 'गम्' धातु से 'ड' प्रत्यय और टि का लोप करने से 'ऊर्ध्वग' शब्द बन जाता है। ऊर्ध्व (ऊपर) को जाने वाले का नाम 'ऊर्ध्वग' है। यह विष्णु या सूर्य का नाम है, क्योंकि ये सब से ऊपर हैं, अथवा सब से श्रेष्ठ हैं।

लोकेऽपि च पश्यामः—समस्तप्राणिवर्गे ज्ञानाधारत्वात् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः श्रेष्ठं मस्तिष्कमेवोर्ध्वगम्।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"ऊर्ध्व ऊ षु णो अध्वरस्य"। ऋक् ४।६।१॥

"ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतये"। ऋक् १।३०।६॥

"ऊर्ध्वो अग्निः सुमतिं वस्वो अश्रेत्"। ऋक् ७।३९।१॥

"स ह श्रुत इन्द्रो नाम देव ऊर्ध्वो भुवन् मनुषे दस्मतमः"।

ऋक् २।२०।६॥

इति निदर्शनम्। लोकेऽपि पश्यामः—सर्वो हि लोकः सर्वत उपरि श्रेष्ठो वा भवितुमीहते, स एष ऊर्ध्वबुभूषारूपो गुणः विष्णोरेव सर्वत्र व्याप्तो लोके। अतो विष्णोः 'ऊर्ध्वगः' इति स्तुत्यं नाम सङ्कीर्तितं विष्णुनामसु।

भवति चात्रास्माकम्—

स ऊर्ध्वगो विष्णुरनन्तलोकान्, पश्यन् सदा याति दिवं वसानः।
ऊर्ध्वं प्रकाशाधिपतिर्विभाति, ज्ञानप्रकाशोऽप्यत उत्तमाङ्गे॥२३९॥

लोक में भी हम देखते हैं—समस्त प्राणिवर्ग में, ज्ञान का आधार होने से सब अङ्गों से श्रेष्ठ मस्तिष्क ही 'ऊर्ध्वग' है। इसी भाव को ये **"ऊर्ध्व ऊ षु णो अध्वरस्य"** (ऋक् ४।६।१); **"ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतये"** (ऋक् १।३०।६); **"ऊर्ध्वो अग्निः सुमतिं वस्वो०"** (ऋक् ७।३९।१) तथा **"स ह श्रुत इन्द्रो नाम देव ऊर्ध्वो०"** (ऋक् २।२०।६) इत्यादि मन्त्र पुष्ट करते हैं। यह उदाहरण मात्र है।

हम लोक में भी देखते हैं—विश्वान्तर्गत सब ही सजीववर्ग परस्पर एक एक से ऊपर वा श्रेष्ठ होना चाहता है। यह ऊर्ध्वग बुभूषा (ऊंचा होने की इच्छा) रूप गुण भगवान् का ही सर्वत्र लोक में व्याप्त है। इसीलिए स्तवनीय भगवान् विष्णु के इस 'ऊर्ध्वग' नाम का विष्णु के नामों में संग्रह किया है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

भगवान् विष्णु सब से ऊपर या श्रेष्ठ होने से 'ऊर्ध्वग' है। तथा सूर्य भी इस समस्त द्युलोक को अपने प्रकाश से आच्छन्न करता हुआ और अनन्त लोकों को देखता हुआ ऊपर को जाता है, इसलिये 'ऊर्ध्वग' है। जिस प्रकार प्रकाश के अधिपति सूर्य का स्थान सबसे ऊपर है, उस ही प्रकार प्रकाशरूप ज्ञान का स्थान भी शरीर के उच्चतम या श्रेष्ठ भाग मस्तिष्क (मूर्धा) में है।

सत्पथाचारः—९५५

'अस्तेः' शतरि 'सत्' इति साधुपर्य्यायो नित्यपर्य्यायो वा। 'पत्लृ गतौ' इति भौवादिकाद्धातोः "पतः स्थ च" (उं० ४।२२) इत्युणादिसूत्रेण 'इनिः' प्रत्ययः थश्चान्तादेशः—'पथिन्', तस्य सौ 'पन्थाः'। सच्चासौ पन्थाः='सत्पथः'। "ऋक्पूरब्धूपथामानक्षे" (पा० ५।४।७४) समासान्तः 'अः' प्रत्ययः, स च "तद्धिताः" (पा० ४।१।७६) इति सूत्रेण तद्धितसंज्ञः। तस्मान् "नस्तद्धिते" (पा० ६।४।१४४) इति सूत्रेण नान्तस्य भस्य टेर्लोपः। यद्वा—'पथे गतौ' भौवादिकाद्धातोः पचादि 'अच्', ततः पथः पथौ पथा इत्यादीनि रूपाणि।

'आचार' इति—आङ्पूर्वात् 'चर गतिभक्षणयोः' इति भौवादिकाद् धातो॰ र्भावे 'घञ्' प्रत्ययो भवति। आचरणमाचारः। यद्वा—'आङ्' पूर्वात् 'चरतेर्णिच्', ततः "एरच्" (पा० ३।३।५६) इति भावे 'अच्' णिलोपश्च। सत्पथे आचारो यस्य स 'सत्पथाचारः' विष्णुः सूर्यो वा। इयं भानां कक्षा सनातनी, यस्यां ग्रहाः पतन्ति=गच्छन्ति। एतेन नाम्ना विज्ञायते यन्नायमतिक्रमते पन्थानम्। अत एवैतस्याव्ययमिति नाम पुष्टं भवति।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

सत्पथाचारः—९५५

भवनार्थक 'अस्' धातु से 'शतृ' प्रत्यय करने से 'सत्' शब्द सिद्ध होता है। यह साधु या नित्य शब्द का पर्याय वाचक शब्द है। गत्यर्थक 'पत्लृ' धातु से "पतः स्थ च" (उ० ४।१२) इस उणादि सूत्र से 'इनि' प्रत्यय और तकार को थकार का आदेश करने से 'पथिन्' शब्द सिद्ध होता है। पथिन् शब्द का सु विभक्ति में पन्थाः रूप बनता है, तथा "सच्चासौ पन्थाः" इस कर्मधारय समास में, समासान्त 'अ' प्रत्यय और टि का लोप करने से 'सत्पथ' शब्द सिद्ध हो जाता है।

यद्वा—गत्यर्थक 'पथे' धातु से पचादि 'अच्' प्रत्यय करने से 'पथ' शब्द बन जाता है। इसका सत् शब्द के साथ कर्मधारय समास करने से 'सत्पथ' शब्द बन जाता है।

'आचार' शब्द 'आङ्पूर्वक' गति तथा भक्षणार्थक 'चर' धातु से भाव में 'घञ्' प्रत्यय करने से बनता हैं, णि का लोप हो जाता है। आचरण (गमन) का नाम 'आचार' है। सत्पथ में है आचार जिसका, उसका नाम है 'सत्पथाचार'। यह विष्णु या सूर्य का नाम है।

नक्षत्र या राशियों की एक ध्रुव कक्षा है, जिसमें ये सब ग्रह चलते हैं, इस नाम से यह व्यक्त होता है कि सूर्य अपने मार्ग का कभी अतिक्रमण नहीं करता। इसी कारण से इसका

"स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।" ऋक् ५।५१।१५।।

लोकेऽपि च पश्यामः—यस्य यस्य यो यो मार्गोऽस्ति शुभस्तेन गच्छन्न रिष्यतेऽसौ । अतः भगवतः सत्पथाचारत्वरूपो गुणः सर्वत्र व्याप्तः ।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्हि सत्पथाचारः सूर्यो वास्ति सनातनः ।
मार्गो यस्यास्ति यो यो वा, तेन गच्छन्न रिष्यति ।।२४०।।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः" । यजुः २३।४६।।
"यस्या अनन्तो अह्रु तस्त्वेषश्चरिष्णुरर्णवः । अमश्चरति रोरुवत् ।।"
ऋक् ६।६१।८।।

इति निदर्शनम् । भूयान् प्रपञ्चोऽस्य सुप्तिङन्तशब्दैः ।

प्राणदः—९५६

'प्र' उपसर्गः । 'अन प्राणने' भौवादिको धातुस्ततो "हलश्च" (पा० ३।३।१२१)सूत्रेण करणे 'घञ्', वृद्धिः । "अनितेरन्तः" (पा० ८।४।१९)सूत्रेण नस्य णत्वम् । प्राण्यते=जीव्यतेऽनेनेति 'प्राणः' वायुरित्यर्थः । प्राणोपपदाद्

'अव्यय' नाम भी पुष्ट होता है । इस में यह "स्वस्ति पन्थामनुचरेम०" (ऋक् ५।५१।१५) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है ।

लोक में भी हम देखते हैं, जो जो जिसका शुभमार्ग है, वह उस शुभ मार्ग से चलता हुआ विपन्न (दुःखी) नहीं होता । यह भगवान् का सत्पथाचारत्वरूप गुण सकल विश्व में व्याप्त है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य से इस प्रकार प्रकट करता है—

'सत्पथाचार' नाम भगवान् विष्णु या सूर्य का है, जो कि सदा सनातन रूप अपने मार्ग का अतिक्रमण नहीं करता । इसी से जो जिसका शुभ मार्ग, वह उससे चलता हुआ कभी भी दुःखी नहीं होता ।

इस में "सूर्य एकाकी चरति०" (यजुः २३।४६) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं । इस नाम का सुबन्त तिङन्त रूप से वेद में बहुत विस्तार है ।

प्राणदः—९५६

'प्र' पूर्वक प्राणनार्थक 'अन' धातु से करण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय, उपधा वृद्धिः, तथा नकार को णकार करने से 'प्राण' शब्द सिद्ध होता है । जिसके द्वारा प्राणन होता

'ददातेः' "आतोऽनुपसर्गे कः" (पा० ३।२।३) इति सूत्रेण 'कः' प्रत्ययः, तस्मिन् आल्लोपः। प्राणं=जीवनं ददातीति 'प्राणदः' विष्णुः सूर्यो वा।

लोकेऽपि पश्यामः—यावच्छरीरेऽग्निस्तावत् प्राणिति, तन्नाशाच्च नश्यति। अग्निर्हि सूर्यदैवतः, तस्मात् सूर्य एव जगत् प्राणयति। अतः स प्राणद इत्युक्तो भवति।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगान्"

ऋक् १०।५९।६॥

"प्राणदाऽअपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदाः।" यजु. १७।१५॥

भवति चात्रास्माकम्—

स प्राणदः प्राणयतीह विश्वं, स प्राणदः प्राणयतीह वह्निम्।
स प्राणदो विष्णुरनेकरूपः, प्राणो ह्यपानादिविधो विभिन्नः॥२४१॥

धातुजन्यार्थभेदान्नामभेदः, तथा च यदि 'दैप् शोधने' यद्वा 'दोऽवखण्डने'

है, अर्थात् जीवन प्राप्त होता है, उसका नाम 'प्राण' है। यह वायु का नाम है।

इस प्राण शब्द के उपपद में रहते दानार्थक 'दा' धातु से कर्ता अर्थ में 'क' प्रत्यय और आकार का लोप करने से 'प्राणद' शब्द बनता है। प्राण नाम जीवन का है, उस को जो देता है, उसका नाम 'प्राणद' है यह विष्णु या सूर्य का नाम है।

लोक में भी हम देखते हैं, जब तक शरीर में अग्नि है तब तक जीवन है, और अग्नि के नष्ट होने पर जीवन नष्ट हो जाता है। अग्नि का देवता सूर्य है, इसलिए जगत् के जीवन का हेतु होने से सूर्य ही 'प्राणद' है। इस नामार्थ को यह—"**असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह०**" (ऋक् १०।५९।६) तथा "**प्राणदाऽअपानदा व्यानदा वर्चोदा०**" (यजुः १७।१५) इत्यादि मन्त्र प्रमाणित करते हैं।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

जगत् के जीवन का हेतु होने से 'प्राणद' नाम भगवान् विष्णु या सूर्य का है। वह्नि के जीवन अर्थात् अस्तित्व का हेतु भी सूर्य ही है। तथा प्राण अपने अनेक अपान उदान आदि भेदों से उस अनेकरूप भगवान् विष्णु के प्राणदत्व को प्रकट करता है।

यहां यदि शोधनार्थक 'दैप्' अथवा अवखण्डनार्थक 'दो' धातु से 'प्राणद' नाम के

धातोः 'प्राणदः' नामनिष्पादनेन विष्णौ सूर्ये वा समीचीनार्थसङ्गतिः स्यात्तदा तदपि विधेयम्, अत्र सुधियः प्रमाणम् ।

प्रणवः—९५७

'प्र' उपसर्गः । 'णु स्तुतौ' धातुरादादिकः "उपसर्गादसमासेऽपि०" (पा० ८।४।१४) सूत्रेण प्रोपसृष्टस्य 'णत्वम्'—प्रणौतीति 'प्रणवः', प्रणमयतीति वा । पचादि 'अच्', गुणावादेशौ । इहायं ण्यन्तस्य नमेरर्थे वर्तते ।

यद्वा—"संज्ञायां घः प्रायेण" (पा० ३।३।११८) इति सूत्रेण करणे 'घः' प्रत्ययः । प्रणूयतेऽनेनेति 'प्रणवः' इति त्र्यक्षरसमुदाय 'ओम्' इति । सोऽस्यास्तीति मत्वर्थीयः 'अच्' ।

यद्वा—नौतेः "ऋदोरप्" (पा० ३।४।५७) सूत्रेण कर्मण्यप् । गुणः, अवादेशः । प्रणूयत इति 'प्रणवः' ।

'प्रणमः' इत्यपि क्वचित्—तत्र 'प्र'पूर्वको 'णम् प्रह्वत्वे शब्दे च' इति भौवादिको धातुः, तस्य णस्य नः । ततो णिच्, वृद्धिः । सोपसर्गस्यामन्तस्य

सिद्ध करने से विष्णु या सूर्य की वाच्यार्थता सङ्गत होती हो, तो इन धातुओं से भी 'प्राणद' नाम की सिद्धि की जा सकती है, क्योंकि धात्वर्थ के भेद से शब्दार्थ की भिन्नता हो जाती है । यहां विद्वान् महापुरुष स्वयं प्रमाणरूप हैं ।

प्रणवः—९५७

'प्र' पूर्वक स्तवनार्थक अदादिगण पठित 'णु' धातु से पचादि 'अच्' प्रत्यय, नकार को णत्व तथा गुण और अव आदेश करने से 'प्रणव' शब्द सिद्ध होता है । यहां णु धातु ण्यन्त नम् धातु के अर्थ का वाचक है ।

अथवा—जिसके द्वारा स्तुति की जाए उसका नाम 'प्रणव' है यहां 'प्र' पूर्वक 'णु' धातु से 'घ' प्रत्यय करण अर्थ में हुआ है, और यह 'अ उ म्' रूप अक्षरसमुदाय का नाम है । तथा इस 'प्रणव' शब्द से मतुबर्थक 'अच्' प्रत्यय करने से 'प्रणव' नाम भगवान् का होता है ।

अथवा—इस ही 'प्र' पूर्वक 'णु' धातु से कर्म में 'अप्' प्रत्यय, गुण तथा अव आदेश करने से प्रणव' शब्द सिद्ध होता है । जिसकी स्तुति की जाती है, उसका नाम 'प्रणव' है ।

किसी के मत में 'प्रणम' पाठ है । वहां 'प्र' पूर्वक नम्रीभवन तथा शब्दार्थक 'णम्' धातु से 'णिच्' प्रत्यय, वृद्धि, सोपसर्ग से अमन्तत्व निमित्तक नित्य मित् संज्ञा, मित्

"ज्वलह्वलह्मलनमामनुपसर्गाद् वा" इति मिद्धातुगणसूत्रेण नित्या मित्संज्ञा, "मितां ह्रस्वः" (पा० ६।४।९२) इति ह्रस्वः, ततः पचाद्यच्, णिलोपः, प्रणम इति।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"त्वामभि प्रणोनुमो जेतारमपराजितम्"। ऋक् १।१२।२॥

प्रणवशब्द ओङ्कारपर्यायः। सर्वे वेदाः प्रणवस्यैव महिमानं व्याचक्षते। तथा च—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
कठोपनिषत् अ. १। व. २। मन्त्र १५॥

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्हि मन्ये प्रणवः प्रसिद्धः, स एव वोम्-स उ वेश्वरोऽस्ति।
स एव सूर्यः स हि वेन्द्रनामा, नमन्ति तं वा प्रणमोऽप्यतः सः॥२४२॥

पणः—९५८

'पण व्यवहारे स्तुतौ च' भौवादिको धातुः, ततः पचादि 'अच्' प्रत्ययः। व्यवहारार्थेऽयमत्र—पणते=व्यवहरति, व्यवहारयति वा विश्वं सः 'पणः'। तदर्थे मन्त्रलिङ्गञ्च—

निमित्तक ह्रस्व, तथा पचादि 'अच्' प्रत्यय और 'णि' का लोप करने से 'प्रणम' शब्द सिद्ध होता है।

जो नमन करवाता है, अर्थात् नमन का प्रयोजक है उसका नाम 'प्रणम' है। इस नामार्थ में **"त्वामभि प्रणोनुमो जेतारमपराजितम्"** (ऋक् १।११।२) यह मन्त्र प्रमाण है। 'प्रणव' शब्द ओङ्कार का पर्याय है। सब वेद प्रणव की ही महिमा का व्याख्यान करते हैं। जैसा कि—**"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति०"** (कठोपनिषद् १।२।१५) इस उपनिषद वचन से सिद्ध है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

भगवान् विष्णु का नाम प्रणव है, तथा वह ही ओम् ईश्वर, सूर्य और इन्द्र नाम से कहा जाता है प्रणम भी उसका नाम इसलिये है कि उस को सब प्रणाम करते हैं।

पणः—९५८

व्यवहार और स्तुत्यर्थक 'पण' धातु से पचादि 'अच्' प्रत्यय करने से 'पण' शब्द बनता है। यहां धातु का व्यवहार अर्थ लेने से, जो इस समस्त विश्व के व्यवहार का प्रयो-

"यो अग्निषोमा हविषा सपर्य्याद् देवद्रीचा मनसा यो घृतेन।
तस्य व्रतं रक्षतं पातमंहसो विशे जनाय महि शर्म यच्छतम् ॥"
ऋक् १।९३।८ ॥

"अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवां एह वक्षति॥ ऋक् १।१।२॥

"अग्ने नय सुपथा राये"। ऋक् १।१८९।१॥

इति व्यवहार-निदर्शनम्। अत एव च यत्र सर्वे व्यवहरन्ति, तत् स्थान-मापणमित्युच्यते।

भवति चात्रास्माकम्—

पणिर्हि विष्णुः स जगद्विरच्य, यथायथं तत् पणने प्रयुङ्क्ते।
स्त्रिया पतिः सापि तथा च पत्या, यथायथं तौ पणतः[1] सबन्धू ॥२४३॥

१. व्यवहारे आयप्रत्ययस्याभावाद् अनुदात्तेत्त्वादात्मनेदं प्राप्तमपि 'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' (महा० १।४।३) इति वचनात् परस्मैपदमपि साधु।



जक है, उसका नाम 'पण' है। इस ही अर्थ के समर्थक—"यो अग्निषोमा हविषा सपर्य्याद्०" (ऋक् १।९३।८); "अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत०" (ऋक् १।१।२) इत्यादि मन्त्र हैं। यह व्यवहार विषयक उदाहरण है। इसी लिये जहां जाकर सब व्यवहार करते हैं, उस स्थान का नाम आपण है।

इस भाव को भाष्यकार इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'पण' है, क्यों कि वह जगत् की रचना करके जगत् के प्राणियों को, यथायोग्य व्यवहार में प्रयुक्त करता है। जैसे पति और पत्नी परस्पर बन्धन से युक्त होकर यथायोग्य व्यवहार करते हैं।

प्रमाणं प्राणनिलयः प्राणभृत् प्राणजीवनः ।
तत्त्वं तत्त्वविदेकात्मा जन्ममृत्युजरातिगः ॥११६॥

९५९ प्रमाणम्, ९६० प्राणनिलयः, ९६१ प्राणभृत् ९६२ प्राणजीवनः । ९६३ तत्त्वम्, ९६४ तत्त्ववित्, ९६५ एकात्मा, ९६६ जन्ममृत्युजरातिगः ॥

प्रमाणम्—९५९

'प्र' उपसर्गः । 'माङ् माने' जुहोत्यादिः, ततः करणेऽधिकरणे वा 'ल्युट्' योरनः, दीर्घः । "कृत्यचः" (पा० ८।४।२०) सूत्रेण णत्वम् । प्रमीयते सर्वं जगदस्मिन्निति वा 'प्रमाणम्' । नह्यन्येन केनचिज्जगदिदं प्रमातुं शक्यं, न च क्वचिदन्यत्र सर्वमिदं जगत् प्रमिमीते=अन्तर्भवति । अतो विष्णुरेव प्रमाण-शब्दवाच्यः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।"
ऋक् १।१५४।२ ॥

"यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।" अथर्व १०।७।३२ ॥

तद् ब्रह्म प्रमाणम् । बहुत्र विशदं व्याख्यातम् ।

भवति चात्रास्माकम्—

प्रमाणम्—९५९

'प्रमाण' शब्द, प्रपूर्वक मानार्थक जुहोत्यादिगण पठित 'माङ्' धातु से करण या अधिकरण में 'ल्युट्' प्रत्यय, यु को अन आदेश, सांहितिक दीर्घ, तथा णत्व करने से सिद्ध होता है । जिसके द्वारा इस सकल विश्व का मान (परिच्छेद) किया जाता है, अथवा जिसमें यह सकल विश्व अन्तर्भूत (लीन) हो जाता है, उसका नाम 'प्रमाण' है ।

भगवान् के अतिरिक्त कोई भी इस जगत् को परिच्छिन्न अर्थात् परिमित नहीं कर सकता, तथा उससे अतिरिक्त और किसी में जगत् समा (अन्तर्भूत) भी नहीं सकता । इसलिए भगवान् विष्णु ही प्रमाण शब्द का वाच्यार्थ है । इस नामार्थ की पुष्टि "यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति०" (ऋक् १।१५४।२); "यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतो-दरम्" (अथर्व १०।७।३२) इत्यादि मन्त्रों से होती है । प्रमाण शब्द नपुंसकलिङ्ग होने से ब्रह्म शब्द के साथ समन्वित होता है, अर्थात् वह ब्रह्म 'प्रमाण' है । इस विषय का बहुत स्थानों में विशद व्याख्यान किया गया है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य से इस प्रकार व्यक्त करता है—

विष्णुः प्रमाणं जगतोऽस्ति गम्यो, यस्मिन्निदं सं च वि चैति विश्वम्।
शरीरचेष्टा ज्ञपयन्ति जीवं, यथा तथा तञ्च जगद् व्यनक्ति ॥२४४॥

प्राणनिलयः—९६०

'प्राण' शब्दो व्याख्यातः प्राणदनामव्याख्याने। तथा 'निलय'शब्दोऽपि आधारनिलयनामव्याख्याने व्याख्यातः। प्राणा निलीयन्ते यस्मिन् स 'प्राणनिलयो' विष्णुः सूर्यो वा। यतो हि स सर्वेषां स्थावराणाञ्जङ्गमानाञ्च यथायोग्यसाधन-प्रदानेन वासयिताऽतः स 'प्राणनिलयः' उच्यते।

लोके चापि पश्यामो—विना सूर्यप्रकाशं क्षुपा वनस्पतयोऽन्ये वृक्षाश्च न पुष्पिताः फलिताश्च भवन्ति, शमीवृक्षादृते। शमीवृक्षो हि सूर्यदैवतोऽतो वैशाखे मासि पल्लवितो भवति।

विष्णुरेव यमरूपः सर्वं ग्रसते च।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"यमो ददात्यवसानमस्मै"। ऋक् १०।१४।९॥

एवं प्राणनिलयत्वेन स भगवान् सर्वत्र व्याप्तो दृश्यते।

भगवान् विष्णु का नाम प्रमाण है, क्योंकि यह सकल जगत् उसी से परिमित होता है। तथा उस ही से आविर्भूत और उस ही में अन्तर्भूत होने वाला यह जगत्, उसका गमक अर्थात् बोधक है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि शरीर की चेष्टायें जीव की प्रत्यायक (बोधक) होती हैं।

प्राणनिलयः—९६०

'प्राण' शब्द का व्याख्यान प्राणद नाम के व्याख्यान में किया गया है। 'निलय' शब्द भी आधारनिलय नाम के व्याख्यान में व्याख्यात हो चुका है। जिसमें प्राणों का निलय (अन्तर्भाव) होता है, उसका नाम 'प्राणनिलय' है। यह विष्णु और सूर्य का नाम है। क्योंकि वह सब स्थावर और जङ्गमों को, उनके अनुकूल साधनों का सम्पादन करके वास देता है, अर्थात् वसाता है, इसलिए उसका नाम 'प्राणनिलय' है।

हम लोक में भी देखते हैं—सूर्य के प्रकाश के विना शमी नामक वृक्ष के अतिरिक्त क्षुप (पौदे) वनस्पतियां तथा अन्य वृक्ष, पुष्पित और फलित नहीं होते। शमी वृक्ष का देवता सूर्य है, इसलिए वह वैशाख मास में पल्लवित होता है, अर्थात् उसके नूतन पत्रों का उद्गम वैशाख के महीने में होता हैं।

यम रूप से भगवान् विष्णु ही सब का ग्रसन (भक्षण) करता है। जैसा कि **"यमो ददात्यवसानमस्मै"** (ऋक् १०।१४।९) इस मन्त्र से प्रतिपादित है। इस प्रकार प्राण-

"भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य" । ऋक् १।११५।३ ॥

अत्र—अश्नुवते=व्याप्नुवन्तीत्यश्वाः किरणास्त एव च प्राणास्तेषां निलयः सूर्यः इति ज्ञेयम् । तथा च—

"पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथा स्थाम प्रकल्पयन्तामिहैव ।।" अथर्व ७।६७।१।।

"पुनः प्राणः पुनरात्मा न एतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्नं एतु ।
वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा ।।"
अथर्व ६।५३।२ ॥

इति निदर्शनम् । भवतश्चात्रास्माकम्—

प्राणानां निलयो विष्णुः प्राणास्तस्मिन् प्रतिष्ठिताः ।
स युनक्ति पुनः प्राणैर्, आत्मना चक्षुषा च सः ।।२४५।।

तस्मिन्नेव निलीयन्ते, प्राणाः प्राणभृतां पुनः ।
सत्यर्के सति वायौ च, विष्णुस्तिष्ठति केवलः ।।२४६।।

निलयः=आधारः । विष्णुनामसङ्ग्रहे विष्णोः (व्यवस्था) तथा (व्यवस्थान) इत्यपि नाम सङ्गृहीतम् ।

अथर्ववेदस्य ११।४ सूक्तं सर्वं प्राणमहिमानमाचष्टे, तत्तत्रैव द्रष्टव्यम् । तथा च—

निलयत्वरूप से भगवान् सर्वव्यापक है । इस अर्थ का प्रतिपादक "भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य" (ऋक् १।११५।३) इत्यादि मन्त्र है । यहां अश्व नाम व्यापनशील किरणों का हैं, तथा किरण ही प्राण हैं और उनका निलय (आश्रय) सूर्य है, इत्यादि जान लेना चाहिए । इसी अर्थ को ये "पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणञ्च०" (अथर्व ७।६७।१)तथा "पुनः प्राणः पुनरात्मा न एतु०" (अथर्व ६।५३।२) इत्यादि मन्त्र पुष्ट करते हैं । यह उदाहरण है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

सब प्राणियों के प्राणों का निलय (आधार) भगवान् विष्णु ही है, क्योंकि सब प्राण उस ही में प्रतिष्ठित हैं, तथा वह ही सब को प्राण, जीवात्मा तथा चक्षु आदि इन्द्रियों से युक्त करता है ।

फिर सब इन प्राणियों का प्राणसमूह उस ही में निलीन हो जाता है, सत्रूप सूर्य और सत्रूप वायु में भी केवल एक विष्णु की ही सत्ता है ।

'विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्र' में भगवान् का 'व्यवस्था' और 'व्यवस्थान' नाम सङ्गृहीत है । अथर्ववेद का ११।४ सूक्त सम्पूर्ण ही भगवान् की महिमा का व्याख्यान

"प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्" । अथर्व ११।४।१२ ॥

प्राणभृत्—९६१

प्राणान् विभर्तीति 'प्राणभृत्' । 'प्राण' शब्द उक्तः । प्राणरूपकर्मोपपदाद् 'भृञः' 'क्विप्', तुक्, गुणाभावो, जश्त्वचर्त्वे । सर्वत्र व्याप्तः सर्वेषां प्राणिनां प्राणान् विभर्ति=पोषयति धारयति वा सः 'प्राणभृद्' विष्णुः सूर्यो वा ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति ।
तान् सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥" अथर्व ११।५।२२॥

ब्रह्मचारी=इन्द्रः । तद्यथा—

"इन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह" । अथर्व ११।५।७॥
"विराडिन्द्रोऽभवद् वशी" । अथर्व ११।५।१६॥

तथा च यथा—

"आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।
प्रजापति विराजति विराडिन्द्रोऽभवद् वशी ॥" अथर्व ११।५।१६॥

करता है, वह वहां ही देखना चाहिए। जैसे—"प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्" (अथर्व ११।४।१२) इत्यादि ।

प्राणभृत्—९६१

'प्राण' शब्द का व्युत्पादन पहले किया गया है । प्राण शब्द के उपपद में रहने पर, धारणपोषणार्थक 'भृञ्' धातु से 'क्विप्' और तुक् का आगम करने से 'प्राणभृत्' शब्द सिद्ध होता है। जो सर्वत्र व्याप्त होकर सब प्राणियों के प्राणों का धारण पोषण करता है, उसका नाम 'प्राणभृत्' है।

यह सूर्य और विष्णु का नाम है । इस नामार्थ को "पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति"० (अथर्व ११।५।२२) इत्यादि मन्त्र प्रमाणित करता है। ब्रह्मचारी नाम इन्द्र का है । जैसा कि "इन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह" (अथर्व ११।५।७); "विराडिन्द्रोऽभवद् वशी" (अथर्व ११।५।१६) इत्यादि मन्त्रों से सिद्ध है । इसी भाव का स्पष्ट प्रतिपादन—"आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः"० (अथर्व ११।५।१६) इत्यादि मन्त्र करता है ।

लोकेऽपि च पश्यामः—आत्मा शरीरस्थेन्द्रः, इन्द्र एव वात्मा । स यावच्छरीरे तिष्ठति तावत् प्राणान् बिभर्ति । तस्मात् प्राणभृदिन्द्रः, आत्मा, अग्निः, सूर्यः, चन्द्रमा मातरिश्वा च । तस्मोदतेषामात्माग्न्यादीनामन्तःस्थः सन्नेषां भर्त्ता विष्णुरेव प्राणभृत् एवं तस्य भगवतः प्रतिपदं व्यापकता दृश्यते ।

भवति चात्रास्माकम्—

स प्राणभृत् सूर्य उतापि विष्णुः, स मातरिश्वा स विराट् स इन्द्रः ।
आत्मा स वा सोऽग्निरसौ च सोमः, स ब्रह्मचारी विविधस्वरूपः ॥२४७॥

प्राणजीवनः—९६२

'जीव प्राणधारणे' भौवादिको धातुः, ततो णिच्, 'ल्युः', योरनः, णिलोपः । जीवयतीति 'जीवनः', प्राणानां जीवनः 'प्राणजीवनः' । रसरूपेण प्राणजीवन इत्यर्थः ।

तदर्थे मन्त्रलिङ्गञ्च—

"यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः ।
अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मा नु तिष्ठतु ॥" अथर्व ११।४।२४॥

लोक में भी हम देखते हैं—शरीर में स्थित जीवात्मा इन्द्र है, अथवा इन्द्र ही आत्मा है । वह जब तक इस शरीर में रहता है, तब तक प्राणों का धारण पोषण करता है । इसलिये इन्द्र, आत्मा, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और वायु का नाम 'प्राणभृत्' है । तथा इन सब में व्यापक रूप से स्थित होकर, सब के प्राणों का धारण पोषण करने वाला भगवान् विष्णु ही प्रधान रूप से 'प्राणभृत्' है । इस प्रकार से विश्व में पद पद पर भगवान् की व्यापकता प्रतीत होती है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

भगवान् विष्णु, सूर्य, वायु, इन्द्र, आत्मा, अग्नि तथा चन्द्रमा का नाम 'प्राणभृत्' है, क्यों कि ये सब प्राणियों के प्राणों का धारण पोषण करते हैं । तथा इन सब विविध स्वरूपों में स्थित भगवान् विष्णु या सूर्य का वेद में ब्रह्मचारी नाम से निर्देश किया है ।

प्राणजीवनः—९६२

प्राणधारणार्थक 'जीव' धातु से 'णिच्' प्रत्यय और णिजन्त से 'ल्यु' तथा यु को अन आदेश और णि का लोप करने से 'जीवन' शब्द सिद्ध होता है । प्राणों का जो जीवन है, अर्थात् रस के द्वारा या स्वयं रस रूप से जो प्राणियों के प्राणों के धारण पोषण करने में प्रयोजक कर्ता है, उसका नाम 'प्राणजीवन' है ।

इस ही अर्थ का प्रतिपादन "यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः०"

प्राणो=विष्णुः।

"प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।" अथर्व ११।४।१॥

"प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।
प्राणे ह भूतं भव्यञ्च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥" अथर्व ११।४।१५॥

लोके चापि दृश्यते न—हि वायुं विना जीवितुं शक्यमिति। तथा च—
"तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।" यजुः ४०।४॥

भवति चात्रास्माकम्—

वायुः प्राणभृतां लोके, जीवनः परिकीर्तितः।
विष्णुः स्वस्मिन् हि तं धत्ते, नमामि प्राणजीवनम्॥२४८॥

तत्त्वम्—९६३

'तनु विस्तारे' तानादिकाद्धातोः "त्यजितनियजिभ्यो डित्"(उ० १।१३२) इत्युणादिसूत्रेण डिद्वद्भावभावितो 'अदिः' प्रत्ययः, डित्वाट्टेर्लोपः='तद्' इति। तदो भावस् "तस्य भावस्त्वतलौ" (पा० ५।१।११९) सूत्रेण भावे 'त्व' प्रत्ययः, "खरि च"(पा० ८।४।५४)सूत्रेण चर्त्वम्—आविष्टलिङ्गोऽयम्—'तत्त्वम्' इति। तन्यत इति 'तत्' स्थावरजङ्गमात्मकं जगत्, तस्य सारभूतं वस्तु 'तत्त्वम्' इत्यर्थः।

(अथर्व ११।४।२४) इत्यादि मन्त्र करता है। प्राण नाम भगवान् विष्णु का है। "प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे" (अथर्व ११।४।१); "प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते०" (अथर्व ११।४।१५) इत्यादि मन्त्र भी इसी अर्थ को पुष्ट करते हैं।

लोक में भी हम देखते हैं—वायु के विना जीवन असम्भव है। जैसा कि—"तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति" (यजुः ४०।४) इस मन्त्र से सिद्ध है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

लोकान्तर्गत समस्त प्राणिवर्ग का जीवन वायु है, तथा वह वायु भगवान् विष्णु के आश्रित है। इस लिये समस्त प्राणियों के जीवनभूत भगवान् को मैं (भाष्यकार) प्रणाम करता हूं।

तत्त्वम्—९६३

विस्तारार्थक तनादिगण पठित 'तनु' धातु से उणादि डित् 'अदि' प्रत्यय, तथा डित् होने से टि का लोप करने से 'तत्' शब्द सिद्ध होता है। तत् शब्द से भाव में ताद्धित 'त्व' प्रत्यय और चर्त्व करने से 'तत्त्वम्' शब्द बनता है। यह विशेष्यनिघ्न शब्द है। 'तत्' नाम इस विस्तृत स्थावर जङ्गमात्मक जगत् का है। इस के सारभूत वस्तुतत्त्वरूप मूल का

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥"
अथर्व १०।८।३७॥

लोकेऽपि च—यद्विना यत् कार्यकारि यद्वा आत्मधारणक्षमन्न भवति तत्तस्य तत्त्वं, यथा यन्त्रस्य तैलं वाष्पं वा। एवमिदं जगन्न विष्णुं विनात्मधारणक्षमम्, अतः स विष्णुर्जगतस्तत्त्वम्।

भवति चात्रास्माकम्—

तत्त्वं स विष्णु र्जगदस्ति तस्मिन्, तत्त्वं विना नान्यदिहास्ति किञ्चित्।
यदत्र दृश्यं न हि तद्विनास्ति, यो वेत्ति सूत्रं स हि वेत्ति तत्त्वम्॥२४६॥

तत्त्ववित्—६६४

'तत्त्व' शब्दो व्युत्पादितः। 'वेत्तेः' 'क्विप्', गुणाभावो "वाऽवसाने" (पा० ८।४।५५) इति दस्य तकारश्चर्त्वम्। दुग्धे दध्नि वा सर्वत्र ततं घृतमिव यः सर्वत्र ततं तत्त्वं विजानाति स 'तत्त्वविद्' उच्यते।

नाम 'तत्त्वम्' है। यह जगत् के मूल कारण ब्रह्म का नाम है। इस अर्थ की प्रामाणिकता **"यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः"०** (अथर्व १०।८।३७) इस मन्त्र से सिद्ध होती है।

लोक में भी देखने में आता है—जो वस्तु जिसके विना कार्य करने या आत्मधारण में समर्थ नहीं होती, वह उस वस्तु का तत्त्व होता है। जैसे किसी यन्त्र का तैल या वाष्प तत्त्व होता है। इसी प्रकार यह जगत् भी भगवान् की व्याप्ति के विना अपना अस्तित्व रखने में असमर्थ है। इसलिए भगवान् विष्णु ही जगत् की सत्ता का हेतु होने से 'तत्त्व' है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'तत्त्व' है, क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् उस ही में आश्रित है, अर्थात् भगवान् के विना जगत् की कोई सत्ता ही नहीं है। जो इस जगत् में ओत-प्रोत सूत्र को जानता है, वह ही उस तत्त्व को जानता है।

तत्त्ववित्—६६४

'तत्त्व' शब्द का व्युत्पादन पहले किया गया है। तत्त्वरूप कर्म के उपपद में रहने से ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय, उसका सर्वलोप तथा चर्त्व करने से 'तत्त्ववित्' शब्द सिद्ध होता है। दुग्ध या दधि (दही) में सर्वत्र प्रसृत (फैले हुए) घृत के समान, जो विश्व में सर्वत्र व्याप्त तत्त्व को जानता है, उसका नाम 'तत्त्ववित्' है।

सर्वस्मिन् दृश्येऽदृश्ये, ज्ञानगम्येऽज्ञेये च यावत्यो यद्विधाः शक्तयः तावत्यस्ताः सर्वविधाः सूर्यादिग्रहाणां नक्षत्राणाञ्च, तेषां च सूर्यादीनां व्यवस्थापयिता स विष्णुरेव। स एव च सर्वत्र विततं सर्वविधशक्तितत्त्वं वेत्त्यतः स 'तत्त्वविद्' उच्यते।

लोकेऽपि च पश्यामो—यथा दुग्धाद्विलोड्य निष्कासितं घृतं न पुनस्तथा तत्र संयवितुं शक्यते, यथा विलोडनात् प्राक् प्रभविष्णुना विष्णुना तत्र मिश्रीकृतमासीत्। तथा पार्थिवे शरीरे आत्मा, मनः, प्राणा इन्द्रियाणि वा यथा तत्त्वविदा ब्रह्मणा प्रतिष्ठापितान्यासन्, न तथा मृते शरीरे केनचित् प्रतिष्ठापयितुं शक्यन्ते। तस्मात् सूत्रधारः स विष्णुरेव वस्तुतः 'तत्त्ववित्'। यश्चापि कश्चिद् विष्णुमंशतोऽपि वेत्ति सोऽपि 'तत्त्ववित्'।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥"
अथर्व १०।८।३७॥

भवति चात्रास्माकम्—

इस सम्पूर्ण दृश्यादृश्य या ज्ञेयाज्ञेय वर्ग में जितनी विविध शक्तियां प्रतीत होती हैं, वे सब शक्तियां सूर्य आदि ग्रह या नक्षत्रों की हैं। उन सूर्य या नक्षत्र आदि का व्यवस्थापक होने से भगवान् विष्णु ही, उस सर्वत्र विस्तीर्ण शक्तितत्त्व को जानता है, इसलिये भगवान् का नाम 'तत्त्ववित्' है।

लोक में भी हम देखते हैं—जैसे दुग्ध का विलोडन (मन्थन) करके निकाला हुआ घृत, फिर उस प्रकार से उस दूध में नहीं मिलाया जा सकता, जिस प्रकार से दुग्ध के मन्थन से पहले सर्वशक्तिशाली भगवान् विष्णु ने मिला रखा था इसी प्रकार से, इस जीवित पार्थिव शरीर में आत्मा, मन, प्राण तथा इन्द्रियों की जिस प्रकार से भगवान् ने स्थापना की है, उस प्रकार से मृत शरीर में उससे अन्य कोई नहीं कर सकता। इसलिये सब का सूत्रधार अर्थात् व्यवस्थापक भगवान् विष्णु ही वस्तुतः 'तत्त्ववित्' है। उसका नाम भी तत्त्ववित् है, जो किञ्चित् रूप से भी भगवान् को जानता है। इसमें यह **"यो विद्यात् सूत्रं विततम्०"** (अथर्व १०।८।३७) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

स तत्त्ववित् सर्वजगन्नियन्ता, सूर्योऽथ विष्णुर्बहुनामकीर्त्यः ।
ततं हि सर्वत्र तमेकमेव, यो वेत्ति ना[1] तत्त्वविदस्त्यसौ वा ॥२५०॥

१. ना=पुरुषः । बहुनामकीर्त्यः=बहुभिर्नामभिः कीर्तयितुं योग्य इति ।

एकात्मा—९६५

'अततेः' औणादिके 'मनिनि' सिध्यति 'आत्म शब्दः' । इणश्च 'कनि'= 'एकः' । एकश्चासावात्मा=एकात्मा, सांहितिको दीर्घः । सौ नान्तलक्षणो दीर्घः। एवञ्च स विष्णुरेव सर्वस्य स्थावरजङ्गमरूपस्य विश्वस्य एक आत्मा सर्वत्र व्याप्तत्वात् ।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ यजुः ४०।७॥

लोकेऽपि च पश्यामो—यो यत्करोत्याविष्करोति वा, स सर्वं तदात्मत्वेन मन्यते, तत्रैकत्वेन मनोनिधानात् । तथा च नष्टे तस्मिन् नष्टोऽस्मीति तत्कर्ता

इस सकल विश्व के नियामक तथा विविध नामों से स्तवनीय भगवान् विष्णु या सूर्य का नाम 'तत्त्ववित्' है । तथा जो मनुष्य उस सर्वत्र व्याप्त भगवान् को अंशरूप (थोड़ेरूप) से भी जानता है, उस मनुष्य का नाम भी 'तत्त्ववित्' है ।

१. 'ना' नाम पुरुष का है । 'बहुनामकीर्त्य' का अर्थ है—बहुत से नामों से कीर्तन करने योग्य ।

एकात्मा—९६५

सातत्यगमनार्थक 'अत' धातु से उणादि 'मनिन्' प्रत्यय करने से 'आत्मा' शब्द सिद्ध होता है । तथा गत्यर्थक 'इण्' धातु से उणादि 'कन्' प्रत्यय करने से 'एक' शब्द बनता है । एक और आत्मन् शब्द का कर्मधारय समास करके, सांहितिक दीर्घ करने से तथा प्रातिपदिक संज्ञा होने से प्रथमा विभक्ति के एकवचन सु विभक्ति में नान्तलक्षण दीर्घ करने से 'एकात्मा' शब्द सिद्ध होता है । सर्वव्यापक होने से भगवान् विष्णु ही इस स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् का एक आत्मा है । इसलिये उसका नाम 'एकात्मा' है । जैसा कि "यस्मिन्त्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः०" (यजुः ४०।७) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध है ।

लोक में भी हम देखते हैं—जो कोई किसी कार्य को करता है, अथवा किसी प्रकार के यन्त्र का आविष्कार करता है, वह उसको अपने आत्मरूप से मानता है, अर्थात् उस

आविष्कर्ता वा ब्रवीति। एवं स विष्णुरैकात्म्येन सर्वं विश्वं व्याप्नोति, तस्मात् स 'एकात्मा' उच्यते।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते॥"
"प्रथमेन प्रभारेण त्रेधा विष्वङ् विगच्छति।
अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन निषेवते॥"

अथर्व ११।८।३२-३३॥

"एकद्यूः"। ऋक् ८।८०।१०॥
"एकनीडम्"। यजुः ३२।८॥
"अज एकपाद्"। ऋक् २।३१।६॥
"एकराट्"। ऋक् ८।३७।३॥
"एकवीरः"। ऋक् १०।१०३।१॥

तथा—

"यमस्य लोकादध्वा बभूविथ प्रमदा मर्त्यान् प्रयुनक्षि धीरः।
एकाकिना सरथं यासि विद्वान्त्स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ॥"

अथर्व १९।५६।१॥

इति निदर्शनम्। भवति चात्रास्माकम्—

एकात्मा सकले विश्वे, विष्णु र्व्याप्नोति स्वं पदम्।
सूर्यो वाग्निस्वरूपो वा, विष्णुः सर्वत्र राजते॥२५१॥

कर्ता की उस कार्य में तथा आविष्कर्ता की आविष्कृत यन्त्र आदि में एकात्मता है। इसीलिये वह उस कार्य या यन्त्र आदि के नष्ट होने पर अपने को ही नष्ट हुआ मानता है। इसी प्रकार भगवान् अपने एकात्मरूप गुण से इस समस्त विश्व में व्याप्त हो रहा है। इसलिये भगवान् का नाम 'एकात्मा' है।

इस ही भगवान् की एकात्मता के समर्थक "तस्माद् वै विद्वान्०" (अथर्व ११।८।३२, ३३); "एकद्यूः" (ऋक् ८।८०।१०); "एकनीडम्" (यजुः ३२।८); 'अज एकपाद्" (ऋक् २।३१।६); "एकराट्" (ऋक् ८।३७।३); "एकवीरः" (ऋक् १०।१०३।१) तथा "यमस्य लोकादध्वा बभूविथ" (अथर्व १९।५६।१) इत्यादि मन्त्र हैं। यह उदाहरण मात्र है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

इस सकल विश्व का व्यापन करता हुआ सूर्य तथा अग्निस्वरूप भगवान् विष्णु सर्वत्र विश्व में विराजमान हो रहा है।

जन्ममृत्युजरातिगः—९९९

जन्म इति—'जनी प्रादुर्भावे' दिवादिस्ततः **"सर्वधातुभ्यो मनिन्"** (उ० ४।१४५) इत्युणादिना 'मनिन्' प्रत्ययो, **"नेड्वशि कृति"** (पा० ७।२।८) इतीण्निषेधः, जननं='जन्म'।

मृत्युरिति—'मृङ् प्राणत्यागे' इति तौदादिको धातुः, ततो **"भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ"** (उ० ३।२१) इत्युणादिना 'त्युक्' प्रत्ययो, गुणाभावोऽनिट् च, मरणं='मृत्युः'।

जरेति—'जॄष् वयोहानौ' दैवादिको धातुः, ततः **"षिद्भिदादिभ्योऽङ्"** (पा० ३।३।१०४) इति सूत्रेण 'अङ्' प्रत्ययः, **"ऋदृशोऽङि गुणः"** (पा० ७।४।१६) सूत्रेण गुणो, रपरः। ततः **"अजाद्यतष्टाप्"** (पा० ४।१।४) इत्यनेन स्त्रियां 'टाप्', जरणं=जरा।

अतिग इति—'अति' पूर्वो 'गम्लृ' गतौ भौवादिको धातुः, ततः **"अन्येष्वपि दृश्यते"** (पा० ३।२।१०१) सूत्रेण 'डः' प्रत्ययः, टिलोपः। अतिगच्छतीति 'अतिगः'। जन्ममृत्यजरा अतिगच्छतीति='जन्ममृत्युजरातिगः' विष्णुः सूर्यो वा।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥"

अथर्व १०।८।४४॥

जन्ममृत्युजरातिगः—९९९

'जन्म' शब्द प्रादुर्भावार्थक 'जनी' धातु से उणादि 'मनिन्' प्रत्यय, और इट् का निषेध होने से बनता है। उत्पन्न होने का नाम 'जन्म' है। 'मृत्यु' शब्द प्राणों के त्यजन रूप अर्थ में विद्यमान 'मृङ्' धातु से उणादि 'त्युक्' प्रत्यय तथा गुण और इट् के अभाव से सिद्ध होता है। मरने का नाम 'मृत्यु' है। 'जरा' शब्द वयोहानि अर्थात् आयु के क्षीण होने रूप अर्थ में विद्यमान 'जॄष्' धातु से 'अङ्' प्रत्यय, रपरक गुण, और 'टाप्' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। वार्धक्य (बुढ़ापे) का नाम 'जरा' है। 'अतिग' शब्द अतिपूर्वक गत्यर्थक 'गम' धातु से 'ड' प्रत्यय और टि का लोप करने से बनता है। अतिक्रमण करने वाले का नाम 'अतिग' है।

जो जन्म मृत्यु और जरा का अतिक्रमण करने वाला है, उसका नाम 'जन्ममृत्युजरातिग' है। अर्थात् जिसका जन्म मृत्यु और जरा से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, उसका नाम 'जन्ममृत्युजरातिग' है। यह विष्णु या सूर्य का नाम है। इस नामार्थ की पुष्टि—**"अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भूः०"** (अथर्व १०।८।४४) इत्यादि मन्त्र से होती है।

लोकेऽपि च पश्यामः—शरीरे जन्ममृत्युजराः प्राप्नुवत्यपि शारीर आत्मा जन्ममृत्युजरा न प्राप्नोति, "भस्मान्तꣳ शरीरम्" (यजु: ४०।१५) इति याजुषात् मन्त्रलिङ्गात्। तथा—

"अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥"

सा० मं० ब्रा० १।५।१६॥

इत्याद्यधिशरीरमुक्तं भवति। भवति चात्रास्माकम्—

जगत् स विष्णुर्बहुधा विरच्य, स्वस्मिन् सदा तत् सुतरां दधाति।
न जन्ममृत्यू लभते कदाचित्, स वा जरां नैति सदैकरूपः॥२५२॥



भूर्भुवःस्वस्तरुस्तारः सविता प्रपितामहः।
यज्ञो यज्ञपतिर्यज्वा यज्ञाङ्गो यज्ञवाहनः॥ १७॥

९६७ भूर्भुवःस्वस्तरुः, ९६८ तारः, ९६९ सविता, ९७० प्रपितामहः।
९७१ यज्ञः, ९७२ यज्ञपतिः, ९७३ यज्वा, ९७४ यज्ञाङ्गः, ९७५ यज्ञवाहनः॥

भूर्भुवःस्वस्तरुः—९६७

'भूः भुवः स्वः' इति तिस्रो महाव्याहृतयः। भूरिति भूलोकः, भुवरित्यन्तरिक्षं, स्वरिति द्युलोकः, एते त्रयो लोकाः त्रयः स्कन्धा इव यमाश्रित्य तिष्ठन्ति,

---

लोक में भी हम देखते हैं—शरीर के जन्म मृत्यु और जरा को प्राप्त होते हुए भी शरीरी आत्मा जन्म मृत्यु जरा आदि के सम्बन्ध से रहित है। जैसा कि "भस्मान्तꣳ शरीरम् (यजु: ४०।१५) तथा "अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादभिजायसे०" (साम मंत्र ब्रा० १।५।१६) इत्यादि मन्त्रों के द्वारा शरीर का ही जन्म तथा मृत्यु प्रतिपादित है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

इस विविध प्रकार के विश्व की रचना करके भगवान् विष्णु इस विश्व को स्वयं अपने आप में ही धारण करता है। तथा इस विश्व के जन्म मृत्यु जरा आदि विकारों को प्राप्त होते हुये भी भगवान् इनके सम्पर्क से रहित है, और सदा एक=अविकृतरूप है।

भूर्भुवःस्वस्तरुः—९६७

भूः भुवः तथा स्वः ये तीनों महाव्याहृतियों के नाम से प्रसिद्ध हैं, तथा क्रम से भूलोक, अन्तरिक्षलोक तथा द्युलोक रूप हैं। ये तीनों लोक स्कन्धों (वृक्ष की बृहत् शाखा-

स एतेषामाधारो मूलभूतः परमेश्वरस्तरुरिव स्थितो 'भूर्भुवःस्वस्तरुः' इत्यभिधीयते ।

भू शब्दो—'भू सत्तायां' धातोः "सम्पदादिभ्यः क्विप्" (वा० ३।३।९४) सूत्रेणाधिकरणे 'क्विपि' सिध्यति । भवन्त्यस्यामिति 'भूः' ।

भुवः शब्दो—'भू' धातोः "भूरञ्जिभ्यां कित्" (उ० ४।२१७) इत्युणादिसूत्रेण 'असुन्' प्रत्ययः, स च कित्, कित्त्वाद् गुणाभावः । "अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ" (पा० ६।४।७७) सूत्रेण 'उवङ्' आदेशे सिध्यति ।

स्वरिति शब्दः—'स्वृ शब्दोपतापयोः' इति भौवादिकाद्धातोः "अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते" (पा० ३।२।७५) सूत्रेण 'विच्' प्रत्ययः । छन्दसीति तु नात्रानुवर्तते, गुणे रपरे च सिध्यति । "स्वरादिनिपातमव्ययम्" (पा० १।१।३६) सूत्रेणाव्ययसंज्ञा । स्वरति=शरणागताय त्वं ममासीति स्वीकारशब्दं ददातीति 'स्वः' सुखरूपश्च ।

क्रमशो मन्त्रलिङ्गानि—

भूशब्दस्य—"त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः" ।ऋक् ६।१।५।।

भुवश्शब्दस्य—"भुवः सम्राडिन्द्र सत्ययोनिः" । ऋक् ४।१९।२।।

"भुवश्चक्षुर्मह ऋतस्य गोपा भुवो वरुणो यदृताय वेषि ।
भुवो अपां नपाज्जातवेदो भुवो दूतो यस्य हव्यं जुजोषः ।।"
ऋक् १०।८।५।।

ओं) के समान जिस के आश्रय से रहते हैं, वह इन का मूल भूत आधार, वृक्ष के समान स्थित परमेश्वर 'भूर्भुवः स्वस्तरुः' नाम से कहा जाता है ।

'भू' शब्द—सत्तार्थक 'भू' धातु से अधिकरण अर्थ में सम्पदादि लक्षण 'क्विप्' प्रत्यय करने से बनता है । जिसमें ये सब भूत=प्राणी होते हैं, उसका नाम 'भू' है। 'भुवः' शब्द—'भू' धातु से उणादि कित् 'असुन्' प्रत्यय, कित् होने से गुण का अभाव तथा 'उवङ्' आदेश होने से सिद्ध होता है । 'स्वः' शब्द—शब्द तथा उपतापार्थक (रोगार्थक) 'स्वृ' धातु से 'विच्' प्रत्यय, और रपरक गुण करने से सिद्ध होता है, और यह अव्यय पद है । जो शरणागत के लिये तू मेरा है, मैं तेरी रक्षा करूंगा, इस प्रकार का स्वीकृतिरूप शब्द देता है, उसका नाम 'स्वः' है तथा सुख का नाम भी 'स्वः' है ।

भूः भुवः तथा स्वः शब्दों को प्रमाणित करने वाले मन्त्र क्रम से इस प्रकार हैं—"त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः" (ऋक् ६।१।५) यह 'भू' शब्द का प्रमापक मन्त्र है। "भुवः सम्राडिन्द्र सत्ययोनिः" (ऋक् ४।१९।२); "भुवश्चक्षुर्मह ऋतस्य गोपा०"

"भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः।
दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥"
ऋक् १०।८।६॥

स्वश्शब्दस्य—"स्वः स्वाय धायसे"। ऋक् २।५।७॥

"यो नः स्वो अरणः"। ऋक् ६।७५।१९॥

"अव स्वः सखा"। ऋक् ८।७०।११॥

तरुरिति—'तॄ प्लवनतरणयोः' भौवादिको धातुः, ततो भृमृशीङ्तृचरि०" (उ० १।७) इत्याद्युणादिना सूत्रेण 'उः' प्रत्ययो, रपरो गुणः। तरन्त्यनेन 'तरुः' तरणसाधनं, यमवलम्ब्य सर्वे लोकास्तरन्तीति भावः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"अर्वद्भिरस्तु तरुता"। ऋक् १।२७।९॥

यः शूरैः स्वः सनिता यो विप्रैर्वाजं तरुता"। ऋक् १।१२९।२॥

लोके चापि पश्यामः—लौकिकोऽयं तरुः स्वावयवभूतस्कन्धशाखादीनामाश्रयस्तथा तरणसाधनञ्च। वृक्षोऽपि तरुनामा एतस्मादेव, यतो हि स जले स्वयं तरति तारयति च तदाश्रितमिति।

तदर्थे मन्त्रलिङ्गञ्च—

(ऋक् १०।८।५) तथा "भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता०" (ऋक् १०।८।६) इत्यादि मन्त्र 'भुवः' शब्द के प्रमापक हैं। "स्वः स्वाय धायसे" (ऋक् २।५।७); "यो नः स्वो अरणः" (ऋक् ६।७५।१९) तथा "अव स्वः सखा" (ऋक् ८।७०।११) इत्यादि मन्त्र 'स्वः' शब्द के प्रमापक हैं।

तरु शब्द—प्लवन तथा सन्तरणार्थक 'तॄ' धातु से उणादि 'उ' प्रत्यय, और रपरक गुण करने से सिद्ध होता है। जिस के द्वारा तरते हैं, अर्थात् जिसका आश्रय लेकर सब तरते हैं, उस तरण के साधन का नाम 'तरु' है। इस में "अर्वद्भिरस्तु तरुता" (ऋक् १।२७।९) तथा "यः शूरैः स्वः सनिता यो विप्रैर्वाजं तरुता" (ऋक् १।१२९।२) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं।

लोक में भी हम देखते हैं—जो यह लौकिक तरु है, जिसका अपर नाम वृक्ष है, वह अपने अवयवभूत स्कन्ध शाखा आदिकों का आश्रय तथा तरण का साधन है। वृक्ष का नाम भी तरु इसीलिये है, क्यों कि वह जल में स्वयं तरता हुआ अपने आश्रित को तार देता अर्थात् पार कर देता है।

"रोचसे दिवि रोचसे अन्तरिक्षे पतङ्ग पृथिव्यां रोचसे रोचसे अप्स्वन्तः।
उभौ समुद्रौ रुच्या व्यापिथ देवो देवासि महिषः स्वर्जित् ॥"
अथर्व १३।२।३०॥

"अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने"। अथर्व १३।२।३२॥
"दिवाकरोऽति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीद् दुरितानि शुक्रः"।
अथर्व १३।२।३४॥

"रोहितः कालो अभवत् रोहितोऽग्रे प्रजापतिः।
रोहितो यज्ञानां मुखं रोहितः स्वराभरत् ॥" अथर्व १३।२।३९॥
"रोहितो लोको अभवत् रोहितोऽत्यतपद् दिवम्।
रोहितो रश्मिभिर्भूमिं समुद्रमनुसञ्चरत् ॥" अथर्व १३।२।४०॥

इति निदर्शनम्। भवति चात्रास्माकम्—

भूर्भुवःस्वस्तरु विष्णुः सूर्यो वाग्निः प्रजापतिः।
स भुवं स समुद्रान्तः स्व र्वा याति स्वरोचिषा ॥२५३॥

तारः—९६८

'तरतेः' णिच् ततः पचादि 'अच्', णिलोपः। तारयतीति 'तारः'। सर्वस्य

इस अर्थ की प्रामाणिकता "रोचसे दिवि रोचसे अन्तरिक्षे०" (अथर्व १३।२।३०); "अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने" (अथर्व १३।२।३२); "दिवाकरोऽति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीत्०" (अथर्व १३।२।३४); "रोहितः कालो अभवत् रोहितोऽग्रे प्रजापतिः०" (अथर्व १३।२।३९) तथा "रोहितो लोको अभवत् रोहितोऽत्यतपद दिवम्०" (अथर्व १३।२।४०) इत्यादि मन्त्रों से सिद्ध होती है। यह उदाहरणों से दिग्दर्शन मात्र किया है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

भगवान् विष्णु, सूर्य, अग्नि और प्रजापति आदि रूप से तथा ज्योतिः स्वरूप से पृथिवी, समुद्र, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक आदि में सर्वत्र गत है (व्याप्त है), इस लिये भगवान् का नाम 'भूर्भुवः स्वस्तरु' है।

तारः—९६८

'तृ' धातु से णिच्, और णिजन्त से पचादि 'अच्' तथा णि का लोप करने से 'तार' शब्द सिद्ध होता है। जो इस सकल जगत् का तारने वाला अर्थात् पार करने वाला और आश्रय रूप है, उसका नाम है 'तार'। अर्थात् इस जगत् का पार करने वाला, भगवान्

जगतः तारयिता=अवलम्बो, न तेन विनान्यः कश्चित् जगत्तारयितुं क्षम इत्यर्थः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"त्वं भुवः प्रतिमानं पृथिव्याः"। ऋक् १।५२।१३॥

"नदीं यन्त्वप्सरसोऽपां तारमवश्वसम्"। अथर्व ४।३७।३॥

"नमस्ताराय"। यजुः १६।४०॥

"विश्वा द्वेषांसि तरति स्वयुग्वभिः"। ऋक् ६।१११।१॥

इति निदर्शनम्।

लोकेऽपि च पश्यामः—यो हि स्वयं तरति स एवान्यान् तारयति, तारयितुं क्षमो वा भवति। एष तारत्वरूपो गुणो भगवतः सर्वत्र लोके व्याप्तः।

भवति चात्रास्माकम्—

तारो हि विष्णुः स च वास्ति सूर्यो, द्वेषांसि तारो तरते हि शश्वत्।
द्वेषस्तमोऽतो[1] जगतः स तारो, दीपो यथा हस्तगतोऽस्ति तारः॥२५४॥

१. द्वेष एव तमः, अस्माच्च तमसस्तारयितेत्यर्थः।

के अतिरिक्त और कोई नहीं है, इस से उस का नाम 'तार' है। इस नामार्थ तथा नाम की पुष्टि—"त्वं भुवः प्रतिमानं पृथिव्याः" (ऋक् १।१५२।१३); "नदीं यन्त्वप्सरसोऽपां तारमवश्वसम्" (अथर्व ४।३७।३); "नमस्ताराय" (यजु० १६।४०) तथा "विश्वा द्वेषांसि तरति स्वयुग्वभिः" (ऋक् ६।१११।१) इत्यादि मन्त्रों से होती है। ये उदाहरण हैं।

लोक में भी हम देखते हैं=जो अपने आप तरने में समर्थ है, वह ही दूसरों को तारने में समर्थ हो सकता है। यह भगवान् का तारत्वरूप गुण लोक में सर्वत्र व्याप्त है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

भगवान् विष्णु या सूर्य का नाम 'तार' है, क्योंकि वह हस्तगत दीपक के समान अन्धकार तथा द्वेषरूप अन्धकार से जगत् को पार करता है।

द्वेष नाम तम का है, और इस से पार करने वाले का नाम 'तार' है।

सविता—६६६

'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' धातुरादादिकस्तस्मात् 'तृच्' प्रत्ययः कर्तरि, "स्वरतिसूति०" (पा० ७।२।४४) इत्यादिसूत्रेण पाक्षिक इट्, गुणावादेशौ। सुविभक्तौ अनङ्ङादि। सूते सर्वं जगदिति 'सविता'। सर्वस्योत्पादक इत्यर्थः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"सखाय आ निषीदत सविता स्तोम्यो नु नः। दाता राधांसि शुम्भति॥"

ऋक् १।२२।८॥

"हिरण्यपाणिमूतये सवितारमुपह्वये। स चेत्ता देवता पदम्॥"

ऋक् १।२२।५॥

बहुत्रायं शब्दो वेदे विभिन्नविभक्त्यन्तः प्रयुक्तः। इति निदर्शनम्।

लोके चापि पश्यामः—सूर्यो हि नियतकालप्राप्तं गर्भमपानवायुं प्रेर्यं प्रसावयति, तस्मात् स सवितोच्यते। भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्हि लोके सविता प्रसिद्धः. सूर्यः स्वकैर्नामशतैः स एव।
सूर्यः स्वशक्त्या समुदीर्य वायुं, सोऽपानसंज्ञो जगदत्र सूते॥२५५॥

शरीरे प्राणः-अपानः-उदानः-व्यानः-समान इति प्राणपञ्चकम्। एतस्यैव प्राणपञ्चकस्य—नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयपञ्चकरूपेण भेद-प्रपञ्चः।

सविता—६६६

प्राणिगर्भविमोचनार्थक आदादिक 'षूङ्' धातु से कर्ता में 'तृच्' प्रत्यय, "स्वरति-सूति०" (पा० ७।२।४४) से पाक्षिक इट्, गुण और अवादेश, तथा प्रातिपदिक संज्ञा करने पर सु विभक्ति में अनङ् और दीर्घादि करने से 'सविता' शब्द सिद्ध होता है। जो इस सकल जगत् को उत्पन्न करता है, अर्थात् सकल जगत् के उत्पादक का नाम 'सविता' है। इस नाम की पुष्टि—**"सखाय आ निषीदत०"** (ऋक् १।२२।८) तथा **"हिरण्यपाणि-मूतये०"** (ऋक् १।२२।५) इत्यादि मन्त्र से होती है।

यह शब्द वेद में विभक्ति तथा वचनभेद से बहुत आता है। लोक में भी हम देखते हैं—सूर्य प्रसव समय के पूर्ण होने पर अपान वायु की प्रेरणा से उसे प्रसूत अर्थात् गर्भाशय से मुक्त करके उत्पन्न कर देता है, इसीलिये उस का नाम 'सविता' है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'सविता' है, तथा वह विष्णु ही अपने बहुत से नामों के अर्थानुगम, अर्थात् सूर्य के समानार्थक होने से सूर्य है। वह सूर्य अपनी शक्ति से अपान-संज्ञक वायु को प्रेरित करके सब को उत्पन्न करता है।

प्रत्येक शरीर में वायु अपने प्राण-उदान-व्यान-अपान तथा समानसंज्ञक भेदों से विद्यमान है। उस ही का, नाग-कूर्म-कृकल-देवदत्त तथा धनञ्जय नामरूप से भेदान्तर है।

प्रपितामहः—९७०

'पा रक्षणे' धातुरादादिकस्तस्य "**नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृभ्रातृजामातृयातृपितृदुहितृ**" (उ० २।९५) इत्युणादिसूत्रेण 'तृच्' प्रत्ययः, आत इत्वञ्च निपात्यते। अनिट् चायम्। एवं सिद्धात् 'पितृ'शब्दात् पितुः पितर्यभिधेये "**पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः**" (पा० ४।२।३५) इति सूत्रेण 'डामहच्' प्रत्ययो निपात्यते, स च तद्धितः। भसंज्ञायां "**टेः**" (पा० ६।४।१४३) सूत्रेण टेर्लोपः। ततः प्रपूर्वः, "**कुगतिप्रादयः**" (पा० २।२।१८) इति सूत्रेण प्रादिसमासः। प्रकृष्टः पितामहः 'प्रपितामहः' इति। पितामहादीनामपि पिता जनकः सः 'प्रपितामह' उच्यते।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"**रात्री माता नभः पितार्यमा ते पितामहः।**
सिलाची नाम वा असि देवानामसि स्वसा।।" अथर्व ५।५।१।।

प्रकृष्टो विष्णुः 'प्रपितामह' उक्तो भवति।

"**पिता जनितुरुच्छिष्टोऽसोः पौत्रः पितामहः।**" अथर्व ११।७।१६।।

लोकेऽपि च पश्यामः—प्रपितामहो हि सर्वस्य कुटुम्बस्य द्रष्टा सत्यपथदर्शिता वा भवति। तथा च—

"**पश्यन् जन्मानि सूर्यः**"। अथर्व १३।२।२१।।

प्रपितामहः—९७०

'पितृ' शब्द—रक्षणार्थक अदादिगण पठित 'पा' धातु से उणादि 'तृच्' प्रत्यय, तथा धातु के आकार को इत्व का निपातन करने से सिद्ध है। यह धातु अनिट् है। इस प्रकार से सिद्ध इस 'पितृ' शब्द से पिता का पिता अभिधेय होने पर ताद्धित 'डामहच्' प्रत्यय का निपातन और टि का लोप करने से 'पितामहः' शब्द बनता है। प्रादि समास करने से प्रगत पिता, अर्थात् पिता आदिकों का पिता 'प्रपितामह' सिद्ध होता है।

इस नामार्थ की पुष्टि "**रात्री माता नभः पितार्यमा ते पितामहः०**" (अथर्व ५।५।१) इत्यादि मन्त्र से होती है। सब से प्रकृष्ट भगवान् विष्णु का नाम 'प्रपितामह' है। जैसा कि—"**पिता जनितुरुच्छिष्टोऽसोः पौत्रः पितामहः**" (अथर्व ११।७।१६) इत्याद्यथर्व मन्त्र से सिद्ध होता है।

लोक में भी हम देखते हैं—प्रपितामह सब कुटुम्ब का द्रष्टा अथवा सब को सन्मार्ग दिखलाने वाला होता है। जैसा कि—"**पश्यन् जन्मानि सूर्यः**" (अथर्व १३।२।२१) इस मन्त्र से सिद्ध होता है।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णु हि लोके प्रपितामहोऽस्ति, पश्यन् स देवो भुवनानि याति ।।
तमेव सूर्यं प्रणमन्ति सर्वे, मत्वाजरं तं प्रपितामहं वा ।।२५६।।

यज्ञः–६७१

'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' इति भौवादिको धातुः, ततो **"यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्"** (पा० ३।३।९०) इति सूत्रेण भावेऽकर्तरि च कारके 'नङ्' प्रत्ययः। अनिट्, श्चुत्वं, नस्य ञः। यजनं 'यज्ञः'। य इज्यते स 'यज्ञः'। यजन्ति यत्रेति 'यज्ञः'। इज्यतेऽनेन वा 'यज्ञः' साधनम्। एवं यथार्थमुह्यम्।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

**"यज्ञो बभूव स आबभूव स प्रजज्ञे स उ वावृधे पुनः।
स देवानामधिपतिर्बभूव सोऽस्मासु द्रविणमादधातु ।।"** अथर्व ७।५।२।।

"यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितमग्निम्"। ऋक् ५।११।२।।

"यज्ञेन वर्धत जातवेदसम्"। ऋक् २।२।१।।

"यज्ञ इन्द्रमवर्धयत्"। ऋक् ८।१४।५।।

इति निदर्शनम्।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

विष्णु या तदभिन्नरूप भगवान् सूर्य का नाम 'प्रपितामह' है। उस ही अजर अमर रूप, सब भुवनों के द्रष्टा और सब के प्रपितामह सूर्य को सब नमस्कार करते हैं।

यज्ञः—६७१

देवपूजा सङ्गतिकरण तथा दानार्थक भौवादिक 'यज' धातु से कर्तृभिन्न कारक में 'नङ्' प्रत्यय। धातु के अनिट् होने से इट् का अभाव, श्चुत्व, नकार को ञकार करने से 'यज्ञ' शब्द सिद्ध हुआ है। यजन का नाम 'यज्ञ' है। जिसका या जिसमें यजन किया जाता है, उसका नाम 'यज्ञ' है, तथा जिसके द्वारा यजन किया जाता है, उस साधन का नाम भी 'यज्ञ' है। इस ही प्रकार से सर्वत्र समन्वय कर लेना चाहिए। इस भगवन्नाम की पुष्टि—**"यज्ञो बभूव स आ बभूव०"** (अथर्व ७।५।२); **"यज्ञस्य केतुं प्रथमम्०"** (ऋक् ५।११।२); **"यज्ञेन वर्धत जातवेदसम्"** (ऋक् २।२।१) तथा **"यज्ञ इन्द्रमवर्धयत्"** (ऋक् ८।१४।५) इत्यादि मन्त्रों से होती है।

सर्वं विश्वं यज्ञात्मकं, सूर्यो विष्णुरग्निर्वा प्रधानदेवताः यज्ञस्य। "यज्ञो वै विष्णुः" इति च ब्राह्मणम्।

"यज्ञो हि त इन्द्र वर्धनोऽभूत्"। ऋक् ३।३२।१२॥

भवतश्चात्रास्माकम्—

"सकामभावेन कृतोऽपि यज्ञः, स यज्वनेऽर्थ्यंञ्च ददाति नित्यम्।
यदीज्यते विष्णुरकामपूर्वं, स एव यज्ञोऽमितदस्तदा स्यात्॥२५७॥
यज्ञेन देवा अयजन्त यज्ञं, शरद्धविस्तत्र वसन्त आज्यम्।
पुरोहितोऽग्निः स पुनाति नित्यं, यज्ञस्य कर्तारमनिन्द्यमर्यम्[1]"॥२५८॥

[1] अर्यं=स्वामिनम्। 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (पा० ३।२।१०३)।

यज्ञपतिः—९७२

'यज्ञ' शब्दो व्युत्पादितः। 'पाते'र्डतौ टिलोपे च 'पतिः' उक्तः। स्वयं यज्ञरूपो यजनीयो यज्ञसाधनञ्च भगवान् यज्ञं पाति, इत्यतो 'यज्ञपतिः' उक्तो भवति। मन्त्रलिङ्गञ्च—

तथा "यज्ञो वै विष्णुः" यह ब्राह्मण-वचन भी विष्णु के यज्ञ नाम की पुष्टि करता है। सब विश्व ही यज्ञरूप है, और इस विश्वरूप यज्ञ के विष्णु, सूर्य तथा अग्नि प्रधान देवता हैं। इसी अर्थ को—"यज्ञो हि ते इन्द्र वर्धनोऽभूत्" (ऋक् ३।३२।१२) यह ऋग्वेद-वचन पुष्ट करता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

कामनापूर्वक अर्थात् सकाम भाव से किया हुआ भी यज्ञ यष्टा के लिये वाञ्छित अर्थ को देता है, किन्तु जिसमें भगवान् विष्णु का निष्काम भाव से यजन किया जाता है, वह यज्ञ तो अपरिमित फल को देने वाला होता है।

देवताओं ने शरद् को हवि, तथा वसन्त ऋतु को घृत बनाकर यज्ञरूप कर्म के द्वारा भगवान् यज्ञरूप विष्णु का यजन किया। यज्ञकर्म में पुरोहित अर्थात् अग्रणी अग्नि यज्ञकर्म के कर्ता या स्वामी[1] यजमान को नित्य ही पवित्र करता है।

[1] अर्य शब्द स्वामी या वैश्य अर्थ में "अर्यः स्वामिवैश्ययोः" (पा० ३।२।१०३) इस सूत्र से निपातित किया गया है।

यज्ञपतिः—९७२

'यज्ञ' शब्द का व्युत्पादन पहले किया गया है। 'पति' शब्द रक्षणार्थक 'पा' धातु से 'डति' प्रत्यय और टि का लोप करके सिद्ध किया गया है।

स्वयं भगवान् यज्ञरूप, यज्ञ का साधन या यजनीय है, तथा वह यज्ञरूप कर्म की

"देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय" । यजुः ६।१०॥

"मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्" । यजुः १।२॥

यज्ञं कर्तुमनसि यज्ञपतौ मनुष्येऽपि भगवान् यज्ञाख्यो विष्णुरेव विशति, ततोऽसौ यियक्षतीति प्रतिपदं पश्यामः ।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्हि यज्ञस्य पतिः प्रसिद्धो, [1]मर्त्योऽपि तत्रास्ति च विष्णुरूपः ।
समिद्धवींषि घृतमत्र सर्वं, होता च यज्ञस्य पतिः स विष्णुः ॥२५६॥

१. मर्त्यो=होता यजमानादिरूपश्च, तथा वस्तु च यज्ञीयं सर्वं विष्णुरूपमित्यर्थः ।

यज्वा—६७३

'यजतेः' **"सुयजोङ्वनिप्"** (पा० ३।२।१०३) सूत्रेण 'ङ्वनिप्' प्रत्ययः । अनिडयम् । कित्त्वाभावाद् **"वचिस्वपियजादीनां किति"** (पा० ६।१।१५) सूत्रेण सम्प्रसारणं न भवति । सुविभक्तौ नान्तलक्षणो दीर्घः । यद्यप्येषः प्रत्ययो भूते भवति, तथापि भगवतः कालपरिच्छेदराहित्यात् कालसामान्ये भवति । विश्वनिर्माणरूपेण, तदर्थसाधनसम्पादनरूपेण च यज्ञेन इष्टवान्-यजते-यक्ष्यतीति वा स 'यज्वा' विष्णुः ।

रक्षा करता है, इसलिए उसका नाम 'यज्ञपति' है । इस में यह—**"देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय"** (यजुः ६।१०) इत्यादि यजुर्वेद मन्त्र प्रमाण है ।

यज्ञकर्म करने की इच्छा वाले यजमान के अन्दर भी भगवान् यज्ञनामा विष्णु ही प्रवेश करता है, तब वह यज्ञ करने की इच्छा करता है, यह हम पद-पद पर देखते हैं ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'यज्ञपति' है, तथा समिध हवि और घृत आदि रूप यज्ञ का पाता (पति) होने से मर्त्य यजमान या होता आदि भी विष्णुरूप हैं, और यज्ञान्तर्गत वस्तुयें भी विष्णुरूप हैं, अर्थात् विश्वरूप यज्ञ तथा विश्वान्तर्गत वस्तुयें सब ही विष्णुरूप हैं ।

यज्वा—६७३

देवपूजाद्यर्थक अनिट् 'यज' धातु से 'ङ्वनिप्' । यद्यपि यह प्रत्यय भूतकाल में होता है, तथापि भगवान् के काल द्वारा परिच्छिन्न न होने से कालसामान्य में होता है । कित्त्व के न होने से **"वचिस्वपियजादीनां किति"** (पा० ६।१।१५) सूत्र से सम्प्रसारण नहीं होता । सु विभक्ति आने से नान्तलक्षण दीर्घ होकर 'यज्वा' शब्द सिद्ध होता है । विश्वनिर्माणरूप अथवा तदर्थ साधनों के निर्माणरूप यज्ञकर्म के द्वारा जिसने यजन

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"यज्वेदयज्योर्वि भजाति भोजनम् ।" ऋक् २।२६।१।।

तथा यज्वेत्यनुवर्तते—

"यो अस्मै हव्यैर्घृतवद्भिः......ब्रह्मणस्पतिः ।" ऋक् २।२६।४।।

इतिमन्त्रोक्तो 'ब्रह्मणस्पतिः' सूर्यः ।

"इन्द्रो यज्वने पृणते" । ऋक् ६।२८।२।।

लोकेऽपि च विविधं कर्म कुर्वाणः सर्व एव प्राणिवर्गो 'यज्वा' ।

भवति चात्रास्माकम्—

सर्वो मनुष्यः स्वयमर्थदासो, यज्वा भवन् कर्मशतं विधत्ते ।
सूर्योऽपि यज्वा बृहतां पतिर्वा, स ब्रह्मणो वा च पतिर्हि यज्वा ।।२६०।।

यज्ञाङ्गः—६७४

'यज्ञ' शब्दो 'यजते'र्नङि प्राग्व्युत्पादितः । 'अङ्ग'शब्दश्च गतिकर्मणोः 'अङ्गतेः' पचाद्यचि व्याकृतः । एवञ्च—इज्यते यः, इज्यते येन, इज्यते यस्मै, इज्यते यत्रेति वा यजनीयो, यजनसाधनं हविरादि, यजनसम्प्रदानमुद्देशो,

---

किया है, कर रहा है, या करेगा, उसका नाम 'यज्वा' है। इस भगवन्नाम को— "यज्वेदयज्योर्वि भजाति भोजनम्" (ऋक् २।२६।१) इत्यादि मन्त्र प्रमाणित करता है । तथा पूर्व मन्त्र से 'यज्वा' शब्द का अनुवर्तन करने से "यो अस्मै......ब्रह्मणस्पतिः" (ऋक् २।२६।४) इस मन्त्र में 'ब्रह्मणस्पति' नाम सूर्य का है, और वह यज्वा है । तथा "इन्द्रो यज्वने पृणते" (ऋक् ६।२८।२) इत्यादि मन्त्रों से भी 'यज्वा' शब्द प्रमाणित होता है । लोक में भी विविध प्रकार के कर्मों को करता हुआ प्राणिवर्ग 'यज्वा' नाम का वाच्य होता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

विविध प्रकार की कामनाओं का दास यह मनुष्य, विविध प्रकार के अनन्त कर्मों को करता हुआ 'यज्वा' बन जाता है । सूर्य, बृहस्पति तथा ब्रह्मणस्पति अर्थात् इस कार्य ब्रह्म=जगत् के पति विराट्, ये सब ही 'यज्वा' नाम के वाच्यार्थ हैं ।

यज्ञाङ्गः—६७४

'यज्ञ' शब्द की सिद्धि 'यज' धातु से 'नङ्' प्रत्यय करके की गई है । 'अङ्ग' शब्द गत्यर्थक 'अगि' धातु से पचादि 'अच्' प्रत्यय करने से व्युत्पन्न हुआ है । इस प्रकार से जिसका, जिससे, जिसके लिए, यद्वा जहां यजन किया जाता है, अर्थात् यजनीय भगवान्,

यजनस्थलादिकञ्च सर्वं 'यज्ञ' शब्देन गृहीतं भवति। अङ्गश्च=गन्ता प्राप्ता वा। तथा च स्वयं यजनीयो यज्ञरूपः सन् यज्ञरूपाणि हविरादीनि यज्ञस्थलं गत्वा प्राप्नोतीति 'यज्ञाङ्गः' सूर्यो विष्णुर्वा सर्वव्यापकः।

यद्वा—'अङ्ग' इत्यत्र भावे 'घञ्'। एवञ्च यज्ञे अङ्गः-अङ्गनं=गतिर्यस्य स 'यज्ञाङ्गः'। यद्वा—यज्ञैः=यजनकर्मभिरङ्गः=प्राप्तिर्यस्य स 'यज्ञाङ्गः' इति। यजनीयः सूर्यो गच्छतीति प्रत्यक्षञ्च।

यद्वा—अङ्गेरिति णिजन्तात् पचादि 'अच्' णेर्लोपे चाङ्ग इति। तथा च—अङ्गयति=प्रापयति हविरादिकं मन्त्रहुतं सूर्यं विष्णुं वा स 'यज्ञाङ्गः' अग्निरुक्तो भवति।

लोके चापि पश्यामो—जाठरोऽग्निः सर्वं विकृतमङ्गं रसविशेषेण नीरुजं विधाय तं भक्षितं रसं सर्वत्राङ्गेषु प्रापयति। विष्णोश्च यज्ञाङ्गनामवदन्यान्यपि नामानि भवन्ति।

यथा वेदे यज्ञाङ्गनामार्थपरिपोषकाणि, तथा च—

"यज्ञकामः"। ऋक् १०।५१।५॥ "यज्ञकेतुः"। ऋक् ४।५१।११॥
"यज्ञनीः"। ऋक् १।१५।१२॥ "यज्ञपतिः"। यजुः १।२॥
"यज्ञप्रियः"। ऋक् १०।१२२।६॥ "यज्ञबन्धुः"। ऋक् ४।१।९॥

यज्ञ का साधन हवि आदि, यज्ञ का उद्देश्य (सम्प्रदान) तथा यज्ञ का स्थल (स्थान) आदि सब 'यज्ञ' शब्द से ग्रहण किए जाते हैं।

'अङ्ग' नाम गति करनेवाले या प्राप्त करने वाले का है। इस प्रकार जो स्वयं यजनीय (यज्ञरूप) यज्ञस्थल में जाकर हवि आदि को प्राप्त करता है, उसका नाम 'यज्ञाङ्ग' है, यह भगवान् विष्णु या सूर्य का नाम है।

यद्वा—'अङ्ग' शब्द भाव घञन्त है। इस प्रकार से यज्ञ में है अङ्ग=गति जिसकी, उसका नाम 'यज्ञाङ्ग' है। यद्वा यज्ञ आदि कर्मों से जिसकी प्राप्ति है, उसका नाम 'यज्ञाङ्ग' है। यजनीय सूर्य गमन करता हुआ प्रत्यक्ष देखने में आता है।

अथवा—णिजन्त 'अंग' धातु से पचादि 'अच्' और णि का लोप करने से 'अङ्ग' शब्द सिद्ध होता है। तथा जो मन्त्रों से हवन किए हुए हवि आदि को, सूर्य वा भगवान् विष्णु को प्राप्त करवाता है, उसका नाम 'यज्ञाङ्ग' है। यह अग्नि का नाम हुआ।

लोक में भी हम देखते हैं—जाठर (उदर में होने वाला) अग्नि, विकृत अङ्ग को रोगरहित करके खाये हुए (भक्षित) अन्न को सब अङ्गों में पहुंचा देता है।

यज्ञाङ्ग नाम के समान ही भगवान् के अन्य नाम भी होते हैं, जो कि यज्ञाङ्ग नाम के ही परिपोषक हैं। जैसे—यज्ञकामः, यज्ञकेतुः, यज्ञनीः, यज्ञपतिः, यज्ञप्रियः,

"यज्ञमन्मा" । ऋक् ७।६१।४।। "यज्ञवनसम्" । ऋक् ४।१।२।।
"यज्ञवाहसम्" । ऋक् ८।१२।२०।। "यज्ञवृद्धम्" । ऋक् ६।२१।२।।
"यज्ञश्रियम्" । ऋक् १।४।७।। "यज्ञसंशितः"। अथर्व १०।५।३१।
"यज्ञसाधनः" । ऋक् १।१४५।३।। "यज्ञहोतः" । ऋक् ८।६।१७।।

इत्यादि निदर्शनम् ।

अत्राङ्गतिरेव गतिकर्मा धातुर्गतिभेदेन विष्णुनाम्नां वैविध्यं प्रकटयति गुणभेदतश्च । सङ्गच्छते च पूर्वोक्तं सुवीरेति नाम, शोभना विविधा इरा गतयो यस्येति='सुवीर' इति । सूर्यस्य स्वस्य वक्रादिगतिराहित्येऽपि, सोऽन्येषां ग्रहाणां गतीर्विविधयति ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"यज्ञ यज्ञं गच्छ" । यजुः ८।२२।।

यद्वा—यज्ञस्य पूरणानि यानि साधनरूपाण्यङ्गानि होता, अध्वर्युः, ब्रह्मा, आपो, हविश्चेत्यादिरूपस्त्वमेवासि सर्वत्र स्थितः । तथा च भगवद्गीता—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।। भग० गी० १८।६१।।

एवं सर्वत्र लोकेऽनुस्यूतो यज्ञाङ्गनामार्थः । निदर्शनमात्रदर्शनं नः प्रयोजनम् ।

यज्ञबन्धुः, यज्ञमन्मा, यज्ञवनसम्, यज्ञवाहसम्, यज्ञवृद्धम्, यज्ञश्रियम्, यज्ञसंशितः, यज्ञसाधनः, यज्ञहोतः इत्यादि ।

यहां अगि धातु ही गतिभेद और गुणभेद से विष्णु के नामों की विविधता को प्रकट करता है । इसलिए भगवान् का 'सुवीर' नाम सङ्गत होता है, क्योंकि शोभन और विविध प्रकार की गति वाले का नाम 'सुवीर' है ।

यद्यपि सूर्य स्वयं वक्र आदि गतियों से रहित है, तथापि वह अपने से भिन्नों की गतियों में विविधता उत्पन्न करता है । इस नामार्थ में यह "यज्ञ यज्ञं गच्छ" (यजु० ८।२२) मन्त्र भी प्रमाण है ।

अथवा—यज्ञ के जो पूर्ण करने वाले होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, आप, हवि आदि अङ्ग हैं, तद्रूप होने से भगवान् का नाम 'यज्ञाङ्ग' है । जैसा कि गीताकार का कथन है— "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति०" (भग० गीता १८।६१) इत्यादि । इस प्रकार यज्ञाङ्गनाम की वाच्यता सकल विश्व में अनुस्यूत है । हमारा केवल उदाहरणमात्र दिखलाना प्रयोजन है ।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्हि यज्ञाङ्ग इहोपदिष्टो, यज्ञो विचित्रं[1] कुरुते सचित्रम् ।
यज्ञो हविस्तच्च नयत्यशेषं, यां देवतां प्रत्यभिलक्ष्य [2]तत्स्यात् ॥२६१॥

१. विचित्रचित्ररमणीयं यज्ञमित्यर्थः । २. तत्=हविः ।

यज्ञवाहनः—६७५

'यज्ञ' शब्दो व्युत्पादितचरः । 'वह प्रापणे' भौवादिको धातुः, तस्माद् वहते 'णिच्', ततो ल्युः, योरनः, णिलोपः='यज्ञवाहनः' । यद्वा—"वाहनमाहितात्" (पा० ८।४।८) इति सूत्रे निपातनात् बाहुलकनिमित्तः कर्तरि 'ल्युट्' । वृद्धिश्चापि निपातनसिद्धा । एवञ्च यज्ञं वहति, वाहयति वा 'यज्ञवाहनः' । कर्मषष्ठ्या समासः । तथा च —सूर्य एवाग्निरूपो यज्ञं हविरादिकं वाहयति, वहति वा ।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"अग्निर्यज्ञस्य हव्यवाट्" । ऋक् ३।२७।५॥
"यज्ञवाहसम्" । ऋक् ८।१२।२०॥

लोकेऽपि पश्यामो—युक्तियुक्तोऽग्निः सर्वं वहति तथा चात्र यन्त्राणि प्रमाणम् ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

शास्त्रों में भगवान् विष्णु का ही 'यज्ञाङ्ग' नाम से उपदेश किया है, क्योंकि भगवान् यज्ञरूप विष्णु, इस विचित्र यज्ञस्वरूप विश्व को सचित्र अर्थात् रमणीय करता है । तथा वह यज्ञरूप भगवान् अथवा अग्नि, जिस देवता के नाम से जो हवि प्रदान की गई है, उस हवि को उस ही देवता को प्राप्त करवाता है ।

यज्ञवाहनः—६७५

'यज्ञ' शब्द की सिद्धि पहले की गई है । 'वाहन' शब्द णिजन्त 'वह' धातु से 'ल्यु' प्रत्यय यु को अन आदेश और णि का लोप करने से बनता है । अथवा—**"वाहनमाहितात्"** (पा० ८।४।८) सूत्र से कर्ता में 'ल्युट्' प्रत्यय और वृद्धि के निपातन से 'वाहन' शब्द सिद्ध होता है । इस प्रकार जो यज्ञ का वहन करता है या करवाता है, उसका नाम 'यज्ञवाहन' है । 'यज्ञस्य वाहनः' यहां कर्मषष्ठ्यन्त से समास है । अग्निरूप सूर्य ही हवि आदि यज्ञ का वहन करता है, या इस भौतिक अग्नि द्वारा करवाता है, जैसा कि—**"अग्निर्यज्ञस्य हव्यवाट्"** (ऋक् ३।२७।५) तथा **"यज्ञवाहसम्"** (ऋक् (ऋक् ८।१२।२०) इत्यादि वेदवाक्यों से सिद्ध है । लोक में भी हम देखते हैं—युक्ति से प्रयुक्त किया हुआ अग्नि सबका वहन करता है, जैसे यन्त्र आदि में ।

भवति चात्रास्माकम्—

यज्ञवाहन उक्तोऽसौ विष्णुः सूर्यः पुरोहितः।
अग्नि र्वा यज्ञकेतुर्वा यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥२६२॥



यज्ञभृद् यज्ञकृद् यज्ञी यज्ञभुग् यज्ञसाधनः।
यज्ञान्तकृद् यज्ञगुह्यमन्नमन्नाद एव च ॥११८॥

९७६ यज्ञभृत्, ९७७ यज्ञकृत्, ९७८ यज्ञी, ९७९ यज्ञभुक्, ९८० यज्ञसाधनः। ९८१ यज्ञान्तकृत्, ९८२ यज्ञगुह्यम्, ९८३ अन्नम्, ९८४ अन्नादः, एव च।

यज्ञभृत्—९७६

'यज्ञ'शब्दो व्युत्पादितः। भृच्चेति—यज्ञशब्दोपपदाद् 'भृञः' क्विपि, तुकि, गुणाभावे, जश्त्वचर्त्वे च सिध्यति। यज्ञं बिभर्ति=पुष्णाति धारयतीति यज्ञभृदित्यग्नेरपि नाम। एवञ्च विष्णुः सूर्योऽग्निर्वा 'यज्ञभृत्'।

यज्ञे चाग्न्याख्यस्य पुरोहितस्यैव प्राधान्यं, तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥" ऋक् १।१।१॥

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

'यज्ञवाहन' नाम भगवान् विष्णु का है। तथा वह ही सूर्य, पुरोहित, अग्नि और यज्ञकेतु नाम से कहा जाता है, क्योंकि यज्ञ के ही आश्रित यह सब कुछ दृश्यवर्ग है। और यज्ञ का वहन करनेवाला भगवान् विष्णु या सूर्य है, इसलिए उसी का 'यज्ञवाहन' नाम है।

यज्ञभृत्—९७६

'यज्ञ' शब्द का व्युत्पादन पहले किया गया है। इस यज्ञ शब्द के उपपद में रहते धारणपोषणार्थक 'भृञ्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय, उसका सर्वलोप, तुक का आगम, गुण का अभाव तथा जश्त्व और चर्त्व करने से 'यज्ञभृत्' शब्द सिद्ध होता है। यज्ञ का जो पोषण या धारण करता है, उसका नाम 'यज्ञभृत्' है। अग्नि का नाम भी 'यज्ञभृत्' है, क्योंकि वह भी यज्ञ का पोषण करता है। इस प्रकार विष्णु, सूर्य या अग्नि का नाम 'यज्ञभृत्' हुआ।

यज्ञ में प्रधानता पुरोहित नामक अग्नि की ही होती है। जैसा कि—"अग्निमीळे

अग्निशब्देनेश्वरस्यापि ग्रहणम्। लोकेऽपि च पश्यामो—नह्यग्निं विना क्वचिदपि लोके इज्यते, होमरूपो हि एष यज्ञः।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुर्हि यज्ञभूल्लोके, सोऽग्निर्वा स पुरोहितः।
यज्ञो वै रत्नधा तस्माद्, धीरा यज्ञं वितन्वते॥२६३॥

यज्ञकृत्—६७७

'यज्ञ' शब्दो व्युत्पादितः। यज्ञशब्दोपपदात् 'करोतेः' क्विपि, तुकि, यज्ञ करोतीति 'यज्ञकृत्', विष्णुः सूर्योऽग्निर्वा। विष्णुसूर्योऽग्निसाध्यो हि यज्ञ एतद्रूप एव, अतएव च विष्णुः सूर्योऽग्निर्वा 'यज्ञकृत्' उच्यते।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञः"। अथर्व १९।४२।१॥

लोकेऽपि च पश्यामो—यावज्जीवं मनुजः कर्माणि कुरुते, तत्र शुभानि

पुरोहितम्" (ऋक् १।१।१) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध होता है। अग्नि नाम से परमेश्वर का भी ग्रहण होता है। लोक में भी हम देखते हैं—होमरूप यज्ञ अग्नि के विना किसी प्रकार में भी सिद्ध नहीं हो सकता।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु, सूर्य और पुरोहितापर नामक अग्नि का नाम 'यज्ञभृत्' है, क्योंकि ये सब अभीष्ट रत्नों को धारण करने वाले यज्ञ को धारण या पुष्ट करते हैं, जिससे अपने अभीष्ट मनोरथरूप रत्नों की उत्पत्ति होती है। इसीलिए धीर=बुद्धिमान् पुरुष यज्ञों को विशेष रूप से करते हैं।

यज्ञकृत्—६७७

'यज्ञ' शब्द का व्युत्पादन पहले किया जा चुका है। यज्ञ शब्द के उपपद में रहते 'कृ' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय और तुक् का आगम करने से 'यज्ञकृत्' शब्द सिद्ध होता है। जो यज्ञ को करता है, उसका नाम 'यज्ञकृत्' है। यह विष्णु, सूर्य और अग्नि का नाम है। विष्णु, सूर्य तथा अग्नि से साध्य यज्ञ विष्णु, सूर्य तथा अग्निरूप ही होता है, इसीलिए विष्णु, सूर्य या अग्नि को 'यज्ञकृत्' नाम से कहा जाता है। जैसा कि—"ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञः" (अथर्व १९।४२।१) इत्यादि मन्त्र-वाक्य से सिद्ध है।

लोक में भी हम देखते हैं—मनुष्य जब तक जीता है, तब तक अच्छे या बुरे (शुभ

कर्माणि यज्ञस्वरूपाणि, पापानि च कर्माणि यज्ञीयप्रायश्चित्तार्हविकलाङ्ग-कर्मवत् प्रायश्चित्तार्हाणि भवन्ति । तत्र—

"यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् । अग्निष्टत् स्विष्ट-कृद्विद्यात्‡ सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मेऽग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ता-हुतीनां कामानां समर्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्धय स्वाहा ॥"

आश्वला० गृ० १।१०।२२॥

इत्यनेन प्रायश्चित्ताहुतिर्दीयते । मन्त्रलिङ्गञ्च—

"यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति" । अथर्व १८।४।७॥

"एकस्त्रेधा विहितो जातवेदः" । अथर्व १८।४।११॥

त्रिविधो ह्यग्नि—आहवनीयोऽग्निः, गार्हपत्योऽग्निः, दक्षिणाग्निश्चेति । तथा च—

"यज्ञ एति विततः कल्पमान ईजानभि लोकं स्वर्गम् ।"

अथर्व १८।४।१३॥

ईजानम्=यज्ञकर्तारमिति । इति निदर्शनम् ।

‡क्वचिद् विद्वान् पाठोऽपि लभ्यते ।

अशुभ)कर्म करता है । उसके यज्ञरूप कर्म शुभ हैं, तथा यज्ञ में प्रायश्चित्त के योग्य विकलाङ्ग-कर्म के समान जो प्रायश्चित्तार्ह (प्रायश्चित्त के योग्य) कर्म हैं, वे अशुभ हैं । जैसा कि प्रायश्चित्त का प्रतिपादक "यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्०"*(आश्व० गृह्य १।१०।२२) इत्यादि मन्त्र है । इस मन्त्र से प्रायश्चित्तीय आहुतियां दी जाती हैं ।

इस नामार्थ की पुष्टि—"यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति" (अथर्व १८।४।७) तथा "एकस्त्रेधा विहितो जातवेदः" (अथर्व १८।४।११) इत्यादि मन्त्रों से होती है । अग्नि के आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि रूप से तीन भेद हैं ।

"यज्ञ एति विततः कल्पमान ईजानम्०" (अथर्व १८।४।१३) इत्यादि मन्त्र से भी इसी अर्थ की पुष्टि होती है । 'ईजान' नाम यज्ञ के कर्ता का है । अर्थात् यजमान का नाम ईजान है । यह उदाहरणमात्र है ।

*"यदस्य कर्मणो०" मन्त्र में 'विद्यात्' पद के स्थान में कहीं कहीं पर 'विद्वान्' पद भी उपलब्ध होता है ।

भवति चात्रास्माकम्—

यज्ञकृत् कथितो लोके, विष्णुः सूर्यः पुरोहितः ।
जनो वाऽनुकरोत्येनं, स्वर्गं यज्ञकृते ददत् ।।२६४।।

यज्ञी–९७८

प्राग्व्युत्पादितादकारान्ताद् यज्ञशब्दान्मत्वर्थीय 'इनिः' प्रत्ययः, इन्नन्त-लक्षणो दीर्घः । यज्ञोऽस्यास्तीति 'यज्ञी' ।

यज्ञपतिरेव 'यज्ञी' । अयञ्च जगद्रूपो यज्ञस्तस्यैव, स एव चैतस्य पतिः=रक्षितेति विष्णुः सूर्यो वा ।

भवति चात्रास्माकम्—

यज्ञी हि विष्णुः स सनात् पतिर्हि, यज्ञस्य तस्मिन् वितता हि यज्ञाः ।
सूर्यादयो यज्ञविधौ प्रवृत्ता, विना प्रमादं सरथा यजन्ति ।।२६५।।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

भगवान् विष्णु, सूर्य और अग्नि का नाम, यज्ञकर्म में प्रधान तथा यजमान के लिए स्वर्गरूप फल के दाता होने से 'यज्ञकृत्' है । इसी प्रकार मनुष्य भी भगवान् का अनुकरण करता हुआ यज्ञरूप कर्म के करने से 'यज्ञकृत्' नाम से कहा जाता है ।

यज्ञी—९७८

पहले पुनः पुनः सिद्ध किये हुए अकारान्त 'यज्ञ' शब्द से मतुप् के अर्थ में 'इनि' प्रत्यय, और इन्नन्त लक्षण दीर्घ करने से 'यज्ञी' शब्द सिद्ध होता है । जिसका या जिसमें यज्ञ हो उसका नाम 'यज्ञी' है । अर्थात् यज्ञ के पति का ही नाम 'यज्ञी' है । और इस जगत्रूप यज्ञ का स्वामी तथा रक्षक होने से भगवान् विष्णु या सूर्य का नाम 'यज्ञी' है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

भगवान् विष्णु और सूर्य सदा यज्ञ के स्वामी वा रक्षक होने से 'यज्ञी' नाम से कहे जाते हैं, क्योंकि ये सब यज्ञ यज्ञपति तथा यज्ञरूप भगवान् के आश्रित हैं । तथा सूर्य आदि सरथ प्रमाद-रहित होकर यज्ञरूप कर्म के करने में लगे हुए हैं ।

यज्ञभुक्-६७६

'यज्ञ' शब्द उक्तः। यज्ञं भुङ्क्ते, भुनक्ति वा स 'यज्ञभुगिति'। यज्ञोपपदाद् 'भुजपालनाभ्यवहारयोः' इति रौधादिको धातुः, ततः 'क्विप्', गुणाभावः, "चोः कुः" (पा० ८।२।३०) इति कुत्वम्, पाक्षिकं चर्त्वम्। यज्ञं=हविर्भुङ्क्ते यज्ञरूपं कर्म च भुनक्ति=रक्षति। विष्णुः सूर्योऽग्निर्वा 'यज्ञभुग्' उच्यते।

लोकेऽपि च पश्यामः—अग्निरेव स्वसत्तया यज्ञं कर्म रक्षति, यज्ञ हविश्च भुङ्क्ते। तथा च—यावदात्मा शरीरे तावत् स शरीरं रक्षति, भोज्यञ्च भुङ्क्त इति। उक्तञ्च—"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" ऋक् १।११५।१ इति।

सूर्यः—अग्निः अग्निर्वा सूर्यः। आत्मा—अग्निः अग्निर्वात्मा। इत्येवंविधा योजना सर्वं लोकं व्याप्नोति, विष्णुरतो 'यज्ञभुक्' नामेति।

तदर्थे मन्त्रलिङ्गञ्च—

"जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुपयाहि विद्वान्।
विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्या शत्रूयतामाभरा भोजनानि॥"

ऋक् ५।४।५॥

यज्ञभुक्—६७६

हवि आदि यज्ञ का जो भक्षण करता है, अथवा यज्ञरूप कर्म की जो रक्षा करता है, उसका नाम 'यज्ञभुक्' है। 'यज्ञभुक्' शब्द यज्ञरूप कर्म के उपपद रहते हुए, पालन तथा भक्षणार्थक रुधादिगण पठित 'भुज' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय, गुण का अभाव तथा कुत्व करके पाक्षिक चर्त्व करने से सिद्ध होता है। यह विष्णु और सूर्य का नाम है।

लोक में भी हम देखते हैं—अग्नि ही अपनी सत्ता के द्वारा यज्ञरूप कर्म की रक्षा करता हुआ, हविरूप यज्ञ का भक्षण करता है। उसी प्रकार जब तक यह जीवात्मा शरीर में रहता है, तब तक इस शरीर की रक्षा करता है, तथा भोज्य पदार्थों का भक्षण करता है। यह ही भाव "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" (ऋक् १।११५।१) इत्यादि मन्त्र से पुष्ट होता है।

सूर्य ही अग्नि है, अथवा अग्नि ही सूर्य है। आत्मा ही अग्नि है, अथवा अग्नि ही आत्मा है। इसी प्रकार की योजनाओं से यह सकल विश्व व्याप्त है। इसीलिए भगवान् का नाम 'यज्ञभुक्' है। इस नामार्थ का पोषक "जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोणे०" (ऋक् ५।४।५।) इत्यादि मन्त्र हैं।

"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थ्यपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।" निरुक्तम् ७।५।।

स चैक एवाग्निर्बहुधा विशिष्यते। यथा—

"समिद्धमग्निं समिधा गिरा गृणे शुचिं पावकं पुरो अध्वरे ध्रुवम्।
विप्रं होतारं पुरुवारमद्रुहं कविं सुम्नैरीमहे जातवेदसम्।।"

ऋक् ६।१५।७।।

"त्वां दूतमग्ने अमृतं युगेयुगे हव्यवाहं दधिरे पायुमीड्यम्।
देवासश्च मार्तासश्च जागृविं विभुं विश्पतिं नमसा निषेदिरे।।"

ऋक् ६।१५।८।।

एवं बहुप्रपञ्चोऽयं यज्ञभुक्शब्दो विश्वं व्यश्नुवानस्य विष्णोर्नाम।

भवति चात्रास्माकम्—

स यज्ञभुग् विष्णुरभीद्धतेजाः, स्तोतारमर्ह्यैश्च युनक्ति भोज्यैः।
स एव वा पाति च दुर्गतं तं, कविः स होता स शुचिः स ईड्यः।।२६६।।

यज्ञसाधनः—९८०

'साधन' शब्दो, सौवादिक 'साध संसिद्धौ' धातोः करणे 'ल्युट्', ण्यन्ताद् वा कर्तरि 'ल्युः', अनः, णिलोपे च सिध्यति। यज्ञः साध्यतेऽनेन, यज्ञं साधयतीति

जिस काम से या जिस वस्तु का अधिपति होने की इच्छा से ऋषि जिस मन्त्र के द्वारा जिस देवता की स्तुति करता है, उस मन्त्र का वह ही देवता होता है, यह निरुक्तकार का मत है। और उस एक ही अग्नि को बहुत प्रकार के विशेषणों से विशिष्ट किया जाता है। जैसे—"समिद्धमग्निं समिधा गिरा०" (ऋक् ६।१५।७)तथा "त्वां दूतमग्ने अमृतं युगे युगे०" (ऋक् ६।१५।८) इत्यादि मन्त्रों में बहुत प्रकार से विशिष्ट करके निर्दिष्ट है। इस प्रकार बहुत प्रपञ्चयुक्त (विस्तीर्ण) यह 'यज्ञभुक्' शब्द विश्व में सर्वत्र व्याप्त भगवान् विष्णु का नाम है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

सर्वतः प्रवृद्ध तेज वाले भगवान् विष्णु का नाम 'यज्ञभुक्' है। क्योंकि वह अपने स्तोता वा यजमान को उसके अनुकूल अर्थात् वाञ्छित अर्थ तथा भोज्य पदार्थों से युक्त करता है। और दुर्गत अवस्था में उसकी रक्षा करता है तथा कवि होता शुचि और ईड्य नामों से भी उस ही का अभिधान होता है।

यज्ञसाधनः—९८०

'साधन' शब्द—संसिद्धि=निष्पत्त्यर्थक स्वादिगण पठित 'साध' धातु से करण में 'ल्युट्' अथवा ण्यन्त से कर्ता में 'ल्यु' प्रत्यय और यु को अन आदेश, तथा णि का लोप

वा 'यज्ञसाधनः'। 'यज्ञसाधनः' अग्निः, यज्ञं साधयति=समृद्धं कुरुते कारयति वा। 'यज्ञसाधनो' विष्णुः सूर्यश्च।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"तमिद् गच्छन्ति जुह्वस्तमर्वतीर्विश्वान्येकः शृण्वद् वचांसि मे।
पुरुप्रैषस्ततुरिर्यज्ञसाधनोऽच्छिद्रोतिः शिशुरादत्त सं रभः॥"

ऋक् १।१४५।३॥

लोकेऽपि च पश्यामः—स एव भगवान् विष्णुरनुकूलः सन् सर्वाणि साधनान्यनुकूलयति, यथानुकूलः स्वामी सर्वमनुकूलयति।

भवति चात्रास्माकम्--

यज्ञसाधन उद्दिष्टो, लोके विष्णुः सनातनः।
अग्निर्मुख्यतमस्तेषां, यो [1]विभुर्योऽध्वरे ध्रुवः[2] ॥२६७॥

१. "जागृविं विभुं विश्पतिम्"। ऋक् ६।१५।८॥

२. "अध्वरे ध्रुवम्"। ऋक् ६।१५।७॥

इति द्वयोः पदयोर्मन्त्रलिङ्गम्।

करने से 'साधन' शब्द सिद्ध होता है। जिसके द्वारा यज्ञ की सिद्धि होती है, अथवा जो यज्ञ को सिद्ध करता है, उसका नाम 'यज्ञसाधन' है। 'यज्ञसाधन' नाम अग्नि का है; क्योंकि वह यज्ञ को समृद्ध करता है।

अथवा जो यज्ञसिद्धि का प्रयोजक है, उसका नाम 'यज्ञसाधन' है। यह विष्णु या सूर्य का नाम हुआ। इस भगवन्नाम को—"तमिद् गच्छन्ति जुह्वस्तमर्वती"० (ऋक् १।१४५।३) इत्यादि मन्त्र प्रमाणित करता है।

हम लोक में भी देखते हैं—भगवान् विष्णु के अनुकूल होने पर सब साधन अनुकूल हो जाते हैं। जैसे स्वामी के अनुकूल होने पर उस स्वामी-सेवक के लिये सब अनुकूल हो जाते हैं।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

प्रधानरूप से सनातन पुरुष भगवान् विष्णु ही यज्ञ का साधन होने से 'यज्ञसाधन' है। अन्य साधनों में मुख्य साधन अग्नि है, जो विभु तथा यज्ञ में ध्रुवरूप से स्थित रहता है।

'विभु' तथा 'अध्वरे ध्रुव' शब्दों के प्रमापक मन्त्र क्रम से "जागृविं विभुं विश्पतिम्" (ऋक् ६।१५।८) तथा "अध्वरे ध्रुवम्" (ऋक् ६।१५।७) हैं।

यज्ञान्तकृत्–९८१

'अन्त' शब्दः—अमेस्तन्युणादिप्रत्यये सिद्धचरः। तदुपपदात् कृञः' 'क्विपि' तुकि च 'यज्ञान्तकृत्' इति। यज्ञस्य अन्तं=समाप्तिं फलं वा करोतीति 'यज्ञान्तकृत्' विष्णुः सूर्यो वा। तथा च विघ्नान् विहत्य यो यज्ञं समापयति, सम्पादितस्य तस्य यज्ञस्य योऽन्तं=फलञ्च ददाति स 'यज्ञान्तकृद्' अभिधीथते।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुपयाहि विद्वान्।
विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्या शत्रूयतामा भरा भोजनानि॥"

ऋक् ५।४।५॥

लोकेऽपि च पश्यामः—कस्यचित् सखिभावमापन्नः समर्थः सख्युरारब्धं कार्यं स्वसाहाय्येन समापयति=अन्तं गयमति, एवं विष्णुः-अग्नि-सूर्य-आत्मा-मनः-पुण्योदयो वा यज्ञसम्पादने यज्ञफलादाने च हितवो भवन्ति। दुरितोदयश्च तत्र विघ्नः, तञ्चानुकलः सर्वथा समर्थो भगवान् परास्यति। एवं सर्वत्र भगवतो व्यापकत्वमुन्नेयम्। भगवति विपरीते महतामपि सर्वारम्भविफलीभावो विनाशश्च। अतएव स 'यज्ञान्तकृद्' इत्युक्तो भवति।

यज्ञान्तकृत्—९८१

'अन्त' शब्द गत्याद्यर्थक 'अम' धातु से उणादि 'तन्' प्रत्यय करने से सिद्ध हुआ है। अन्त शब्द के उपपद में रहने पर 'कृञ्' धातु से 'क्विप्' और तुक् का आगम करने से 'यज्ञान्तकृत्' शब्द बनता है। यज्ञ की समाप्ति या फल को करने वाले का नाम 'यज्ञान्तकृत्' है। अर्थात् जो यज्ञ की समाप्ति का प्रयोजक तथा यज्ञ के फल को देने वाला है, उसका नाम 'यज्ञान्तकृत्' है। विघ्नों का नाश करने से भगवान् यज्ञ की समाप्ति का हेतु होता है। जैसा कि इस "जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमम्०" (ऋ० ५।४।५) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध होता है।

लोक में भी हम देखते हैं—जैसे कोई समर्थ मनुष्य किसी का मित्र बनकर अपने मित्र के आरम्भ किए हुए असाध्य कार्य को अपनी सहायता से समाप्त करवाता है, उसी प्रकार भगवान् विष्णु, सूर्य, अग्नि, आत्मा, मन और पुण्यों का उदय, यज्ञ के फलदान तथा समाप्ति में हेतु होते हैं। दुरितों का उदय होना यज्ञ में विघ्न है, उस विघ्न को सानुकूल हुआ स्वयं भगवान् निराकरण कर देता है। इस प्रकार भगवान् विष्णु की सार्वत्रिक व्याप्ति समझनी चाहिये। भगवान् के प्रतिकूल होने पर महापुरुषों के भी आरब्ध कार्य विफल हो जाते हैं, तथा उनका सर्वनाश हो जाता है। इसीलिए भगवान् का नाम 'यज्ञान्तकृत्' है।

भवति चात्रास्माकम्—

यज्ञान्तकृद् ब्रह्म जगद्दधानं, यज्ञान्तकृद् विष्णुरभिप्रसन्नः।
तथा च यज्ञान्तकृदस्ति सूर्यः, स विश्वयज्ञं कुरुते समृद्धम् ॥२६८॥

यज्ञगुह्यम्—६८२

गुह्यमिति—'गुहू 'संवरणे' भौवादिको धातुस्ततः "एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्" (पा० ३।१।१०९) सूत्रस्थ "शंसिदुहिगुहिभ्यो वेति वक्तव्यम्" (वा० ३।१।१०९) इति वार्तिकेन 'क्यप्' प्रत्ययः। गूहितुं=संवरितुं योग्यं 'गुह्यम्'। यद् यज्ञस्य गोपनीयं=रहस्यं तदित्यर्थः। यद्वा—तत्त्वविदमन्तरेण वेत्तुमशक्यमनिर्वचनीयं ब्रह्म। गुह्यम्=रहस्यम्। तथा च यज्ञस्याग्नीषोमीयत्वात् यज्ञसाधनेषु विष्णुसूर्ययोरपि गुह्यत्वादर्थाद्रहस्यमयत्वात्तावपि यज्ञगुह्यशब्देनोच्येते।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः॥"

"वयं नाम प्रब्रवामा घृतस्यास्मिन् यज्ञे धारयामा नमोभिः।
उप ब्रह्मा शृणवच्छस्यमान चतुःशृङ्गोऽवमीद् गौर एतत्॥"

ऋक् ४।५८।१,२॥

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

'यज्ञान्तकृत्' नाम इस समस्त जगत् को धारण करनेवाले या प्रसन्न होने पर यज्ञ की समाप्ति और फल को देने वाले, ब्रह्म या विष्णु का है। सूर्य का नाम भी 'यज्ञान्तकृत्' है, क्योंकि वह इस समस्त विश्व को समृद्ध=सकलाङ्गपूर्ण करता है।

यज्ञगुह्यम्—६८२

संवरण (छिपाने) अर्थ में विद्यमान, भ्वादिगणीय 'गुह' धातु से 'क्यप्' कृत्य प्रत्यय करने से 'गुह्य' शब्द सिद्ध होता है। गोपनीय अर्थ का नाम गुह्य है। यज्ञ का जो गोपनीय रहस्य है, उसका नाम 'यज्ञगुह्य है, अर्थात् जो तत्त्वज्ञ के विना और किसी के ज्ञान का विषय न हो, उसका नाम 'यज्ञगुह्य' है। यह अनिर्वचनीय ब्रह्म का नाम है। गुह्य नाम रहस्य का है, इसलिये यज्ञ के अग्नीषोमीय होने से यज्ञ के साधनों में सूर्य और विष्णु भी गुह्यरूप अर्थात् रहस्यमय साधन होने से 'यज्ञगुह्य' नाम से कहे जाते हैं। इस नाम तथा नामार्थ में "समुद्रादूर्मि मधुमाँ उदारत्०" (ऋक् ४।५८।१) तथा "वयं नाम प्र ब्रवामा घृतस्यास्मिन्०" (ऋक् ४।५८।२) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं।

घृतस्य=दीप्तस्य सूर्यस्येत्यर्थः। यतो हि घृतं जलवर्गीयमप्याग्नेयत्वात् सूर्ययोनिमग्निं प्रदीपयति, अत एवाग्निरूर्ध्वशिखो भवति।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"घृतैर्बोधयतातिथिम्" यजुः ३।१॥ "घृतं तीव्रं जुहोतन" यजुः ३।२॥ इत्यादि।

यज्ञस्य गुह्यम्—

"त्वमर्यमा भवसि यत् कनीनां नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि।"
ऋक् ५।३।२॥

"तेन पासि गुह्यं नाम गोनाम्।" ऋक् ५।३।३॥

"स यज्ञेन वनवद् देव मर्तान्॥" ऋक् ५।३।५॥

इत्यादौ बहुत्र सूर्यस्य नाम वेदे। तथा च—

"ऋषिर्विप्रः पुरएता जनानामृभुर्धीर उशना काव्येन।
स चिद्……गुह्यं नाम गोनाम्॥" ऋक् ९।८७।३॥

"महत् तन्नाम गुह्यं पुरुस्पृग् येन भूतं जनयो येन भव्यम्।
प्रत्नं जातं ज्योतिर्यदस्य प्रियं प्रियाः समविशन्त पञ्च॥"
ऋक् १०।५५।२॥

सूर्य एव यज्ञगुह्यम्।

लोकेऽपि च पश्यामः—यज्ञे कुण्डस्थितोऽग्निर्गुह्यः सन् यजमानाय ज्ञानं, धनं, यशः पुत्रपौत्रांश्च ददाति।

घृत नाम दीप्तिशील सूर्य का है, क्योंकि घृत जलवर्गीय होता हुआ भी अग्नि-धर्मक होने से सूर्ययोनि अग्नि को प्रदीप्त करता है। इसीलिए अग्नि की शिखा (ज्वाला) ऊर्ध्वमुख होती है। इसमें "घृतैर्बोधयतातिथिम्" (यजुः ३।१) तथा "घृतं तीव्रं जुहोतन" (यजुः ३।२) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं।

यज्ञ के गुह्य अर्थ की पुष्टि—"त्वमर्यमा भवसि०" (ऋक् ५।३।२); "तेन पासि गुह्यं नाम गोनाम्" (ऋक् ५।३।३) तथा "स यज्ञेन वनवद् देव मर्तान्" (ऋक् ५।३।५) इत्यादि मन्त्रों से होती है। इन सब मन्त्रों में 'यज्ञगुह्य' नाम से सूर्य का निर्देश है। तथा—"स ऋषिर्विप्रः पुरएता जनानामृभुर्धीरः०" (ऋक् ९।८७।३) तथा "महत् तन्नाम गुह्यं पुरुस्पृग्०" (ऋक् १०।५५।२) इत्यादि मन्त्रों से भी 'यज्ञगुह्य' नाम सूर्य का सिद्ध होता है।

हम लोक में भी देखते हैं—यज्ञ कुण्ड में स्थित अग्नि गुह्य अर्थात् गुप्त रहता हुआ ही यजमान के लिये ज्ञान धन यश तथा पुत्र और पौत्र देता है।

भवति चात्रास्माकम्—

यज्ञगुह्योऽयमस्त्यर्कः, सोऽग्निर्विप्रः स वोशनाः ।
स ऋषिः स कविर्द्रष्टा, यज्ञे पञ्च प्रिया जनाः¹ ॥२६६॥

१. "विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत" ।यजुः १५।५४ इति च मन्त्रलिङ्गम्

अन्नम्—६८३

'अद्' भक्षणे धातुरादादिकः, ततो "मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च" (पा० ३।२।१८८) इति सूत्रपठितचकारस्यानुक्तसमुच्यार्थत्वात् वर्तमाने कर्तरि च 'क्तः' विहितः । अत्ति=भक्षतीति 'अन्नम्' । न चादो जग्ध्यादेशः "अन्नाण्णः" (पा० ४।४।८५), यद्वा—"अदोऽनन्ने" (पा० ३।२।६८) इति ज्ञापकात् । अतो "रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः" (पा० ८।२।४२) सूत्रेण निष्ठातकारस्य नकारः, पूर्वस्य च दकारस्य नकारः क्रियते ।

यद्वा—अद्यः इति 'अन्नं', कर्मणि क्तः, साधनप्रक्रिया समाना । यच्च सस्यसम्वर्धनाय क्षेत्रेषु विकीर्यते तदप्यन्नमेव, खादनाम्ना व्यवह्रियते । अतः खादशब्दोऽप्यन्नवचनः ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

'यज्ञगुह्य' नाम सूर्य का है, तथा वह सूर्य ही यज्ञ में अग्नि, विप्र, उशना, ऋषि, कवि, द्रष्टा तथा पञ्चजन रूप है ।

इसमें प्रमाण—"विश्वे देवा यजमानश्च" (यजुः १५।५४) इत्यादि मन्त्र है ।

अन्नम्—६८३

अदादिगणपठित भक्षणार्थक 'अद्' धातु से "मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च" (पा० ३।२।१८८) में पठित चकार के सामर्थ्य से कर्ता और वर्तमान काल में 'क्त' प्रत्यय होता है । खानेवाले का नाम 'अन्न' है । यहां अद् धातु को 'जग्धि' आदेश "अन्नाण्णः" (पा० ४।४।८५) तथा "अदोऽनन्ने" (पा० ३।२।६८) सूत्र के ज्ञापन से नहीं होता । "रदाभ्यां निष्ठातो०" (पा० ८।२।४२) सूत्र से धातु तथा निष्ठा के तकार तथा पूर्व दकार को नकार हो जाता है ।

अथवा—जो खाया जाता है, उसका नाम 'अन्न' है । कर्म में 'क्त' प्रत्यय होता है । साधन-प्रक्रिया पूर्व के समान है । जो धान्यवृद्धि के लिये खेतों में खाद दिया जाता है, उसका नाम भी 'अन्न' है ।

यद्वा—'अन प्राणने' आदादिको धातुस्ततः "कृवृजृसिद्रुपन्यनिस्वपिभ्यो नित्" (उ० ३।१०) इत्युणादिसूत्रेण 'नः' प्रत्ययः, स च नित्संज्ञकः। "नेड्-वशि कृति" (पा० ७।२।८) इति नेट्। अनितीति 'अन्नम्'। यद्वा—अन्यते= प्राण्यते येन तद् 'अन्नम्'।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"ज्योतीरथं शुक्रवर्णं तमोहनम्"। ऋक् १।१४०।१॥

ज्योतीरथोऽग्निः सूर्यो वा।

"अभि द्विजन्मा त्रिवृदन्नमृज्यते सम्वत्सरे वावृधे जग्धमी पुनः।"

ऋक् १।१४०।२॥

हविः=अन्नम्। तथा च—

"अच्छेन्द्राब्रह्मणस्पती हविर्नोऽन्नं युजेव वाजिना जिगातम्।"

ऋक् २।२४।१२॥

घृतम्=अन्नम्। तथा च—

"अस्मिन् पदे परमे तस्थिवांसमध्वस्मभिर्विश्वहा दीदिवांसम्।
अपो नप्त्रे घृतमन्नं वहन्तीः स्वयमत्कैः परि दीयन्ती यह्वीः॥"

ऋक् २।३५।१४॥

इति निदर्शनम्। बहुत्रायमन्नशब्दो वेदे विविधविभक्तिवचनान्तः।

अथवा—प्राणनार्थक अदादिगणपठित 'अन' धातु से उणादि 'न' प्रत्यय तथा इट् का निषेध करने से 'अन्न' शब्द बनता है। जो प्राणन अर्थात् श्वास प्रश्वास करता है, उसका नाम 'अन्न' है। अथवा—जिसके द्वारा प्राणन (श्वास-प्रश्वासात्मिका) क्रिया की जाए, उसका नाम 'अन्न' है। इस नाम को "ज्योतीरथं शुक्रवर्णं तमोहनम्" (ऋक् १।१४०।१) इत्यादि वेद-मन्त्रांश प्रमाणित करता है। ज्योतीरथ नाम सूर्य या अग्नि का है। तथा "अभि द्विजन्मा त्रिवृदन्नमृज्यते०" (ऋक् १।१४०।२) यह मन्त्र भी इस नाम में प्रमाण है।

हवि=हवनीय द्रव्य का नाम भी 'अन्न' है, यह "अच्छेन्द्राब्रह्मणस्पती हविर्नोऽन्नम्०" (ऋक् २।२४।१२) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध है। इसी प्रकार घृत का नाम भी 'अन्न' है। जैसा कि "अस्मिन् पदे परमे तस्थिवांसमध्वस्मभिः०" (ऋक् २।३५।१४) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध है। यह अन्न शब्द विभक्ति और वचन के भेद से वेद में बहुत स्थानों में आया है।

लोकेऽपि च पश्यामः—सर्वे जन्तवः भुक्त्वाग्निं तर्पयन्ति, तच्च भुक्तमन्नं सर्वत्र शरीरे व्याप्तं भवति । देहे चात्मा सूर्यस्थानीयो यावज्जीवमश्नाति, तस्मादन्नम् । यथा चात्मा तथा सूर्योऽपि कालेन सर्वं शोषयति, तदेव चादनं तस्य, तस्मात् सूर्यो विष्णुर्वान्नमिति । अतएव च ग्रहाणां समिधः, सामग्री, मन्त्राश्च पृथक् पृथक् सन्ति, तेषां युक्ततोपपद्यते ।

भवति चात्रास्माकम्—

अन्नं हि सर्वत्र जगत्प्रसृप्तं, तस्मिन् स्थितं विश्वमिदं समस्तम् ।
सूर्योऽथवान्नं चणकादिधान्य—मन्नादिदेहः स्थित आत्मनीड्यः[1] ॥२७०॥

१. ईड्यः=स्तुत्यः ।

अन्नादः—९८४

'अन्न' शब्दो व्युत्पादितः । तदुपपदाद् भक्षणार्थाद् अदेः "कर्मण्यण्" (पा० ३।२।१) इति सूत्रेण 'अण्' प्रत्ययः, उपधावृद्धिः, सवर्णदीर्घश्च । अन्नमत्तीति 'अन्नादः' । स्वयमन्नं स्वयञ्चान्नादः, स्वस्वरूपभूतमिदमन्नरूपं जगदन्नादरूपेण स्वान्तः समावेशयतीति भावः ।

लोक में भी हम देखते हैं—सब प्राणी भोजन के द्वारा जाठर अग्नि को तृप्त करते हैं, तथा वह खाया हुआ अन्न सब शरीर में फैल जाता है । शरीर में आत्मा ही सूर्य स्थानीय है, और वह जीवन-पर्यन्त खाता रहता है । इसलिये सूर्य का नाम 'अन्न' है । क्योंकि आत्मा के समान उसका वायु के द्वारा शोषण करना ही अन्न है, अर्थात् खाना है । इसलिये विष्णु और सूर्य दोनों ही का नाम 'अन्न' है । इसीलिये ग्रहों के समिध, सामग्री तथा मन्त्रों का पार्थक्य उपपन्न होता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

इस समस्त विश्व में भगवान् विष्णु ही 'अन्न' रूप से प्रसृत (फैला हुआ) है । यह सम्पूर्ण जगत् उस ही को आश्रित करके स्थित है । सूर्य तथा चणा आदि धान्य का नाम भी 'अन्न' है । इस देह का नाम भी 'अन्न' है, और यह आत्मा के अपने में स्थित होने पर ही ईड्य अर्थात् स्तवनीय होता है ।

अन्नादः—९८४

'अन्न' शब्द का व्युत्पादन पहले कर दिया गया है । 'अन्न' शब्द के उपपद में रहने पर 'अद्' धातु से कृत् 'अण्' प्रत्यय, उपधावृद्धि तथा सांहितिक दीर्घ करने से 'अन्नाद' शब्द सिद्ध होता है । अन्न को जो खाता है, उसका नाम 'अन्नाद' है । अर्थात् वह स्वयं ही अन्न और स्वयं ही 'अन्नाद' है । अपने ही स्वरूपभूत इस जगद् रूप अन्न को वह अन्नाद रूप से भक्षण करके अपने में समाविष्ट कर लेता है ।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"यो अन्नादो अन्नपतिर्बभूव ब्रह्मणस्पतिरुत यः ।
भूतो भविष्यत् भुवनस्य यस्पतिः ।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति ।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान् ॥"

अथर्व १३।३।७॥

"अन्नादम्" । यजुः ३।५॥ "अन्नादाय" । अथर्व १९।५५।५॥

"अन्नादेन" । अथर्व १५।१४।२॥

अन्नसम्बद्धा अन्येऽपि शब्दा वेदे सन्ति । यथा—

"अन्नकामाय" । ऋक् १०।११७।३॥

"अन्नतेजाः" । अथर्व १०।५।३४॥

"अन्नपतये" । अथर्व १९।५५।५॥

"अन्नभागः" । अथर्व ३।३०।६॥

"अन्नवृधम्" । ऋक् १०।१।४॥

समस्ता अन्नपूर्वपदाः शब्दाः अन्नादशब्दस्यार्थं विशदयन्ति ।

लोकेऽपि च—अन्नादो बालः, अन्नकामो भ्रमति बुभुक्षितः, इत्यादि रूपेणास्य भगवतो नामार्थस्य भूयसी व्यापकता दृश्यते । यद्वा—हविः=अन्नं, तद् भुङ्क्तेऽन्नादो विष्णुरग्निः सूर्यो वा ।

इस नाम तथा नामार्थ में—"यो अन्नादो अन्नपतिर्बभूव० (अथर्व १३।३।७); "अन्नादम्" (यजुः ३।५); "अन्नादाय" (अथर्व १९।५५।५) तथा "अन्नादेन" (अथर्व १५।१४।२) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं ।

वेद में और भी अन्नशब्द से सम्बन्धित बहुत से शब्द हैं । जैसे—"अन्नकामाय" (ऋक् १०।११७।३); "अन्नतेजाः" (अथर्व १०।५।३४); "अन्नपतये" (अथर्व १९।५५।५; "अन्नभागः" (अथर्व ३।३०।६) तथा "अन्नवृधम्" (ऋक् १०।१।४) इत्यादि अन्नपूर्वक ये सब शब्द 'अन्नाद' शब्द के ही अर्थ को स्पष्ट करते हैं ।

लोक में भी - अन्नाद (अन्न को खानेवाला) बालक, अन्न की इच्छा से भूखा मरता हुआ घूम रहा है । इत्यादि रूप से भगवान् के अन्नाद नाम के अर्थ की बहुत व्यापकता देखने में आती है । अथवा—हवि=हवनीय द्रव्य का नाम 'अन्न' है, उसको जो खाता है उसका नाम 'अन्नाद' है । यह विष्णु, सूर्य और अग्नि का नाम है ।

भवतश्चात्रास्माकम्—

अन्नं हि जीवनं लोके, यद्यद् यस्यास्ति तस्य तत्।
तस्मादन्नाद आत्मायं, सूर्यो वाग्निस्तु यज्ञियः ॥२७१॥
अन्नकामोऽन्नतेजा वा, यान्नभागस्य च स्पृहा।
अन्नादोऽन्नपतिर्भूत्वा, सोऽन्नार्थं कुरुते क्रियाः ॥२७२॥

विष्णुसहस्रनाम-संग्रहे (१०८) श्लोकोक्त 'एव' शब्दो समस्तानां नाम्नां विष्णुर्वाच्यार्थं इति। तथा 'च' शब्दश्च, अनुक्तानां विशेषणानामपि विष्णौ सूर्ये वा समन्वय इति द्योतयति। बहुत्र यथास्थानमुक्तम्।

तथा च यथा—'ज्योतीरथः', 'तमोहा', 'हिरण्यवर्णः', 'हिरण्यपाणिः' इत्यादीनि सूर्यनामानि। एवमनन्तस्य विष्णोरनन्तानि नामानि गुणानुसारीणि। अयमेव समस्तशास्त्रेषु नियमो। यथा—"बहुलं छन्दसि" बहुलमेतन्निदर्शनम्। "**पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्**" इत्यादि व्याकरणे। 'निघण्टवो बहुलम्' इत्यादि च निरुक्ते।



इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

जिस जिस प्राणी की जिस जिस वस्तु से जीवन की सिद्धि होती है, अर्थात वह जीता है, वह वह वस्तु उस उस प्राणी के लिये 'अन्न' होती है। इसलिए शरीरस्थ आत्मा सूर्य तथा यज्ञिय (यज्ञ में आहित) अग्नि का नाम 'अन्नाद' होता है।

तथा वह अन्नाद ही अन्नकाम, अन्नतेजाः तथा अन्नभाग नामों से कहा जाता है। प्रत्येक जीव भी अन्न की इच्छा से अन्नाद या अन्नपति बनकर अन्न के लिये ही सब प्रकार की क्रियायें करता है।

विष्णुसहस्रनाम सङ्ग्रहात्मक श्लोक १०८में पठित 'एव' शब्द सब नामों के भगवान् विष्णु के वाच्यार्थत्व को, तथा 'च' शब्द अनुक्त विशेषणों के भी विष्णु और सूर्य में समन्वय (सम्बन्ध) को प्रकट करता है। यह प्रसङ्गानुसार बहुत स्थानों में कहा गया है।

जिस प्रकार ज्योतीरथ, तमोहा, हिरण्यवर्ण और हिरण्यपाणि इत्यादि सूर्य के नाम हैं, और भगवान् विष्णु के स्वयं अनन्तगुणकर्मात्मक होने से उसके गुणकर्मानुसारी अनन्त ही नाम हैं। शास्त्रों में भी सर्वत्र ऐसा ही नियम है, जैसे व्याकरण में "**बहुलं छन्दसि**" "**बहुलमेतन्निदर्शनम्**" और "**पृषोदरादीति यथोपदिष्टम्**" इत्यादि तथा निरुक्त में "निघण्टवो बहुलम्" इत्यादि।

आत्मयोनिः स्वयंजातो वैखानः सामगायनः ।
देवकीनन्दनः स्रष्टा क्षितीशः पापनाशनः ॥१०९॥

९८५ आत्मयोनिः, ९८६ स्वयंजातः, ९८७ वैखानः, ९८८ सामगायनः । ९८९ देवकीनन्दनः, ९९० स्रष्टा, ९९१ क्षितीशः, ९९२ पापनाशनः ॥

आत्मयोनिः—९८५

'आत्म' शब्दो व्युत्पादितः । 'योनिः' इति, यौतेः "वह्निश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित्" (उ० ४।५१) इत्युणादिना 'निः' प्रत्ययो, निच्च सः । "नेड् वशि कृति" (पा० ७।२।८) इति सूत्रेणेटो निषेधः । आत्मशब्दः स्वरूपवचनः । एवञ्च—आत्मा स्वयमेव स्वस्य योनिः=कारणमित्यर्थः । स्वयंसिद्धस्वरूप इति भावः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"आत्मा ते वातो रज आ नवीनोत् पशुर्न भूर्णिर्यवसे ससवान् ।
अन्तर्मही बृहती रोदसीमे विश्वा ते धाम वरुण प्रियाणि ॥"
ऋक् ७।८७।२॥

लोकेऽपि च पश्यामः—साधुपुरुषा आत्मजातप्रेरणा लोकहिताय सर्वदा प्रयत्नशीला दृश्यन्ते । आत्मशब्दो वातशब्दश्च गत्यर्थप्रधानौ, गतिरेव च सर्वस्य मूलम् । तथा च—

"आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः ।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम ॥"
ऋक् १०।१६८।४॥

आत्मयोनिः—९८५

'आत्मा' शब्द पहले सिद्ध किया गया है । 'योनि' शब्द मिश्रण तथा अमिश्रणार्थक 'यु' धातु से उणादि 'नि' प्रत्यय, इट् का निषेध तथा गुण करने से बनता है । आत्मा शब्द स्वरूप का वाचक है । इस प्रकार से आत्मा=स्वयं ही योनि=कारण है जिसका, उसका नाम है 'आत्मयोनि' । अर्थात् आप ही अपना कारण, स्वयंसिद्धस्वरूप, यह 'आत्मयोनि' शब्द का अर्थ हुआ । इस नामार्थ में—"**आत्मा ते वातो रज आनवीनोत्०**" (ऋक् ७।८७।२) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं ।

लोक में भी हम देखते हैं—सज्जन अपने आप से प्रेरणा प्राप्त करके सदा लोकहित के लिये प्रयत्नशील रहते हैं । आत्मा और वात शब्द गत्यर्थ-प्रधान हैं, और गति ही सबका मूल है । जैसा कि—"**आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति**

"वातस्य नु महिमानं रथस्य····· दिविस्पृग् यात्यरुणानि कृण्वन्।"
ऋक् १०।१६८।१॥

भवति चात्रास्माकम्—

आत्मयोनिः स्वयं सूर्यो, विष्णुर्वातः स्वयम्प्रभुः।
स्वयं यौति स्वधामानि[1], राजा[2] विश्वस्य चर्षणिः॥२७३॥

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

१. "ताभिः सयुक् सरथं देव ईयतेऽस्य विश्वस्य भुवनस्य राजा"
ऋक् १०।१६८।२।

२. "विश्वा ते धाम वरुण प्रियाणि।" ऋक् ७।८७।२॥

स्वयंजातः—९८६

'स्वयम्'—इति स्वरादित्वादव्ययम्।

'जात'—इति जनी प्रादुर्भावे दैवादिको धातुरीदित्, तस्मादकर्मकात् कर्तरि 'क्तः'। "श्वीदितो निष्ठायाम्" (पा० ७।२।१४) सूत्रेण इटो निषेधः। "जनसनखनां सञ्झलोः" (पा० ६।४।४२) सूत्रेण जनो नकारस्यात्वम्, "अलोऽन्त्यस्य" (पा० १।१।५२) सूत्रेणान्त्यस्य। 'अकः सवर्णे दीर्घः" । (पा०

देव एष०" (ऋक् १०।१६८।४) तथा "वातस्य नु महिमानं रथस्य·····दिविस्पृग् यात्यरुणानि कृण्वन्" (ऋक् १०।१६८।१) इत्यादि मन्त्रों से सिद्ध होता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

'आत्मयोनि' नाम भगवान् विष्णु, वायु तथा स्वयम्प्रभु सूर्य का है। सर्वदा गतिशील, समस्त विश्व का राजा सूर्य, अपने धाम=तेज अर्थात् किरणों या लोकों को स्वयं मिलाता या पृथक् रखता हुआ धारण करता है।

'राजा' और 'धाम' शब्द की सिद्धि में क्रम से "ताभिः सयुक् सरथं देव ईयते०" (ऋक् १०।१६८।२) तथा "विश्वा ते धाम वरुण प्रियाणि" (ऋक् ७।८७।२) मन्त्र प्रमाण हैं।

स्वयञ्जातः—९८६

'स्वयं' शब्द स्वरादि में पठित होने से अव्यय है। प्रादुर्भावार्थक दिवादिगण पठित 'जनी' धातु से, अकर्मक होने से कर्ता में 'क्त' प्रत्यय, तथा ईदित् होने से इट् का निषेध, धातु को आकार अन्तादेश तथा सांहितिक दीर्घ करने से 'जात' शब्द सिद्ध होता

६।१।१०१) सूत्रेण सवर्णदीर्घः। स्वयं जायतेऽजनिष्टेति वा 'स्वयंजात': स्वज इत्यर्थः।

लोकेऽपि च पश्यामः— सूर्यो देवः सविता ज्योतीरथो भुवनानि पश्यन् स्वयं प्रादुर्भवति, जनदृष्टिगोचरमायातीति भावः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः"।

अथर्व ३।२७।४॥

"स्वजम्"। अ० १०।४।१७॥ "स्वजस्य"। अथर्व १०।४।१०॥

"स्वजाय"। अ० ६।५६।२॥

लोकेऽपि च पश्यामः—स्वतंजातः परान् जनयति। तथा च यथा— सर्वतः प्रथमं सदसि सदस्यानां नामान्यङ्क्यन्ते, ते पुनः स्वेष्टानि कर्माणि कुर्वते, इति भगवतोऽनुकरणमात्रम्। अयञ्च गुणः स्वयंजातस्य विष्ण वोरे सर्वत्र व्याप्तः।

भवति चात्रास्माकम्—

है। जो अपने आप प्रादुर्भूत होता है, या हुआ, उसका नाम 'स्वयञ्जात' है, तथा वह ही स्वज है।

लोक में भी हम देखते हैं—ज्योतीरथ सविता (सब का जन्मदाता) सूर्य देव सब भुवनों को देखता तथा स्वयं प्रादुर्भूत होता हुआ प्रजा के दृष्टिगोचर होता है। इस 'स्वयञ्जात' भगवन्नामार्थ की पुष्टि करने वाले "उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः०" (अथर्व ३।२७।४); "स्वजम्" (अथर्व १०।४।१७) "स्वजस्य" (अथर्व १०।४।१०) तथा "स्वजाय" (अथर्व ६।५६।२) इत्यादि अथर्ववेद के वचन हैं।

लोक में भी देखने में आता है—स्वयं उत्पन्न होकर अर्थात् स्वयञ्जात होकर ही प्राणी औरों को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार किसी सभा सोसाइटी आदि में पहले सदस्यों के नाम लिखे जाते हैं, अर्थात् वे सदस्यरूप में स्वीकृत किये जाते हैं, और फिर वे अपने अधिकृत कर्मों को करते हैं। यह सब भगवान् का अनुकरण-मात्र है। यह इस प्रकार का स्वयञ्जातस्वरूप गुण 'स्वयञ्जात' नामक भगवान् विष्णु का ही सर्वत्र विश्व में व्याप्त है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

स्वयंजातः स्वयं सूर्यो‡, विष्णुर्ब्रह्मा पुरोहितः ।
स यज्ञः† सर्वभूतानि, जज्ञे स्वाभीद्धतेजसा¹ ॥२७४॥

१. "ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।" ऋक् १०।१९०।१॥
"ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्रः" । ऋक् ९।७३।९॥
"विद्वान्त्स विश्वा भुवनानि पश्यति ।" ऋक् ९।७३।८॥

‡"दिवो यः स्कम्भो धरुणः स्वातत आपूर्णो अंशुः पर्येति विश्वतः ॥" ऋक् ९।७४।२॥

स्वयमाततः=स्वाततः ।

†"तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दाँसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत ॥" यजुः ३१।१७॥

वैखानः-९८७

'वि' उपसर्गः, 'खनु अवदारणे' धातुः, ततः "खनो घ च" (पा० ३।३।१२५) इति सूत्रेण चकाराद् भावे 'घञ्' । विखननं 'विखानः' वृद्धिः ।

'स्वयञ्जात' नाम भगवान् विष्णु और सूर्य का है । तथा वह ही ब्रह्मा पुरोहित (अग्नि) तथा यज्ञरूप से अपने अभीद्ध तेज (सर्वतः प्रवृद्ध तेज) के द्वारा सब प्राणियों को उत्पन्न करता है ।

भगवान् के 'अभीद्धतेजस्त्व' में तथा तपोरूप ज्ञान के द्वारा उत्पन्न करने में "ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत" (ऋक् १०।१९०।१); "ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्रः" (ऋक् ९।७३।९) तथा "विद्वान्त्स विश्वा भुवनानि पश्यति" (ऋक् ९।७३।८) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं । सूर्य के 'स्वयंसिद्धत्व' अर्थ की पुष्टि—"दिवो यः स्कम्भो धरुणः स्वाततः०" (ऋक् ९।७४।२) इत्यादि मन्त्र से होती है । 'स्वातत' शब्द का अर्थ है—जो स्वयं आतत=सर्वत्र फैला हुआ या सिद्ध है । और उसके 'यज्ञरूप' अर्थ की पुष्टि—"तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः०" (यजु० ३१।१७) इत्यादि मन्त्र से होती है ।

वैखानः—९८७

'वि' उपसर्गपूर्वक अवदारणार्थक 'खनु' धातु से "खनो घ च" (पा० ३।३।१२५) सूत्र के चकार पाठ से आकृष्ट 'घञ्' प्रत्यय, और उपधावृद्धि होने से 'विखान' शब्द सिद्ध होता है । विशेष प्रकार के खनन (विदारण) का नाम विखान है ।

यद्वा— विशिष्टः खानो यस्य स 'विखानः'। विखान एव वैखानः, स्वार्थे 'अण्'। तस्य च विशिष्टः खानो यथा समुद्रस्य। नहीदृक्खननं केनचित् तदन्येन कर्तुं शक्यम्। तदनुकरणभूताश्चापरे कूपतडागादिखाताः।

यद्वा—विखातं करोत्याचष्टे वेत्यर्थे 'तत्करोति तदाचष्टे" इति चुरादिगणसूत्रेण 'णिच्'। णाविष्ठवद्भावाट्टेर्लोपः, ततश्च पचादि 'अच्', तस्मिन् णेर्लोपः। विखानयतीति विखानः, विखान एव 'वैखानः', स्वार्थे अण्'। एवञ्च यथा स्वयं विशिष्टं खनति तथा स्वशक्तिं प्रदायान्यैरपि विशिष्टं खानयतीति 'वैखानः' उक्तो भवति।

लोकेऽपि चाग्नेयविस्फोटकृतः पृथिवीखातरूपो विशिष्टः खानो दृश्यते।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्व्यकृणोः सूर्यत्वचम्॥" ऋक् ८।९१।७॥

"या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा या स्वयंजाः।
समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥"
ऋक् ७।४९।२॥

अथवा—विशिष्ट है खान (अवदारण) जिसका, उसका नाम है 'विखान'। और विखान ही स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय करने से 'वैखान' होता है। उसका विशिष्टखान अर्थात् विशेष प्रकार का अवदारण, यहां समुद्र के देखने से सिद्ध होता है। क्योंकि समुद्र जैसे खनन को भगवान् के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं कर सकता। कूप तड़ाग आदि का खनन (खुदाई) भगवान् के द्वारा कृतखात समुद्र का ही अनुकरण है।

अथवा— विखान को 'जो करता है या कहता है' इस अर्थ में 'णिच्', और णि के परे रहने पर इष्ठवद्भाव होने से टि का लोप, पुनः विखानि शब्द से पचादि 'अच्' और णि का लोप होने से विखान शब्द सिद्ध होता है। इस विखान शब्द से स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय करने से वैखान' शब्द सिद्ध होता है। इसका अर्थ, जैसा खनन स्वयं करता है, वैसा ही अपनी शक्ति प्रदान करके औरों से भी करवाता है, ऐसा है।

लोक में भी अग्नितत्त्वप्रधान बम आदि के स्फोट से भू का विदारण (फटना) रूप विशिष्ट खनन देखने में आता है। यह ही भाव "खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो०" (ऋक् ८।९१।७) तथा "या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति०" (ऋक् ७।४९।२) इत्यादि मन्त्रों से पुष्ट होता है।

भवति चात्रास्माकम्—

> **वैखानः कुरुते खानं, सामुद्रं रत्नधातमम्।**
> **तत्र यान्ति नदाः सर्वे, दुष्पूरश्च तथापि सः ॥२७५॥**

सामगायनः—६८८

'साम' शब्दः 'षो अन्तःकर्मणि' दैवादिकाद्धातोः **"सातिभ्यां मनिन्-मनिणौ"** (उ० ४।१५३) इत्युणादिसूत्रेण 'मनिन्' प्रत्ययः, स्यतीति—'साम'। अयञ्च शब्दः सामाख्यासु गीतिषु रूढः। तद् गायन्तीति सामगाः। 'साम' रूपकर्मोपपदाद् 'गै' धातोः **"गापोष्टक्"** (पा० ३।२।८) सूत्रेण 'टक्' प्रत्ययः, **"आदेच उपदेशेऽशिति"** (पा० ६।१।४४) सूत्रेण एच आत्वम्। तथा—**"आतो लोप इटि च"**(पा० ६।४।६४)इत्याल्लोपः। सामगानामयनम्=आश्रयः परमो लक्ष्य इत्यर्थः।

यद्वा—'साम'पूर्वक 'गै' धातोः **"ण्युट् च"** (पा० ३।१।१४७) इति सूत्रेण 'ण्युट्' प्रत्ययः, एच आत्वं, योरनः। **"आतो युक्चिण्कृतोः"**(पा० ७।३।३६)

इस भाव का प्रकाशन भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार करता है—

विशिष्ट प्रकार के खनन करने से भगवान् का नाम 'वैखान है'। उस का विशिष्ट खान (अवदारण) रत्नाकर समुद्र है, जिस में सब नद-नदियां प्रतिक्षण पड़ती रहती हैं, फिर भी उसकी पूर्ति नहीं होती है।

सामगायनः—६८८

अन्तःकर्म (नाश) तदर्थक 'षो' धातु से उणादि 'मनिन्' प्रत्यय, और धात्वादि षकार को सकार करने से 'साम' शब्द सिद्ध होता है। यहां साम शब्द गीतिरूप साम अर्थ में रूढ़ है। उस गीतिरूप साम का जो गान करता है, उसका नाम सामग है। 'साम' रूप कर्म के उपपद में रहने से, शब्दार्थक गै धातु से कृत् 'टक्' प्रत्यय, धातु के औपदेशिक ऐकार को आत्व, तथा आकार का लोप करने से 'सामग' शब्द बनता है। सामगों का जो अयन=आश्रय है, उसका नाम 'सामगायन' है। अर्थात् सामगों के परमलक्ष्य (उद्देश्य) का नाम 'सामगायन' है।

अथवा—'साम' पूर्वक 'गै' धातु से शिल्पित्व-विशिष्ट कर्ता अर्थ में कृत् 'ण्युट्' प्रत्यय, ऐच् को आत्व और यु को अन आदेश तथा युक् का आगम करने से 'सामगायन' शब्द बनता है। साम का जो गान करता है, उसका नाम 'सामगायन' है। यहां अयन शब्द

सूत्रेण धातोर्युगागमः। साम गायतीति सामगायन इति। सामगायनानामयनं= आश्रय इति सामगायनायन इति वक्तव्ये 'सामगायनः' इत्युच्यते।

मन्त्रलिङ्गञ्च तदर्थे—

"प्रदक्षिणिदभि गृणन्ति कारवो वयो वदन्त ऋतुथा शकुन्तयः।
उभे वाचौ वदति सामगा इव गायत्रञ्च त्रैष्टुभं चानुराजति॥"
ऋक् २।४३।१॥

"उद्गातेव शकुने साम गायसि॥" ऋक् २।४३।२॥

"प्र वो महे महि नमो भरध्वमाङ्गूष्यं शवसानाय साम।
येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञा अर्चन्तो अङ्गिरसो गा अविन्दन्॥"
ऋक् १।६२।२॥

"अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः।
इष्टापूर्तमवतु नः पितॄणामामुं ददे हरसा दैव्येन॥"
अथर्व २।१२।४॥

"गायन्ति त्वा गायत्रिणः॥" ऋक् १।१०।१॥

इति निदर्शनम्।

सामेति नामव्याख्याप्रसङ्गे विशदमुक्तमस्माभिस्तत्र द्रष्टव्यम्।

लोकेऽपि च पश्यामः—सामगायनं विष्णुमेव स्तोतुं साम्न उपवेदो गान्धर्ववेदः प्रवृत्तः। तत्र च शब्दस्य विविधा गतयो रागस्य भिन्नत्वं सम्पाद-

---

की अविवक्षा करने से सामगायनायन ही 'सामगायन' शब्द से उक्त होता है। अर्थात् यहां सामगायनों का आश्रय, यह अर्थ अभिप्रेत है।

इस ही अर्थ की पुष्टि—"प्रदक्षिणिदभि गृणन्ति कारवो वयो वदन्त०" (ऋक् २।४३।१); "उद्गातेव शकुने साम गायसि" (ऋक् २।४३।२); "प्रवो महे महि नमो भरध्वमाङ्गूष्यम्०" (ऋक् १।६२।२); अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभि०:" (अथर्व २।१२।४) तथा "गायन्ति त्वा गायत्रिणः" (ऋक् १।१०।१) इत्यादि मन्त्रों से होती है। साम नाम के व्याख्यान में इस को स्पष्ट किया गया है। इसलिये इस विषय में विशेष जानने के लिए वहां ही देखना चाहिये।

लोक में भी हम देखते हैं—'सामगायन' नामक भगवान् विष्णु का स्तवन करने के लिए ही सामवेद के उपवेद गान्धर्ववेद का प्रादुर्भाव हुआ है। वहां शब्द की विविध प्रकार की गतियां राग के भिन्नत्व का सम्पादन करती हैं। 'सामगायन' नामक भगवान्

यन्ति। एवञ्च सामगायनाभिधो विष्णुर्मातुर्हृदयं व्याप्नोति। यच्च स ध्यायन् गायति तत्तस्य विष्णुवत् स्तुत्यं प्रसाद्यं चिन्त्यञ्च भवति।

भवति चात्रास्माकम्—

सामगायन उक्तोऽसौ, सर्ववागीश्वरेश्वरः।
स एव वेत्ति गीतानां, गतीर्वा सर्वभावतः॥२७६॥

तथा च यथा—

सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामा, मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः।
ताना एकोनपञ्चाशदित्येतत् स्वरमण्डलम्॥

इति सामवेदीय नारदीयशिक्षा (१।२।४)। सर्वा वाङ् नैतदतिक्रामति।

देवकीनन्दनः—९८९

'दिवु' धातुर्दैवादिकः क्रीडादौ, ततो "ण्वुल् तृचौ" (पा० ३।१।१३३) सूत्रेण 'ण्वुल्' प्रत्ययः। "पुगन्तलघूपधस्य च" (पा० ७।३।८६) सूत्रेण गुणः, "युवोरनाकौ" (पा० ७।१।१) सूत्रेण वु इत्यस्य स्थाने अकादेशः। दीव्यतीति देवकः'। देव एव देवको वा स्वार्थिक'क'प्रत्ययान्तः। देवकः=सूर्यः, तत्सन्नियो-

---

विष्णु की प्रत्येक प्राणी की जननी के हृदय में भी व्यापकता है। इसलिए पुरुष जिसका ध्यान करता हुआ गान करता है, वह गान का विषय वस्तु, उसके लिये भगवान् के समान ध्येय प्रसाद्य तथा स्तवनीय होती है।

भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस भाव का प्रकाशन इस प्रकार करता है—

सर्ववागीश्वरेश्वर भगवान् विष्णु का नाम 'सामगायन' है। वह ही सब प्रकार की गान-गतियों को जानता है।

जैसा कि—"सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामाः०" इत्यादि (नारदीय शिक्षा १।२।४) का कथन है।

देवकीनन्दनः—९८९

क्रीडार्थक दिवादिगणपठित 'दिवु' धातु से कर्ता में 'ण्वुल्' कृत् प्रत्यय, वु को अक् आदेश, तथा लघूपध गुण करने से 'देवक' शब्द सिद्ध होता है। जो क्रीडा आदि

गेन देवकी=उषाः। तत्र "पुंयोगादाख्यायाम्" (पा० ४।१।४८) सूत्रेण 'ङीष्'। एवञ्च देवकी=उषाः, तस्या नन्दन आत्मज इव नन्दयिता 'देवकीनन्दनः'=सूर्यः।

तत्र मन्त्रलिङ्गञ्च—

'देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे।'' यजुः १।१॥

यद्वा—"देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।" यजुः ६।१॥

उषोनन्दन एव देवकीनन्दनः। स एव स्वैर्गुणैः सर्वं विश्वं व्याप्नोति। सर्वञ्चैतद् विश्वं व्याप्नुवन् देवकीनन्दनो विष्णुः। नन्दयतीति नन्दन इति नन्दनशब्दव्युत्पत्तिर्बहुत्रोक्ता।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"गृणानो अङ्गिरोभिर्दस्म वि वरुषसा सूर्येण गोभिरन्धः।
विभूम्या अप्रथय इन्द्र सानु दिवो रज उपरमस्तभाय॥"

ऋक् १।६२।५॥

"भगो न मेने परमे व्योमन्नधारयद् रोदसी सुदंसाः॥"

ऋक् १।६२।७॥

करता है, उसका देवक नाम है। अथवा—इसी 'दिव' धातु से पचादि लक्षण 'अच्' प्रत्यय और अजन्त से स्वार्थ में 'क' प्रत्यय करने से 'देवक' शब्द बन जाता है।

देवक नाम विष्णु का है, तथा देवक के सम्बन्ध से 'देवक की जो है', केवल इस अर्थ के द्योत्य होने में स्त्री 'ङीष्' प्रत्यय होकर 'देवकी' शब्द बन जाता है। जो उषा=सूर्योदय से प्राक्कालिक ज्योत्स्ना का नाम है। उसका नन्दन=पुत्र के समान आह्लादक होने से सूर्य का नाम 'देवकीनन्दन' है। इसमें यह—"देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे" (यजुः १।१) तथा "देव सवितः प्रसुव यज्ञम्०" (यजुः ६।१) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है।

उषा का जो नन्दन है, वह ही 'देवकीनन्दन' है, और वह ही अपने गुणों करके इस समस्त विश्व को व्याप्त कर रहा है। तथा इस समस्त विश्व में व्याप्त होने से 'देवकीनन्दन' नाम भगवान् विष्णु का है। जो नन्दित अर्थात् आनन्दित करता है, उसका नाम नन्दन है। यह नन्दन शब्द का अर्थ हमने बहुत बार किया है। इस नामार्थ में "गृणानो अङ्गिरोभिर्दस्म वि वरुषसा०" (ऋक् १।६२।५) तथा "भगो न मेने परमे व्योमन्नधारयद्०" (ऋक् १।६२।७) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं।

पत्नीवत्—'पुरुसहस्त्रा जनयो न पत्नीर्दुवस्यन्ति स्वसारो अह्रयाणम् ॥"
ऋक् १।६२।१० ॥

जनयो=जामयः। तत्रैव पुनः—

"सनायुवो नमसा नव्यो अर्कैर्वसूयवो मतयो दस्त्र दद्रुः।
पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तं स्पृशन्ति त्वा शवसावन् मनीषाः॥"
ऋक् १।६२।११ ॥

"आर्कीं सूर्यस्य रोचनात् विश्वान् देवान् उषर्बुधः।
विप्रो होतेह वक्षति॥" ऋक् १।१४।९ ॥

'शुचिं न यामन्निषिरं स्वर्दृशं केतुं दिवो रोचनस्थामुषर्बुधम्।
अग्निं मूर्धानं दिवो अप्रतिष्कुतं तमीमहे नमसा वाजिनं बृहत्॥"
ऋक् ३।२।१४ ॥

"उषर्बुधे......स्तोमो भवत्वग्नये॥" ऋक् १।१२७।१० ॥

एवं प्राग्वंशवर्धननामव्याख्याने पूर्वदिशः सूर्येण सम्बन्धो विस्तरेण प्रतिपादितः। नन्दन=समर्धनः।

"ऋचा स्तोमं समर्धय" यजुः ११।८ ॥ इत्यपि लिङ्गं भवति।

भवतश्चात्रास्माकम्—

"देवकीनन्दनः सूर्यः, उषा देवी यतः स्मृता।
देवसूर्यस्य संयोगात्, देवकी कथिताप्युषाः॥२७७॥

तथा पत्नीत्वरूप अर्थ का प्रतिपादक "पुरुसहस्त्रा जनयो न पत्नी०" (ऋक् १।६२।१०) इत्यादि मन्त्र है। 'जनि' नाम जामि का हैं, जिसमें उत्पन्न होते हैं, या जो जन्म देती है। निम्नोक्त "सनायुवो नमसा नव्यो अर्कैर्वसूयवो०" (ऋक् १।६२।११); "आर्कीं सूर्यस्य रोचनात्०" (ऋक् १।१४।९); "शुचिं न यामन्निषिरम्"; (ऋक् ३।२।१४); "उषर्बुधे ......स्तोमो भवत्वग्नये" (ऋक् १।१२७।१०) मन्त्र भी इसी नामार्थ को पुष्ट करते हैं।

इसी प्रकार 'प्राग्वंशवर्धन' नाम के व्याख्यान में पूर्व दिशा का सूर्य से सम्बन्ध विस्तार से प्रतिपादित किया है। जो समृद्धि का हेतु होता है, उसका नाम 'नन्दन' है। यह भाव—"ऋचा स्तोमं समर्धय" (यजुः ११।८) इस मन्त्र से प्रमाणित होता है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

'देवकीनन्दन' नाम सूर्य का है, तथा देव अर्थात् सूर्य के सम्बन्ध से देवी या देवकी नाम उषा का है।

सूर्यो=विष्णुः, विष्णु=र्वा सूर्य इति बहुत्र संगमितम् ।
उषर्बुधः स सूर्योऽस्ति, स्वसुर्जारः स वा स्मृतः ।
'तावत् तमो न वा यावद्, दृश्यते देवकीसुतः ।।२७८।।

१—"स जायमानः परमे व्योमनि व्रतान्यग्निर्व्रतपा अरक्षत ।
व्यन्तरिक्षममिमीत सुक्रतु र्वैश्वानरो महिना नाकमस्पृशत् ।"
ऋक् ६।८।२ ।।

"व्यस्तभ्नाद् रोदसी मित्रो अद्भुतोऽन्तर्वावदकृणोज्ज्योतिषा तमः ।
वि वैश्वानरो विश्वमधत्त वृष्ण्यम् ।।" ऋक् ६।८।३ ।।

"अहश्च कृष्णमहरर्जुनञ्च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः ।
वैश्वानरो जायमानो न राजावातिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि ।।"
ऋक् ६।९।१ ।।

"अग्निरग्र उषसामशोचि ।" ऋक् ७।८।१ ।।
"उषो यदग्निं समिधे चकर्थ ।" ऋक् १।११३।९ ।।
"उषा अप स्वसुस्तमः ।" ऋक् १०।१७२।४ ।।
"उषो न जारः पृथुपाजः ।" ऋक् ७।१०।१ ।।
"उष आभाहि भानुना ।" ऋक् १।४८।९ ।।
"उषो देव्यमर्त्या विभाहि ।" ऋक् ३।६१।२ ।।
इत्यादीनि मन्त्रलिङ्गानि निदर्शनार्थानि ।

सूर्य ही विष्णु या विष्णु ही सूर्य है, इस अर्थ की संगति बहुत स्थानों में की गई है ।

उपर्बुध और स्वसुर्जार नाम भी सूर्य ही का है । तम=अन्धकार की सत्ता तब ही तक रहती है, जब तक देवकीसुत अर्थात् सूर्य का उदय नहीं होता । सूर्य का उदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है ।

इस अर्थ की पुष्टि—"स जायमानः परमे व्योमनि०" (ऋक् ६।८।२); "व्यस्तभ्नाद् रोदसी मित्रो०" (ऋक् ६।८।३); "अहश्च कृष्णमहरर्जुनञ्च विवर्तेते०" (ऋक् ६।९।१); "अग्निरग्र उषसामशोचि" (ऋक् ७।८।१); "उषो यदग्निं समिधे चकर्थ" (ऋक् १।११३।९); "उषा अप स्वसुस्तमः" (ऋक् १।१७२।४); "उषो न जारः पृथुपाजः" (ऋक् ७।१०।१); "उष आ भाहि भानुना" (ऋक् १।४८।९) तथा "उषो देव्यमर्त्या विभाहि" (ऋक् ३।६१।२) इत्यादि मन्त्रों से होती है । इसी प्रकार

तथा च—

"सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रतिभद्राय भद्रम् ॥"

ऋक् १।११५।२ ॥

स्रष्टा—६६०

"सृज विसर्गे" तौदादिको धातुः, ततः 'तृच्' कर्तरि, अनिट्। "सृजिदृशो र्झल्यमकिति" (पा० ६।१।५७) सूत्रेणामागमः, स च मित्त्वादन्त्यादचः परः। 'सृ-अ-ज् तृ' इति स्थितौ यणादेश, ऋकारस्य रेफः। "व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः" (पा० ८।२।३६) सूत्रेण जस्य षः, ष्टुत्वम्। ततः सावनङ्ङादि। "अप्तृन्तृच्स्वसृ० (पा० ६।४।११) सूत्रेण दीर्घो, नलोपः=स्रष्टेति। सृजतीति 'स्रष्टा' विष्णुः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।"

ऋक् १०।१२६।७ ॥

"अयमु ष्य: सुमहाँ अवेदि होता मन्द्रो मनुषो यह्वो अग्निः।
वि भा अकः ससृजानः पृथिव्यां कृष्णपविरोषधीभिर्ववक्षे ॥"

ऋक् ७।८।२ ॥

"सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति०" (ऋक् १।११५।२) इत्यादि मन्त्र भी इस नामार्थ में उदाहरण है।

स्रष्टा—६६०

विसर्ग=प्रादुर्भाव, तदर्थक तुदादिगणपठित 'सृज्' धातु से कर्ता में 'तृच्' प्रत्यय। "सृजिदृशोर्झल्यमकिति" (पा० ६।१।५७) सूत्र से अन्त्य अच् से आगे 'अम्' का आगम। 'सृ-अ-ज्-तृ' इस स्थिति में ऋकार को रेफ यण्, तथा "व्रश्चभ्रस्ज०" (पा० ८।२।३६) सूत्र से जकार को षकार, ष्टुत्व, प्रथमा विभक्ति के एकवचन सु परे रहते 'अनङ्' आदेश, दीर्घ और न का लोप करने से 'स्रष्टा' शब्द सिद्ध होता है। जो इस समस्त विश्व का सर्जन (प्रादुर्भाव) करता है, उसका नाम 'स्रष्टा' है, अर्थात् विष्णु। इस नाम के भाव की पुष्टि—"इयं विसृष्टिर्यत आबभूव०" (ऋक् १०।१२६।७) तथा "अयमु ष्य सुमहाँ अवेदि होता मन्द्रो०" (ऋक् ७।८।२) इत्यादि मन्त्रों से होती है।

लोकेऽपि च पश्यामः—इह शरीरे यावदात्मनः स्थितिस्तावत् स मनुष्यः स्रष्टृरूपः कर्माणि करोति, सृज्यानि च सृजति । कर्मणां करणे सर्जने वा प्रधानं कारणं सूर्य एव ।

मन्त्रलिङ्गञ्च, यथा—

"त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः ।
वन्वन्नवातः परिधीँरपोर्णु वीरेभिरश्वैर्मघवा भवा नः ।।"

ऋक् ९।९६।११ ।।

एवं स्रष्टुर्भगवतो गुणः सर्जनरूपो विश्वं व्यश्नुवानस्तं भगवन्तमाचष्टे ।

भवति चात्रास्माकम्—

स्रष्टा स विष्णुः किमु वास्ति सूर्यो, यतः स एवास्ति गतेर्विधाता ।
मर्त्यो [1]मनःशुक्रसमानबन्धुः, सृज्यानि नित्यं सृजते यथौजः ।।२७९।।

१—मनःशुक्रौ=चन्द्रशुक्रौ, सूर्यसमानवर्गराशिगौ चेत् । मनः=चन्द्रः । सूर्यः=आत्मा । समानबन्धुः=समानबन्धनः ।

लोक में भी हम देखते हैं—जब तक इस शरीर में जीवात्मा रहता है, तब तक यह मनुष्य स्रष्टा बनकर कर्म करता है, तथा आविष्कार करने योग्य वस्तुओं का आविष्कार करता है । कर्मों के निर्माण या आविष्कार में सूर्य ही प्रधान कारण है । जैसा कि—'त्वया हि न पितरः सोम पूर्वे०" (ऋक् ९।९६।११) इत्यादि मन्त्र से सिद्ध है । इस प्रकार विश्व में व्याप्त हुआ भगवान् का यह सर्जनरूप गुण भगवान् विष्णु को व्यक्त कर रहा है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

'स्रष्टा' नाम भगवान् विष्णु वा सूर्य का है, क्योंकि वह ही इस समस्त विश्व को गति देकर प्रादुर्भूत करता है । तथा मनुष्य भी चन्द्र और शुक्र के, सूर्य के समान राशि-वर्ग गत होने पर स्रष्टा बनकर अपनी शक्ति के अनुसार कर्मों का सर्जन तथा आविष्कार करता है ।

'मन' शब्द से चन्द्र अर्थ अभिप्रेत है, तथा 'सूर्य' से यहां आत्मा का ग्रहण है । 'समानबन्धु' शब्द से समान बन्धन अर्थात् सूर्य समान राशिवर्ग में स्थित होना अभिप्रेत है ।

क्षितीशः—९९१

क्षितिः—'क्षि निवासगत्योः' तौदादिको धातुः, ततोऽधिकरणे "स्त्रियां क्तिन्" (पा० ३।३।९४) सूत्रेण 'क्तिन्' प्रत्ययः। क्तिनः कित्वाद् गुणाभावः, अनिट्। क्षियन्ति=निवसन्ति गच्छन्ति वा नाशं भूतानि यस्यां सा 'क्षितिः'=भूः. तस्या ईशः='क्षितीशः'। ईश इति—'ईश ऐश्वर्ये' धातुरादादिकः, ततः "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" (पा० ३।१।१३५) इति सूत्रेण 'कः' प्रत्ययः। इष्टे इति ईशः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिम्।" यजुः २५।१८॥

"स इत् स्वपा भुवनेष्वास य इमे द्यावापृथिवी जजान।"

ऋक् ४।५६।३॥

"ईशान इमा भुवनानि वीयसे।" ऋक् ९।८६।३७॥

"यस्मिन् विश्वानि भुवनानि।" ऋक् ७।१०१।४॥

इति निदर्शनम्—

लोकेऽपि च पश्यामः—सर्वो मनुष्यः सर्वस्या भूमेरीशत्वमभिलषति,

क्षितीशः—९९१

निवास तथा गत्यर्थक तुदादिगणपठित 'क्षि' धातु से अधिकरण अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय। क्तिन् प्रत्यय के कित् होने से गुण का निषेध, तथा इट् के अभाव से 'क्षिति' शब्द सिद्ध होता है। जिसमें सब भूत=प्राणी गमन करते या विनष्ट होते हैं, उसका नाम 'क्षिति' है। क्षिति नाम पृथिवी का है, तथा पृथिवी का जो ईश (मालिक) है, उसका नाम 'क्षितीश' है।

ईश शब्द—ऐश्वर्यार्थक 'ईश' धातु से इगुपधलक्षण 'क' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। समर्थ अर्थात् ऐश्वर्यशाली का नाम 'ईश' है। इस नामार्थ में—"तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिम्" (यजुः २५।१८); "स इत् स्वपा भुवनेष्वास०" (ऋक् ४।५६।३); "ईशान इमा भुवनानि वीयसे" (ऋक् ९।८६।३७) तथा "यस्मिन् विश्वानि भुवनानि" (ऋक् ७।१०१।४) इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं।

हम लोक में भी देखते हैं—प्रत्येक मनुष्य सम्पूर्ण पृथिवी का ईश होना चाहता है, किन्तु ऐसा न होने पर भी पृथिवी के किसी एक भाग का ईश (स्वामी) वह अवश्य

भवति च क्षितेरेकभागस्येशः। सोऽयं क्षितीशस्य भगवतोऽनुकरणमात्रम्। सर्वत्र चायं व्याप्तो गुणः। तेन विष्णुः 'क्षितीशः'।

भवति चात्रास्माकम्—

विष्णुः क्षितीशः स हि वास्ति सूर्यः, तस्मिन् स्थितं विश्वमिदं विभाति।
क्षितिर्निवासादुत वा विनाशात्, क्षितौ च ना कर्मशतं करोति॥२८०॥

पापनाशनः—९९२

'पाप'शब्दः—"पानिविषिभ्यः पः" (उ० ३।२३) इत्युणादिसूत्रेण 'पा' रक्षणे धातोरादादिकात् 'प' प्रत्यये सिध्यति। पात्यस्मादात्मानमिति 'पापः' तद्योगात् जन्तुरपि पापः। नाशन इति - प्राक्प्रदर्शितसिद्धिः। नाशयतीति नाशनः, पापस्य नाशनः 'पापनाशनः' इति। भयं वा पापम्, पापस्य नाशने केवलो विष्णुरेव समर्थः, इति स एव 'पापनाशनः' इत्युच्यते।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।" यजुः ३०।३॥
"यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कुरु।" ऋक् ८।६१।१३।"

होता है। यह भगवान् क्षितीश का अनुकरण मात्र है। तथा यह गुण सर्वत्र चेतनवर्ग में व्याप्त है। इसलिये भगवान् विष्णु का नाम 'क्षितीश' है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

'क्षितीश' नाम भगवान् विष्णु या सूर्य का है। यह सकल विश्व उस ही में स्थित होकर प्रकाशमान हो रहा है। निवास या विनाश का अधिकरण होने से पृथिवी का नाम 'क्षिति' है। इस 'क्षिति' में स्थित मनुष्य असंख्य कर्म करता है।

पापनाशनः—९९२

'पाप' शब्द—रक्षणार्थक 'पा' इस अदादिगणीय धातु से उणादि 'प' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। जिस से जीव अपने आप की रक्षा करता है, उसका नाम 'पाप' है। पाप के सम्बन्ध से जन्तु का नाम भी 'पाप' होता है। 'नाशन' शब्द—पहले सिद्ध किया गया है। पाप को नष्ट करने वाले का नाम 'पापनाशन' है। भय भी पापजन्य होने से 'पाप' ही है। पाप या भय के नाश करने में केवल एक विष्णु ही समर्थ है, इसलिये भगवान् विष्णु का नाम 'पापनाशन' है। इस नाम का भावार्थ **"विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव"** (यजुः ३०।३); **"यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कुरु"**

"रक्षोहा विश्वचर्षणिः ।" ऋक् ९।१।२ ॥

"रक्षा णो अग्ने तव रक्षणेभी रारक्षाणः सुमख प्रीणानः ।
प्रतिष्फुर वि रुज विड्वंहो जहि रक्षो महि चिद् वावृधानम् ।"
ऋक् ४।३।१४ ॥

लोकेऽपि पश्यामः - सर्व एव निर्बलः प्राणी पापनाशनं=दुःखनाशनं रक्षोहणं वा बलवन्तमाश्रयति । तस्मात् सर्वदुःख-निवारणक्षमो विष्णुः सूर्यश्च 'पापनाशन' इति ।

भवति चात्रास्माकम्—

पापनाशन उक्तोऽसौ, विष्णुः सूर्यः सनातनः ।
[1]तमाह्वयन्ति वा मन्त्रैः, स नो पायान् महेश्वरः ॥२८१॥

१—"तस्मा इडां सुवीरामायजामहे सुप्रतूर्त्तिमनेहसम् ।"
ऋक् १।४०।४ ॥

"प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदति उक्थ्यम् ।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे ।"
ऋक् १।४०।५ ॥

"स नो हिरण्यजाः शंखः कृशनः पात्वंहसः ।" अथर्व ४।१०।१ ॥

शंखः=सूर्यः ।

"ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसः ।" ऋक् १।३६।१४ ॥

(ऋक् ८।६१।१३); "रक्षोहा विश्वचर्षणिः" (ऋक् ९।१।२) तथा "रक्षा णो अग्ने तव रक्षणेभी रारक्षाणः" (ऋक् ४।३।१४) इत्यादि मन्त्रों से पुष्ट होता है ।

हम लोक में भी देखते हैं—जो भी कोई निर्बल प्राणी है, वह किसी दुःखनाशन अर्थात् बलवान् की शरण लेता है । तथा भगवान् विष्णु के सब से बलवान् होने से और सब के दुःखों के नाशन में समर्थ होने से वह, तथा केवल नाममात्र से भिन्नरूप सूर्य 'पापनाशन' शब्द के वाच्यार्थ हैं ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

विद्वान् महापुरुषों ने विष्णु और सूर्य को पापनाशन शब्द से कहा है । तथा उस सनातन महेश्वर का मन्त्रों से आह्वान करके, उससे अपनी रक्षा करने का आशीर्वाद विद्वान् पुरुष प्राप्त करते हैं ।

इस भावार्थ का समर्थन निम्नोक्त—"तस्मा इडां सुवीरामायजामहे०" (ऋक् १।४०।४); "प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं०" (ऋक् १।४०।५); "स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशनः पात्वंहसः" (अथर्व ४।१०।१); "ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसः" (ऋक्

"पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः ।
पाहिरीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठ्य ।"

ऋक् १।३६।१५ ॥

●

शङ्खभृन्नन्दकी चक्री शार्ङ्गधन्वा गदाधरः ।
रथाङ्गपाणिरक्षोभ्यः सर्वप्रहरणायुधः ॥
सर्वप्रहरणायुधः ॐ नमः ॥१२०॥

९९३ शङ्खभृत्, ९९४ नन्दकी, ९९५ चक्री, ९९६ शार्ङ्गधन्वा, ९९७ गदाधरः । ९९८ रथाङ्गपाणिः, ९९९ अक्षोभ्यः, १००० सर्वप्रहरणायुधः ॥ सर्वप्रहरणायुधः ॐ नमः ॥

शङ्खभृत्—९९३

'शमु उपशमे' दैवादिको धातुः, ततः "शमेः खः" (उ० १।१०२) इत्युणादिसूत्रेण 'खः' प्रत्ययः । खस्य च नेत्त्वं विधानसामर्थ्याद् बाहुलकाद् वा= 'शङ्खः' इति । तं बिभर्तीति 'शंखभृत्' । शङ्खोपपदात् 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' इति जौहोत्यादिकाद्धातोः 'क्विपि' तुकि च 'शङ्खभृत्' इति । शङ्खः=सूर्यस्तं स्वतेजोदानेन पुष्णातीति 'शङ्खभृद्' विष्णुः ।

१।३६।४) तथा "पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः०" (ऋक् १।३६।५) इत्यादि मन्त्र करते हैं ।

शङ्ख नाम सूर्य का है ।

शङ्खभृत्—९९३

उपशमार्थक दिवादिगण पठित 'शमु' धातु से उणादि 'ख' प्रत्यय करने से 'शङ्ख' शब्द सिद्ध होता है । विधान की सामर्थ्य अथवा बाहुलक से खकार की इत्संज्ञा नहीं होती । उस शङ्ख को जो धारण करता है, उसका नाम 'शङ्खभृत्' है । 'शङ्ख' शब्द के उपपद में रहने से 'डुभृञ्' धारणपोषणार्थक धातु से 'क्विप्' और तुक् का आगम करने से 'शङ्खभृत्' शब्द बन जाता है ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"वाताज्जातो अन्तरिक्षात् विद्युतो ज्योतिषस्परि।
स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशनः पात्वंहसः॥"

"यो अग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे।
शङ्खेन हत्वा रक्षांस्यत्रिणो वि षहामहे॥"

"शङ्खेनामीवाममतिं शङ्खेनोत सदान्वाः।
शङ्खो नो विश्वभेषजः कृशनः पात्वंहसः॥"

"स नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुष्प्रतरणो मणिः।"

अथर्व ४।१०।१-४॥

लोकेऽपि च पश्यामः—यथा सूर्यः समुद्राज्जायते, तथाऽयमपि लौकिकः शङ्खः समुद्राज्जायते। तथा चैतदर्थप्रतिपादको मन्त्रः—

"यो अग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे।" अथर्व ४।१०।१॥

तथा च—

"यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किञ्चन।" अथर्व १०।८।१६॥

इति वेदमन्त्रानुसारं सूर्यो विष्णुना धार्यते। तथा लौकिकं शङ्खं कश्चिद् धृत्वा धमति, ततोऽसौ शब्दायते। अतः स शङ्खस्य धर्ताऽपि=ध्माताऽपि 'शङ्खभृद्' उच्यते।

'शङ्ख' नाम सूर्य का है, उसको जो अपना तेज देकर अर्थात् अपने तेज के द्वारा धारण करता है, उसका नाम 'शङ्खभृत्' है। यह भगवान् विष्णु का नाम है। इस नाम के भाव की पुष्टि—"वाताज्जातो अन्तरिक्षात्०"; "यो अग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे०"; "शङ्खेनामीवाममतिं शङ्खेनोत सदान्वाः०"; "स नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुः०" (अथर्व ४।१०।१-४) इत्यादि मन्त्र करते हैं।

लोक में भी हम देखते हैं—जैसे सूर्य समुद्र से उदित होता है, उस ही प्रकार शङ्ख भी समुद्र से उत्पन्न होता है। इस अर्थ का प्रतिपादक—"यो अग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे" (अथर्व ४।१०।१) इत्यादि मन्त्र है। तथा "यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति०" (अथर्व १०।८।१६) इत्यादि वेदमन्त्रानुसार सूर्य का धारक विष्णु सिद्ध होता है। इसी प्रकार इस लौकिक शङ्ख को धारण करके, तथा मुख वायु से पूर्ण करके

तथा च—

"शङ्खध्मम् ।" इति यजुः ३०।१९ ॥

तथा च—

"द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः" (यजुः ३६।१७) इत्यादि यजुः ।

शब्दो ह्याकाशस्य गुणः । शङ्खप्रतिकृतय एव व्योममध्यगाः वाद्ययन्त्र-विशेषा मनुष्यैः कल्पिताः ।

भवति चात्रास्माकम्—

शङ्खो हि विष्णुः स हि वास्ति सूर्यः, स एव शङ्खः कृशनः स एव ।
धमन्ति शङ्खं तत एव लोके, वाद्यप्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥२८२॥

नन्दकी—९९४

'टु नदि समृद्धौ' भौवादिको धातुः, तस्य इदित्त्वान्नुम्, नुमश्चानुस्वारः । "आशिषि च" (पा० ३।१।१५०) सूत्रेणाशीर्विशिष्टमाशंसनार्हं प्रियं वस्तु

शब्दायमान करता हुआ मनुष्य भी 'शङ्खभृत्' नाम से कहा जाता है । यह ही भाव—"शङ्खध्मम्" इत्यादि (यजुः ३०।१९) मन्त्र वचन से सिद्ध है ।

'शान्ति' शब्द भी उपशमार्थक 'शमु' धातु से निष्पन्न होने से उपशमार्थक है । यह केवल धात्वर्थ के प्रसङ्ग से यहां दिखाया गया है । इस नाम में 'द्यौः शान्तिरन्त-रिक्षꣳ शान्तिः" (यजुः ३६।१७) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है । शब्द आकाश का गुण है, इसलिये व्योम में विद्यमान शङ्ख शब्द के प्रतिकृति "समानरूप" शंख आदि वाद्ययन्त्रों की कल्पनायें विद्वानों ने की हैं ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

'शङ्ख' नाम भगवान् विष्णु या सूर्य का है । तथा अपने आप अपने आपका धारक होने से 'शङ्खभृत्' नाम भी भगवान् विष्णु या सूर्य का ही है । वह 'शङ्खभृत्' ही कृशन तथा शङ्खध्म नाम से कहा जाता है । शङ्ख का धमन करने से ही यह वाद्य-प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई है ।

नन्दकी—९९४

समृद्ध्यर्थक भ्वादिगण पठित 'टुनदि' यह इदित् धातु है । इदित् होने से 'नुम्' और अनुस्वार करने पर नन्द से आशीर्विशिष्ट कर्ता अर्थ में 'वुन्' प्रत्यय और वु को 'अक' आदेश करने से 'नन्दक' शब्द सिद्ध होता है । नन्दक यह वाञ्छनीय प्रिय वस्तु का

नित्यमस्यास्तीति 'नन्दकी'। नित्ययोगे मत्वर्थीय इनिः, सौ इन्नन्तलक्षणो दीर्घः। 'नन्दकी' विष्णुः सूर्यो वा, यतो ह्येतौ स्वोपासकानानन्दयुतान् नित्यमाशासाते। यद्वा -नन्दको विष्णुस्तेन नित्ययोगात् 'नन्दकी' सूर्यः।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"त्रिर्नान्द्यं वहतमश्विना युवम्।" ऋक् १।३४।४॥

त्रित्वमधिकृत्य द्वादशर्चं सूक्तमेतत्।

"उपस्थायं चरति यत् समारत सद्यो जातस्तत्सार युज्येभिः।
अभि श्वान्तं मृशते नान्द्ये मुदे यदीं गच्छन्त्युशतीरपिष्ठितम्।"
ऋक् १।१४५।५॥

लोकेऽपि च पश्यामः—यतोऽयं सूर्यो विष्णुर्वा नन्दकी, तत एव तस्यानन्दनरूपो गुणो लोके सर्वत्र व्याप्तः। सर्व एव स्वतः कनिष्ठं पुत्रशिष्यादिकं वाशिषा युनक्ति—"चिरं जीव, सानन्दो भव" इति। "आनन्द रहो" इति च हिन्दीभाषा आशीर्वचनस्य। सूर्यविष्णुशब्दौ परस्परं पर्यायवचनौ। तथा च—"इन्द्रो विष्णुं जजान", "स जजान विष्णुम्" इत्यपि लिङ्गं भवति।

नाम है। वह नित्य जिसमें या जिसकी है, उसका नाम 'नन्दकी' है। नित्ययोगरूप 'मतुप्' के अर्थ में 'इनि' प्रत्यय होता है। 'नन्दकी' विष्णु या सूर्य का नाम है। क्योंकि ये दोनों नित्य अपने उपासकों के आनन्दयुक्त होने की इच्छा करते हैं।

अथवा—'नन्दक' नाम विष्णु का है, और विष्णु के साथ नित्ययुक्त होने से 'नन्दकी' नाम सूर्य का है। इस नामार्थ में "त्रिर्नान्द्यं वहतमश्विना युवम्" (ऋक् १।३४।४) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है। यह त्रित्व संख्या से अनुगत १२ बारह ऋचाओं का ३४वां सूक्त है। तथा "उपस्थायं चरति यन् समारत सद्यो०" (ऋक् १।१४५।५) इत्यादि मन्त्र से भी इसकी पुष्टि होती है।

लोक में भी हम देखते हैं—इस 'नन्दकी' नामक भगवान् विष्णु या सूर्य का आनन्द की आशंसा रूप गुण सर्वत्र लोक में व्याप्त है। इसीलिये सब अपने से छोटे भाई या पुत्र शिष्य आदि को 'बहुत दिनों तक जीता रहे' आनन्द से रहे, इत्यादि आशीर्वाद वाक्यों से युक्त करते हैं। सूर्य और विष्णु शब्द परस्पर पर्यायवचन अर्थात् समानार्थक हैं। जैसा कि—"इन्द्रो विष्णुं जजान" "स जजान विष्णुम्" इत्यादि मन्त्रवचनों से से सिद्ध है।

भवति चात्रास्माकम्—

स नन्दको विष्णुरिहास्ति गीतः, तेनास्य योगोऽस्ति च नित्यमेव ।
स नन्दकी सूर्य इहास्ति बोध्यः, स आशिषा सर्वंजगत् पिपर्ति ॥२८३॥

चक्री—९९५

'डुकृञ् करणे' धातोः 'घञर्थे कविधानम्'' (पा० ३।३।५८वा०) इति 'कः' प्रत्ययः । ''द्वित्वप्रकरणे के कृञादीनामुपसंख्यानम्'' (पा० ६।१।१२ वा०) इत्यनेन घञर्थे के द्वित्वम् । पूर्वस्याभ्याससंज्ञा, चुत्वादि=चक्रम्' ।

यद्वा—'चक्र प्रतिघाते' धातोः ''चकिरम्यो०'' (उ० २।१४) इत्याद्युणादिसूत्रेण करणे 'रकि', बाहुलकादुत्वाभावे, प्रतिहन्यतेऽध्वानेनेति चक्रम्' । एवं निष्पन्नाच्चक्रशब्दात् ''अत इनिठनौ'' (पा० ५।२।११६) सूत्रेण मत्वर्थीयः 'इनिः' प्रत्ययः । ''यस्येति च'' (पा० ६।४।१४८) सूत्रेणाकारलोपः । चक्रमस्यास्तीति 'चक्री' । इन्नन्तलक्षणो दीर्घः । एवञ्च—करोति क्रियते करणं वा चक्रमिति सिध्यति । तच्चक्रञ्चास्यास्तीति विश्वस्य कर्ता विष्णुः 'चक्री' ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

नन्दक नाम भगवान् विष्णु का है, तथा उसके साथ सूर्य का नित्य सम्बन्ध होने से 'नन्दकी' नाम सूर्य का होता है। और स्वयं भगवान् विष्णु भी सूर्य रूप होने से 'नन्दकी' नाम का वाच्यार्थ होता है। तथा भगवान् विष्णु या सूर्य अपने आशीर्वाद से इस समस्त विश्व की रक्षा या पूर्ति करता है।

चक्री—९९५

करणार्थक 'डुकृञ्' धातु से घञर्थ में 'क' प्रत्यय। ''द्वित्वप्रकरणे के कृञादीनामुपसंख्यानम्'' (पा० ६।१।१२ वा०) इस वार्तिक से 'द्वित्व' तथा पूर्व की से अभ्यास संज्ञा होने से तथा तन्निमित्तक चुत्व आदि करने से 'चक्र' शब्द सिद्ध होता है।

यद्वा—'चक' इस प्रतिघातार्थक धातु से उणादि 'रक्' प्रत्यय और बाहुलक से उत्व का अभाव होने पर 'चक्र' शब्द सिद्ध होता है। जिस करके मार्ग का प्रतिघात किया जाता है, उसका नाम 'चक्र' है।

अथवा—जो करता है या किया जाता है, उसका नाम 'चक्र' है, और वह जिसका या जिसमें है, उसका नाम 'चक्री' है। मतुबर्थक 'इनि' प्रत्यय और इन्नन्त लक्षण दीर्घ करने से 'चक्री' शब्द बनता है। इस प्रकार जिससे किया जाये या जो किया जाये, उसका नाम 'चक्र' है। तथा चक्रवाला होने से भगवान् विष्णु का नाम 'चक्री' है। इस

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन् । नकिरेवा यथा त्वम् ।"
"सत्रा ते अनुकृष्टयो विश्वा चक्रेण वावृतुः । सत्रा महाँ असि श्रुतः ॥"
ऋक् ४।३०।१-२ ॥

अभी न आ ववृत्स्व चक्रं न वृत्तमर्वतः । नियुद्भिश्चर्षणीनाम् ॥
ऋक् ४।३१।४

चक्री=भ्रमिमत् ।

"सं यत् त इन्द्र मन्यवः सं चक्राणि दधन्विरे ।
अध त्वे अध सूर्ये ॥" ऋक् ४।३१।६ ॥

इति निदर्शनम् । चक्री=रथी रथश्च, रथे चक्रस्य नित्यसम्बन्धात् । "रथीतमः" (ऋक् ६।४५।१५); "रथीतमम्" (ऋक् १।११।१); "रथीतरः" (ऋक् १।८४।६) एवं वहुत्र ।

रथोऽस्यास्तीति रथी । एवं पर्य्यालोचनेन भगवान् विष्णुः सूर्यं एव वैतस्य नाम्नो वाच्यार्थः ।

लोके चापि पश्यामः—सकलोऽयं लोकः चक्रवद् भ्राम्यन्निव दृश्यते । पौनः-पुन्येनावर्तनं हि भ्रमः । वसन्तर्तुः प्रतिवर्षमावर्ततेऽन्यैः पञ्चभिर्ऋतुभिः सह । सूर्याचन्द्रमसोश्चापि प्रातिदैनिकमावर्तनम् । एवं विश्वव्यापकस्य चक्रस्य योऽधिष्ठानं स 'चक्री', विष्णुः सूर्यश्चन्द्रो वा । ग्रहा वा चक्रिणः ।

नामार्थ की सिद्धि "नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन्०"; "सत्रा ते अनुकृष्टयो विश्वा चक्रेण वावृतुः०" (ऋक् ४।३०।१-२); "अभी न आ ववृत्स्व चक्रं न वृत्तमर्वतः०" (ऋक् ४।३१।४); "सं यत् त इन्द्र मन्यवः सं चक्राणि दधन्विरे०" (ऋक् ४।३१।६) इत्यादि मन्त्रों से होती है ।

'चक्री' नाम भ्रमण जिसमें हो अर्थात् भ्रमण के अधिकरण का है । रथी और रथ का नाम भी 'चक्र' है, क्योंकि रथ में चक्र का नित्य सम्बन्ध है । "रथीतमः" (ऋक् ६।४५।१५); "रथीतमम्" (ऋक् १।११।१) तथा "रथीतरः" (ऋक् १।८४।६) इत्यादि बहुत स्थानों में आता है । रथ वाले का नाम 'रथी' है । इस प्रकार विचार करने से भगवान् विष्णु या सूर्य का नाम 'चक्री' होता है ।

लोक में भी हम देखते हैं—यह समस्त विश्व 'चक्र' के समान घूमता हुआ ही दीखता है । बार-बार आवर्तन का नाम ही भ्रम है । अन्य पञ्च ऋतुओं के साथ वसन्त ऋतु का प्रतिवर्ष आवर्तन होता है । सूर्य और चन्द्रमा का आवर्तन प्रतिदिन होता है । इस प्रकार विश्व में व्यापक रूप से स्थित चक्र का अधिष्ठान विष्णु, सूर्य वा चन्द्र तथा ग्रहों का नाम भी 'चक्री' है ।

या चेयमन्नपेषणी सा चक्रिणी सती 'चक्की' इत्युच्यते। एतस्मादेव च कुम्भकारोऽपि 'चक्री', यतः स चक्रमाध्यम्येन पात्राणि निर्माति। एवमिदं चक्ररूपं विश्वं यस्मिन् निवसति स 'चक्री'।

मन्त्रलिङ्गञ्च--

"यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।"

ऋक् १।१५४।२॥

भवति चात्रास्माकम्—

चक्री ह विष्णुः स करोति विश्वं चक्रेण तुल्यं परिवर्तमानम्।
रथश्च चक्री रथवांश्च चक्री, सूर्यश्च चक्री क्रमते च चक्रे[1] ॥२८४॥

१—'चक प्रतिघाते', व्योमाध्वनि सर्वं प्रतिहतं भवति भिन्नं-भिन्नं प्रतिभासते इत्यर्थः।

शार्ङ्गधन्वा—९९६

'शॄ हिंसायां' क्र्यादिको धातुः ततः **"शॄणातेर्ह्रस्वश्च"** (उ० १।१२६) इत्युणादिसूत्रेण 'गन्' प्रत्ययः। स च कित्, तेन न गुणः। तस्य नुडागमो, धातो-

---

अन्न को पीसने वाली चक्की भी चक्री वाली होने से 'चक्रिणी' कही जाती है। 'चक्र' की प्रधानता से घट आदि पात्रों का निर्माण करने से कुम्हार (कुम्भकार) का नाम भी 'चक्री' है। इस प्रकार यह चक्ररूप समस्त विश्व जिसमें स्थित है, उस सर्वाधिष्ठान का नाम 'चक्री' सिद्ध होता है। इस अर्थ की सिद्धि **"यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति०"** (ऋक् १।१५४।२) इत्यादि मन्त्र से होती है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'चक्री' है। क्योंकि वह चक्र के समान परिवर्तनशील इस विश्व का निर्माण करता है। रथ और रथी का नाम भी 'चक्री' है। तथा इस अनन्त व्योमाध्व में प्रतिहत होकर पृथक्-पृथक् भासमान होता हुआ सूर्य आदि ग्रहगण भी 'चक्री' है। 'चक्रे' शब्द का भावार्थ—व्योममार्ग में प्रतिहत होकर पृथक्-पृथक् रूप से प्रतिभासमान होना है।

शार्ङ्गधन्वा—९९६

हिंसार्थक क्र्यादिगणपठित 'शॄ' धातु से 'गन्' प्रत्यय, और वह कित् वत् होता है। इसलिये गुण का अभाव, नुट् का आगम और धातु के ऋकार को ह्रस्व, वशादि कृत् होने से इट् का का निषेध, तथा अनुस्वार और परसवर्ण करने से 'शार्ङ्ग' शब्द सिद्ध होता है।

र्लृस्वश्च। "नेड् वशि कृति" (पा० ७।२।८) इति इटो निषेधः। अनुस्वार-परसवर्णौ। बाहुलकाद् गकारस्य नेत्संज्ञा। शृणाति=हिनस्ति तमोऽनेनेति 'शृङ्ग' =दीप्तिः। तेषां शृङ्गाणां समूहः 'शार्ङ्गः', तद्धनुरस्येति 'शार्ङ्गधन्वा' सूर्यः।

धनुश्शब्दश्च—'धन धान्ये' जौहोत्यादिकाद्धातोः "अर्तिपृवपियजितनि-धनितपिभ्यो नित्" (उ० २।११७) इत्युणादिना नित्संज्ञके 'उसि'प्रत्यये सिध्यति। नित्वाद् "ञ्नित्यादिर्नित्यम् (पा० ६।१।१९१) सूत्रेणाद्युदात्तः। समासे च "वा संज्ञायाम्" (पा० ५।४।१३३) सूत्रेणानङ्ङादेशः। "ङिच्च" (पा० १।१।५२) सूत्रेणान्त्यस्य भवति। पाक्षिकः यण्। नान्तलक्षणो दीर्घः। पशुशृङ्गोऽप्येतस्मादेव, शीर्यतेऽनेनेति।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"स एकव्रात्योऽभवत् स धनुरादत्त तदेवेन्द्रधनुः।" अथर्व १५।१।६॥

शृङ्गः=सूर्य इति पूर्वं कृतव्याख्यानम्। स च वर्षासु मेघेषु यत्त्रिरेखामयं दिव्यं धनुर्दृश्यते तद्वान् भवति। तत्सन्नियोगेन सूर्यः 'शार्ङ्गधन्वा' भवति।

लोकेऽपि च—इन्द्रधनुर्विशेषज्ञा इन्द्रधनुरवलोक्य, तेन समयानुसारं समीप-स्था विप्रकृष्टा वा भविष्यन्तीर्वर्षा ब्रुवन्ति। एते च वर्षाविदो 'रङ्गवाजाः'

बाहुलक से गकार की इत्संज्ञा नहीं होती। जिसके द्वारा तम=अन्धकार का नाश किया जाता है, उसका नाम 'शृङ्ग' है। यह दीप्ति (ज्वाला) या किरणों का नाम है। शृङ्गों के समूह का नाम 'शार्ङ्ग' है। तथा वह ही है धनुष् जिसका उसका नाम है—'शार्ङ्गधन्वा'। यह सूर्य का नाम है।

'धनुष्' शब्द की सिद्धि धान्यार्थक 'धन' धातु से उणादि नित्संज्ञक 'उस्' प्रत्यय करने से होती है। नित् करने का प्रयोजन प्रत्ययान्त को उदात्त करना है। शार्ङ्ग और धनुष् शब्द का परस्पर बहुव्रीहि समास करने से अन्त्य के स्थान में पाक्षिक 'अनङ्' आदेश, और नान्त लक्षण दीर्घ करने से 'शार्ङ्गधन्वा' शब्द बन जाता है। उकार को यण् वकार हो जाता है। हनन क्रिया की समानता से ही पशुओं के शिरोनिर्गत (हड्डी) अस्थि को भी 'शृङ्ग' कहते हैं। क्योंकि वह पशुओं की मारणक्रिया का साधन होता है। इस नामार्थ में—"स एकव्रात्योऽभवत्०" (अथर्व १५।१।६) इत्यादि मन्त्र प्रमाण है।

'शृङ्ग' नाम सूर्य का है। इसका व्याख्यान पहले किया गया है। क्योंकि उसका धनुष्, मेघों के बरसते हुए जो आकाश में पीतहरित रक्तरूप तीन रेखायें दीखती हैं वह होता है। उस ही के सम्बन्ध से सूर्य का नाम भी 'शार्ङ्गधन्वा' होता है।

लोक में भी—इन्द्रधनु के विशेषज्ञ इन्द्रधनु को देखकर, उसके द्वारा शीघ्र या विलम्ब से होने वाली वर्षा कों सूचित करते हैं। इन ही वर्षा-विशेषज्ञों को हिन्दी भाषा

इत्युच्चन्ते । शृङ्गशब्दो रङ्गशब्दस्यापभ्रंशरूपस्य प्रकृतिः । प्राकृता अपभ्रंशमुच्चारयन्ति । एष शार्ङ्गधनुष्ट्वरूपो भगवतो गुणः समग्रे लोके व्याप्तः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"सत्यं त्वेषा अमवन्तो धन्वञ्चिदा रुद्रियासः ।
मिहं कृण्वन्त्यवाताम् ॥" ऋक् १।३८।७ ॥

भवति चात्रास्माकम्—

स शार्ङ्गधन्वा कथितो ह सूर्यो, मेघेषु तच्छृङ्गमिवास्ति वक्रम् ।
बृहद्धनुः सत् कथयन्ति तद्वा, चन्द्रस्य सर्वत्र स विष्णुरस्मात् ॥२८५॥

गदाधरः—९९७

गदेति—'गद व्यक्तायां वाचि' धातुर्भौवादिकः । तस्मात् पचाद्यच् । गदति=शब्दं करोतीति 'गदा', स्त्रियां 'टाप्' । यद्वा—'स्तन गदी शब्दे' चौरादिकः कथाद्यन्तर्गतोऽदन्तो धातुः । ततो 'णिच्', अतो लोपः । तस्य च—"अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" (पा० १।१।५६) सूत्रेण स्थानिवद्भावान्नोपधावृद्धिः ।

में 'रङ्गवाज' कहते हैं । रङ्ग शब्द शृङ्ग शब्द का ही अपभ्रंश शब्द है । साधारण अपठित पुरुष अपभ्रंश का ही उच्चारण करते हैं । यह 'शार्ङ्ग'धनुष्ट्वरूप गुण भगवान् का समग्र लोक में व्याप्त है । जैसा कि—"सत्यं त्वेषा अमवन्तो धन्वञ्चिदा रुद्रियासः०" (ऋक् १।३८।७) इत्यादि मन्त्र में प्रतिपादित है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

'शार्ङ्गधन्वा' नाम सूर्य का है । क्योंकि वह धनुष् मेघों में शृङ्ग के समान वक्र अर्थात् टेढा है । तथा उस बृहत् धनु को इन्द्रधनु नाम से कहते हैं । तथा सूर्य आदि में सर्वत्र भगवान् विष्णु के व्यापक रूप से विराजमान होने से 'शार्ङ्गधन्वा' नाम भगवान् विष्णु का है ।

गदाधरः—९९७

व्यक्त वाक् (स्पष्ट बोलने) अर्थ में वर्तमान भ्वादिगणपठित 'गद' धातु से पचादि 'अच्' प्रत्यय, और स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय करने से 'गदा' शब्द सिद्ध होता है । जो स्पष्ट शब्द करती है, उसका नाम 'गदा' है । अथवा—कथ आदि धातुओं में पठित शब्दार्थक चुरादिगणीय 'गद' यह देवशब्दार्थक अदन्त धातु है । इससे 'णिच्' प्रत्यय तथा अकार का लोप करने पर 'गदि' धातु से पचादि 'अच्' प्रत्यय, और णि का लोप तथा

ततः पचाद्यच् । अचि णिलोपः, स्त्रियां 'टाप्'='गदा' । यद्वा—"अ प्रत्ययात्" (पा० ३।३।१०२) इति स्त्रियां भावे 'अङ्' । ततः स्त्रियां 'टाप्' । एवञ्च स्तनयित्नुर्मेघनिर्घोषः, स एव च गदाशब्दवाच्यः ।

धर इति—'धृञ् धारणे' भौवादिको धातुः । ततः पचाद्यच्, रपरो गुणः । धरतीति—'धरः' । गदायाः धरः='गदाधरः' इति शेषषष्ठीसमासः । स्तनयित्नोः=मेघनिर्घोषस्य धर्तेति भावः, सूर्यो विष्णुर्वा । इदं च सर्वदा लोके मेघनिर्घोषं शृण्वतां प्रत्यक्षचरम् ।

तथा च मन्त्रलिङ्गम्—

"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा……महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥" ऋक् ४ ५८।३ ॥

भवति चात्रास्माकम्—

गदाधरो विष्णुरसौ हि सूर्यः, स एव मेघेषु दधाति शब्दम् ।
स विद्युतञ्चाकुरुते सशब्दां, स एव मेघांश्च धरत्यशेषान् ॥२८६॥

रथाङ्गपाणिः—६६८

'रमु क्रीडायां' भौवादिको धातुः । ततो "हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्" (उ० २।२) इत्युणादिना 'क्थन्' प्रत्ययः । रमते=क्रीडति यस्मिन् येन वा 'रथः' ।

स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय करने से गदा' शब्द बन जाता है । अथवा—'अ प्रत्ययात्' (पा० ३।३।१०२) से अङ् प्रत्यय और स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' हो जाता है । इस प्रकार से स्तनयित्नुरूप जो मेघ का घोष (गर्जन) है, उस ही का नाम 'गदा' है ।

धर शब्द—धारणार्थक 'धृञ्' इस भ्वादि धातु से पचादि 'अच्' प्रत्यय और रपरक गुण करने से बनता है । धारण करने वाले का नाम 'धर' है । गदा को धारण करने वाले का नाम 'गदाधर' है । शेषषष्ठयन्त के साथ तत्पुरुष समास है । स्तनयित्नु नाम मेघ के निर्घोष का जो धारण करने वाला है, उसका नाम 'गदाधर' है । यह सूर्य या विष्णु का नाम है । यह जो मेघ के घोष (गर्जन) को सुनते हैं, उन सब के प्रत्यक्ष है । जैसा कि—"**चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा०**" (ऋक् ४।५८।३) इत्यादि मन्त्र प्रतिपादन करता है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार व्यक्त करता है—

'गदाधर' नाम भगवान् विष्णु या सूर्य का है । क्योंकि वह ही मेघों में शब्द का प्रादुर्भाव करता है । तथा विद्युत् को शब्दयुक्त करता हुआ सब मेघों को धारण करता है ।

रथाङ्गपाणिः—६६८

क्रीडार्थक 'रमु' धातु से उणादि 'क्थन्' प्रत्यय करने से 'रथ' शब्द सिद्ध होता है । जिसमें या जिसके द्वारा क्रीडा की जाती है, उसका नाम 'रथ' है । अङ्ग—शब्द की सिद्धि,

'अङ्ग'—अङ्गतेर्गतिकर्मण उक्तपूर्वः । रथोऽङ्गति=गच्छति येन तद् 'रथाङ्गम्' । रथस्यावयवा वा 'रथाङ्ग'शब्देनोच्यन्ते । तथा च यथा—चक्रम्, अक्षः, धूः, युगमित्यादीनि ।

पाणिरिति—'पण व्यवहारे स्तुतौ च' इति भौवादिको धातुः । तस्यात्र व्यवहार एवार्थोऽभिमतः । ततश्च "गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः" (पा० ३।१।२८) इति सूत्रेण 'आयः' । तस्य च "अशिपणाय्योरुडायलुकौ च" (उ० ४।१३३) इत्युणादिसूत्रेण 'लुक्' । 'इण्' प्रत्ययश्च धातोः । णित्त्वाद् वृद्धिः । पणाय्यते=व्यवह्रियतेऽनेनेति 'पाणिः'=हस्तः, करणम् ।

यद्वा—"भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः" (पा० ७।३।६१) सूत्रनिपातनात् 'पाणि'शब्दः सिध्यति । त्रिंशदंशमानो राशिरपि सूर्यसङ्क्रमणमार्गः अश्नुते=व्याप्नोति व्योमेति कृत्वा । अश्यते वा राशिर्यवादिसंघातः । "आयादय आर्धधातुके वा" (पा० ३।१।३१) सूत्रेण पाक्षिक आयप्रत्ययाभावेऽपि केवलाद् 'पण' धातोः 'इणि' प्रत्यय उपधावृद्धौ च 'पाणिः' इति । एवञ्च रथस्य अङ्गं=हिरण्यादिकं पाणौ यस्य स 'हिरण्यपाणिः' सूर्यः ।

गत्यर्थक 'अगि' धातु से की गई है । रथ जिसके द्वारा चलता है, उसका नाम 'रथाङ्ग' है । अथवा रथ के अवयव 'रथाङ्ग' शब्द से कहे जाते हैं, जैसे चक्र, अक्ष (जूए का अङ्ग=सिलम) तथा धुरा इत्यादि ।

पाणि शब्द— व्यवहार तथा स्तुत्यर्थक 'पण' भ्वादिगण पठित धातु है । उसका यहां व्यवहार अर्थ अभिप्रेत है । इससे "गुपूधूप०" (पा० ३।१।२८) इस सूत्र से 'आय' प्रत्यय तथा उसका "अशिपणाय्यो०" (उ० ४।१३३) इत्यादि उणादि सूत्र से लुक् हो गया । और इसी उणादि सूत्र से 'इण्' प्रत्यय और उसके णित् होने से वृद्धि करने से सिद्ध हुआ है । जिससे व्यवहार किया जाता है, उसका नाम 'पाणि' है । यह हस्त का नाम है, जो कि व्यवहार में करणरूप है ।

अथवा—"भुजन्युब्जौ०" (पा० ७।३।६१) सूत्र से निपातन से 'पाणि' सिद्ध हुआ है । व्याप्त्यर्थक 'अशू' धातु से उणादि 'इण्' प्रत्यय और 'रुट्' के आगम से सिद्ध हुआ 'राशि' शब्द, व्योम (आकाश) को व्याप्त करने से 'राशि' है । यह सूर्य के सङ्क्रमण स्थान मेष वृष आदि का नाम है । तथा यव गोधूम आदि के समूह का नाम भी 'राशि' है । सूर्य सङ्क्रमण के आधार भूत मेष आदि राशियों का मान ३० तीस अंश हैं । केवल 'पण' धातु से भी 'इण्' प्रत्यय और उपधावृद्धि करने से 'पाणि' शब्द सिद्ध होता है ।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ।" ऋक् १।३५।२ ॥

तत्र हिरण्यं रथाङ्गम् । तत्रापि मन्त्रलिङ्गम्—

"हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते ।"

ऋक् १।३५।६ ॥

हिरण्यपाणिः=सूर्यः । पाणिः=हस्तः—

"हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः सुमृडीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ् ।"

ऋक् १।३५।१० ॥

तथा रथाङ्गनिर्देशः—

"स्थिरा वः सन्तु नेमयो रथा अश्वास एषाम् ।
सुसंस्कृता अभीषवः ॥" ऋक् १।३८।१२ ॥

हिरण्यपाणिशब्दो बहुत्र प्रयुक्तो वेदे । तथा च—

"अश्वैर्हिरण्यपाणिभिः ।" ऋक् ८।७।२७ ॥ इत्यादि ।

यथायं हिरण्यपाणिशब्दस्तथाऽन्येपि हिरण्यशब्दसम्बद्धाः शब्दा दृश्यन्ते—

'हिरण्यजिह्वः ।" ऋक् ६।७१।३ ॥	"हिरण्यत्वक् ।" ऋक् ५।७७।३ ॥
"हिरण्यदन्तम् ।" ऋक् ५।२।३ ॥	"हिरण्यबाहुः ।" ऋक् ७।३४।४ ॥
"हिरण्यरूपः ।" ऋक् २।३५।१० ॥	"हिरण्यवक्षसे ।" अथर्व १२।१।२६ ॥
"हिरण्यशृङ्गः ।" ऋक् १।१६३।६ ॥	"हिरण्यसन्दृक् ।" ऋक् २।३५।१० ॥
"हिरण्याभीशुः ।" ऋक् ८।२२।५ ॥	"हिरण्याक्षः ।" ऋक् १।३५।८ ॥

इस प्रकार रथ का अङ्ग=हिरण्य आदि है पाणि=हाथ में जिसके, उसका नाम 'हिरण्यपाणि' या 'रथाङ्गपाणि' है । यह सूर्य का नाम है । जैसा कि सूर्य का हिरण्यपाणित्व—"हिरण्ययेन सविता रथेना०" (ऋक् १।३५।२) इस मन्त्र में 'हिरण्य' नाम रथाङ्ग का है । "हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिः०" (ऋक् १।३५।६) इस मन्त्र में हिरण्यपाणि नाम सूर्य का है । पाणि नाम हाथ का है । जैसा—कि "हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः०" (ऋक् १।३५।१०) इत्यादि मन्त्र में प्रतिपादन है । "स्थिरा वः सन्तु नेमयो रथा अश्वासः०" (ऋक् १ ३८।१२) इत्यादि में रथाङ्गों का निर्देश है । 'हिरण्यपाणि' शब्द का वेद में बहुत प्रयोग हुआ है । जैसे—"अश्वैर्हिरण्यपाणिभिः"(ऋक् ८।७।२७) इत्यादि में ।

'हिरण्यपाणि' शब्द के समान ही और भी हिरण्य शब्द से सम्बद्ध शब्द देखने में आते हैं । जैसे—"हिरण्यजिह्वः"(ऋक् ६।७१।३); "हिरण्यत्वक्" (ऋक् ५।७७।३); "हिरण्यदन्तम्" (ऋक् ५।२।३); "हिरण्यबाहुः"(ऋक् ७।३४।४); "हिरण्यरूपः" (ऋक् २।३५।१०); "हिरण्यवक्षसे" (अथर्व १२।१।२६); "हिरण्यशृङ्गः" (ऋक् १।१६३।६); "हिरण्यसन्दृक्" (ऋक् २।३५।१०); "हिरण्याभीशुः" (ऋक् ८।२२।५); "हिरण्याक्षः" (ऋक् १।३५।८); "हिरण्यगर्भः" (ऋक् १०।१२१।१);

"हिरण्यगर्भः ।" ऋक् १०।१२१।१ ॥ "हिरण्यचक्रान् ।" ऋक् १।८८।५॥

निरुक्ते—"मनुष्यवद्देवताभिधानम्" इत्युक्तम् । एतावांश्च हिरण्यपाणि-विषयः । सर्वत्र सूर्यः सूर्यदैवतोऽग्निः सूर्यदैवतानि नक्षत्राणि च स्तुतिं प्रप्नुवन्ति नाम्नैतेन । वेदव्याख्याने नियम एष यत्प्रसङ्गप्राप्तं व्याख्यायते ।

भवति चात्रास्माकम्—

रथाङ्गपाणिः स हि चर्षणिर्मतः, स एव विष्णुः स हि वास्ति भास्करः ।
हिरण्यपाणिः स यथा तथा ह्यसौ, त्वग्दन्तरूपाक्षिहिरण्यसंयुतः ॥२८७॥

अक्षोभ्यः—६६६

'क्षुभ संचलने' दैवादिको भौवादिको वा धातुः । ततः "ऋहलोर्ण्यत्"(पा० ३।१।१२४) सूत्रेण शक्यार्थेऽर्हार्थे वा कर्मणि 'ण्यत्' प्रत्ययः । क्षोभयितुं शक्योऽर्हो वा 'क्षोभ्यः' इति । 'न क्षोभ्यः' इति नञा समासे नलोपः='अक्षोभ्यः' । न क्षोभयितुं=संचलयितुं शक्य इत्यर्थः ।

मन्त्रलिङ्गञ्च तदर्थंप्रतिपादकम्—

"क्षोभणश्चर्षणीनाम् ।" ऋक् १०।१०३।१ ॥

"हिरण्यचक्रान्" (ऋक् १।८८।५) इत्यादि ।

निरुक्तकार ने देवताओं का अभिधान मनुष्यों के समान कहा है । तथा यह सब हिरण्यपाणि शब्द का विषय है । इस नाम से सर्वत्र सूर्य सूर्यदैवत अग्नि तथा सूर्यदैवत नक्षत्र स्तुत होते हैं । अर्थात् 'हिरण्यपाणि' शब्द के सूर्य के समान, सूर्यदैवतक अग्नि और नक्षत्र भी वाच्यार्थ हैं । वेद के व्याख्यान का यह नियम है कि उसमें प्रासङ्गिक विषयों की भी व्याख्या की जाती है ।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

'हिरण्यपाणि' नाम विष्णु तथा सूर्य का है । और वह ही चर्षणि तथा हिरण्यरूप, त्वक् दन्त रूप तथा अक्षि आदि से युक्त है । अर्थात् हिरण्यत्वक्, हिरण्यदन्त आदि नामों का वाच्य है ।

अक्षोभ्यः—६६६

सञ्चलनार्थक दिवादिगणीय या भ्वादिगणीय 'क्षुभ' धातु से शक्य या अर्हार्थक कर्म में 'ण्यत्' प्रत्यय करने से 'क्षोभ्य' शब्द सिद्ध होता है । जो क्षुब्ध किया जा सकता है, या क्षुब्ध करने योग्य है, उसका नाम 'क्षोभ्य' है । 'न क्षोभ्यः' इस नञ्तत्पुरुष समास में नञ् के नकार का लोप होने से 'अक्षोभ्य' शब्द बन जाता है । यहां 'क्षुभ' धातु अन्तर्गभितण्यर्थ है । अर्थात् जिसका क्षोभ (सञ्चलन) न किया जा सके, उसका नाम 'अक्षोभ्य' है । इस नामार्थ की पुष्टि "क्षोभणश्चर्षणीनाम्" (ऋक् १०।१०३।१)

स्वयमक्षोभ्योऽन्येषां च क्षोभण इत्यर्थः। तत्रैव च सूक्ते—

"बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः।
अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमातिष्ठ गोवित् ॥"
ऋक् १०।१०३।५ ॥

स्थविरः=अक्षोभ्यः, स्थिर इति यावत्।

लोकेऽपि च पश्यामः—अक्षोभ्य एव लोके स्थिरो दृढो वोच्यते। स्थिरो दृढो वाऽक्षोभ्य इति। अतो विष्णुरेव 'अक्षोभ्यः'।

भवति चात्रास्माकम्—

अक्षोभ्य एकः स हि विष्णुरुक्तः, स वास्ति सूर्यः स हि वा प्रवीरः।
स एव वाजी सहमान उग्रः, स वा रथे तिष्ठति जैत्र इन्द्रः ॥२८८॥

'अनिमिषः' इति, 'एकवीरः' इति चापि स एव सूर्यः। 'अनिमिषः' इति विष्णुनाम पूर्वं व्याख्यातं प्रसङ्गतः स्मार्यते।

सर्वप्रहरणायुधः—१०००

'सर्व' शब्दः—"सर्वनिघृष्वरिष्वलष्वशिवपद्वप्रह्वेष्वा अतन्त्रे।" (उ० १।१५३) इत्युणादिसूत्रेण वन्नतो निपातितः सृ धातोः। अनिडयं धातुः। "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" (पा० ७।३।८४) सूत्रेण गुणः, "उरण् रपरः" (पा० १।१।५१) इत्यनेन सूत्रेण स रपरो भवति।

इत्यादि मन्त्र से होती है। जो स्वयं अक्षोभ्य है, और दूसरों का क्षोभ करता है, यह इस मन्त्रस्थ 'क्षोभण' शब्द का भावार्थ है। तथा उस ही सूक्त में पठित—"बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः०" (ऋक् १०।१०३।५) इत्यादि मन्त्र से भी इस ही अर्थ की पुष्टि होती है। 'स्थविर' नाम अक्षोभ्य या स्थिर का है।

लोक में भी हम देखते हैं—जिसको किसी प्रकार से भी क्षुब्ध या सञ्चलित न किया जा सके, उस ही को स्थिर या दृढ कहा जाता है। इस प्रकार से स्थिर या दृढ का नाम 'अक्षोभ्य' हुआ। ऐसा स्थिर और दृढ होने से भगवान् विष्णु ही 'अक्षोभ्य' है।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्य द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

भगवान् विष्णु का नाम 'अक्षोभ्य' है। तथा वह ही प्रवीर, वाजी, सहमान, उग्र तथा जयशील रथ में विराजमान सूर्य नाम से कहा जाता है।

'अनिमिष' और 'एकवीर' नाम भी सूर्य के हैं। 'अनिमिष' नाम का विष्णु के नामों में व्याख्यान किया गया है, यहां प्रसङ्ग से उसका स्मरण करवाया है।

सर्वप्रहरणायुधः—१०००

'सर्व' शब्द उणादि 'वन्' प्रत्यय के निपातन और 'सृ' धातु के ऋकार को रपरक गुण करने से सिद्ध हुआ है।

'प्रहरणम्' इति - 'प्र' पूर्वो 'हृञ् हरणे' भौवादिको धातुः, ततः "करणाधिकरणयोश्च" (पा० ३।३।११७) सूत्रेण 'ल्युट्'। गुणो रपरः, योरनादेशः। "अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि" (पा० ८।४।२) सूत्रेण णत्वम्। प्रह्रियतेऽनेनेति 'प्रहरणम्'।

'आयुधः' इति— 'युध सम्प्रहारे' दैवादिको धातुराङ् पूर्वः। ततः "घञर्थे कविधानं स्थास्नापाव्यधिहनियुध्यर्थम्" (पा० ३।३।५८ वा०) इति वार्तिकेन घञर्थे करणे 'कः' प्रत्ययः। कित्वात् "क्ङिति च" (पा० १।१।५) सूत्रेण गुणस्य निषेधः।

सर्वेषां प्रहरणानि सर्वप्रहरणानि, तान्यायुधानि यस्य स— 'सर्वप्रहरणायुधः'। अथवा—सर्वाणि यानि प्रहरणानि तान्यायुधानि यस्य सः। षष्ठीतत्पुरुषगर्भो बहुव्रीहिः। केवलो वा त्रिपदो बहुव्रीहिः। 'सर्वप्रहरणायुधः' काल इति सविशदं व्याख्यातः। सर्वमेव च पदार्थजातं किञ्चिन्निमित्तं प्रतिपद्य मारकं रक्षकं वा भवति। एवं सर्वव्यापकत्वं भगवतः सिद्धम्।

मन्त्रलिङ्गञ्च—

"नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः। बाहुभ्यामुत ते नमः।" यजुः १६।१॥

"मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीः।" यजुः १६।१६॥

इत्यादि बहुत्र व्याख्यातचरं मन्त्रलिङ्गं, शत्रुजिच्छत्रुतापनादिनामसु।

द्विरभ्यासो नामसंग्रहसमाप्ति-द्योतनः। प्रणवपूर्वो मन्त्र आरभ्यते प्रणवान्तश्च समाप्यते। 'ओं नमः' इति "ओमाङोश्च" (पा० ६।१।९५)

'प्रहरण' शब्द प्रपूर्वक हरणार्थक भ्वादिगण-पठित 'हृञ्' धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय, यु को अन आदेश तथा रपरक गुण और णत्व करने से सिद्ध हुआ है।

'आयुध' शब्द आङ्पूर्वक संप्रहारार्थक 'युध' इस दिवादिगणीय धातु से घञर्थ में 'क' प्रत्यय करने तथा किन्निमित्तक गुण का निषेध करने से सिद्ध हुआ है।

प्रत्येक जीव का जो परस्पर प्रहार करने का साधन है, वह ही है आयुध=शस्त्र जिसका, उसका नाम 'सर्वप्रहरणायुध' है। यह काल है, इसको व्याख्यान द्वारा पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

प्रत्येक ही पदार्थ किसी कारण-विशेष से किसी का मारक या रक्षक होता है। इस प्रकार से भगवान् 'सर्वप्रहरणायुध' नामक विष्णु की सर्वव्यापकता सिद्ध होती है। इस नामार्थ में "नमस्ते रुद्र मन्यवे०" (यजुः १६।१) तथा "मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीः" (यजुः १६।१६) इत्यादि शत्रुजित, शत्रुतापन आदि नामों में व्याख्यात मन्त्र प्रमाण हैं।

अन्तिम नाम का दो बार उच्चारण नामों की समाप्ति का द्योतक है। प्रणवपूर्वक आरम्भ और प्रणवान्त नाम-मन्त्र की समाप्ति की जाती है। तथा प्रणवपूर्वक चतुर्थ्यन्त नाम के उच्चारण में नमोन्त नाम का समापन होता है। 'सर्वप्रहरणायुधों नम इति' पद में "ओमाङोश्च" (पा० ६।१।९५) इस सूत्र से पूर्व और परके स्थान में पर-

सूत्रेण पूर्वपरयोः स्थाने पररूपैकादेशः क्रियते। नमस् इति—इत्यत्र रुत्वे "भो भगो अघो अपूर्वस्य योऽशि" (पा० ८।३।१०) सूत्रेण रोर्यस्तस्य च "लोपः शाकल्यस्य" (पा० ८।३।१९) सूत्रेण लोपः। यलोपस्य स्थानिवद् भावान्न सन्धिः।

सारांशोऽयमत्र—भगवान् विष्णुरेवानुकूलः, सर्वविघान् विघ्नानपाकरोति प्राणिनां बुद्धिप्रदानेन। सद्बुद्धयश्च भगवतो विष्णोरेवेदं सर्वं गुणमयं पश्यन्तः, पश्यन्तश्च तद्रूपं विष्णुं सानन्दा भवन्ति।

भवन्ति चात्रास्माकम्—

स एव विष्णुः परिपाति सर्वं, स एव सर्वं प्रहरत्यनम्रम्।
स आयुधान्यात्मभवानि नित्यं, यथायथं सर्वभवाय युङ्क्ते ॥२८९॥
यदुन्निनीषुर्भवतीह कालस्, तं सम्मिमीते मृदुभावनाभिः।
न्यक्कर्तुमिच्छुः पुरुषं यमो वा, हितेऽहितं पश्यति तस्य बुद्धिः ॥२९०॥
तस्मात् सदा सत्यधियोऽतिनम्राः, प्रहारसंहारविहारभूतम्।
तमेव विष्णुं प्रणिपत्य नित्यं, पश्यन्त आनन्दसुखं लभन्ते ॥२९१॥

"आनन्दो वै सः" इत्यानन्दस्य विष्णोः सुखं रमणीयं रथं स्थानं वा लभन्त इति।

रूपैकादेश हुआ है। तथा नमस् के सकार को रुत्व, रुत्व को यत्व, यकार का लोप और उसके स्थानिवद् भाव होने से स्वरसन्धि नहीं होती।

इसका सारांश इस प्रकार है—भगवान् विष्णु ही स्वयं जीवों के अनुकूल होकर सब प्रकार के विघ्नों का नाश करता है। और वे प्राणी सद्बुद्धि प्राप्त करके इस गुणमय अर्थात् विष्णु के गुणों से व्याप्त इस समस्त विश्व को विष्णुरूप देखते हुए आनन्द को प्राप्त करते हैं।

इस भाव को भाष्यकार अपने पद्यों द्वारा इस प्रकार प्रकट करता है—

'सर्वप्रहरणायुध' भगवान् विष्णु ही सबकी रक्षा करता है। तथा वह ही नम्रतारहित उद्दण्ड प्राणियों पर प्रहार करता है। क्योंकि वह सब प्राणियों के कल्याण के लिए उनको उनके अनुकूल आयुधों (कष्टनिवारक साधनों) से युक्त करता है।

'सर्वप्रहरणायुध' भगवान् कालरूप विष्णु जिसको उन्नत करना चाहता है, उसको मृदु अर्थात् दयार्द्र तथा तत्त्वदर्शक भाव से युक्त करता है। तथा जिसको अवनत करना चाहता है उसको तमोबहुल कठोर भाव से युक्त करता है। जिससे उसकी बुद्धि अहित (अनिष्ट) में हित (इष्ट) समझती है।

इसलिए सद्बुद्धियुक्त विद्वान् पुरुष, अत्यन्त नम्रभाव से प्रहार संहार तथा विहार अर्थात् विहरणरूप में वर्तमान जगत्रूप विष्णु को नमस्कार करके, सर्वत्र व्यापकरूप से स्थित भगवान् विष्णु को ही देखते हुए आनन्द को प्राप्त करते हैं। अथवा "आनन्दो वै सः" इस वचनानुसार आनन्दरूप भगवान् विष्णु के रमणीय स्थान को प्राप्त करते हैं।

तस्यैकवीरस्य कृपातियोगाद्, भाष्यस्य नाम्नां गमनाय पारम् ।
योऽहं समर्थोऽद्य भवामि लोकाः, सत्यं स एवास्ति च पारकर्ता ।।२६२।।

एक वीरः=सूर्यो विष्णुर्वा । पुनर्भावान्तरेण—

हे विश्ववन्द्य ! तव कीर्त्तिरशब्दगेया,
हे शक्तिरूप ! तव शक्तिमुपेत्य भाष्यम् ।
दुस्तार्यमप्यतिकृशः करणे समर्थो,
योऽहं भवामि, न भवामि कृतं त्वयैव ।।२६३।।

सचन्द्रिको यथाकाशे पूर्णचन्द्रो विराजते ।
सत्यभाष्यं तथैवेदं हिन्दीज्योत्स्नं विराजताम् ।।२६४।।

भाष्यपुष्पोपहारोऽयं सादरं विष्णवेऽर्पितः ।
तेन मे भगवान् विष्णुः प्रीतो भवतु सर्वदा ।।२६५।।

[वै० प्र० २०, वि० सं० २०२६; तथा खिष्टाब्दः २।५।१६६६]

इति दशमं शतकं पूर्णम्

भाष्य की समाप्ति में भाष्यकार का नम्र निवेदन—

हे विद्वानो ! मैं उस एकवीर नामक सच्चिदानन्द भगवान् की असीम कृपा के योग से, इस 'विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्र' के भाष्य करने में जो सफल (समर्थ) हुआ हूं, इसमें केवल भगवान् विष्णु ही की कृपा हेतु है। अर्थात् भगवत्प्रदत्त शक्ति से ही मैं भाष्य करने में समर्थ हुआ हूं। यहां लोक नाम—"लोकन्ते स्वगुणैः प्रकाशन्ते" इस व्युत्पत्ति के अनुसार विद्वानों का है।

तथा हे विश्ववन्द्य ! यद्यपि आपकी कीर्ति शब्दों का विषय नहीं है, क्योंकि वह अनन्त है, तथापि हे शक्तिरूप भगवन् ! सब प्रकार से अत्यन्त निर्बल होता हुआ भी मैं, जो तेरे इस भाष्यरूप दुस्तर कीर्तिगान में समर्थ हुआ हूं। इसमें मेरा कुछ नहीं, किन्तु सब तेरी शक्ति का ही प्रभाव है, अर्थात् वह सब कुछ तैंने ही किया है।

दो हजार छब्बीस संवत्सर, माधव नाम है मास प्रशस्त ।
भृगुवासर तिथि पूर्णिमा, हुआ हिन्दी अनुवाद समस्त ।।

[वैशाख प्रविष्टा २०, शुक्र २०२६ वि० तथा ईस्वी सन् मई २-५-१६६६]

प्रथमं परिशिष्टम्

होमार्थं विष्णुसहस्रनाम्नां चतुर्थ्यन्त-रूपाणि

यज्ञविधिः सम्पुटितपाठश्च

विष्णुसहस्रनामभिः केचन विष्णुं चराचरजगत्पतिं परमेश्वरं यजन्ति। यजनं च चतुर्थ्यन्तनाम्ना सह 'स्वाहा' पदेन भवति। विशिष्ट-कामनासिद्ध्यर्थं यज्ञेन सह क्वचित् जपोऽपि भवति। स च सम्पुटितपाठनाम्ना व्यवह्रियते। सम्पुटितपाठस्य विधिरपीह प्रदर्श्यते।

विष्णुसहस्रनामजपस्य यज्ञेन सम्पूर्णता भवति। यद्वा—सर्वेषामेव जपानां सम्पूर्णता जप्यस्य स्वाहान्तेनैव भवति। साधारणं जपं जप्त्वा तस्य जपस्य दशांशेन हवनं, हवनस्य दशांशेन मार्जनम्, मार्जनस्य दशांशेन तर्पणम्, तर्पणस्य दशांनेन ब्राह्मण-भोजनम्। तद्यथा—

सहस्रजापे शतं हवनम्, शतं हवने दशमार्जनम्।
दशमार्जने तर्पणमेकम्, एकशेषे एकं ब्राह्मभोजनम्॥

सकामजापे संपुटितजापः संकल्पितार्थदैवतको गृह्यते। संपुटनस्य मूलम्—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
"यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु" वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥
ऋक् १०।१२१।१०॥

यजमानो यत्कामदैवतः सन् संकल्पं संकल्पते, स एव पुनः पुनः प्रयुक्तो "यत्कामास्ते जुहुमः" इति मन्त्रोक्तं समर्थयति। तद्यथा—

धनार्थी—

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव।
प्र णो यच्छ विशांपते धनदा असि नस्त्वम्॥ अथर्व ३।४।२०॥

भावार्थ—

विष्णुसहस्रनाम से कुछ लोग चराचर जगत् के पति विष्णु के लिये यज्ञ भी करते हैं। यज्ञ चतुर्थ्यन्त नाम के साथ 'स्वाहा' पद लगाकर किया जाता है। विशिष्ट कामना की पूर्ति के लिये यज्ञ के साथ सम्पुटित पाठ भी किया जाता है। इसलिये यहां सम्पुटित पाठ की विधि भी दर्शाई गई है।

एतं मन्त्र तद्विधं वाऽन्यं कञ्चित् मन्त्रं पठित्वा पुनः विष्णुसहस्रनाम्नः श्लोकः पठनीयः। पुनः श्लोकान्ते स एव मन्त्रः पठनीयः। पुनस्तदग्रे विष्णुसहस्रनाम्नः श्लोकः पठनीयः, एवं क्रमः। एवं संपुटितः रक्षितो वा सन् जपः संपुटजपः संपुटपाठो वोक्तो भवति।

आयुष्कामः—

तत् त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः।
अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्रमोषीः॥
ऋक् १।२४।११॥

पुत्रार्थी—

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते॥
गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति।
गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्करस्रजा॥
हिरण्ययी अरणी यं निर्मन्थतो अश्विना।
तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे॥ ऋक् १०।१८४।१-३॥

प्रतित्र्यृचं पठित्वा विष्णुसहस्रनाम्नः श्लोकः पठनीयः। हवनं चाप्यमुनैव क्रमेण कार्यम्। वाञ्छानामानन्त्यात् तदर्थस्य मन्त्रस्य श्लोकस्य वा कल्पना स्वयं कल्पनीया भवति, दक्षिणा च यथाशक्ति।

"ध्यायन् स्तुवन् नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च।"

यजमानः=यजन्, तदर्थं चतुर्थ्यन्तीकृतनामसाहस्री।

नह्यद्यतना लोका नाम्नां चतुर्थ्यन्तरूपविधाने प्रायेण समर्थाः, इति कृत्वा तादृशां होमचिकीर्षूणां कृते विष्णोः सहस्रनाम्नां चतुर्थ्यन्तरूपाणि प्रदर्श्यन्ते—

विशेष वाञ्छितार्थं प्राप्ति-निमित्त विष्णुसहस्रनाम का किया हुआ संपुटित पाठ भी विशेष फलसाधक होता है, ऐसा भी जानना चाहिये। पहले वाञ्छितार्थं द्योतक मन्त्र या श्लोक पढ़ना, पुनः विष्णुसहस्रनाम का श्लोक पढ़ना, पुनः वह ही वाञ्छितार्थक मन्त्र या श्लोक, पुनः विष्णुसहस्रनाम का श्लोक। इस मन्त्र संरक्षित पाठ या जाप-विधि को 'संपुट पाठ' या 'संपुट-जाप' कहते हैं। हवन भी इसी अनुक्रम से होता है।

उदाहरणार्थं कुछ मन्त्र संस्कृत में दे दिये हैं। जप का दशांश हवन, हवन का दशांश मार्जन, मार्जन का दशांश तर्पण, तर्पण का दशांश ब्राह्मण-भोजन। दक्षिणा यथाशक्ति।

आजकल के साधारणजन विष्णुसहस्रनामस्तोत्र में पठित नामों का चतुर्थ्यन्त रूप प्रयोग करने में समर्थ नहीं है। इसलिए होम की इच्छा रखनेवाले जनों के लिए नामों का चतुर्थ्यन्त रूप आगे दर्शाया जाता है—

१ ओम् विश्वाय स्वाहा
२ विष्णवे
३ वषट्काराय
४ भूतभव्यभवत्प्रभवे
५ भूतकृते
६ भूतभृते
७ भावाय
८ भूतात्मने
९ भूतभावनाय
१० पूतात्मने
११ परमात्मने
१२ मुक्तानां परमगतये
१३ अव्ययाय
१४ पुरुषाय
१५ साक्षिणे
१६ क्षेत्रज्ञाय
१७ अक्षराय
१८ योगाय
१९ योगविदां नेत्रे
२० प्रधानपुरुषेश्वराय
२१ नारसिंहवपुषे
२२ श्रीमते
२३ केशवाय
२४ पुरुषोत्तमाय
२५ सर्वाय
२६ शर्वाय
२७ शिवाय
२८ स्थाणवे
२९ भूतादये
३० निधिरव्ययाय
३१ सम्भवाय
३२ भावनाय
३३ भर्त्रे
३४ प्रभवाय
३५ प्रभवे
३६ ईश्वराय
३७ स्वयम्भवे
३८ शम्भवे
३९ आदित्याय
४० पुष्कराक्षाय
४१ महास्वनाय
४२ अनादिनिधनाय
४३ धात्रे
४४ विधात्रे
४५ धातुरुत्तमाय
४६ अप्रमेयाय
४७ हृषीकेशाय
४८ पद्मनाभाय
४९ अमरप्रभवे
५० विश्वकर्मणे
५१ मनवे
५२ त्वष्ट्रे
५३ स्थविष्ठाय
५४ स्थविरोध्रुवाय
५५ अग्राह्याय
५६ शाश्वताय
५७ कृष्णाय
५८ लोहिताक्षाय
५९ प्रतर्दनाय
६० प्रभूताय
६१ त्रिककुब्धाम्ने
६२ पवित्राय
६३ मङ्गलाय
६४ ईशानाय
६५ प्राणदाय
६६ प्राणाय
६७ ज्येष्ठाय
६८ श्रेष्ठाय
६९ प्रजापतये
७० हिरण्यगर्भाय
७१ भूगर्भाय
७२ माधवाय
७३ मधुसूदनाय
७४ ईश्वराय
७५ विक्रमिणे
७६ धन्विने
७७ मेधाविने
७८ विक्रमाय
७९ क्रमाय
८० अनुत्तमाय
८१ दुराधर्षाय
८२ कृतज्ञाय
८३ कृतये
८४ आत्मवते
८५ सुरेशाय
८६ शरणाय
८७ शर्मणे
८८ विश्वरेतसे
८९ प्रजाभवाय
९० अह्ने
९१ संवत्सराय
९२ व्यालाय
९३ प्रत्ययाय
९४ सर्वदर्शनाय
९५ अजाय
९६ सर्वेश्वराय
९७ सिद्धाय
९८ सिद्धये
९९ सर्वादये
१०० अच्युताय
१०१ वृषाकपये
१०२ अमेयात्मने

१०३ सर्वयोगवि-
नि:सृताय
१०४ वसवे
१०५ वसुमनसे
१०६ सत्याय
१०७ समात्मने
१०८ सम्मिताय
१०९ समाय
११० अमोघाय
१११ पुण्डरीकाक्षाय
११२ वृषकर्मणे
११३ वृषाकृतये
११४ रुद्राय
११५ बहुशिरसे
११६ बभ्रवे
११७ विश्वयोनये
११८ शुचिश्रवसे
११९ अमृताय
१२० शाश्वतस्थाणवे
१२१ वरारोहाय
१२२ महातपसे
१२३ सर्वगाय
१२४ सर्वविद्भानवे
१२५ विष्वक्सेनाय
१२६ जनार्दनाय
१२७ वेदाय
१२८ वेदविदे
१२९ अव्यङ्गाय
१३० वेदाङ्गाय
१३१ वेदविदे
१३२ कवये
१३३ लोकाध्यक्षाय
१३४ सुराध्यक्षाय
१३५ धर्माध्यक्षाय

१३६ कृताकृताय
१३७ चतुरात्मने
१३८ चतुर्व्यूहाय
१३९ चतुर्दंष्ट्राय
१४० चतुर्भुजाय
१४१ भ्राजिष्णवे
१४२ भोजनाय
१४३ भोक्त्रे
१४४ सहिष्णवे
१४५ जगदादिजाय
१४६ अनघाय
१४७ विजयाय
१४८ जेत्रे
१४९ विश्वयोनये
१५० पुनर्वसवे
१५१ उपेन्द्राय
१५२ वामनाय
१५३ प्रांशवे
१५४ अमोघाय
१५५ शुचये
१५६ ऊर्जिताय
१५७ अतीन्द्राय
१५८ संग्रहाय
१५९ सर्गाय
१६० धृतात्मने
१६१ नियमाय
१६२ यमाय
१६३ वेद्याय
१६४ वैद्याय
१६५ सदायोगिने
१६६ वीरघ्ने
१६७ माधवाय
१६८ मधवे
१६९ अतीन्द्रियाय

१७० महामायाय
१७१ महोत्साहाय
१७२ महाबलाय
१७३ महाबुद्धये
१७४ महावीर्याय
१७५ महाशक्तये
१७६ महाद्युतये
१७७ अनिर्देश्यवपुषे
१७८ श्रीमते
१७९ अमेयात्मने
१८० महाद्रिधृषे
१८१ महेष्वासाय
१८२ महीभर्त्रे
१८३ श्रीनिवासाय
१८४ सतां गतये
१८५ अनिरुद्धाय
१८६ सुरानन्दाय
१८७ गोविन्दाय
१८८ गोविदां पतये
१८९ मरीचये
१९० दमनाय
१९१ हंसाय
१९२ सुपर्णाय
१९३ भुजगोत्तमाय
१९४ हिरण्यनाभाय
१९५ सुतपसे
१९६ पद्मनाभाय
१९७ प्रजापतये
१९८ अमृत्यवे
१९९ सर्वदृशे
२०० सिंहाय
२०१ सन्धात्रे
२०२ सन्धिमते
२०३ स्थिराय

२०४ अजाय
२०५ दुर्मर्षणाय
२०६ शास्त्रे
२०७ विश्रुतात्मने
२०८ सुरारिघ्ने
२०९ गुरवे
२१० गुरुतमाय
२११ धाम्ने
२१२ सत्याय
२१३ सत्यपराक्रमाय
२१४ निमिषाय
२१५ अनिमिषाय
२१६ स्रग्विणे
२१७ वाचस्पतिरुदारधिये
२१८ अग्रण्ये
२१९ ग्रामण्ये
२२० श्रीमते
२२१ न्यायाय
२२२ नेत्रे
२२३ समीरणाय
२२४ सहस्रमूर्ध्ने
२२५ विश्वात्मने
२२६ सहस्राक्षाय
२२७ सहस्रपदे
२२८ आवर्तनाय
२२९ निवृत्तात्मने
२३० संवृताय
२३१ सम्प्रमर्दनाय
२३२ अहःसंवर्तकाय
२३३ वह्नये
२३४ अनिलाय
२३५ धरणीधराय
२३६ सुप्रसादाय
२३७ प्रसन्नात्मने
२३८ विश्वधृषे
२३९ विश्वभुजे
२४० विभवे
२४१ सत्कर्त्रे
२४२ सत्कृताय
२४३ साधवे
२४४ जह्नवे
२४५ नारायणाय
२४६ नराय
२४७ असंख्येयाय
२४८ अप्रमेयात्मने
२४९ विशिष्टाय
२५० शिष्टकृते
२५१ शुचये
२५२ सिद्धार्थाय
२५३ सिद्धसंकल्पाय
२५४ सिद्धिदाय
२५५ सिद्धिसाधनाय
२५६ वृषाहिणे
२५७ वृषभाय
२५८ विष्णवे
२५९ वृषपर्वणे
२६० वृषोदराय
२६१ वर्धनाय
२६२ वर्धमानाय
२६३ विविक्ताय
२६४ श्रुतिसागराय
२६५ सुभुजाय
२६६ दुर्धराय
२६७ वाग्मिने
२६८ महेन्द्राय
२६९ वसुदाय
२७० वसवे
२७१ नैकरूपाय
२७२ बृहद्रूपाय
२७३ शिपिविष्टाय
२७४ प्रकाशनाय
२७५ ओजस्तेजोद्युतिधराय
२७६ प्रकाशात्मने
२७७ प्रतापनाय
२७८ ऋद्धाय
२७९ स्पष्टाक्षराय
२८० मन्त्राय
२८१ चन्द्रांशवे
२८२ भास्करद्युतये
२८३ अमृतांशूद्भवाय
२८४ भानवे
२८५ शशबिन्दवे
२८६ सुरेश्वराय
२८७ औषधाय
२८८ जगतः सेतवे
२८९ सत्यधर्मपराक्रमाय
२९० भूतभव्यभवन्नाथाय
२९१ पवनाय
२९२ पावनाय
२९३ अनलाय
२९४ कामघ्ने
२९५ कामकृते
२९६ कान्ताय
२९७ कामाय
२९८ कामप्रदाय
२९९ प्रभवे
३०० युगादिकृते
३०१ युगावर्ताय
३०२ नैकमायाय
३०३ महाशनाय
३०४ अदृश्याय
३०५ व्यक्तरूपाय

३०६ सहस्रजिते
३०७ अनन्तजिते
३०८ इष्टाय
३०९ अविशिष्टाय
३१० शिष्टेष्टाय
३११ शिखण्डिने
३१२ नहुषाय
३१३ वृषाय
३१४ क्रोधघ्ने
३१५ क्रोधकृत्कर्त्रे
३१६ विश्वबाहवे
३१७ महीधराय
३१८ अच्युताय
३१९ प्रथिताय
३२० प्राणाय
३२१ प्राणदाय
३२२ वासवानुजाय
३२३ अपां निधये
३२४ अधिष्ठानाय
३२५ अप्रमत्ताय
३२६ प्रतिष्ठिताय
३२७ स्कन्दाय
३२८ स्कन्दधराय
३२९ धुर्याय
३३० वरदाय
३३१ वायुवाहनाय
३३२ वासुदेवाय
३३३ बृहद्भानवे
३३४ आदिदेवाय
३३५ पुरन्दराय
३३६ अशोकाय
३३७ तारणाय
३३८ ताराय
३३९ शूराय
३४० शौरये
३४१ जनेश्वराय
३४२ अनुकूलाय
३४३ शतावर्ताय
३४४ पद्मिने
३४५ पद्मनिभेक्षणाय
३४६ पद्मनाभाय
३४७ अरविन्दाक्षाय
३४८ पद्मगर्भाय
३४९ शरीरभृते
३५० महर्द्धये
३५१ ऋद्धाय
३५२ वृद्धात्मने
३५३ महाक्षाय
३५४ गरुडध्वजाय
३५५ अतुलाय
३५६ शरभाय
३५७ भीमाय
३५८ समयज्ञाय
३५९ हविर्हरये
३६० सर्वलक्षणलक्षण्याय
३६१ लक्ष्मीवते
३६२ समितिञ्जयाय
३६३ विक्षराय
३६४ रोहिताय
३६५ मार्गाय
३६६ हेतवे
३६७ दामोदराय
३६८ सहाय
३६९ महीधराय
३७० महाभागाय
३७१ वेगवते
३७२ अमिताशनाय
३७३ उद्भवाय
३७४ क्षोभणाय
३७५ देवाय
३७६ श्रीगर्भाय
३७७ परमेश्वराय
३७८ करणाय
३७९ कारणाय
३८० कर्त्रे
३८१ विकर्त्रे
३८२ गहनाय
३८३ गुहाय
३८४ व्यवसायाय
३८५ व्यवस्थानाय
३८६ संस्थानाय
३८७ स्थानदाय
३८८ ध्रुवाय
३८९ परर्द्धये
३९० परमस्पष्टाय
३९१ तुष्टाय
३९२ पुष्टाय
३९३ शुभेक्षणाय
३९४ रामाय
३९५ विरामाय
३९६ विरताय
३९७ मार्गाय
३९८ नेयाय
३९९ नयाय
४०० अनयाय
४०१ वीराय
४०२ शक्तिमतां श्रेष्ठाय
४०३ धर्माय
४०४ धर्मविदुत्तमाय
४०५ वैकुण्ठाय
४०६ पुरुषाय
४०७ प्राणाय

४०८ प्राणदाय
४०९ प्रणवाय
४१० पृथवे
४११ हिरण्यगर्भाय
४१२ शत्रुघ्नाय
४१३ व्याप्ताय
४१४ वायवे
४१५ अधोक्षजाय
४१६ ऋतवे
४१७ सुदर्शनाय
४१८ कालाय
४१९ परमेष्ठिने
४२० परिग्रहाय
४२१ उग्राय
४२२ संवत्सराय
४२३ दक्षाय
४२४ विश्रामाय
४२५ विश्वदक्षिणाय
४२६ विस्ताराय
४२७ स्थावरस्थाणवे
४२८ प्रमाणाय
४२९ बीजमव्ययाय
४३० अर्थाय
४३१ अनर्थाय
४३२ महाकोशाय
४३३ महाभोगाय
४३४ महाधनाय
४३५ अनिर्विण्णाय
४३६ स्थविष्ठाय
४३७ अभुवे
४३८ धर्मयूपाय
४३९ महामखाय
४४० नक्षत्रनेमये
४४१ नक्षत्रिणे
४४२ क्षमाय
४४३ क्षामाय
४४४ समीहनाय
४४५ यज्ञाय
४४६ इज्याय
४४७ महेज्याय
४४८ क्रतवे
४४९ सत्राय
४५० सतां गतये
४५१ सर्वदर्शिने
४५२ विमुक्तात्मने
४५३ सर्वज्ञाय
४५४ ज्ञानमुत्तमाय
४५५ सुव्रताय
४५६ सुमुखाय
४५७ सूक्ष्माय
४५८ सुघोषाय
४५९ सुखदाय
४६० सुहृदे
४६१ मनोहराय
४६२ जितक्रोधाय
४६३ वीरबाहवे
४६४ विदारणाय
४६५ स्वापनाय
४६६ स्ववशाय
४६७ व्यापिने
४६८ नैकात्मने
४६९ नैककर्मकृते
४७० वत्सराय
४७१ वत्सलाय
४७२ वत्सिने
४७३ रत्नगर्भाय
४७४ धनेश्वराय
४७५ धर्मगुपे
४७६ धर्मकृते
४७७ धर्मिणे
४७८ सते
४७९ असते
४८० क्षराय
४८१ अक्षराय
४८२ अविज्ञात्रे
४८३ सहस्रांशवे
४८४ विधात्रे
४८५ कृतलक्षणाय
४८६ गभस्तिनेमये
४८७ सत्त्वस्थाय
४८८ सिंहाय
४८९ भूतमहेश्वराय
४९० आदिदेवाय
४९१ महादेवाय
४९२ देवेशाय
४९३ देवभृद्गुरवे
४९४ उत्तराय
४९५ गोपतये
४९६ गोप्त्रे
४९७ ज्ञानगम्याय
४९८ पुरातनाय
४९९ शरीरभूतभृते
५०० भोक्त्रे
५०१ कपीन्द्राय
५०२ भूरिदक्षिणाय
५०३ सोमपाय
५०४ अमृतपाय
५०५ सोमाय
५०६ पुरुजिते
५०७ पुरुसत्तमाय
५०८ विनयाय
५०९ जयाय

५१० सत्यसन्धाय	५४४ गहनाय	५७८ भेषजाय
५११ दाशार्हाय	५४५ गुप्ताय	५७९ भिषजे
५१२ सात्वतां पतये	५४६ चक्रगदाधराय	५८० संन्यासकृते
५१३ जीवाय	५४७ वेधसे	५८१ शमाय
५१४ विनयितासाक्षिणे	५४८ स्वाङ्गाय	५८२ शान्ताय
५१५ मुकुन्दाय	५४९ अजिताय	५८३ निष्ठायै
५१६ अमितविक्रमाय	५५० कृष्णाय	५८४ शान्तये
५१७ अम्भोनिधये	५५१ दृढाय	५८५ परायणाय
५१८ अनन्तात्मने	५५२ संकर्षणाच्युताय	५८६ शुभाङ्गाय
५१९ महोदधिशयाय	५५३ वरुणाय	५८७ शान्तिदाय
५२० अन्तकाय	५५४ वारुणाय	५८८ स्रष्ट्रे
५२१ अजाय	५५५ वृक्षाय	५८९ कुमुदाय
५२२ महार्हाय	५५६ पुष्कराक्षाय	५९० कुवलेशयाय
५२३ स्वाभाव्याय	५५७ महामनसे	५९१ गोहिताय
५२४ जितामित्राय	५५८ भगवते	५९२ गोपतये
५२५ प्रमोदनाय	५५९ भगघ्ने	५९३ गोप्त्रे
५२६ आनन्दाय	५६० आनन्दिने	५९४ वृषभाक्षाय
५२७ नन्दनाय	५६१ वनमालिने	५९५ वृषप्रियाय
५२८ नन्दाय	५६२ हलायुधाय	५९६ अनिवर्त्तिने
५२९ सत्यधर्मणे	५६३ आदित्याय	५९७ निवृत्तात्मने
५३० त्रिविक्रमाय	५६४ ज्योतिरादित्याय	५९८ संक्षेप्त्रे
५३१ महर्षिकपिलाचार्याय	५६५ सहिष्णवे	५९९ क्षेमकृते
५३२ कृतज्ञाय	५६६ गतिसत्तमाय	६०० शिवाय
५३३ मेदिनीपतये	५६७ सुधन्वने	६०१ श्रीवत्सवक्षसे
५३४ त्रिपदाय	५६८ खण्डपरशवे	६०२ श्रीवासाय
५३५ त्रिदशाध्यक्षाय	५६९ दारुणाय	६०३ श्रीपतये
५३६ महाशृंगाय	५७० द्रविणप्रदाय	६०४ श्रीमतां वराय
५३७ कृतान्तकृते	५७१ दिवःस्पृशे	६०५ श्रीदाय
५३८ महावराहाय	५७२ सर्वदृग्व्यासाय	६०६ श्रीशाय
५३९ गोविन्दाय	५७३ वाचस्पतिरयोनिजाय	६०७ श्रीनिवासाय
५४० सुषेणाय	५७४ त्रिसाम्ने	६०८ श्रीनिधये
५४१ कनकांगदिने	५७५ सामगाय	६०९ श्रीविभावनाय
५४२ गुह्याय	५७६ साम्ने	६१० श्रीधराय
५४३ गभीराय	५७७ निर्वाणाय	६११ श्रीकराय

६१२ श्रेयसे
६१३ श्रीमते
६१४ लोकत्रयाश्रयाय
६१५ स्वक्षाय
६१६ स्वङ्गाय
६१७ शतानन्दाय
६१८ नन्दये
६१९ ज्योतिर्गणेश्वराय
६२० विजितात्मने
६२१ अविधेयात्मने
६२२ सत्कीर्तये
६२३ छिन्नसंशयाय
६२४ उदीर्णाय
६२५ सर्वतश्चक्षुषे
६२६ अनीशाय
६२७ शाश्वतस्थिराय
६२८ भूशयाय
६२९ भूषणाय
६३० भूतये
६३१ विशोकाय
६३२ शोकनाशनाय
६३३ अर्चिष्मते
६३४ अर्चिताय
६३५ कुम्भाय
६३६ विशुद्धात्मने
६३७ विशोधनाय
६३८ अनिरुद्धाय
३३९ अप्रतिरथाय
६४० प्रद्युम्नाय
६४१ अमितविक्रमाय
६४२ कालनेमिनिघ्ने
६४३ वीराय
६४४ शौरये
६४५ शूरजनेश्वराय
६४६ त्रिलोकात्मने
६४७ त्रिलोकेशाय
६४८ केशवाय
६४९ केशिघ्ने
६५० हरये
६५१ कामदेवाय
६५२ कामपालाय
६५३ कामिने
६५४ कान्ताय
६५५ कृतागमाय
६५६ अनिर्देश्यवपुषे
६५७ विष्णवे
६५८ वीराय
६५९ अनन्ताय
६६० धनञ्जयाय
६६१ ब्रह्मण्याय
६६२ ब्रह्मकृते
६६३ ब्रह्मणे
६६४ ब्रह्मणे
६६५ ब्रह्मविवर्धनाय
६६६ ब्रह्मविदे
६६७ ब्राह्मणाय
६६८ ब्रह्मिणे
६६९ ब्रह्मज्ञाय
६७० ब्राह्मणप्रियाय
६७१ महाक्रमाय
६७२ महाकर्मणे
६७३ महातेजसे
६७४ महोरगाय
६७५ महाक्रतवे
६७६ महायज्वने
६७७ महायज्ञाय
६७८ महाहविषे
६७९ स्तव्याय
६८० स्तव[illegible]
६८१ स्तोत्राय
६८२ स्तुतये
६८३ स्तोत्रे
६८४ रणप्रियाय
६८५ पूर्णाय
६८६ पूरयित्रे
६८७ पुण्याय
६८८ पुण्यकीर्तये
६८९ अनामयाय
६९० मनोजवाय
६९१ तीर्थकराय
६९२ वसुरेतसे
६९३ वसुप्रदाय
६९४ वसुप्रदाय
६९५ वासुदेवाय
६९६ वसवे
६९७ वसुमनसे
६९८ हविषे
६९९ सद्गतये
७०० सत्कृतये
७०१ सत्तायै
७०२ सद्भूत्यै
७०३ सत्परायणाय
७०४ शूरसेनाय
७०५ यदुश्रेष्ठाय
७०६ सन्निवासाय
७०७ सुयामुनाय
७०८ भूतावासाय
७०९ वासुदेवाय
७१० सर्वासुनिलयाय
७११ अनलाय
७१२ दर्पघ्ने
७१३ दर्पदाय

७१४ दृप्ताय
७१५ दुर्धराय
७१६ अपराजिताय
७१७ विश्वमूर्त्तये
७१८ महामूर्त्तये
७१९ दीप्तमूर्त्तये
७२० अमूर्त्तिमते
७२१ अनेकमूर्त्तये
७२२ अव्यक्ताय
७२३ शतमूर्त्तये
७२४ शताननाय
७२५ एकाय
७२६ नैकाय
७२७ सवाय
७२८ काय
७२९ कस्मै
७३० यस्मै
७३१ तस्मै
७३२ पदमनुत्तमाय
७३३ लोकबन्धवे
७३४ लोकनाथाय
७३५ माधवाय
७३६ भक्तवत्सलाय
७३७ सुवर्णवर्णाय
७३८ हेमाङ्गाय
७३९ वराङ्गाय
७४० चन्दनाङ्गदिने
७४१ वीरघ्ने
७४२ विषमाय
७४३ शून्याय
७४४ घृताशिषे
७४५ अचलाय
७४६ चलाय
७४७ अमानिने
७४८ मानदाय
७४९ मान्याय
७५० लोकस्वामिने
७५१ त्रिलोकधृषे
७५२ सुमेधसे
७५३ मेधजाय
७५४ धन्याय
७५५ सत्यमेधसे
७५६ धराधराय
७५७ तेजोवृषाय
७५८ द्युतिधराय
७५९ सर्वशस्त्रभृतां वराय
७६० प्रग्रहाय
७६१ निग्रहाय
७६२ व्यग्राय
७६३ नैकशृंगाय
७६४ गदाग्रजाय
७६५ चतुर्मूर्तये
७६६ चतुर्बाहवे
७६७ चतुर्व्यूहाय
७६८ चतुर्गतये
७६९ चतुरात्मने
७७० चतुर्भावाय
७७१ चतुर्वेदविदे
७७२ एकपादे
७७३ समावर्ताय
७७४ अनिवृत्तात्मने
७७५ दुर्जयाय
७७६ दुरतिक्रमाय
७७७ दुर्लभाय
७७८ दुर्गमाय
७७९ दुर्गाय
७८० दुरावासाय
७८१ दुरारिघ्ने
७८२ शुभाङ्गाय
७८३ लोकसारङ्गाय
७८४ सुतन्तवे
७८५ तन्तुवर्धनाय
७८६ इन्द्रकर्मणे
७८७ महाकर्मणे
७८८ कृतकर्मणे
७८९ कृतागमाय
७९० उद्भवाय
७९१ सुन्दराय
७९२ सुन्दाय
७९३ रत्ननाभाय
७९४ सुलोचनाय
७९५ अर्काय
७९६ वाजसनाय
७९७ शृङ्गिणे
७९८ जयन्ताय
७९९ सर्वविज्जयिने
८०० सुवर्णबिन्दवे
८०१ अक्षोभ्याय
८०२ सर्ववागीश्वरेश्वराय
८०३ महाह्रदाय
८०४ महागर्ताय
८०५ महाभूताय
८०६ महानिधये
८०७ कुमुदाय
८०८ कुन्दराय
८०९ कुन्दाय
८१० पर्जन्याय
८११ पावनाय
८१२ अनिलाय
८१३ अमृताशाय
८१४ अमृतवपुषे
८१५ सर्वज्ञाय

८१६ सर्वतोमुखाय
८१७ सुलभाय
८१८ सुव्रताय
८१९ सिद्धाय
८२० शत्रुजिते
८२१ शत्रुतापनाय
८२२ न्यग्रोधाय
८२३ उदुम्बराय
८२४ अश्वत्थाय
८२५ चाणूरान्ध्रनिषूदनाय
८२६ सहस्रार्चिषे
८२७ सप्तजिह्वाय
८२८ सप्तैधसे
८२९ सप्तवाहनाय
८३० अमूर्तये
८३१ अनघाय
८३२ अचिन्त्याय
८३३ भयकृते
८३४ भयनाशनाय
८३५ अणवे
८३६ बृहते
८३७ कृशाय
८३८ स्थूलाय
८३९ गुणभृते
८४० निर्गुणाय
८४१ महते
८४२ अधृताय
८४३ स्वधृताय
८४४ स्वास्याय
८४५ प्राग्वंशाय
८४६ वंशवर्धनाय
८४७ भारभृते
८४८ कथिताय
८४९ योगिने
८५० योगीशाय
८५१ सर्वकामदाय
८५२ आश्रमाय
८५३ श्रमणाय
८५४ क्षामाय
८५५ सुपर्णाय
८५६ वायुवाहनाय
८५७ धनुर्धराय
८५८ धनुर्वेदाय
८५९ दण्डाय
८६० दमयित्रे
८६१ दमाय
८६२ अपराजिताय
८६३ सर्वसहाय
८६४ नियन्त्रे
८६५ अनियमाय
८६६ अयमाय
८६७ सत्त्ववते
८६८ सात्त्विकाय
८६९ सत्याय
८७० सत्यधर्मपरायणाय
८७१ अभिप्रायाय
८७२ प्रियार्हाय
८७३ अर्हाय
८७४ प्रियकृते
८७५ प्रीतिवर्धनाय
८७६ विहायसगतये
८७७ ज्योतिषे
८७८ सुरुचये
८७९ हुतभुजे
८८० विभवे
८८१ रवये
८८२ विरोचनाय
८८३ सूर्याय
८८४ सवित्रे
८८५ रविलोचनाय
८८६ अनन्ताय
८८७ हुतभुजे
८८८ भोक्त्रे
८८९ सुखदाय
८९० नैकजाय
८९१ अग्रजाय
८९२ अनिर्विण्णाय
८९३ सदामर्षिणे
८९४ लोकाधिष्ठानाय
८९५ अद्भुताय
८९६ सनात्
८९७ सनातनतमाय
८९८ कपिलाय
८९९ कपये
९०० अप्ययाय
९०१ स्वस्तिदाय
००२ स्वस्तिकृते
९०३ स्वस्तये
९०४ स्वस्तिभुजे
९०५ स्वस्तिदक्षिणाय
९०६ अरौद्राय
९०७ कुण्डलिने
९०८ चक्रिणे
९०९ विक्रमिणे
९१० ऊर्जितशासनाय
९११ शब्दातिगाय
९१२ शब्दसहाय
९१३ शिशिराय
९१४ शर्वरीकराय
९१५ अक्रूराय
९१६ पेशलाय
९१७ दक्षाय

९१८ दक्षिणाय
९१९ क्षमिणां वराय
९२० विद्वत्तमाय
९२१ वीतभयाय
९२२ पुण्यश्रवणकीर्तनाय
९२३ उत्तारणाय
९२४ दुष्कृतिघ्ने
९२५ पुण्याय
९२६ दुःस्वप्ननाशनाय
९२७ वीरघ्ने
९२८ सन्ताय
९२९ रक्षणाय
९३० जीवनाय
९३१ पर्यवस्थिताय
९३२ अनन्तरूपाय
९३३ अनन्तश्रिये
९३४ जितमन्यवे
९३५ भयापहाय
९३६ चतुरश्राय
९३७ गभीरात्मने
९३८ विदिशाय
९३९ व्यादिशाय
९४० दिशाय
९४१ अनादये
९४२ भूर्भुवाय
९४३ लक्ष्म्यै
९४४ सुवीराय
९४५ रुचिरांगदाय
९४६ जननाय
९४७ जनजन्मादये
९४८ भीमाय
९४९ भीमपराक्रमाय
९५० आधारनिलयाय
९५१ अधात्रे
९५२ पुष्पहासाय
९५३ प्रजागराय
९५४ ऊर्ध्वगाय
९५५ सत्पथाचाराय
९५६ प्राणदाय
९५७ प्रणवाय
९५८ पणाय
९५९ प्रमाणाय
९६० प्राणनिलयाय
९६१ प्राणभृते
९६२ प्राणजीवनाय
९६३ तत्त्वाय
९६४ तत्त्वविदे
९६५ एकात्मने
९६६ जन्ममृत्युजरातिगाय
९६७ भूर्भुवःस्वस्तरवे
९६८ ताराय
९६९ सवित्रे
९७० प्रपितामहाय
९७१ यज्ञाय
९७२ महापतये
९७३ यज्वने
९७४ यज्ञाङ्गाय
९७५ यज्ञवाहनाय
९७६ यज्ञभृते
९७७ यज्ञकृते
९७८ यज्ञिनें
९७९ यज्ञभुजे
९८० यज्ञसाधनाय
९८१ यज्ञान्तकृते
९८२ यज्ञगुह्याय
९८३ अन्नाय
९८४ अन्नादाय
९८५ आत्मयोनये
९८६ स्वयंजाताय
९८७ वैखानाय
९८८ सामगायनाय
९८९ देवकीनन्दनाय
९९० स्रष्ट्रे
९९१ क्षितीशाय
९९२ पापनाशनाय
९९३ शङ्खभृते
९९४ नन्दकिने
९९५ चक्रिणे
९९६ शाङ्‌र्गधन्वने
९९७ गदाधराय
९९८ रथांगपाणये
९९९ अक्षोभ्याय
१००० सर्वप्रहरणायुधाय



द्वितीयं परिशिष्टम्

श्रीविष्णुसहस्रनाम्नां वर्णानुपूर्वी सूची

नाम	संख्या	श्लोक	नाम	संख्या	श्लोक	नाम	संख्या	श्लोक
अक्रूरः	९१५	१११	अन्नम्	९८३	११८	अप्रमेयः	४६	१९
अक्षरः	१७	१५	अनघः	१४६	२९	अप्रमेयात्मा	२४८	४०
अक्षरम्	४८१	६४	अनघः	८३१	१०२	अभिप्रायः	८७१	१०६
अक्षोभ्यः	८०१	९९	अनयः	४००	५६	अभूः (भूः)	४३७	६०
अक्षोभ्यः	९९९	१२०	अनर्थः	४३१	५९	अम्भोनिधिः	५१७	६८
अग्रजः	८९१	१०८	अनलः	७११	८९	अमरप्रभुः	४९	१९
अग्रणीः	२१८	३७	अनलः	२९३	४५	अमानी	७४७	९६
अग्राह्यः	५५	२०	अन्नादः	९८४	११८	अमितविक्रमः	६४१	८१
अच्युतः	३१८	४८	अनादिः	९४१	११४	अमितविक्रमः	५१६	६८
अच्युतः	१००	२४	अनादिनिधनः	४२	१८	अमिताशनः	३७२	५३
अचलः	७४५	९२	अनामयः	६८९	८६	अमृतवपुः	८१४	१००
अचिन्त्यः	८३२	१०२	अनिर्देश्यवपुः	१७७	३२	अमृतः	११९	२६
अजः	५२१	६९	अनिर्देश्यवपुः	६५६	८३	अमृताशः	८१३	१००
अजः	२०४	३५	अनिमिषः	२१५	३६	अमृतांशूद्भवः	२८३	४४
अजः	९५	२४	अनियमः	८९५	१०५	अमृतपः	५०४	६७
अजितः	५४९	७२	अनिर्विण्णः	४३५	६०	अमृत्युः	१९८	३५
अणुः	८३५	१०३	अनिर्विण्णः	८९२	१०८	अमूर्तिः	८३०	१०२
अतीन्द्रः	१५७	३०	अनिरुद्धः	६३८	८१	अमूर्तिमान्	७२०	९०
अतीन्द्रियः	१६९	३१	अनिरुद्धः	१८५	३३	अमेयात्मा	१७९	३२
अतुलः	३५५	५२	अनिलः	२३४	३८	अमेयात्मा	१०२	२४
अद्भुतः	८९५	१०८	अनिलः	८१२	१००	अमोघः	१५४	३०
अदृश्यः	३०४	४६	अनिवर्ती	५९६	७७	अमोघः	११०	२५
अधाता	९५१	११५	अनिवृतात्मा	७७४	९६	अयमः (यमः)	८६६	१०५
अधिष्ठानम्	३२४	४८	अनीशः	६२६	८०	अर्कः	७९५	९८
अधृतः	८४२	१०३	अनुकूलः	३४२	५०	अर्चितः	६३४	८१
अधोक्षजः	४१५	५७	अनुत्तमः	८०	२२	अर्चिष्मान्	६३३	८१
अन्तकः	५२०	६८	अनेकमूर्तिः	७२१	९०	अर्जितः	१५६	३०
अनन्तः	६५९	८३	अप्ययः	९००	१०९	अर्थः	४३०	५९
अनन्तः	८८६	१०८	अपराजितः	८९२	१०५	अर्जितशासनः	९१०	११०
अनन्तजित्	३०७	४६	अपराजितः	७१६	८९	अर्हः	८७३	१०६
अनन्तरूपः	९३२	११३	अपां निधिः	३२३	४८	अरविन्दाक्षः	३४७	५१
अनन्तश्रीः	९३३	११३	अप्रतिरथः	६३९	८१	अरौद्रः	९०६	११०
अनन्तात्मा	५१८	६८	अप्रमत्तः	३२५	४८	अविधेयात्मा	६२१	७९

नाम	संख्या	श्लोक	नाम	संख्या	श्लोक	नाम	संख्या	श्लोक
अविज्ञाता	४८२	६४	उदीर्णः	६२४	८०	कारणम्	३७९	५४
अविशिष्टः	३०९	४७	उदुम्बरः	८२३	१०१	कालः	४१८	५८
अव्यङ्गः	१२९	२७	उपेन्द्रः	१५१	३०	कालनेमिनिहा	६४२	८२
अव्ययः	१३	१५	ऊर्ध्वगः	८५४	११५	किम्	७२९	९१
अव्यक्तः	७२२	९०	ऋतुः	४१६	५८	कुण्डली	९०७	११०
अशोकः	३३६	५०	ऋद्धः	३५१	५१	कुन्दः	८०९	१००
अश्वत्थः	८२४	१०१	ऋद्धः	२७८	४३	कुन्दरः	८०८	१००
असत्	४७९	६४	एकः	७२५	९१	कुम्भः	६३५	८१
असंख्येयः	२४७	४०	एकपात्	७७२	९५	कुमुदः	८०७	१००
अहः	९०	२३	एकात्मा	९६५	११६	कुमुदः	५८९	७६
अहःसंवर्तकः	२३२	३८	ओजस्तेजो-			कुवलेशयः	५९०	७६
आत्मयोनिः	९८५	११९	द्युतिधरः	२७५	४३	कृतकर्मा	७८८	९७
आत्मवान्	८४	२२	औषधम्	२८७	४४	कृतज्ञः	८२	२२
आदित्यः	३९	१८	कः	७२८	९१	कृतलक्षणः	४८५	६४
आदित्यः	५६३	७३	कथितः	८४८	१०४	कृतज्ञः	५३२	७०
आदिदेवः	४९०	६५	कनकाङ्गदी	५४१	७१	कृतागमः	७८९	९७
आदिदेवः	३३४	४९	कपिः	८९९	१०९	कृतागमः	६५५	८३
आधारनिलयः	९५०	११५	कपिलः	८९८	१०९	कृताकृतः	१३६	२८
आनन्दः	५२६	६९	कपीन्द्रः	५०१	६६	कृतान्तकृत्	५३७	७०
आनन्दी	५६०	७३	कर्ता	३८०	५४	कृतिः	८३	२२
आवर्तनः	२२८	३८	करणम्	३७८	५४	कृशः	८३७	१०३
आश्रमः	८५२	१०४	कविः	१३२	२७	कृष्णः	५७	२०
इज्यः	४४६	६१	क्रतुः	४४८	६१	कृष्णः	५५०	७२
इन्द्रकर्मा	७८६	९७	क्रमः	७९	२२	केशवः	२३	१६
इष्टः	३०८	४७	कान्तः	६५४	८३	केशवः	६४८	८२
ईशानः	६४	२१	कान्तः	२९६	४५	केशिहा	६४९	८२
ईश्वरः	७४	२२	कामः	२९७	४५	क्रोधकृत्कर्ता	३१५	४७
ईश्वरः	३६	१७	कामदेवः	६५१	८३	क्रोधहा	३१४	४७
उग्रः	४२१	५८	कामकृत्	२९५	४५	क्षमः	४४२	६०
उत्तरः	४९४	६६	कामप्रदः	२९८	४५	क्षमिणां वरः	९१९	१११
उत्तारणः	९२६	११२	कामपालः	६५२	८३	क्षरम्	४८०	६४
उद्भवः	७९०	९८	कामहा	२९४	४५	क्षामः	४४३	६०
उद्भवः	३७३	५४	कामी	६५३	८३	क्षामः	८५४	१०४

नाम	संख्या	श्लोक	नाम	संख्या	श्लोक	नाम	संख्या	श्लोक
क्षितीश:	९९१	११९	चतुरश्र:	९३६	११३	जीवन:	९३०	११२
क्षेत्रज्ञ:	१६	१५	चतुर्भाव:	७७०	९५	जेता	१४८	२९
क्षेमकृत्	५९९	७७	चतुर्गति:	७६८	९५	ज्ञानगम्य:	४९७	६६
क्षोभण:	३७४	५४	चतुर्व्यूह:	७६७	९५	ज्ञानमुत्तमम्	४५४	६१
खण्डपरशु:	५९८	७४	चतुर्बाहु:	७६६	९५	ज्येष्ठ:	६७	२१
गतिसत्तम:	५९९	७३	चतुर्भुज:	१४०	२८	ज्योति:	८७७	१०७
गदाग्रज:	७६४	९४	चतुर्मूर्ति:	७६५	९५	ज्योतिर्गणेश्वर:	६१९	७९
गदाधर:	९९७	१२०	चतुर्दंष्ट्र:	१३९	२८	ज्योतिरादित्य:	५६४	७३
गभस्तिनेमि:	४८९	६५	चतुरात्मा	७६९	९५	तत्	७३१	९१
गभीर:	५४३	७१	चतुरात्मा	१३७	२८	तत्त्वम्	९६३	११६
गभीरात्मा	९३७	११३	चतुर्वेदवित्	७७१	९५	तत्त्ववित्	९६४	११६
गरुडध्वज:	३५४	५१	चतुर्व्यूह:	१३८	२८	तन्तुवर्धन:	७८५	९७
गहन:	५४४	७१	चन्दनाङ्गदी	७४०	९२	तार:	३३८	५०
गहन:	३८२	५४	चन्द्रांशु:	२८१	४३	तार:	९६८	११७
ग्रामणी:	२१९	३७	चल:	७४६	९२	तारण:	३३७	५०
गुणभृत्	८३९	१०३	चाणूरान्ध्रनिषूदन:	८२५	१०१	तीर्थंकर:	६९१	८७
गुप्त:	५४५	७१	छिन्नसंशय:	६२३	७९	तुष्ट:	३९१	५५
गुरु:	२०९	३६	जगत:सेतु:	२८८	४४	तेजोवृष:	७५७	९४
गुरुतम:	२१०	३६	जगदादिज:	१४५	२९	त्रिककुब्धाम	६१	२०
गुह:	३८३	५४	जनन:	९४१	११४	त्रिदशाध्यक्ष:	५३५	७०
गुह्य:	५४२	७१	जनजन्मादि:	९४७	११४	त्रिपद:	५३४	७०
गोपति:	५९२	७६	जन्ममृत्युजरातिग:	९६६	११६	त्रिविक्रम:	५३०	६९
गोपति:	४९५	६६	जनार्दन:	१२६	२७	त्रिलोकधृक्	७५१	९३
गोप्ता	५९३	७६	जनेश्वर:	३४१	५०	त्रिलोकात्मा	६४६	८२
गोप्ता	४९६	६६	जय:	५०९	६७	त्रिलोकेश:	६४७	८२
गोविदां पति:	१८८	३३	जयन्त:	७९८	९८	त्रिसामा	५७४	७५
गोविन्द:	१८७	३३	जह्नु:	२४४	३९	त्वष्टा	५२	१९
गोविन्द:	५३९	७१	जितक्रोध:	४६२	६२	दक्ष:	४२३	५८
गोहित:	५९१	७६	जितमन्यु:	९३४	११३	दक्ष:	९१७	१११
घृताशी	७४४	९२	जितामित्र:	५२४	६९	दक्षिण:	९१८	१११
चक्रगदाधर:	५४६	७१	जीव:	५१३	६८	दण्ड:	८५९	१०५
चक्री	९९५	१२०				दम:	८६१	१०५
चक्री	९०८	११०				दमन:	१९०	३४
						दमयिता	८६०	१०५

नाम	संख्या	श्लोक	नाम	संख्या	श्लोक	नाम	संख्या	श्लोक
दर्पदः	७१३	८९	धर्मः	४०३	५६	नारसिंहवपुः	२१	१६
दर्पहा	७१२	८९	धर्मकृत्	४७६	६४	निधिरव्ययः	३०	१७
दामोदरः	३६७	५३	धर्मगुप्	४७५	६४	नियमः	१६१	३०
दारुणः	५६९	७४	धर्मविदुत्तमः	४०४	५६	निवृत्तात्मा	२२९	३८
दाशार्हः	५११	६७	धर्मयूपः	४३८	६०	निवृत्तात्मा	५९७	७७
दिवःस्पृक्	५७१	७४	धर्माध्यक्षः	१३५	२८	नेता	२२९	३७
दिशः	९४०	११३	धर्मी	४७७	६४	नेयः	३९८	५६
दीप्तमूर्तिः	७१९	९०	धरणीधरः	२३५	३८	नैकः	७२६	९१
दुर्जयः	७७५	९६	धाम	२११	३६	नैककर्मकृत्	४६९	६३
दुर्धरः	७१५	८९	धनुर्धरः	८५७	१०५	नैकजः	८९०	१०८
दुर्धरः	२६६	४२	धनुर्वेदः	८५८	१०५	नैकमायः	३०२	४६
दुर्गः	७७९	९६	धराधरः	७५६	९३	नैकरूपः	२७१	४२
दुर्गमः	७७८	९६	धाता	४३	१८	नैकशृङ्गः	७६३	९४
दुर्मर्षणः	२०५	३५	धातुरुत्तमः	४५	१८	नैकात्मा	४६८	६३
दुरतिक्रमः	७७६	९६	ध्रुवः	३८८	५५	न्यग्रोधः	८२२	१०१
दुराधर्षः	८१	२२	धुर्यः	३२९	४९	न्यायः	२२१	३७
दुर्लभः	७७७	९६	धृतात्मा	१६०	३०	प्रकाशनः	२७४	४२
दुरारिहा	७८१	९६	नन्दः	५२८	६८	प्रकाशात्मा	२७६	४३
दुरावासः	७८०	९६	नन्दकी	९९४	१२०	प्रग्रहः	७६०	९४
दुःस्वप्ननाशनः	९२६	११२	नन्दनः	५२७	६९	प्रजागरः	९५३	११५
दुष्कृतिहा	९२४	११२	नन्दिः	६१८	७९	प्रजापतिः	१९७	३४
दृढः	५५१	७२	नक्षत्रनेमिः	४४०	६०	प्रजापतिः	६९	२१
दृप्तः	७१४	८९	नक्षत्री	४४१	६०	प्रजाभवः	८९	२३
द्युतिधरः	७५८	९४	नयः	३९९	५६	प्रणवः	४०९	५७
देवः	३७५	५४	नरः	२४६	३९	प्रणवः	९५७	११५
देवकीनन्दनः	९८९	११९	नहुषः	३१२	४७	प्रतर्दनः	५९	२०
देवभृद्गुरुः	४९३	६५	निग्रह	७६१	९४	प्रत्ययः	९३	२३
देवेशः	४९२	६५	निमिषः	२१४	३६	प्रतापनः	२७७	४३
द्रविणप्रदः	५३०	७४	निर्वाणम्	५७७	७५	प्रतिष्ठितः	३२६	४८
धनञ्जयः	६६०	८३	निष्ठा	५८३	७५	प्रथितः	३१९	४८
धन्यः	७५४	९३	नियन्ता	८६४	१०५	प्रद्युम्नः	६४०	८१
धन्वी	७६	२२	निर्गुणः	८४०	१०३	प्रधानपुरुषेश्वरः	२०	१६
धनेश्वरः	४७४	६३	नारायणः	२४५	३९	प्रपितामहः	९७०	११७

नाम	संख्या	श्लोक
प्रभवः	३४	१७
प्रभुः	३५	१७
प्रभुः	२९९	४५
प्रभूतः	६०	२०
प्रमाणम्	४२८	५९
प्रमाणम्	९५९	११६
प्रमोदनः	५२५	६९
प्रसन्नात्मा	२३७	३९
प्राग्वंशः	८४५	१०३
प्राणः	६६	२१
प्राणः	३२०	४८
प्राणः	४०७	५७
प्राणजीवनः	९६२	११६
प्राणदः	६५	२१
प्राणदः	३२१	४८
प्राणदः	४०८	५७
प्राणदः	९५६	११५
प्राणनिलयः	९६०	११६
प्राणभृत्	९६१	११६
प्रांशुः	१५३	३०
प्रियकृत्	८७४	१०६
प्रियार्हः	८७२	१०६
प्रीतिवर्धनः	८७५	१०६
पणः	९५८	११५
पद्मगर्भः	३४८	५१
पद्मनाभः	४८	१९
पद्मनाभः	१९६	३४
पद्मनाभः	३४६	५१
पद्मनिभेक्षणः	३४५	५०
पद्मी	३४४	५०
पदमनुत्तमम्	७३२	९१
परमस्पष्टः	३९०	५५
परमात्मा	११	१५
परमेश्वरः	३७७	५४
परमेष्ठी	४१९	५८
परर्द्धिः	३८९	५५
परायणम्	५८५	७५
परिग्रहः	४२०	५८
पर्जन्यः	८१०	१००
पर्यवस्थितः	९३१	११२
पवनः	२९१	४५
पवित्रम्	६२	२०
पापनाशनः	९९२	११९
पावनः	२९२	४५
पावनः	८११	१००
पुण्डरीकाक्षः	१११	२५
पुण्यः	६८७	८६
पुण्यः	९२५	११२
पुण्यकीर्तिः	६८८	८६
पुण्यश्रवण-कीर्तनः	९२२	१११
पुनर्वसुः	१५०	२९
पुरन्दरः	३३५	४९
पुरातनः	४९८	६६
पुरुजित्	५०६	६७
पुरुषः	१४	१५
पुरुषः	४०६	५७
पुरुषोत्तमः	२४	१६
पुरुसत्तमः	५०७	६७
पुष्कराक्षः	४०	१८
पुष्कराक्षः	५५६	७२
पुष्टः	३९२	५५
पुष्पहासः	९५२	११५
पूतात्मा	१०	१५
पूर्णः	६८५	८६
पूरयिता	६८६	८६
पृथुः	४१०	५७
पेशलः	९१६	१११
बभ्रुः	११६	२६
बहुशिरा	११५	२६
ब्रह्म	६६४	८४
ब्रह्मा	६६३	८४
ब्रह्मकृत्	६६२	८४
ब्रह्मविवर्धनः	६६५	८४
ब्रह्मण्यः	६६१	८४
ब्रह्मज्ञः	६६९	८४
ब्रह्मी	६६८	८४
ब्राह्मणः	६६७	८४
ब्राह्मणप्रियः	६७०	८४
ब्रह्मवित्	६६६	८४
बृहत्	८३६	१०३
बृहद्भानुः	३३३	४९
बृहद्रूपः	२७२	४२
भ्राजिष्णुः	१४१	२८
भर्ता	३३	१७
भक्तवत्सलः	७३६	९१
भगवान्	५५८	७३
भगहा	५५९	७३
भयकृत्	८३३	१०२
भयनाशनः	८३४	१०२
भयापहः	९३५	११३
भानुः	२८४	४४
भारभृत्	८४७	१०४
भावः	७	१४
भावनः	३२	१७
भास्करद्युतिः	२८२	४३
भिषक्	५७९	७५
भीमः	३५७	५२
भीमः	९४८	११४

नाम	संख्या	श्लोक	नाम	संख्या	श्लोक	नाम	संख्या	श्लोक
भीमपराक्रमः	९४९	११४	महर्षिकपिला-			महाहविः	६७८	८५
भुजगोत्तमः	१९३	३४	चार्यः	५३१	७०	महाबलः	१७२	३१
भूगर्भः	७१	२१	महाक्षः	३५३	५१	महाबुद्धिः	१७३	३२
भूतभव्यभवत्प्रभुः	४	१४	महाकर्मा	६७२	८५	महाह्रदः	८०३	९९
भूतभव्यभव-			महाकर्मा	७८७	९७	महीधरः	३१७	४७
न्नाथः	२९०	४५	महाक्रतुः	६७५	८५	महीधरः	३६९	५३
भूतमहेश्वरः	४८९	६५	महाक्रमः	६७१	८५	महीभर्ता	१८२	३३
भूतावासः	७०८	८९	महाकोशः	४३२	५९	महेज्यः	४४७	६१
भूतिः	६३०	८०	महागर्तः	८०४	९९	महेन्द्रः	२६८	४२
भूतकृत्	५	१४	महातपाः	१२२	२६	महेष्वासः	१८१	३३
भूतभृत्	६	१४	महातेजाः	६७३	८५	महोत्साहः	१७१	३१
भूतात्मा	८	१४	महादेवः	४९१	६५	महोदधिशयः	५१९	५८
भूतभावनः	९	१४	महाद्रिधृक्	१८०	३२	महोरगः	६७४	८५
भूतादिः	२९	१७	महाद्युतिः	१७६	३२	मार्गः	३९७	५६
भूर्भुवः	९४२	११४	महाधनः	४३४	५९	मार्गः	३६५	५३
भूर्भुवःस्वस्तरुः	९६७	११७	महान्	८४१	१०३	माधवः	७३५	९१
भूरिदक्षिणः	५०२	६६	महानिधिः	८०६	९९	माधवः	७१	२१
भूशयः	६२८	८०	महाभागः	३७०	५३	माधवः	१६७	३१
भूषणः	६२९	८०	महाभूतः	८०५	९९	मान्यः	७४९	९३
भेषजम्	५७८	७५	महाभोगः	४३३	५९	मानदः	७४८	९३
भोक्ता	१४३	२९	महामखः	४३९	६०	मुक्तानां परमा-		
भोक्ता	५००	६६	महामनाः	५५७	७२	गतिः	१२	१५
भोक्ता	८८८	१०८	महामायः	१७०	३१	मुकुन्दः	५१५	६८
भोजनम्	१४२	२९	महामूर्तिः	७१८	९०	मेदिनीपतिः	५३३	७०
मङ्गलं परम्	६३	२०	महायज्ञः	६७७	८५	मेधावी	७७	२२
मधुः	१६८	३१	महायज्वा	६७६	८५	मेधजः	७५३	९३
मधुसूदनः	७३	२१	महार्हः	५२२	६९	यत्	७३०	९१
मन्त्रः	२८०	४३	महावराहः	५३८	७१	यज्वा	९७३	११७
मनुः	५१	१९	महावीर्यः	१७४	३२	यज्ञः	४४५	६१
मनोजवः	६९०	८७	महाशक्तिः	१७५	३२	यज्ञः	९७१	११७
मनोहरः	४६१	६२	महाशनः	३०३	४६	यज्ञकृत्	९७७	११८
मरीचिः	१८९	३४	महाशृङ्गः	५३६	७०	यज्ञगुह्यम्	९८२	११८
महर्द्धिः	३५०	५१	महास्वनः	४१	१८	यज्ञभुक्	९७९	११८

नाम	संख्या	श्लोक	नाम	संख्या	श्लोक	नाम	संख्या	श्लोक
यज्ञभृत्	९७६	११८	लोकाध्यक्षः	१३३	२८	वायुवाहनः	३३१	४९
यज्ञपतिः	९७२	११७	लोकाधिष्ठानम्	८९४	१०८	वायुवाहनः	८५६	१०४
यज्ञवाहनः	९७५	११७	लोहिताक्षः	५८	२०	वासवानुजः	३२२	४८
यज्ञसाधनः	९८०	११८	वत्सरः	४७०	६३	वासुदेवः	३३२	४९
यज्ञाङ्गः	९७४	११७	वत्सलः	४७१	६३	वासुदेवः	६९५	८७
यज्ञान्तकृत्	९८१	११८	वत्सी	४७२	६३	वासुदेवः	७०९	८९
यज्ञी	९७८	११८	वनमाली	५६१	७३	विक्रमः	७८	२२
यमः	१६२	३०	वरदः	३३०	४९	विक्रमी	७५	२२
युगादिकृत्	३००	४६	वर्धनः	२६१	४१	विक्रमी	९०९	११०
युगावर्तः	३०१	४६	वर्धमानः	२६२	४१	विकर्ता	३८१	५४
यदुश्रेष्ठः	७०५	८८	वराङ्गः	७३९	९२	विक्षरः	३६३	५३
योगः	१८	१६	वरारोहः	१२१	२६	विजयः	१४७	२९
योगविदां नेता	१९	१६	वरुणः	५५३	७२	विजितात्मा	६२०	७९
योगी	८४९	१०४	वषट्कारः	३	१४	विद्वत्तमः	९२०	१११
योगीशः	८५०	१०४	वसुः	१०४	२५	विदारणः	४६४	६२
रक्षणः	९२८	११२	वसुः	२७०	४२	विदिशः	९३८	११३
रणप्रियः	६८४	८६	वसुः	६९६	८७	विधाता	४४	१८
रत्नगर्भः	४७३	६३	वसुदः	२६९	४२	विधाता	४८४	६४
रत्ननाभः	७९३	९८	वसुमनाः	१०५	२५	विनयः	५०८	६७
रथाङ्गपाणिः	९९८	१२०	वसुमनाः	६९७	८७	विनयितासाक्षी	५१४	६८
रविः	८८१	१०७	वसुप्रदः	६९३	८७	विभुः	२४०	३९
रविलोचनः	८८५	१०७	वसुप्रदः	६९४	८७	विभुः	८८०	१०७
रामः	३९४	५६	वसुरेताः	६९२	८७	विमुक्तात्मा	४५२	६१
रुचिराङ्गदः	९४५	११४	वह्निः	२३३	३८	विरतः	३९६	५६
रुद्रः	११४	२६	वाग्मी	२६७	४२	विरामः	३९५	५६
रोहितः	३६४	५३	वाचस्पतिरयोनिजः	५७३	७४	विरोचनः	८८२	१०७
लक्ष्मीः	९४३	११४	वाचस्पतिरुदारधीः	२१७	३६	विविक्तः	२६३	४१
लक्ष्मीवान्	३६१	५२	वारुणः	५५४	७२	विश्वम्	१	१४
लोकनाथः	७३४	९१	वाजसनः	७९६	९८	विश्वकर्मा	५०	१९
लोकबन्धुः	७३३	९१	वामनः	१५२	३०	विश्रामः	४२४	५८
लोकस्वामी	७५०	९३	वायुः	४१४	५७	विश्रुतात्मा	२०७	३५
लोकसारङ्गः	७८३	९७				विश्वदक्षिणः	४२५	५८
लोकत्रयाश्रयः	६१५	७८				विश्वधृक्	२३८	३९

नाम	संख्या	श्लोक	नाम	संख्या	श्लोक	नाम	संख्या	श्लोक
विश्वबाहुः	३१६	४७	वृषभाक्षः	५६४	७६	शब्दसहः	६१२	११०
विश्वभुक्	२३६	३६	वृषाकपिः	१०१	२४	शब्दातिगः	६११	११०
विश्वमूर्तिः	७१७	६०	वृषाकृतिः	११३	२५	शम्भुः	३८	१८
विश्वयोनिः	११७	२६	वृषाही	२५६	४१	शमः	५८१	७५
विश्वयोनिः	१४६	२६	वृषोदरः	२६०	४१	शरणम्	८६	२३
विश्वरेताः	८८	२३	वेगवान्	३७१	५३	शरभः	३५६	५२
विश्वात्मा	२२५	३७	वेदः	१२७	२७	शर्म	८७	२३
विशिष्टः	२४६	४०	वेदवित्	१२८	२७	शर्वः	२६	१७
विशुद्धात्मा	६३६	८१	वेदवित्	१३१	२७	शर्वरीकरः	६१४	११०
विशोकः	६३१	८०	वेदाङ्गः	१३०	२७	शरीरभृत्	३४६	५१
विशोधनः	६३७	८१	वेद्यः	१६३	३१	शरीरभूतभृत्	४६६	६६
विष्णुः	२	१४	वेधाः	५४७	७२	शशबिन्दुः	२८५	४४
विष्णुः	२५८	४१	वैकुण्ठः	४०५	५७	शान्तः	५८२	७५
विष्णुः	६५७	८३	वैखानः	६८७	११६	शान्तिः	५८४	७५
विश्वक्सेनः	१२५	२७	वंद्यः	१६४	३१	शान्तिदः	५८७	७६
विषमः	७४२	६२	व्यक्तरूपः	३०५	४६	शार्ङ्गधन्वा	६६६	१२०
विस्तारः	४२६	५६	व्यग्रः	७६२	६४	शाश्वतः	५६	२०
विहायसगतिः	८७६	१०७	व्यवसायः	३८४	५५	शाश्वतस्थाणुः	१२०	२६
वीतभयः	६२१	१११	व्यवस्थानः	३८५	५५	शाश्वतस्थिरः	६२७	८०
वीरः	४०१	५६	व्यादिशः	६३६	११३	शास्ता	२०६	३५
वीरः	६४३	८२	व्याप्तः	४१३	५७	शिखण्डी	३११	४७
वीरः	६५८	८३	व्यापी	४६७	६३	शिपिविष्टः	२७३	४२
वीरबाहुः	४६३	६२	व्यालः	६२	२३	शिवः	२७	१७
वीरहा	१६६	३१	वंशवर्धनः	८४६	१०३	शिवः	६००	७७
वीरहा	७४१	६२	शक्तिमतां श्रेष्ठः	४०२	५६	शिशिरः	६१३	११०
वीरहा	६२७	११२	शङ्खभृत्	६६३	१२०	शिष्टकृत्	२५०	४०
वृक्षः	५५५	७२	शत्रुघ्नः	४१२	५७	शिष्टेष्टः	३१०	४७
वृद्धात्मा	३५२	५१	शत्रुजित्	८२०	१०१	शुचिः	१५५	३०
वृषः	३१३	४७	शत्रुतापनः	८२१	१०१	शुचिः	२५१	४०
वृषकर्मा	११२	२५	शतमूर्तिः	७२३	६०	शुचिश्रवाः	११८	२६
वृषपर्वा	२५६	४१	शतानन्दः	६१७	७६	शुभाङ्गः	५८६	७६
वृषप्रियः	५६५	७६	शताननः	७२४	६०	शुभाङ्गः	७८२	६७
वृषभः	२५७	४१	शतावर्तः	३४३	५०	शुभेक्षणः	३६३	५५

नाम	संख्या	श्लोक	नाम	संख्या	श्लोक	नाम	संख्या	श्लोक
शून्यः	७४३	९२	सत्कर्ता	२४१	३९	सनातनतमः	८९७	१०९
शूरः	३३९	५०	सत्कीर्तिः	६२२	७९	सम्प्रमर्दनः	२३१	३८
शूरजनेश्वरः	६४५	८२	सत्कृत.	२४२	३९	सम्भवः	३१	१७
शूरसेनः	७०४	८८	सत्कृतिः	७००	८८	समः	१०९	२५
शृङ्गी	७९७	९८	सत्ता	७०१	८८	समयज्ञः	३५८	५२
शोकनाशनः	६३२	८०	सत्पथाचारः	९५५	११५	समात्मा	१०७	२५
शौरिः	३४०	५०	सत्परायणः	७०३	८८	समावर्तः	७७३	९६
शौरिः	६४४	८२	सत्यः	१०६	२५	सम्मितः	१०८	२५
श्रमणः	८५३	१०४	सत्यः	२१२	३६	समितिञ्जयः	३६२	५२
श्रीकरः	६११	७८	सत्यः	८६९	१०६	समीरणः	२२३	३७
श्रीगर्भः	३७६	५४	सत्यधर्मा	५२९	६९	समीहनः	४४४	६०
श्रीदः	६०५	७८	सत्यधर्म-			सर्गः	१५९	३०
श्रीधरः	६१०	७८	पराक्रमः	२८९	४४	सप्तजिह्वः	८२७	१०२
श्रीनिधिः	६०८	७८	सत्यधर्मपरा-			सप्तवाहनः	८२९	१०२
श्रीनिवासः	१८३	३३	यणः	८७०	१०६	सप्तैधाः	८२८	१०२
श्रीनिवासः	६०७	७८	सत्यपराक्रमः	२१३	३६	सर्वः	२५	१७
श्रीपतिः	६०३	७७	सत्यमेधाः	७५५	९३	सर्वकामदः	८५१	१०४
श्रीमतां वरः	६०४	७७	सत्यसन्धः	५१०	६७	सर्वगः	१२३	२७
श्रीमान्	२२	१६	सत्रम्	४४९	६१	सर्वतोमुखः	८१६	१००
श्रीमान्	२२०	३७	सत्त्ववान्	८६७	१०६	सर्ववागी-		
श्रीमान्	६१३	७८	सत्त्वस्थः	४८७	६५	श्वरेश्वरः	८०२	९९
श्रीमान्	७७८	९२	सतांगतिः	१८४	३३	सर्वविज्जयी	७९९	९८
श्रीवत्सवक्षाः	६०१	७७	सतांगतिः	४५०	६१	सर्वज्ञः	४५३	६१
श्रीवासः	६०२	७७	सद्गतिः	६९९	८८	सर्वज्ञः	८१५	१००
श्रीविभावनः	६०९	७८	सद्भूतिः	७०२	८८	सर्वदर्शनः	९४	२३
श्रीशः	६०६	७८	सदामर्षी	८९३	१०८	सर्वदर्शी	४५१	६१
श्रुतिसागरः	२६४	४१	सदायोगी	१६५	३१	सर्वदृक्	१९९	३५
श्रेयः	६१२	७८	सन्तः	९२९	११२	सर्वदृग्व्यासः	५७२	७४
श्रेष्ठः	६८	२१	सन्धाता	२०१	३५	सर्वतश्चक्षुः	६२५	८०
सङ्कर्षणोऽच्युतः	५५२	७२	सन्धिमान्	२०२	३५	सर्वप्रहरणा-		
सङ्क्षेप्ता	५९८	७७	संन्यासकृत्	५८०	७५	युधः	१०००	१२०
सङ्ग्रहः	१५८	३०	सन्निवासः	७०६	८८	सर्वयोगविनिः-		
सत्	४७८	६४	सनात्	८९६	१०९	सृतः	१०३	२४

नाम	संख्या	श्लोक	नाम	संख्या	श्लोक	नाम	संख्या	श्लोक
सर्वलक्षणल-			स्थविष्ठः	५३	१९	सिद्धः	८१९	१०१
क्षण्यः	३६०	५२	स्थविष्ठः	४३६	६०	सिद्धः	९७	२४
सर्वशस्त्रभृतां-			स्थाणुः	२८	१७	सिद्धसंकल्पः	२५३	४०
वरः	७५९	९४	स्थानदः	३८७	५५	सिद्धार्थः	२५२	४०
सर्वसहः	८६३	१०५	स्थावरस्थाणुः	४२७	५९	सिद्धिः	९८	२४
सर्वादिः	९९	२४	स्थिरः	२०३	३५	सिद्धिदः	२५४	४०
सर्वविद्भानुः	१२४	२७	स्थूलः	८३८	१०३	सिद्धिसाधनः	२५५	४०
सर्वासुनिलयः	७१०	८९	स्पष्टाक्षरः	२७९	४३	सिंहः	२००	३५
सर्वेश्वरः	९६	२४	स्रग्वी	२१६	३६	सिंहः	४८८	६५
सवः	७२७	९१	स्रष्टा	५८८	७६	सुखदः	४५९	६२
सविता	८८४	१०७	स्रष्टा	९९०	११९	सुखदः	८८९	१०८
सविता	९६९	११७	स्वक्षः	६१५	७९	सुघोषः	४५८	६२
सहः	३६८	५३	स्वङ्गः	६१६	७९	सुतन्तुः	७८४	९७
सहस्रांशुः	४८३	६४	स्वस्ति	९०३	१०९	सुन्दः	७९२	९८
सहिष्णुः	१४४	२९	स्वस्तिकृत्	९०२	१०९	सुन्दरः	७९१	९८
सहिष्णुः	५६५	७३	स्वस्तिदः	९०१	१०९	सुतपाः	१९५	३४
सहस्रजित्	३०६	४६	स्वस्तिदक्षिणः	९०५	१०९	सुदर्शनः	४१७	५८
सहस्रार्चिः	८२६	१०२	स्वस्तिभुक्	९०४	१०९	सुधन्वा	५६७	७४
सहस्रमूर्धा	२२४	३७	स्वधृतः	८४३	१०३	सुपर्णः	१९२	३४
सहस्रपात्	२२७	३७	स्वाङ्गः	५४८	७२	सुपर्णः	८५५	१०४
सहस्राक्षः	२२६	३७	स्ववशः	४६६	६३	सुप्रसादः	२३६	३९
संस्थानः	३८६	५५	स्वयंजातः	९८६	११९	सुभुजः	२६५	४२
संवत्सरः	९१	२३	स्वयम्भूः	३७	१८	सुमुखः	४५६	६२
संवत्सरः	४२२	५८	स्वापनः	४६५	६३	सुमेधाः	७५२	९३
संवृतः	२३०	३८	स्वाभाव्यः	४२३	६९	सुयामुनः	७०७	८८
स्कन्दः	३२७	४९	स्वास्यः	८४४	१०३	सुराध्यक्षः	१३४	२८
स्कन्दधरः	३२८	४९	साक्षी	१५	१५	सुरानन्दः	१८६	३३
स्तव्यः	६७९	८६	सात्वतां पतिः	५१२	६७	सुरारिहा	२०८	३५
स्तवप्रियः	६८०	८६	सात्त्विकः	८६८	१०६	सुरुचिः	८७८	१०७
स्तुतिः	६८२	८६	साधुः	२४३	३९	सुरेशः	८५	२३
स्तोता	६८३	८६	साम	५७६	७५	सुरेश्वरः	२८६	४४
स्तोत्रम्	६८१	८६	सामगः	५७५	७५	सुलभः	८१७	१०१
स्थविरःध्रुवः	५४	१९	सामगायनः	९८८	११९	सुलोचनः	७९४	९८

नाम	संख्या	श्लोक	नाम	संख्या	श्लोक	नाम	संख्या	श्लोक
सुवर्णवर्णः	७३७	९२	सूर्यः	८८३	१०७	हिरण्यगर्भः	४११	५७
सुवर्णविन्दुः	८००	९९	सोमः	५०५	६७	हिरण्यगर्भः	७०	२१
सुवीरः	९४४	११४	सोमपः	५०३	६७	हिरण्यनाभः	१९४	३४
सुव्रतः	४५५	६२	हंसः	१९१	३४	हृषीकेशः	४७	१९
सुव्रतः	८१८	१०१	हरिः	६५०	८२	हुतभुक्	८७९	१०७
सुषेणः	५४०	७१	हलायुधः	५६२	७३	हुतभुक्	८८७	१०८
सुहृत्	४६०	६२	हविः	६९८	८७	हेतुः	३९६	५३
सूक्ष्मः	४५७	६२	हविर्हरिः	३५१	५२	हेमाङ्गः	७३८	९२

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट

द्वारा

प्रकाशित और प्रसारित ग्रन्थ

वेद-विषयक-ग्रन्थ

१. **यजुर्वेदभाष्य-विवरण (प्रथम भाग)**—इस ग्रन्थ में महर्षि दयानन्द प्रणीत यजुर्वेदभाष्य के प्रथम दस अध्यायों पर ऋषिभक्त वेदमर्मज्ञ स्वर्गीय श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। मूल वेदभाष्य को ऋषि के हस्तलेखों से मिलान करके छापा गया है। विस्तृत भूमिका तथा वेदविषयक विविध टिप्पणियों से युक्त। सुन्दर मुद्रण, सुदृढ़ जिल्द। मू० १६-००

द्वितीय भाग छप रहा है।

२. **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**—लेखक महर्षि दयानन्द सरस्वती। पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा संपादित, मोटे टाइप, बड़े आकार में सुन्दर शुद्ध और सटिप्पण संस्करण। मू० १२-००

भूमिका पर किए गए आक्षेपों के उत्तर के लिए परिशिष्ट १-५०

३. **माध्यन्दिनपदपाठः**—सं० युधिष्ठिर मीमांसक। तीन अवान्तर पाठ, विस्तृत उपोद्घात एवं ५ परिशिष्ट सहित। मूल्य २५-००

४. **वैदिक-स्वर-मीमांसा**—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। संशोधित परिवर्धित द्वितीय संस्करण। वैदिक-स्वर-विषयक सर्वश्रेष्ठ विवेचनात्मक ग्रन्थ। उत्तरप्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत। मू० ४-००

५. **वैदिक छन्दोमीमांसा**—लेखक पं० युधिष्ठिर मीमांसक। वैदिक छन्दः सम्बन्धी विवेचनात्मक सर्वोत्तम ग्रन्थ। उत्तरप्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत। ४-५०

६. **निरुक्तकार और वेद में इतिहास**—ले० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। ०-५०

७. **वेद में आर्य-दास युद्ध सम्बन्धी पाश्चात्यमत का खण्डन**— ले० प० रामगोपाल शास्त्री वैद्य। मूल्य ०-७५

८. **वेद में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कन प्रकार**—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य सजिल्द ३-०० अजिल्द १-५०,

कर्मकाण्ड-सम्बन्धी ग्रन्थ

९. **संस्कारविधि**—ले० महर्षि दयानन्द सरस्वती। द्वितीय संस्करण पर आधृत, अजमेर-मुद्रित संस्करणों के दोषों से रहित; टिप्पणियों से युक्त। मू० १-७५, सजिल्द २-२५

१०. **संस्कार-समुच्चय**—लेखक पं० मदनमोहन विद्यासागर। संस्कारविधि की व्याख्या तथा परिशिष्ट में अनेक समयोपयोगी कर्मों का संग्रह। सजिल्द मूल्य १२-००

११. वैदिक नित्यकर्म विधि—ले० युधिष्ठिर मीमांसक। प्रातः से शयन पर्यन्त समस्त नैत्यिक कर्म, पञ्चमहायज्ञ, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, और बृहद्यज्ञ के मन्त्रों के विस्तृत सरल शब्दार्थ भावार्थ सहित, प्रार्थना के मन्त्र, पद्य एवं भजनों से युक्त। मूल्य लागतमात्र १-२५

१२. पंचमहायज्ञविधि—ले० ऋषिदयानन्द सरस्वती। मू० ०-३५

१३. हवनमन्त्र—ले० ऋषि दयानन्द सरस्वती। मूल्य ०-१०

१४. सन्ध्योपासनविधि— ,, भाषार्थ सहित मू० ०-१५

१५. सन्ध्योपासनविधि—दैनिक हवन-मन्त्र सहित। मू० ०-२०

शिक्षा-निरुक्त-व्याकरण-सम्बन्धी ग्रन्थ

१६. निरुक्त-शास्त्र—पं० भगवद्दत्त कृत नैरुक्त-प्रक्रियानुसारी हिन्दीभाष्य सहित। मू० १५-००

१७. निरुक्तसमुच्चयः—आचार्य वररुचिकृत नैरुक्तसम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रन्थ। सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक मू० ५-००

१८. अष्टाध्यायी सूत्रपाठः—पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा परिशोधित संस्करण। मूल्य ०-७५

१९. धातुपाठः—अकारादि क्रम से धातु सूची सहित। मू० १-००

२०. संस्कृत-धातुकोषः—सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। अकारादि क्रम से पाणिनीय अर्थ सहित धातुओं के हिन्दी में विविध अर्थ तथा उपसर्ग योग से प्रयुज्यमान विविध अर्थ सहित। मू० ३-००

२१. अष्टाध्यायी भाष्य—(प्रथमावृत्ति) ले० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्ति समास अनुवृत्ति, वृत्ति उदाहरण, उदाहरण-सिद्धि सहित संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में। प्रथम भाग—१२-००, द्वितीय भाग—१०-००, तृतीय भाग—१०-००।

२२. संस्कृत पठनपाठन की अनुभूत सरलतम विधि—ले० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। इस ग्रन्थ के द्वारा बिना रटे संस्कृत भाषा और पाणिनीय व्याकरण का बोध कराया गया है। प्रथम भाग ३-५०

द्वितीय भाग—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग के निर्देशों के अनुसार। मू० ५-५०

२३. लिट् और लुङ् लकार की रूप-बोधक सरलविधि—ले० राजा गोविन्दलाल बंसीलाल। मूल्य १-५०

२४. शब्दरूपावली—ले० प० युधिष्ठिर मीमांसक। इस ग्रन्थ के द्वारा शब्दों के रूप बिना रटे समझ पूर्वक बड़ी सुगमता से स्मरण हो जाते हैं। ०-७५

अध्यात्मविषयक ग्रन्थ

२५. अनासक्ति-योग—मोक्ष की पगदण्डी—ले० पं० जगन्नाथ पथिक। नाम के अनुरूप योगविषयक अत्युत्तम ग्रन्थ। मूल्य १०-००

२६. आर्याभिविनय—लेखक ऋषि दयानन्द सरस्वती। दुरंगी छपाई गुटका आकार।
मू० सजिल्द १-००

२७. वैदिक ईश्वरोपासना—पातञ्जल योगदर्शन के अत्युपयोगी सूत्रों की ऋषि दयानन्दकृत व्याख्या। आर्ट पेपर पर सुन्दर दुरङ्गी छपाई, मुख पृष्ठ पर आकर्षक ऋषि-चित्र।
मू० ०-३०

२८. अगम्य पन्थ के यात्री को आत्मदर्शन—ले० चंचल बहिन पाठक।
मूल्य २-००

इतिहास व नीतिविषयक ग्रन्थ

२९. वाल्मीकि-रामायण—हिन्दी-अनुवाद सहित। अनुवादक तथा परिशोधक—श्री पं० अखिलानन्द झरिया। बालकाण्ड मू० २-५०। अयोध्याकाण्ड मू० ३-५०। अरण्य-किष्किन्धाकाण्ड मू० ४-५०। सुन्दरकाण्ड मू० २-७५। युद्धकाण्ड छप रहा है।

३०. विदुरनीति—नीतिविषयक प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थ पदार्थ तथा विस्तृत हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याता पं० युधिष्ठिर मीमांसक। ४०० पृष्ठ, सुन्दर छपाई। प्रचारार्थ अल्प मूल्य।
मू० ४-५०

३१. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। ग्रन्थ में आज तक के प्रमुख वैयाकरणों तथा उनके ग्रन्थों का इतिहास दिया गया है। मू० भाग १, १५-००, भाग २, अप्राप्य

३२. ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्म-चरित।
मू० ०-५०

३३. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन परिशिष्ट सहित—सं० पं० भगवद्दत्त।
मू० ७-७५

३४. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन—ले० प्रो० भवानीलाल भारतीय एम० ए०, पी-एच० डी०। मू० सजिल्द ६-०० मात्र

३५. पूना-प्रवचन (उपदेश-मञ्जरी)—ऋषि दयानन्द सरस्वती के १५ व्याख्यान।
मू० २-५०

३६. दयानन्द-शास्त्रार्थ-संग्रह—सं० भवानीलाल भारतीय एम० ए० पीएच०, डी०।
मू० ३-००

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान—

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, (सोनीपत-हरयाणा)

रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर मर्चेन्ट्स

गुरु बाजार अमृतसर।]
बारी मार्केट सदर बाजार, देहली।]
[नई सड़क, देहली।
[बिरहाना रोड़, कानपुर।
[५१ सुतारचाल, बम्बई।]

* लेखक की अन्य रचनायें *

१--नाडीतत्त्वदर्शनम्					१०-००
२--सत्याग्रह-नीतिकाव्यम्					२-५०
३--विष्णुसहस्रनाम-सत्यभाष्यम् भाग				१	१२-५०
४-	,,	,,	,,	२	१२-५०
५-	,,	,,	,,	३	१२-५०
६-	,,	,,	,,	४	१२-५०



प्राप्ति-स्थान

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़,
(सोनीपत-हरयाणा)